वेदान्तबोध

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वतीजी

वेदान्त-बोध

प्रबोधक :

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज

सम्पादक :

"विष्णु"

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट्

विपुल २८/१६ बी. जी. खेरमार्ग

मालवार हिल

बम्बई - ४००० ०६

प्रकाशक व पुस्तक प्राप्ति स्थान :

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

'विपुल' 28/16 बी. जी. खेरमार्ग
मालावार हिल
मुम्बई - 400 006
फोन : (022) 23682055
मो.: 09619858361

स्वामीश्री अखण्डानन्द पुस्तकालय
आनन्द कुटीर, मोतीझील
वृन्दावन - 281 121
फोन : (0565) 2913043, 2540487
मो. : 09837219460

●

प्रथम संस्करण : अक्टूबर 1984
द्वितीय संस्करण : जुलाई 1995
तृतीय संस्करण : जनवरी 2003
चतुर्थ संस्करण : जुलाई 2007
पंचम संस्करण : अक्टूबर 2011
षष्ठ संस्करण : 1100
जनवरी 2016

© सर्वाधिकार सुरक्षित

●

मूल्य : रु0 110\=

●

मुद्रक :
आनन्दकानन प्रेस
डी. 14/65, टेढ़ीनीम
वाराणसी - 221001
फोन : (0542) 2392337

प्रथम संस्करण

आशीर्वचन

परम प्रिय श्रीविष्णुकुमार गग्गल मेरे पास ३५-४० वर्षसे आते हैं। इन्होंने स्वयं और इनके सामने दूसरोंने भी मुझसे अनेक प्रश्न किये हैं, मैंने उनका उत्तर दिया है। लगभग ५० वर्षोंसे मेरे लेख कल्याण आदि पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित होते रहें हैं, पुस्तकें लिखी हैं, व्याख्यान दिये हैं, पत्र लिखे हैं। गग्गलजीने उस सबका मनोयोगपूर्वक अध्ययन-श्रवण किया है। उन्हें लगन एवं परिश्रमसे एकत्र किया है। बुद्धिपूर्वक क्रमसे सँजोया है—विशेष करके वेदान्तके प्रसङ्गोंको। जहाँ कहीं कठिनता रही है, वहाँ प्रश्नोत्तरका रूप देकर सरल बना दिया है। इसको ठीक बैठानेके लिए उन्हें पर्याप्त चिन्तन करना पड़ा होगा।

अपनी ही पुस्तकके लिए मैं अपनी सम्मति तो क्या दे सकता हूँ, हाँ! गग्गलजीको मैं आशीर्वाद देता हूँ कि इस पुस्तकमें जो कुछ उन्होंने संग्रह किया है, वह उनके जीवनमें सम्पूर्ण-रूपसे अविद्या निवृत्तिमें समर्थ, दृढ़ बोधकके रूपमें प्रकट हो और उन्हें इसी जीवनमें जीवन्मुक्तिके विलक्षण सुखकी अनुभूति हो।

इस पुस्तकको प्रकाशित करनेमें समस्त आर्थिक व्यय कोयम्बटूरके आष्युमान् सेठ श्री लक्ष्मीचन्द गुप्ताके द्वारा ट्रस्टको प्राप्त हुआ है, इसके लिए उन्हें भूरि-भूरि आशीर्वाद!

ॐ

वृन्दावन
६-९-१९८४

अखण्डानन्द (सरस्वती)

पाठकोंसे निवेदन

प्रातःस्मरणीय गुरुदेव अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती जी महाराजको आध्यात्मिक जगत्‌में आज कौन नहीं जानता। उनके त्याग, तपस्या, भक्तिभाव, वैदुष्य, ब्रह्मनिष्ठा एवं सरल-सुबोध-सरस प्रवचन शैलीकी ख्याति सर्वत्र व्याप्त है। लेखकके रूपमें भी आप लब्ध-प्रतिष्ठ हैं। अनुवादों, प्रवचनों, संवादों एवं स्वतन्त्र लेखोंके रूपमें आपका विपुल साहित्य 'सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट, बम्बई'की कृपासे आज हम सबको उपलब्ध है। उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भागवत एवं श्रीशंकराचार्य भगवान्‌की कृतियोंपर आपके आधिकारिक विचार इस साहित्यमें विस्तारसे संग्रहीत हैं।

पूज्य महाराजश्रीके कृतित्वकी विशेषता यह है कि पारम्परिक विचारोंकी व्याख्या भी आप आधुनिक परिप्रेक्ष्यमें करते हैं। आपकी भाषा अवसरानुकूल होती है। एक ओर लेखोंमें शैली सूत्रमय एवं भाषा विद्वत्तापुरस्सर होती है तो दूसरी ओर प्रवचनोंमें शैली विस्तारमय एवं भाषा बोल-चालकी। महाराजश्रीका कहना है कि अपने लेखों और प्रवचनोंमें वे जान-बूझकर पारिभाषिक शब्दोंका प्रयोग करते हैं क्योंकि इससे एक ओर तो प्राचीन और अर्वाचीन साहित्यके बीच कड़ी जुड़ी रहती है और दूसरी ओर उनके द्वारा जिस गूढ़ार्थका बोध होता है वह साधारण शब्दोंसे बिना विस्तृत व्याख्याके संभव नहीं है।

यह मेरा सौभाग्य है कि मुझे इन जीवन्मुक्त महापुरुषके श्रीचरणोंमें बैठनेका और कुछ सत्संग प्राप्त करनेका अवसर मिला है। कुछ समय पूर्व मेरे मनमें एक बात उठी: क्यों न महाराजश्रीके वेदान्त-विचारोंको, जो अनेकानेक ग्रंथोंमें इधर-उधर क्रमाक्रमसे बिखरे हुए हैं, एक स्थानमें क्रमसे एकत्रित कर दिया जाय जिससे मुमुक्षु-जिज्ञासुओंका पथ-प्रदर्शन हो सके! मित्रोंसे सलाह ली, उत्साह मिला। अन्तमें महाराजश्रीसे प्रस्ताव किया तो उन्होंने भी स्वीकृति दे दी, कुछ निर्देश भी दिये। कुछ व्यक्तिगत व्यस्तताओंके कारण कार्य शीघ्र प्रारम्भ न हो सका। फरवरी १९८३ में कार्य प्रारम्भ किया तब ज्ञात हुआ कि कार्य इतना सरल नहीं है जितना मैंने सोचा था। महाराजश्रीकी एक-एक बात अनूठी है, एक-एक विचार मौलिक हैं, एक-एक शब्द सार्थक हैं। फिर क्या छोड़ूं क्या रखूं? ग्रंथके कलेवरकी

सीमा भी मेरे सामने थी । अन्तमें मैंने यही निर्णय लिया कि केवल जिज्ञासुके लिए उपयोगी अंश ही ग्रहण किया जाय । अतः चाहते हुए भी बहुत-कुछ छोड़ना पड़ा ।

यदि मैं यह कहूँ कि प्रस्तुत ग्रंथ महाराजश्रीके यत्र-तत्रसे एकत्रित वेदान्त पुष्पोंका एक गुलदस्ता है तो वह अत्युक्ति न होगी । यह भी यथार्थ ही है कि प्रस्तुत ग्रंथ महाराजश्रीकी वेदान्त-बगियाके पुष्पोंका किसी मधुकर द्वारा एकत्रित मधु (सार) ही है ।

अनेक स्थानोंसे एकत्रित विचारों और वाक्योंकी शैली और भाषामें भेद होना स्वाभाविक है । अतः पाठकोंको यह भेद कहीं-कहीं अरुचिकर हो सकता है । परन्तु मधुकरकी विवशताको ध्यानमें रखते हुए केवल मधुका आनन्द ही यदि पाठक लेंगे तो उन्हें यह भेद खलेगा नहीं ।

चयनांशोंको परस्पर सम्बद्ध करनेके लिए मुझे कुछ अपनी ओरसे भी वाक्योंका प्रयोग करना पड़ा है । ऐसे कार्यके सम्पादनमें सम्पादककी यह नियति भी है । उन वाक्योंका संकेत मैंने कहीं भी पृथक्से नहीं किया है अन्यथा निबन्धके सौन्दर्य-भंग होनेकी संभावना थी । परन्तु मैं विश्वास दिलाता हूँ कि उन वाक्योंका आधार भी महाराजश्रीका सत्संग एवं उनके ग्रंथोंका स्वाध्याय ही है अतः वे जिज्ञासुको भ्रमित नहीं कर सकते । शास्त्रार्थ सम्बन्धी कठिन स्थलोंकी व्याख्याके लिए मैंने प्रश्नोत्तर-शैली या शंका-समाधान शैलीका आश्रय लिया है यद्यपि अपने मूल स्थानमें ऐसा नहीं था । इसमें भी जिज्ञासु ही मेरी दृष्टिमें रहा है ।

कौन-सा चयनांश कहाँसे लिया गया है, यह इंगित करना आवश्यक नहीं समझा गया । शायद यह संभव भी नहीं था । एक बार मधु संचित हो जानेपर मधुकी कौन-सी बूंद कहाँसे आयी, यह विचार न शक्य है न आवश्यक ।

ग्रंथमें पाद-टिप्पणियाँ प्रचुर मात्रामें दी गयीं हैं । संस्कृतके उद्धरण अधिकांशतः पाद-टिप्पणियोंमें ही हैं । इससे निबन्धोंको पढ़नेमें अनावश्यक प्रतिरोध नहीं होता । साथ ही इनमें कुछ विषयोंका विवरण भी जो महाराजश्रीके प्रवचनोंमें नहीं था किन्तु जिज्ञासुके लिए उपयोगी था, दे दिया गया है ।

अध्यायों और उनके अन्तर्गत विषयोंका क्रम मुमुक्षाके विकास-क्रमके अनुसार किया गया है जिसका परिचय विषय-सूचीसे प्राप्त हो सकता है ।

वेदान्त नाम उपनिषदोंका है । अतः उपनिषदोंको आधार मानकर ही वेदान्त-बोधका प्रणयन किया गया है । यद्यपि उपनिषदोंमें द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, अद्वैतवाद आदि सभी सिद्धान्तोंका वर्णन मिलता है तथापि तात्पर्यसे वेदान्तोंका

सिद्धान्त अद्वैतमें ही परिनिष्ठित है और यही महापुरुषोंके अनुभवमें भी प्रतिष्ठित है। इसी सिद्धान्तका बोध 'वेदान्त-बोध'में विवक्षित है।

अन्तमें मैं पाठकोंसे नम्र निवेदन करता हूँ कि यदि वे वेदान्तका हृदय समझना चाहते हैं, यदि वे वेदान्त-वेद्य तत्त्वका अधिगम करना चाहते हैं और यदि वे अपनी मुमुक्षाकी वास्तविक पूर्ति चाहते हैं तो वे इस वेदान्त-बोधको अवश्य पढ़ें। यदि एक भी पाठकको दुर्लभ ब्रह्मात्मैक्य-बोधकी प्राप्तिमें इस ग्रंथ द्वारा सहायता प्राप्त होती है तो महाराजश्रीका श्रम सफल है। मेरा अपना श्रम तो इसीमें सफल है कि मैं पूज्यश्रीकी वस्तुको उन्होंके श्रीचरणोंमें एक नवीन रूपमें समर्पित कर रहा हूँ :

त्वदीयं वस्तु गोविन्द तुभ्यमेव समर्पये !

श्रीगुरुचरणाश्रित

विजयादशमी, १९८४ **"विष्णु"**

षष्ठ संस्करण :

प्रकाशकीय

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वती सेवा-संस्थान द्वारा 'वेदान्त बोध'का प्रथम संस्करण प्रकाशमें आनेके पश्चात् ग्रन्थकी चतुर्दिक माँग हुई और यह अल्प समयमें ही अनुपलब्ध हो गया। 1995में सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट द्वारा पुनर्प्रकाशित कराया गया। वह भी तीन बार समाप्त हो गया।

महन्त स्वामीश्री सच्चिदानन्दजी सरस्वतीने मुद्रण हेतु प्रेरित किया, इस ग्रन्थके षष्ठ संस्करण हेतु। जिसके फलस्वरूप आज यह ग्रन्थ पुनः आपके कर-कमलों तक पहुँच रहा है। विश्वास है सुविज्ञ पाठक ग्रन्थसे लाभान्वित होंगे।

जनवरी 2016

–ट्रस्टी

शाखा कार्यालय :

सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट

मुम्बई / वृन्दावन

॥ ॐ ॥

श्रीगुरु-वन्दना[1]

श्रीपूर्णानन्दतीर्थस्फुरदमृतगवीविप्रुषाऽऽप्लावितानां,
नस्माकं मोक्षचिन्ता प्रविदितमहसां ब्रह्मभावं गतानाम्।
किन्त्वेषा बोधधारा विघटितनिखिलाकार संस्कारकारा,
स्वच्छन्दं दन्ध्वनीति प्रतिपदमधुना तामनुव्यञ्जयामः॥ १ ॥

ये हैं पूर्णानन्दतीर्थ ! इस अद्भुत तीर्थसे वचन-सुधा लहराती है। हम उसके सीकरोंमें स्नान कर चुके है। हमें अद्वितीय ज्योतिका बोध हो गया है और ब्रह्मात्म-भावका अनुभव है मोक्षकी कोई चिन्ता नहीं है। फिर भी उस कृपा-सीकरसे प्राप्त बोधकी धारा प्रवाहित होकर समस्त आकार एवं संस्कारके कारागारको छिन्न-भिन्न कर रही है और स्वच्छन्द उपदेश-ध्वनिसे परिपूर्ण कर रही है। अब हम प्रतिपद उसीको अभिव्यक्ति देते हैं॥ १ ॥

भक्तिश्श्रद्धैकमूला विरहितविषया बोधमूलं विरक्ति-
र्निदिध्यासा लक्षितेऽर्थे श्रवणमननजा सम्प्रसूते समाधिम्।
ज्ञानाभ्यासप्रधाना घनरतिरुदिता हन्त्यविद्यामवद्यां,
श्रीपूर्णानन्दतीर्थे वचसि वयममी निर्भरं मज्जिताः स्मः॥ २ ॥

"भक्तिका एकमात्र कारण है श्रद्धा। ब्रह्मबोधका साधन है वैराग्य। सम्पूर्ण विषयोंमें अरुचि वैराग्य है। श्रवण-मननजन्य निदिध्यासन लक्ष्यार्थमें समाधिको जन्म देता है। ज्ञानाभ्यासप्रधान घनरति उदित होकर भेदजननी अविद्याका नाश कर देती है।" ये हैं श्रीपूर्णानन्दतीर्थके वचन जो स्वयं तीर्थ हैं। अब हम निश्चिन्त होकर इसमें मग्न हो चुके हैं॥ २ ॥

माया छाया वराकी कथमिव लभतां मय्यनन्ते प्रतिष्ठा-
मस्थाने चेश्वरत्वं द्रुहिणहरिहरा हन्त वह्नेः स्फुलिङ्गाः।
अद्वैते द्वैतखेला गगननलिनवत् स्वप्नवज्जीवमेला,
श्रीपूर्णानन्दवाणी श्रुतिशिखरसुधा स्वर्णदी नः पुनातु॥ ३ ॥

---

१. 'श्रीपूर्णानन्दतीर्थस्तवः'से संकलित।

तुच्छ माया छायामात्र है। वह मुझ अनन्तमें स्थान कैसे पा सकती है? ईश्वरता भी किसकी? कैसे? राम-राम! ब्रह्मा-विष्णु-महेश तो मुझमें आगकी चिन्गारीके समान हैं। अद्वैतमें द्वैतका खेल आकाशमें कमलके खेल-सा है और जीवोंका मेल स्वप्न-सा।" यह है श्रीपूर्णानन्दतीर्थकी वाणी। यह श्रुतिशिखर अर्थात् वेदके शिरोभाग वेदान्तकी सुधा-गंगा है। यह हमें पवित्र करे! ॥ ३ ॥

सा दृष्टिः सूक्ष्मलक्ष्या स्थिरचरविषया वासनास्पर्शशून्या,
सा दृष्टिर्दृश्यमुक्तं करणमिव परं सम्प्रसादैकरूपा।
सा दृष्टिर्यत्र नान्यत् सकलमविकलं ब्रह्म प्रत्यक् प्रशान्तं,
श्रीपूर्णानन्दनेत्रद्वयरसविलसत् कोणकारुण्यमात्रम् ॥ ४ ॥

वह दृष्टि जिसका लक्ष्य सूक्ष्म होता है, खुली रहकर स्थावर-जंगमको भी देखती रहती है किन्तु वासनाका स्पर्श भी नहीं होता। वह दृष्टि जिसमें दृश्य न हो, निर्विषय करणके समान हो और सम्प्रसन्न समाधिरूप हो। वह दृष्टि जिसमें द्वैत है ही नहीं, सब कुछ प्रत्यक्चैतन्याभिन्न निर्विकार एवं प्रशान्त ब्रह्म ही है। वह शाम्भवी मुद्रा, सम्प्रज्ञात समाधि अथवा निर्विकल्प निर्बीज ब्रह्मनिष्ठा श्रीपूर्णानन्दतीर्थ महाराजके नयनयुगलके विलासपूर्ण कोणका कारुण्यमात्र ही है ॥ ४ ॥

अखण्डानन्दसम्बोधपूर्तये ब्रह्ममूर्तये।
सुधास्मितसमाश्लिष्टनेत्रान्तस्फूर्तये नमः ॥ ५ ॥

वे अखण्डानन्द-बोधकी सम्पूर्ति हैं। ब्रह्मकी मूर्ति हैं। सुधाभरी मुस्कानसे समाश्लिष्ट उनके नयन-कोण छलकते रहते हैं। गुरुदेव श्रीपूर्णानन्दतीर्थको नमस्कार है ॥ ५ ॥

विषय-सूचि

आशीर्वचन (iii)

पाठकोंसे निवेदन (v)

श्री गुरु-वन्दना (ix)

प्रथम खण्ड – अधिकारी निरूपण

अध्याय	विषय	पृष्ठ
१.	मनुष्य-जीवनमें मुमुक्षा दुर्लभ है	
	१. मनुष्यत्व दुर्लभ है	३
	२. मुमुक्षुत्व दुर्लभ है	५
	३. महापुरुषसंश्रय दुर्लभ है	८
२.	मुमुक्षाकी पूर्तिका उपाय—ब्रह्मविचार	
	१. मुमुक्षाका उदय	१२
	२. मुमुक्षुकी पूर्तिके विविध उपाय	१३
	३, ब्रह्मविचारसे ही मोक्ष	२२
३.	ब्रह्मविचारकी सामग्री (साधन-चतुष्टय एवं चित्त-शुद्धि)	
	१. औपनिषद ज्ञान	२४
	२. साधन-चतुष्टय	२७
	(क) विवेक	२८
	(ख) वैराग्य	३२
	(ग) षट्-सम्पत्ति	३५
	(घ) मुमुक्षा	४०
	३. अधिकारकी सरलता	४१
	४. मोक्षसाधिका भक्ति	४२
	५. साधन-विचार	४४
	६. चितशुद्धि	५१

अध्याय	विषय	पृष्ठ
४.	वेदान्त का अनुबन्ध-चतुष्टय	
	१. अधिकारी	५४
	२. विषय	५५
	३. प्रयोजन	५६
	४. सम्बन्ध	५६
	५. अनुबन्ध-विषयक शंका-समाधान	५७
	द्वितीय खण्ड—गुरु उपसदन	
५.	गुरु-उपसदन	
	१. गुरुकी आवश्यकता क्यों ?	८३
	२. गुरुकी शरणमें कैसे जांय ?	८४
	३. सद्गुरुके लक्षण	८६
	४. सद्गुरु मिलनेपर क्या करें ?	९०
	तृतीय खण्ड—ब्रह्मविचारसे पूर्व कुछ ज्ञातव्य	
६.	कुछ ज्ञातव्य	९७
७.	अध्यास-निरूपण	११३
	१. अध्यासकी स्थापना	११३
	२. जड़ और चेतन	११५
	३. उपाधि और विशेषण	११६
	४. विषय-ज्ञानकी प्रक्रिया	११७
	५. अध्यास-विषयक शंका-समाधान	११९
	६. अज्ञान और ब्रह्मविचार	१२२
	७. अध्यासका लक्षण	१२५
	८. लक्षण-विषयक शंका-समाधान	१२७
	९. ख्याति-प्रकरण	१३१
	१०. अध्यासकी सम्भावना	१३३

अध्याय	विषय	पृष्ठ
८.	अभ्यास और व्यवहार	
	१. प्रमाण-प्रमेय व्यवहारके मूलमें अभ्यास	१३९
	२. प्रमाण-विचार	१४०
	३. शास्त्र अज्ञानीके लिए हैं या ज्ञानीके लिए ?	१४३
	४. निष्कर्ष	१४७

चतुर्थ खण्ड—त्वं-पदार्थका शोधन

९.	प्रकृति-पुरुष-विवेक	
	१. क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ	१५३
	२. क्षेत्रका विस्तार एवं पंचीकरण	१५९
	३. प्रकृति एवं पुरुषका विवेक	१७२
१०.	देहत्रय-साक्षी-विवेक	१७७
	१. स्थूल-शरीर	१७७
	२. सूक्ष्म शरीर	१८०
	३. कारण शरीर	१८२
	४. देहत्रय-साक्षी	१८४
११.	आत्माके स्वरूपके सम्बन्धमें अनेक मत	
	१. चार्वाक मत—देह आत्मा है	१९०
	२. इन्द्रियाँ या प्राण आत्मा है	१९१
	३. मन आत्मा है	१९२
	३. बुद्धि आत्मा है	१९२
	५. शून्य आत्मा है	१९३
	६. पूर्वमीमांसा एवं न्यायका मत—कर्ता-भोक्ता-संसारी जीव आत्मा है	१९४
	७. सांख्य-योगमत—भोक्ता पुरुष आत्मा है।	१९६

अध्याय	विषय	पृष्ठ
	८. उपासक मत—कर्ता-भोक्ता-संसारी-परिच्छिन्न तथा ईश्वरका नियम्य चेतन जीव आत्मा है।	१९७
	९. वेदान्त-मत	१९८
१२.	पंचकोष-साक्षी-विवेक	
	१. पंचकोष अवतारणा	२०२
	२. अन्नमय कोष एवं अन्नमय पुरुष	२०३
	३. प्राणमय कोष एवं प्राणमय पुरुष	२०५
	४. मनोमय कोष एवं मनोमय पुरुष	२०६
	५. विज्ञानमय कोष एवं विज्ञानमय पुरुष	२०७
	६. आनन्दमय कोष एवं आनन्दमय पुरुष	२०९
	७. पंचकोष-साक्षी	२१०
१३.	अवस्थात्रय-साक्षी-विवेक	२१३
	१. तीन अवस्थाएँ एवं उनके अभिमानी	२१३
	२. तुरीय आत्मा	२१५
	३. जाग्रत-पुरुष और जाग्रत्-अवस्थाका अभिमानी	२१७
	४. स्वप्न और सुषुप्ति तथा उनके अभिमानी	२१९
	५. आत्माका प्रथम पाद—विश्व, विराट्	२२१
	६. आत्माका द्वितीय पाद—तैजस, हिरण्यगर्भ	२२८
	७. आत्माका तृतीय पाद—प्राज्ञ, ईश्वर	२३२
	८. प्राज्ञका सर्वकारणत्व	२३५
	९. अवस्थात्रयका समन्वय—आत्मा (साक्षी)में	२३९
	१०. आत्मा चतुर्थ पाद—साक्षी, ब्रह्म	२४५
१४.	अहमर्थ एवं शुद्ध साक्षी (त्वं-पदार्थ)का विवेक	
	१. अहमर्थ एवं संविदात्मा (साक्षी)	२४९
	२. बीज और जीव	२५६
	३. जीवका शुद्ध स्वरूप—स्यंप्रकाश ब्रह्मसुख (अखण्ड सच्चिदानन्दघन आत्मा)	२६१

अध्याय	विषय	पृष्ठ
	पंचम खण्ड—तत् पदार्थका शोधन	
१५.	ईश्वरतत्त्वका विचार—१.	
	१. ब्रह्मका तटस्थ लक्षण—जगत्कारणत्व	२७३
	२. जगत्कारणत्वके सम्बन्धमें अनेक मत	२८०
	३. कार्यकारणातीत ब्रह्म—सच्चिदानन्दकी दृष्टिसे विचार	२८४
	४. ब्रह्म सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वान्तर्यामी है—इसका अर्थ	२८८
	५. ब्रह्मकी सर्वव्यापकताका अर्थ	२९२
	६. ईश्वर और प्राज्ञ	२९३
१६.	ईश्वरतत्त्वका विचार—२.	
	१. ब्रह्मका दूसरा लक्षणण—शास्त्रयोनित्व	२९७
	२. ईश्वरके सम्बन्धमें प्रमाण—शास्त्र	३०४
	षष्ठ खण्ड—विरोध-परिहार	
१७.	वेदान्तार्थका समन्वय	
	१. वेदकी अपौरुषेयताका अभिप्राय	३१९
	२. छान्दोग्योपनिषद् (सामवेद)	३२९
	(क) सद्-विद्या (तत्त्वमसि महावाक्यका बोध)	३२९
	(ख) भूम-विद्या (आनन्द-विद्या)	३४५
	(ग) चिद्विद्या (दक्षिणाक्षिपुरुष-विद्या)	३५२
	३. बृहदारण्यकोपनिषद् (यजुर्वेद)	३६५
	(क) याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद	३६५
	(ख) मधु-विद्या	३६९
	(ग) अन्तर्यामी ब्राह्मण	३७१
	४. एतरेय-उपनिषद् (ऋग्वेद)	३७३
	५. मुण्डकोपनिषद् (अथर्ववेद)	३७५
	६. समन्वय सम्बन्धी कुछ शंका-समाधान	३७७

अध्याय	विषय	पृष्ठ
	सप्तम खण्ड—ऐक्य-बोध	
१८.	महावाक्य-विवेक	३८७
	१. पद-समन्वय (लक्षणा)	३८९
	२. वाद-प्रक्रियाएँ, (दृष्टि-सृष्टिवाद, बिम्बप्रतिबिम्बवाद, आभासवाद एवं अवच्छेदवाद)	३९१
	३. ऐक्य-पद्धतियाँ	३९३
	४. तत्त्वमसि	३९६
	५. अहं ब्रह्मास्मि	३९८
	६. प्रज्ञानं ब्रह्म	४००
	७. अयमात्मा ब्रह्म	४०१
	८. ऐक्य साधक युक्तियाँ	४०३
	अष्टम खण्ड—वेदान्तका साधन और फल	
१९.	वेदान्तका साधन और फल	
	१. साधन और फल	४०९
	२. निर्विवाद सत्य	४१२
	३. जीवन्मुक्त	४१९
	४. विदेहमुक्ति (ज्ञानकी सप्त भूमिकाएँ)	४२५
	सन्दर्भ-ग्रन्थोंके संकेतोंकी सूची	४११
	स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती विरचित वेदान्त-साहित्यकी सूची	४३२

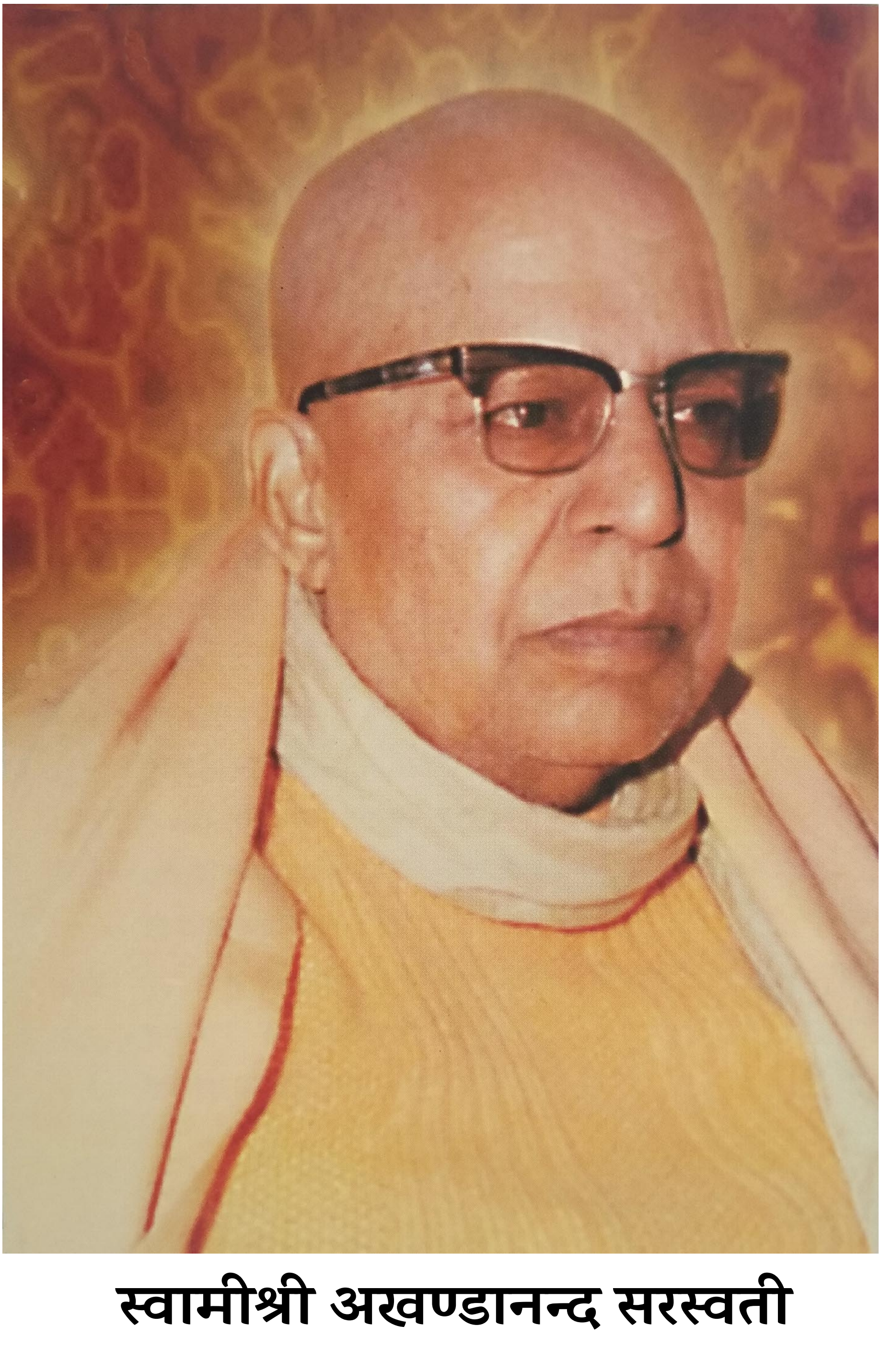

स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वती

प्रथम खण्ड

अधिकारी-निरूपण

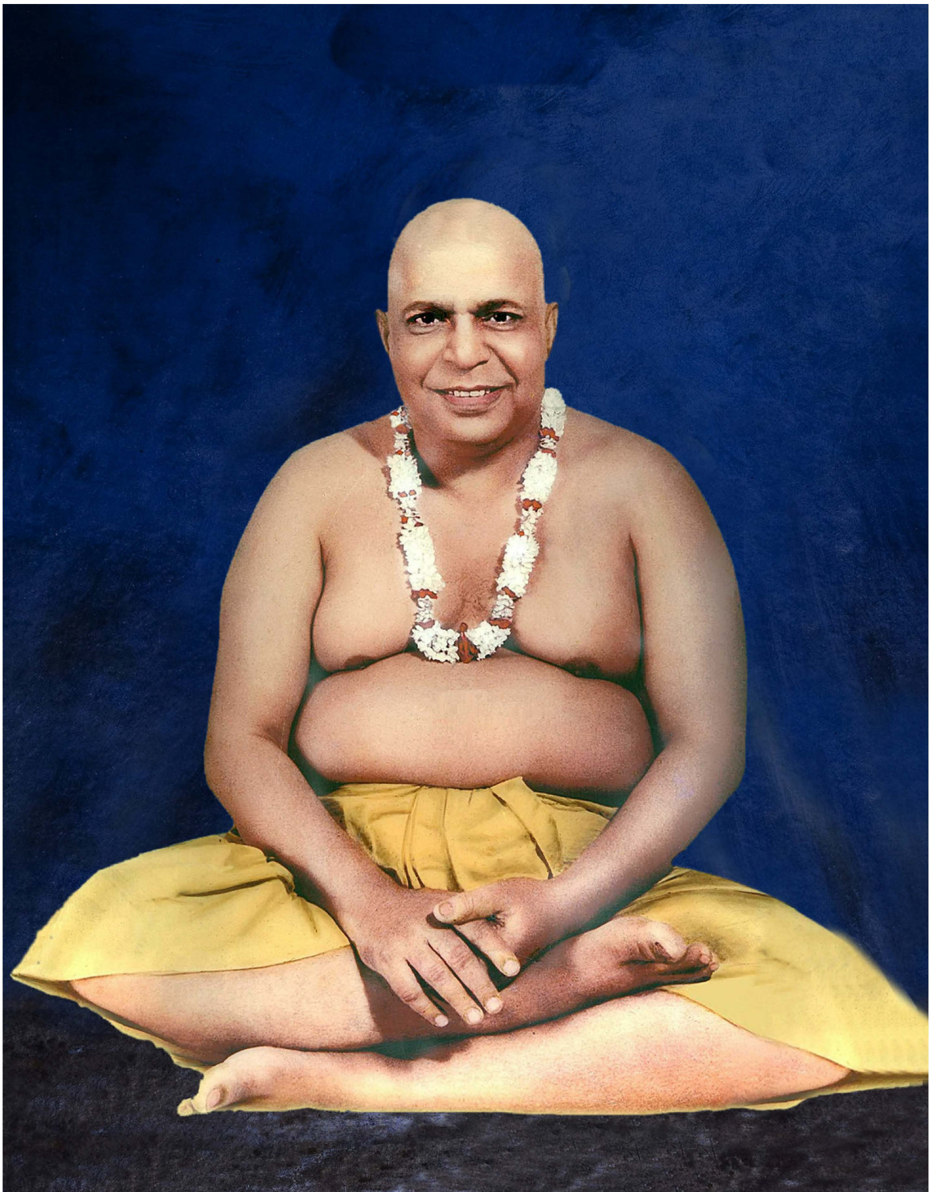

अध्याय-१

मनुष्य-जीवनमें मुमुक्षा दुर्लभ है

भगवान् श्री शंकराचार्यजी महाराजने तीन चीजोंको दुर्लभ बताया है : १. मनुष्यत्व, २. मुमुक्षुत्व तथा ३. महापुरुषसंश्रय।[1]

१. मनुष्यत्व दुर्लभ है

मनुष्य शरीर ईश्वरके अनुग्रहसे प्राप्त होता है। मनुष्य-शरीरकी दुर्लभता इसी बातसे स्पष्ट है कि संसारके कुल प्राणियोंकी संख्यामें मनुष्योंकी संख्याका अनुपात नगण्य ही है। किन्तु इसकी दुर्लभताके और भी बहुत-से हेतु हैं।

'मनुष्य' शब्दका अर्थ है—मनुकी संतान। मनुकी पत्नी थी 'श्रद्धा'। अतः जो श्रद्धा और मनन दोनोंको लेकर सृष्टिमें अवतीर्ण हुआ है, वह मनुष्य है। अथवा 'मनसा सीव्यति इति मनुष्यः'—जो मनसे सम्बन्ध जोड़ लेता है वह मनुष्य है। यही कारण है कि मनुष्य सृष्टिमें कार्य-कारणको देखकर सृष्टिके आदि-कारण और प्रलयाधिष्ठानका विचार करके उन दोनोंमें जो एक वस्तु है उस ब्रह्मको वह जान लेता है।

सृष्टिमें चार प्रकारके प्राणी प्रसिद्ध हैं—उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज और पिण्डज (जरायुज)। **उद्भिज्ज** प्राणी वे हैं जो धरतीको फोड़कर निकलते हैं, जैसे वृक्ष। इनमें चेतनाकी एक कला विकसित होती है। **स्वेदज** प्राणी वे हैं जो स्वेद (पसीने) से उत्पन्न होते हैं, जैसे जूँ, खटमल। इनमें चेतनाकी दो कलाएँ विकसित होती हैं।

अण्डज प्राणी वे हैं जो अण्डेसे उत्पन्न होते हैं, जैसे पक्षी। इनमें चेतनाकी तीन कलाएँ विकसित होती हैं। **जरायुज** प्राणी वे हैं जो जेरमें बँधे उत्पन्न होते हैं, जैसे चतुष्पाद पशु और द्विपाद मनुष्य।

पशुओंमें चेतनाकी चार और मनुष्योंमें पाँच कलाएँ विकसित होती हैं। मनुष्योंमें भी सत्पुरुषोंमें छः और जीवन्मुक्तोंमें सात कलाएँ विकसित

---

१. दुर्लभं त्रयमेवैतद् देवानुग्रहहेतुकम्। मनुष्यत्वं मुमुक्षुत्वं महापुरुषसंश्रयः॥
(वि० चू० ३)

होती हैं। जीवन्मुक्तोंमें जिनमें आठ, नौ या दश कलाएँ विकसित होती हैं वे 'अवतार' कोटिमें आ जाते हैं।

जहाँतक हो सके एक कलासे, उससे न बने तो दो, तीन या चार कलाओंसे मनुष्य अपने जीवनका निर्वाह कर सकता है। परन्तु मनुष्यत्वकी सिद्धि तो पाँच या उससे अधिक कलाओंके विकासपर निर्भर है।

परब्रह्म परमात्मामें, जो अपना स्वरूप ही है, तीन भाव माने जाते हैं— सत्, चित् और आनन्द। मनुष्यमें इन्हीं भावोंका जब विकास होता है तभी उसमें पाँच अथवा अधिक कलाओंका विकास माना जाता है। यह विकास मनुष्यमें ही सम्भव है, अतः मनुष्य शरीर दुर्लभ है।

सत्के विकासमें कर्मका विकास है। चित्के विकासमें ज्ञानका विकास है और आनन्दके विकासमें सुखका विकास है। कर्म, ज्ञान और आनन्दका जैसा विकास मनुष्यके जीवनमें है वैसा सृष्टिमें कहीं नहीं है। विश्वकी सभ्यता और संस्कृतिका इतिहास इसका साक्षी है। यह विकास अभी जारी है। इसलिए मनुष्यजन्म दुर्लभ है, जिसको प्राप्त करके हम संसारके सम्पूर्ण बन्धनों, दुःखों और अनर्थोंसे छूट सकते हैं।

पेड़-पौधे अपनी खुराक अपने पाँवसे ग्रहण करते हैं और ऊपरकी ओर बढ़ते हैं। शास्त्रमें इनको **'ऊर्ध्वस्रोत'** बोलते हैं। प्रकृतिने अभी उन्हें बढ़नेके लिए बहुत-सा अवकाश दिया है।

पक्षी आगेसे भोजन लेते हैं और वह पीछे जाता है। वे **'तिर्यक्-स्रोत'** हैं। पशु भी तिर्यक् स्रोत हैं। स्वेदज प्राणी भी तिर्यक्-स्रोत हैं। परन्तु मनुष्य **'अधःस्रोत'** है। वह भोजन ऊपरसे लेता है और नीचेकी ओर फेंकता है।

विद्वानोंने इसका अर्थ किया है कि प्रकृति स्वयंमें प्राणीको जितना उन्नत बना सकती थी उतना उसने मनुष्यको बना दिया है। इसके आगे मनुष्य अपना स्वयं विकास करे।

वह अपनी बुद्धिको इतनी विकसित कर सकता है कि वह परमेश्वरसे एक हो जाय। यह अवसर अन्य प्राणि-शरीरमें प्राप्त नहीं है। इसलिए मनुष्यका शरीर मिलना दुर्लभ है।

इस मनुष्य-शरीरमें आप आनन्दकी पूर्णताका अनुभव कर सकते हैं, ज्ञानकी पूर्णताका अनुभव कर सकते हैं और अविनाशी जीवन प्राप्त कर सकते हैं। अविनाशी ईश्वर, पूर्ण ज्ञानस्वरूप ईश्वर, पूर्णानन्दस्वरूप ईश्वर

आपके हृदयमें प्रकट हो सकते हैं। इसलिए यह मनुष्यका शरीर ईश्वरके अनुग्रहसे प्राप्त होता है।

हम स्वयं चाहके मनुष्य-शरीर प्राप्त नहीं कर सकते। मनुष्य-जन्म पानेमें हमारी स्वतन्त्रता नहीं—तो पूर्वजन्मोंके पुण्योंके फलसे ईश्वरकी कृपासे (अर्थात् प्रकृतिके विकाससे धर्मके फलस्वरूप) यह मनुष्य-शरीर प्राप्त हुआ है। अतः यह बड़ा दुर्लभ है। मनुष्यमें स्त्री भी है और पुरुष भी। दोनोंकी अपनी-अपनी विशेषताएँ हैं। किन्तु ईश्वरका अनुग्रह दोनोंपर है क्योंकि दोनों सद्बुद्धिसम्पन्न मनुष्य हैं।

श्रीमद्भागवतमें आया है कि ईश्वरने अपनी मायासे तरह-तरहके शरीर बनाये—वृक्ष, रेंगनेवाले कीड़े, पशु, पक्षी, मच्छर आदि परन्तु उनको देखकर उनको कोई संतोष नहीं हुआ। परन्तु उसे आनन्द तब हुआ जब उसने मनुष्य-शरीरकी रचनाको देखा—'अहा! मैंने ऐसा शरीर बनाया है जिसमें ब्रह्मानुभूतिकी योग्यता है।'[२] बात यह है कि सब प्राणी केवल ऐन्द्रियक-विषयोंको ही जानते हैं, किन्तु अतीन्द्रिय वस्तु परमेश्वरके दर्शनका जो यन्त्र है—प्रमाणवृत्ति, वह मनुष्यके अतिरिक्त और किसी प्राणीके पास नहीं है।

न उनके पास साधन-चतुष्टयका अभ्यास है, न उनके पास वेद-शास्त्रादिका श्रवण है, न तो 'अहं ब्रह्मास्मि' इत्याकारक वृत्तिके उदय होनेकी कोई सामग्री ही उनके पास है। अतः मनुष्यके अतिरिक्त अन्य कोई प्राणी ब्रह्मानुभूतिकी योग्यता नहीं रखता। इसलिए केवल मनुष्ययोनिमें ही तत्त्वज्ञान हो सकता है।

ईश्वरका यह बड़ा अनुग्रह है कि उसने हमको यह मनुष्यका शरीर प्रदान किया है। यह तत्त्वज्ञानकी प्राप्तिके लिए ही है क्योंकि अन्ययोनियोंसे मनुष्यकी विलक्षणता इसी योग्यतामें है। अन्य बातें तो सभी योनियोंमें उपलब्ध हो जाती हैं।

२. मुमुक्षुत्व दुर्लभ है

मनुष्य होकर मुमुक्षु होना, यह दूसरी दुर्लभ वस्तु है। 'अवधूतगीता'के

---

२. सृष्ट्वा पुराणि विविधान्यजयात्मशक्त्या, वृक्षान् सरीसृपपशून् खगदंशमत्स्यान्।
तैस्तैरतुष्टहृदयः पुरुषं विधाय, ब्रह्मावलोकधिषणं मुदमाप देवः॥
(भा० ११.९.२८)

प्रारम्भमें एक श्लोक है और यह श्लोक 'खण्डनखण्डखाद्य' में भी है।[3] इसमें कहा है कि "ईश्वरके अनुग्रहसे ही मनुष्यके मनमें अद्वैतकी वासनाका उदय होता है। यह बड़े-बड़े भयोंसे बचाती है परन्तु होती है सृष्टिमें दो-तीनको ही।" यह अद्वैत-वासना ही मोक्षेच्छा है और इसकी दुर्लभता दिखलानेके लिए ही दो-तीनकी संख्या बतायी है। (दो-तीन संख्यामें इसका तात्पर्य नहीं है)।

इसी प्रकार गीतामें भी कहा है कि "हजारों मनुष्योंमें कोई ही ईश्वर-प्राप्तिके लिए प्रयत्न करता है और उन हजार-हजार सिद्धोंमें भी किसी-किसीको ही तत्त्वज्ञान होता है।"[४]

मुमुक्षा अर्थात् मोक्षकी इच्छा—माने छूटनेकी इच्छा। जिन बन्धनोंमें आप फँसे हैं उनसे छूटनेकी इच्छाका नाम मुमुक्षा है : मोक्तुम् इच्छा मुमुक्षा। यह मोक्षेच्छा जिस मनुष्यमें रहती है, उसका नाम है मुमुक्षु।

आप किन बन्धनोंमें फँसे हैं? असलमें आप किसी भी बन्धनमें नहीं हैं। किसके साथ आपकी हड्डी जुड़ी हुई है? किसके साथ आपके हाथ-पाँव बँधे हुए हैं? सारे बन्धन मानसिक हैं। मनकी ऐसी आदत पड़ गयी है कि यह कहीं-न-कहीं अपनेको बाँध लेता है। बाह्य विषयके साथ बन्धन नहीं होता। यह मन विषयकी कल्पनाके बिना रहता ही नहीं है, इसलिए इसी मनःकल्पित विषयसे मिलता-जुलता बाह्यविषयका जो स्वरूप है उस विषयसे ही बन्धन प्रतीत होता है।

विषय भी कल्पित है और उसका बन्धन भी कल्पित है। सम्पदाने कभी आपको अपने साथ नहीं बाँधा, मनने आपको सम्पदाके साथ बाँधा है। सम्पदा तो अपने मालिकको पहिचानती ही नहीं है! व्यक्तियोंके साथ भी सारे सम्बन्ध मानसिक ही हैं।

विषयोंमें सत्यत्व-बुद्धि और सुख-बुद्धि उन-उन विषयोंमें राग, द्वेष और सम्बन्धकी कल्पनाको जन्म देते हैं। उसीसे बन्धन होता है।

---

३. ईश्वरानुग्रहादेव पुंसामद्वैतवासना। महाभयपरित्राणा द्वित्रीणामुपजायते॥
(अव० गीता १.१)

४. मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये। यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः॥
(गीता ७.३)

बन्धनमें जब सुख मानने लगते हैं तब उससे छूटनेकी इच्छा ही समाप्त हो जाती है। असलमें हम छोड़ना क्या चाहते हैं? मकान, आदमी, धरती, रुपया-पैसा-जेवर—ये कुछ छोड़ना नहीं चाहते। हम तो इनसे प्राप्त होनेवाले दुःखको छोड़ना चाहते हैं। दुःख और दुःखदायीको हम छोड़ना चाहते हैं और सुख एवं सुखदायीको पकड़ना चाहते हैं।

इसलिए मुमुक्षाका प्रारम्भ वहाँ होता है, जहाँ निसर्गसे प्राप्त होनेवाले सुख-दुःखका विवेक प्रारम्भ होता है। जहाँ-जहाँ और जो-जो दुःखरूप या दुःखदायी मालूम पड़ने लगेगा उसको आप छोड़ते जायेंगे और जहाँ-जहाँ तथा जो-जो सुखरूप या सुखदायी मालूम पड़ता जायेगा, उसको आप पकड़नेकी चेष्टा करते जायेंगे। जो सुखरूप या सुखदायी भी प्रतीत होता है परन्तु जो आने-जानेवाला है, वह अनित्य सुख भी दुःखरूप हो जायेगा। अतः दुःख और अनित्यतासे जब वैराग्य प्रारम्भ होता है तभी असली मुमुक्षाका प्रारम्भ होता है।

पहिले वस्तुओं और व्यक्तियोंसे, उनके सम्बन्धसे, छूटनेकी इच्छा होती है; यह अवर-वैराग्यकी स्थितिमें मुमुक्षाका स्वरूप है।

बादमें उस अन्तःकरणसे ही छूटनेकी इच्छा होती है जिसमें ये सब इच्छाएँ होती हैं। यह शुद्ध वैराग्यकी स्थितिमें मुमुक्षाका स्वरूप है।

राग-द्वेष अन्तःकरणमें होते हैं। जिससे राग-द्वेषकी इच्छा होती है वही यदि कट जाय तो बन्धनकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाय! योगवासिष्ठमें बृहस्पतिने अपने पुत्र 'कच' को उपदेश किया कि परमानन्दकी प्राप्तिके लिए त्याग करो। कच एक बरस घूम आया फिर भी त्याग नहीं हुआ। तब उसने दण्ड-कमण्डलु फेंक दिया। ऐसे कई बार त्याग किया। अन्तमें कच बोला—'इस शरीरको चितामें जला देंगे।' बृहस्पतिने हाथ पकड़ा—'नहीं बेटा! इसका नाम त्याग नहीं है। **चित्तत्यागं विदुः सर्वत्यागम्।** अर्थात् 'जब चित्तका त्याग होगा तब सर्वत्याग होगा।' चित्तका त्याग किये बिना कोई जीव मुक्त नहीं हो सकता। अतः चित्त-त्यागकी इच्छा ही सच्ची मुमुक्षा है।

चित्तके त्यागमें ही ईश्वरका अनुभव है। अतः ईश्वरके अनुग्रहसे ही मुमुक्षा चित्तमें उदय होती है। जिसको ईश्वर आत्मसात् करना चाहता है

उसीके हृदयमें कृपा करके वह मुमुक्षा उदय करता है। इसलिए मुमुक्षा दुर्लभ है।

३. महापुरुषसंश्रय दुर्लभ है

मुमुक्षुत्वकी सिद्धि कैसे होगी ? वह होगी किसी महापुरुषके संश्रयणसे। यह महापुरुषकी शरणागति और उसके आश्रयकी प्राप्ति भी अत्यन्त दुर्लभ वस्तु है।

प्रश्न यह है कि दुःखसे कैसे छूटें ? कुछ साधन ऐसे हैं जिनसे दुःख थोड़ी देरके लिए भुलाया जा सकता है। आप किसी विहित कर्ममें लग जाइये। यज्ञ करो, कुशकण्डिका करो। उतनी देर जितनी देर आप पुण्य कर्म करेंगे दुःख भूला रहेगा। अच्छा, आपको जो प्रिय हो—स्त्री, देवता, ईश्वर, उसका मन ही मन आलिङ्गन कीजिये, ध्यान कीजिये। तात्कालिक आपका दुःख भूल जायेगा। समाधि लगा लो, तब भी आपका दुःख उतने कालके लिए छूट जायेगा। और बेहोशीकी गोली खा लो तो भी दुःख भूल जायेगा।

परन्तु यह जो दुःखका तात्कालिक उपचार है वह मुमुक्षुको संतुष्ट नहीं कर सकता। क्योंकि यह थोड़ी देरके लिए होता है। दुःखनाशके साधन सहज सुखके प्रकाशक नहीं हैं, कृत्रिम सुखका विकास करते हैं। थोड़ी देरके लिए समाधि लगा लो, वह टूट जायेगी। प्रियतमाकार वृत्ति कर लो, बेहोशीकी गोली खा लो, यज्ञमें लग जाओ; थोड़ी देर दुःखाभाव रहेगा फिर वही दुःख ! इनमें सहज सुखका विकास नहीं है।

सहज सुख माने परमानन्द। सहज सुख केवल दुःखका अभाव या अनर्थकी निवृत्ति नहीं है, स्वरूपभूत परमानन्दका साक्षात्कार है; और स्वस्वरूप भी वह जो देश, काल, वस्तुसे अपरिच्छिन्न है उसके परमानन्दका साक्षात्कार है।

समाधिमें केवल दुःखाभाव होता है, सहज सुखकी प्राप्ति नहीं होती, माने परमानन्द नहीं मिलता। अतः समाधि-सुख न मोक्ष है और न मोक्षका साक्षात् साधन।

उपासना प्रियतमाकार वृत्ति है। उसमें मुक्ति उपास्यकी कृपासे प्राप्त होती है। उपासनाकी मुक्तिसे पराधीनताकी मुक्ति नहीं होगी। देनेसे मुक्ति मिलेगी ? जो देगा वह कभी लौटा भी सकता है।

कर्मसे जो मुक्ति प्राप्त होगी वह कर्मजन्य होनेसे विनाशी होगी। कर्मका बल क्षीण होने पर मोक्षका भी क्षय हो जायेगा। पूर्वमीमांसकों और स्वामी दयानन्द दोनोंने इस बातको स्वीकार किया है।

इस प्रकार कर्म, उपासना और योग-समाधिसे दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती। बौद्ध मोक्षके भेद मानते हैं—निर्वाण, महानिर्वाण, परिनिर्वाण और अतिनिर्वाण। परन्तु ये सब मनःस्थितिके स्तर हैं।

कुछ दार्शनिक मरनेपर मोक्ष मानते हैं। इनमें भी कुछ क्रममुक्ति मानते हैं अर्थात् मरकर पहिले ब्रह्मलोकमें जाओ और फिर मुक्ति होगी। दूसरे सद्योमुक्ति मानते हैं माने मरने पर तत्काल मुक्ति। कुछ दार्शनिक जीवन्मुक्ति मानते हैं अर्थात् जीवित रहते हुए ही मुक्ति। महात्माने कहा—देखो भाई, तुम मुक्तिके भी भेद करते हो? मुक्ति तो भेद-भावको मिटाती है। मुक्ति अभेदबोध है। उसमें भेद क्यों बनाते हो?

मैंने श्रीउड़िया बाबाजी महाराजसे पूछा—'जीवनमुक्ति अच्छी या विदेहमुक्ति?' वे बोले—'दोनोंकी कल्पना ही अमंगल है। हम जब, जो, जैसे हैं मुक्त ही हैं। हमारी लहरका नाम परमानन्द है, हमारे प्रकाशका नाम चैतन्य है, हमारे है-पनेका नाम अधिष्ठान ब्रह्म है।'

असलमें दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति अपने अधिष्ठान आत्म-चैतन्यसे पृथक् अनुभूत नहीं हो सकती। अनन्त सच्चिदात्मा ही सहज परमानन्द है। अतः मोक्ष अपने आत्माका ही एक नाम है। अविद्या-निवृत्तिसे उपलक्षित आत्मा ही मोक्षस्वरूप है। इस ज्ञानमें न श्रम है, न पराधीनता। केवल नित्य प्राप्त आत्मवस्तुकी ही प्राप्ति है, किसी अप्राप्त स्थिति, अवस्था या वस्तुकी प्राप्ति नहीं है।

आत्मा अज्ञानसे ही बद्ध प्रतीत होता है; ज्ञानसे वह नित्य मुक्त ही है। अज्ञानसे जो वस्तु सिद्ध होती है वह वास्तवमें होती नहीं है और ज्ञानसे जो वस्तु प्राप्त होती है वह पहिलेसे ही मिली रहती है। अतः आत्मामें बन्धन है नहीं और मोक्ष उसका स्वभाव है, स्वरूप है।

इस प्रकार मुमुक्षाकी परिसमाप्ति मोक्षकी सिद्धिमें है और मोक्षकी सिद्धि आत्माके सिद्ध मोक्षस्वरूपके ज्ञानमें है। यह ज्ञान न कर्माङ्ग है, न उपासनाङ्ग और न योगाङ्ग। यह तो आत्माके बद्धस्वरूपके निषेध और

मोक्षस्वरूपके प्रामाण्यका अंग है। वह प्रमाण भी भ्रम, प्रमाद, करणापाटव एवं विप्रलिप्सा-रूप दोषोंसे मुक्त वेदोक्त महावाक्यजन्य अखण्डार्थधी (प्रमाण वृत्ति) सम्बन्धी है। वह किसी महापुरुषकी शरणागतिसे ही संभव है, किसी और प्रकारसे नहीं।

लोकमें जो धन कमाते हैं वे धनी-शिरोमणि सेठोंका संग करते हैं। वकालत, डाक्टरी सबमें अपनेसे बड़े वकीलों, डाक्टरों इत्यादिका संग आवश्यक है। किन्तु आप ब्रह्मज्ञान तो चाहते हैं, परन्तु ब्रह्मज्ञानियोंका संग नहीं चाहते ! महापुरुषोंका संग करनेमें संकोच-शरम क्यों ?

आप गीता रेडियोपर सीखना चाहते हैं ? सोफ़ेपर लेटे हैं और सीख रहे हैं गीता रेडियोपर ! ऐसा क्यों ? इसीलिए न कि इसमें आपके अहंकारकी पूजा बनी रहती है। किन्तु अहंकारकी पूजा दूसरी चीज़ है और मोक्ष-प्राप्ति या परमात्माकी प्राप्ति दूसरी चीज़ है।

महापुरुषसंश्रयका अर्थ है अभिमान छोड़कर सत्पुरुषकी शरणागति। अपने बल, शरीरका सौन्दर्य, धन, जाति विद्या, बुद्धि, पदके सारे अभिमान छोड़कर आचार्यकी शरण लेनी पड़ती है।

आचार्याद्धचैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापति (छान्दो० ४.९.३)

'आचार्यसे जानी हुई विद्या ही प्रतिष्ठित होती है।' तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी यही विधि है।

स विज्ञानार्थं गुरुमेवाभिगच्छेत् (मुण्डक० १.२.१२)

'तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके लिए गुरुकी शरणमें ही जाये, घरमें लाकर वेदान्तका ट्यूशन नहीं लिया जाता; उसमें तो गुरुजी पैसेपर खरीदे जायेंगे। गुरुजी छोटे हो जायेंगे और शिष्यजी बड़े दिखेंगे। ऐसा भी नहीं कि श्लोकमें-से वेदान्त निकल आयेगा। यह गुरुके प्रति अभिगमन ही 'महापुरुषसंश्रय' है।

एक महात्मासे किसीने पूछा—'महाराज ! ज्ञान कैसे होता है ?' वे बोले—'दीया कैसे जलता है ?'

एक दीया जल रहा है, उसे अनजले दीयेसे सटा दो। दूसरा भी जल जायेगा। लौसे लौ जलती है। एक महापुरुष होगा तो उसके सम्पर्कसे तुम्हारे बन्धनके जो प्रतिबन्ध हैं, वे दूर हो जायेंगे। महापुरुषके शरीरमें-से

एक ऐसी हवा निकलती है, ऐसी चाँदनी छिटकती है, ऐसी सुगन्ध, ऐसा स्पर्श होता है कि हममें आनन्दकी, सत्यकी योग्यता अपने आप आ जाती है।

अल्पसे भूमाकी ओर, छोटेसे बड़ेकी ओर जब चलने लगते हैं तब समझना चाहिए कि सबसे बड़ा जो भगवान् है वह हमें अपनी ओर खींच रहा है। यही भगवान्‌की कृपाकी पहिचान है।

हमारे मनकी ही सब बातें होती रहें, ऐसा सोचना भगवान्‌की कृपा नहीं है। भगवान्‌से जोड़ने-मिलानेवाली जो बातें हैं उनसे जब हमारा सम्बन्ध जुड़े तब उसे भगवान्‌की कृपा समझनी चाहिए। इस प्रकार मनुष्य होना भगवान्‌से जुड़नेकी पहली कड़ी है, मनुष्य होकर मुमुक्षा होना दूसरी और महापुरुषसंश्रय होना तीसरी कड़ी है।

महापुरुषके साथ कोई भी सम्बन्ध हो—समझके साथ सम्बन्ध, प्यारके साथ सम्बन्ध, शारीरिक सम्बन्ध, ये तीनों सम्बन्ध कल्याणकारी होते हैं। शंकराचार्य भगवान्‌के एक ऐसे शिष्य थे जिन्हें कुछ न आता था। वे पढ़े-लिखे न थे। शंकराचार्य भगवान्‌की लंगोटी वे धो देते, उनका कमण्डलु भरते, साथ-साथ चलते और हाथ जोड़कर खड़े रहते। एक दिन शंकराचार्य भगवान् भजनमें बैठे थे। दूसरे शिष्योंने उनकी हँसी उड़ायी। इससे उनके मनमें दुःख हुआ। दुःखी हुए तो दुःखो भावसे जाकर भगवान् शंकराचार्यजीको प्रणाम किया। शंकराचार्यने पूछा—'तुम कौन हो ?' वह बोला—'मैं क्या जानूँ कि मैं कौन हूँ !' जब उसे कुछ नहीं सूझा तो शंकराचार्यने उसके सिरपर हाथ रख दिया। हाथका रखना था कि उसे तुरन्त तत्त्वज्ञानका स्फुरण हो गया। वह बोल उठा—

नाहं मनुष्यो न च देवयक्षो, न ब्राह्मणः क्षत्रियवैश्यशूद्रः।
न ब्रह्मचारी न गृही वनस्थो, भिक्षुर्न चाहं निजबोधरूपः॥

अर्थात् 'न मैं मनुष्य हूँ और न देव या यक्ष हूँ। मैं न ब्राह्मण हूँ और न क्षत्रिय, न वैश्य, न शूद्र हूँ। मैं न ब्रह्मचारी हूँ और न गृहस्थ या वानप्रस्थ हूँ। मैं संन्यासी भी नहीं हूँ। मैं तो केवल बोधस्वरूप, नित्य-शुद्ध-बुद्ध ब्रह्म हूँ।'

लोगोंको देखकर आश्चर्य हो गया। महापुरुषके संश्रयकी ऐसी प्रसिद्धि है। ●

अध्याय–२

मुमुक्षाकी पूर्तिका उपाय–ब्रह्मविचार

१. मुमुक्षाका उदय

मनुष्य-जन्म जो बड़ा दुर्लभ था आपको मिल गया है। यह वह साँचा है जिसमें परमात्मा समा जाता है। इसमें आपको वह शीशा मिला है जिसमें परब्रह्म परमात्माका प्रतिबिम्ब दिखाई पड़ता है।

मनुष्य-शरीरमें भी श्रुतिका वह सिद्धान्त, वह रहस्य समझनें आना दुर्लभ है जो कर्मकी सीमाके पार है, जो भोगकी सीमासे परे है। यही समझ मुमुक्षाकी जननी है।

परन्तु हो क्या रहा है? ऐसा दुर्लभ मनुष्य-जीवन प्राप्त करके भी जीवन कर्म और भोगके सम्पादनमें ही बीत रहा है। इनके सम्पादनमें दुःख भी मिलता है फिर भी इनके त्यागमें रुचि नहीं होती! रुचि होती है अपनेको बेहोश करनेमें, दूसरोंसे लड़ाई-झगड़ा करनेमें और अपना अहंकार बढ़ानेमें। असत्‌में उसकी आस्था दृढ़ होती जा रही है। फिर सत्यका ग्रहण क्यों होगा?

जिसकी बुद्धि मोहग्रस्त है, वह तो फँसा है। बन्दरने छोटे मुँहके बर्तनमें चना लेनेके लिए हाथ डाला, किन्तु जब मुट्ठी भर गयी तो बर्तनसे हाथ निकलता ही नहीं! वह पकड़ा गया है। अरे ओ मूढ़ मन! एक चीजको पानेके लिए दुनियामें जाता है और इतना बन्धन! इतनी पराधीनता! स्त्री-सुख, धन-सुख, परिवार-सुख सबमें पराधीनता है। जिसको पराधीनता नहीं खलती वह कैसे परम स्वतन्त्र परमात्माको पानेके लिए उद्योग करेगा? उसमें मुमुक्षाका उदय ही नहीं होगा।

जिसके लिए तुम एड़ी-चोटीका पसीना एक कर रहे हो वह सत्य है कि मृगतृष्णा? क्या तुम बता सकते हो कि अनादि कालसे अबतक जिन लाखों-करोड़ों लोगोंने वह चीज पायी, उसे भोगा, उसके मालिक बने, उनको सुख-शान्ति मिली? नहीं मिली! मानों लोगोंको नशा चढ़ा है!

कर्म और भोगका नशा ! **न शम्-शान्तिर्यया इति नशा**—जिससे सुख और शान्ति न मिले उसको कहते हैं नशा ! आप नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त होकर अपनेको मरनेवाला, पापी-पुण्यात्मा समझते हैं, स्वाधीन होनेपर भी पराधीन समझते हैं, मुक्त रहनेपर भी बद्ध समझते हैं, यही नशा है।

वेद कहता है : 'यदि तुमने इसी जीवनमें सत्यको जान लिया, तब तो ठीक है परन्तु यदि न जाना तो महान् विनाश हुआ।'[1] आपकी बुद्धि परमात्मासे एक होनेके लिए मिली थी, वह नहीं हुई। आपकी कामना परमानन्दसे एक होनेके लिए मिली थी, वह परमानन्द आपने प्राप्त नहीं किया।

आपका यह जीवन अजर-अमर होनेकी सीढ़ी थी, परन्तु आपने अजर-अमर जीवन नहीं पाया ! यह तो मानो खुदकुशी हुई, आत्मघात हुआ। आपको अपना ही परिचय नहीं है कि 'मैं कौन हूँ ?' अपने आपको ठीक-ठीक न जानना ही आत्मघात है। आप अपनेको ही मार रहे हैं, दूसरेको नहीं मार रहे हैं, क्योंकि आपने असत्यको पकड़ रखा है; अथवा अब तो असत्यने ही आपको पकड़ लिया है और आप उसे छोड़ नहीं पा रहे हैं !

जो नहीं है उसे आपने 'है' समझ लिया है ; जो पराया है उसको 'अपना' और जो अपना है उसे पराया समझ लिया है ; जो सुख है उसको दुःख समझ लिया है और जो दुःख है उसको सुख समझ लिया है ! इससे बढ़कर और क्या मूढ़ता होगी ?

२. मुमुक्षाकी पूर्तिके विविध उपाय

तब क्या करें ? वेद-शास्त्रोंकी पंक्ति-पंक्ति घोट डालें ? शास्त्रोंकी लच्छेदार प्रवचन करनेकी योग्यता प्राप्त कर लें ? वेदोक्त देवताओंकी आराधना करके उनको सिद्ध कर लें ? सारा जीवन शास्त्र और लोकसे सम्मत शुभ कर्मोंमें बिता दें ? सारा समय इष्टदेवताके भजनमें व्यतीत करते रहें ? समाधि सिद्ध कर लें ? क्या उपाय करें कि असत्का ग्रहण छूटे, बुद्धिकी मूढ़ता हटे, मुमुक्षा जगे और अन्ततः मोक्षकी प्राप्ति हो ?

---

१. इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः। (केन० २.५)

श्रीशंकराचार्य भगवान् कहते हैं कि कुछ भी करो और चाहे जबतक करते रहो, जबतक आत्मा और ब्रह्मकी एकताका बोध नहीं होता तब तक सौ कल्पोंमें भी मोक्षकी सिद्धि नहीं हो सकती।[२] उपनिषदोंका यही सिद्धान्त है कि 'बिना ज्ञानके मुक्ति नहीं होती।'[३] 'उसको जानकर ही मृत्युका अतिक्रमण कर जाता है' इसके लिए अन्य कोई दूँसरा रास्ता नहीं है।'[४]

प्रश्न यह है कि आप पाना क्या चाहते हैं और छूटना किससे चाहते हैं ? असलमें आप अजर-अमर जीवन, सत्य-ज्ञान और सहज बोधरूप स्वतन्त्र परमानन्द पाना चाहते हैं और जड़ता, मृत्यु, दुःख और पराधीनतासे हमेशा-हमेशाके लिए छूटना चाहते हैं। दीनता, हीनता, पराधीनता, विकारिता—सबसे मुक्ति चाहते हैं। दूसरे शब्दोंमें आप 'मोक्ष' चाहते हैं। यदि इस मोक्षके प्रति आपकी इच्छा जाग्रत हो गयी है तो आत्मा और ब्रह्मके एकत्व-बोधके बिना इस मोक्षकी सिद्धि संभव नहीं है। जो कुछ करना है इसी एकत्व-बोधके लिए करना है।

शास्त्रोंके पण्डित होकर भी मनुष्यकी अर्थ और भोगकी वासना न तृप्त होती है और न निवृत्त होती है।

पाण्डित्यसे अभिमान बढ़ता है। हाँ, अर्थका साधन हो सकता है पाण्डित्य या प्रवचन-कला किन्तु मोक्षका नहीं। इसी प्रकार वैदिक कर्मोंका अनुष्ठान तथा वैदिक देवताओंका यजन लौकिक-पारलौकिक सुखका हेतु तो हो सकता है परन्तु सुखकी आसक्ति और पराधीनताकी निवृत्ति नहीं कर सकता, परिच्छिन्नताकी भ्रान्ति निवृत्त नहीं कर सकता। अतः वह मोक्षमें हेतु नहीं हो सकता।

समाधि और इष्ट-चिन्तन विक्षेप और अनिष्टका तो निवर्तक है, और वह भी उसी कालके लिए, परन्तु जीवत्वका (कर्तृत्व-भोक्तृत्व, संसारित्व और परिच्छिन्नत्वका) निवर्तक नहीं है। अतः ये भी मुक्तिके साधन नहीं हैं।

---

२. वदन्तु शास्त्राणि यजन्तु देवान् कुर्वन्तु कर्माणि यजन्तु देवताः।
आत्मैक्यबोधेन बिना विमुक्तिर्न सिध्यति ब्रह्मशतान्तरेऽपि ॥ (वि० चू० ६)

३. ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।

४. तमेव विदित्वाऽतिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय। (श्वेता० ३.८)

धार्मिक लोग कहते हैं कि 'तुम यहाँ धर्म करो और मरनेके बाद स्वर्गमें या अगले जन्ममें तुम्हें फल (सुख) मिलेगा' । इस सुखरूप कल्पनाका नाम मोक्ष नहीं है ।

उपासक लोग कहते हैं कि 'तुम इष्टदेवकी यहाँ, अब उपासना करो और उससे तुम्हें इस जीवनमें तन्मयताका सुख और मृत्युके बाद इष्टदेवके लोकमें पहुँचनेपर परमानन्दकी प्राप्ति होगी' । किन्तु इस सुखकी प्राप्तिका नाम मोक्ष-सुख नहीं है ।

योगी लोग कहते हैं कि समाधि लगाओ, उसके बाद कैवल्यमें (केवल द्रष्टाके स्वरूपमें)स्थिति होगी । इससे सर्वदु:खनिवृत्ति हो जायेगी और उनके अनुसार यही मोक्ष है । परन्तु इसमें संसार और उसके सुखकी पृथक् सत्ता निवृत्त नहीं हो सकती, अतः न तो इसमें भोक्तृत्वकी निवृत्ति हो सकती है और न उसके परिच्छिन्नत्वकी निवृत्ति हो सकती है । तब पराधीनता और अज्ञानकी निवृत्ति कहाँ हुई ?

तत्त्वज्ञानमें अपना स्वरूप ही मोक्ष है । केवल भ्रमके कारण हम उससे वंचित हैं । न वह धर्मसे उत्पन्न होता है, न उपासनासे और न भक्तिसे । योगसे भी उसमें स्थिति नहीं होती । वह तो अपना स्वरूप ही है ज्यों-का-त्यों । पहिले भी वह था, अब भी वही है और आगे भी वही होगा । सिर्फ बुद्धिकी गड़बड़ीसे यह छिप-सा रहा है, तिरोहित-सा हो रहा है, आवृत-सा हो रहा है । तत्त्वज्ञानमें इस आवरण-भंगके लिए प्रयास करना अभीष्ट है । इसीसे मोक्षकी सिद्धि होती है ।

केवल भ्रमसे ही बन्धन है और केवल ज्ञानसे, समझदारीसे मुक्ति मिलती है, यह वेदान्तका सिद्धान्त है । भक्तिमें समझदारीके साथ भक्ति मिलनेपर ईश्वरकृपासे मोक्ष होता है । धर्मात्मा लोग भी सिर्फ समझदारीसे मोक्ष नहीं मानते । वे लोग समझदारीके साथ सदाचार और धर्मानुष्ठानसे मोक्ष मानते हैं । योगी लोग समझदारीके साथ योगाभ्याससे स्थिति-विशेषमें मुक्ति मानते हैं । और ऐसा भी है कि इन सब सिद्धान्तोंमें समझदारीका अर्थ भी पृथक्-पृथक् होता है । फिर मुक्तिके स्वरूपमें भी अन्तर है । सिद्ध-शिलापर वीतराग होकर, शुद्ध होकर, चमाचम चमकना जैनोंकी मुक्ति है । बौद्ध अन्तःकरणके उच्छेदको मुक्ति कहते हैं । सांख्यवादी पुरुषकी असङ्गताको मोक्ष कहते हैं । पूर्वमीमांसक पार्थसारथि जगत्से

सम्बन्ध-विलयको मुक्ति कहते हैं। मुसलमान और ईसाई मजहबोंमें और हमारे धर्म-उपासना ग्रंथोंमें भी मुक्तिका एक-सा ही स्वरूप है—अर्थात् कर्म और विश्वासके आधारपर किसी पीर-पैगम्बर, ईश्वर-पुत्र या अवतारकी कृपा अथवा सिफ़ारिशपर स्वर्ग, बहिश्त, इष्टलोककी प्राप्ति। वेदान्तमें अविद्या-निवृत्तिसे उपलक्षित आत्माका नाम ही मोक्ष है।

ईसाई-मुसलमानका मजहब विश्वासपर है, धर्म और योगका पंथ पौरुषका है, भक्तिका मार्ग ईश्वरानुग्रहपर है और वेदान्तका मार्ग विचारका है।

सीधी बात है। यदि आप मनुष्य-जन्म पाकर भी और विचार-शक्ति सम्पन्न होकर भी मोक्षके लिए प्रयत्न नहीं करते तो आप अपने प्रति बहुत निष्ठुरता बरत रहे हैं, अपने साथ अन्याय कर रहे हैं। समझदार आदमीका काम यह है कि वह पहिले अपनी विमुक्तिके लिए प्रयत्न करे! उसके लिए क्या तैयारी करे? तो वह तैयारी यह है कि बाहरी वस्तुओंमें जो सुखकी स्पृहा है उसका संन्यास कर दे!

संन्यास माने कपड़ा रंगना नहीं, जंगलमें चले जाना नहीं। अपने मनमें जो इच्छाएँ हैं, वासनाएँ हैं, उन इच्छाओं, वासनाओंके त्यागका नाम संन्यास है। उसमें भी इच्छाओंके विषयोंमें जो यह बुद्धि है कि उन-उन विषयोंमें सुख है, उस बुद्धिके त्यागका नाम संन्यास है।

यदि आप बाहरी वस्तुओंसे सुख लेनेके चक्करमें पड़े हैं कि यहाँ रहनेसे, यह खाने-पीने भोगनेसे, ऐसे रहनेसे सुख मिलेगा तो आप जिन्दगी भरके लिए उसमें फँस गये। न वस्तुओंकी डिज़ाइन कभी खतम होंगी और न उनकी माँग कभी पूरी होगी! और फिर जहाँ सुख है ही नहीं, उस सुखके भ्रमकी समाप्ति उनकी इच्छा करनेसे कैसे समाप्त होगी? आप अन्तर्यामी परमेश्वरके सुखका, परमानन्दका, आत्मानन्दका तो तिरस्कार कर रहे हैं और उसे बाहरके विषयोंमें ढूँढ रहे हैं! क्या विडम्बना है! जो चीज़ सड़ने-गलनेवाली हैं, मरनेवाली हैं उनसे आप सुखकी आशा करते हो? आपके भीतर सुखकी जो पवित्र गंगा बह रही है, उसके आस्वादनका आपने कभी प्रयत्न नहीं किया और बाहर आपने बहुत महँगी शराब खरीदी! आपको सुखी होनेकी तो स्पृहा है परन्तु जो एकरस, सुखस्वरूप, आनन्द-स्वरूप है, उससे सुखी होनेकी इच्छा नहीं है? तो बाबा, इतनी बात तो

पहिले आपके अन्दर आनी चाहिए कि आप बाहरी वस्तुओंसे जो सुख प्राप्त करना चाहते हैं उस इच्छाका संन्यास कर दें।

इसके पश्चात् आप किसी महापुरुषकी शरणमें जाइये। वह आपको मुक्तिका मार्ग दिखायेंगे। वही आपके गुरु होंगे। गुरु वही होता है जो परमात्माको दिखा दे। उससे आपने पूछा कि 'ईश्वर कहाँ है ?' और उसने अपने कलेजेकी ओर उँगली उठाकर दिखा दिया कि 'यहाँ है'। आपने पूछा कि ईश्वर कौन है ?' और उसने आपकी ओर उँगली उठाकर बता दिया कि 'तुम ईश्वर हो'।

इसीसे गुरुको 'देशिक' भी कहा जाता है। देशिनी एक अंगुली होती है, उसके द्वारा जो बोधन करे वह देशिक। 'मुक्ति क्या, कब, कहाँ ?' पूछनेपर वे अङ्गुलिनिर्देश करके बतायेंगे 'मुक्ति अभी यहीं तुम तुम्हारा स्वरूप'।

वह गुरु कैसा हो ? सन्त हो और महानतम हो। जो सन्मात्र (अस्ति मात्र) से परिपूर्ण हो उसका नाम सन्त है, जो बाह्य वस्तुओंसे अपनेमें महत्त्वका आरोप करते हैं वे सन्त नहीं हैं। जो महानतम ब्रह्मसे एक होकर बैठा है वही महानतम है। जिसकी निर्विशेष ब्रह्मदृष्टि है वह सन्त है।

ऐसे गुरुके पास जाकर, उनके शरणापन्न होकर, उनको बड़ा बनाकर और स्वयं छोटे बनकर सीखना चाहिए और वह जो भी उपदेश करें उसमें आदरपूर्वक अपने आपको समाहित करना चाहिए।

आपके लिए दूसरा कोई साधन नहीं कर सकता। त्याग आपके स्वयंका धर्म है और सच्चिदानन्दघन ब्रह्म आपके स्वयंका स्वरूप है। दूसरा कोई आपके लिए यह सब कुछ नहीं कर सकता। 'शक्तिपात'की इच्छा आलसी लोगोंका सपना है जो स्वयं कुछ नहीं करना चाहते।

हमको एक साधुने कहा—'अच्छा, होगा भजन भगवान्का।' उन्होंने हमपर शक्तिपात किया और फटाफट भगवान्का नाम जीभपर आने लगा। फिर बन्द हो गया। जब शिकायत की तो वे बोले—'क्या हमेशा तुम्हारी जीभपर बैठकर मैं बोलूँगा ?'

साधन, भजन, त्याग खुदको करना पड़ता है। आलसी, प्रमादी लोगोंका यह रास्ता नहीं है। वेदान्तका अध्ययन दूसरी वस्तु है और श्रवण दूसरी वस्तु है।

यह तो प्रमाणगत संशय[५] और प्रमेयगत संशय[६]को निवृत्त करके जो नैसर्गिक विपर्यय[७] है उसे दूर करनेके लिए निदिध्यासन स्वयं करना पड़ता है।

इस संसार-समुद्रमें आप डूब रहे हो तो इससे अपना उद्धार स्वयं ही करना होगा। यह पंचभूतोंमें जो आपकी आकृति बनी हुई है और इसको चलानेवाले जो पंचभूतोंके कार्य प्राणादि हैं, उनको मैं–मेरा मानना, बस यही भवसासगरमें डूबना है।

अपना उद्धार स्वयं कीजिये। 'उद्धार' शब्दका अर्थ है—कोई नीचे गिर रहा हो, गिरा हो, उसे ऊपर उठाना और फिर उसे पुनः गिरने न देना। अब आत्मा तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ही है, उसका क्या पतन और क्या उद्धार? तब जो पतित मनसे तादात्म्यापन्न हो गया है वही पतितात्मा है और जो उत्थित मनसे एक हो गया है वह उत्थितात्मा है। अतः अपना उद्धार स्वयं करे, इस वाक्यका अर्थ है कि आत्माके शुद्ध स्वरूपकी बुद्धिसे युक्त होकर देहात्म-भ्रममें पड़े हुए अपने आपको स्वरूप-स्थित करे। अपने आपको अवसन्न न करे, अर्थात् बिखेरे नहीं, अपनेको उजाड़े नहीं।

आपने अपना ज्ञान बिखेर रखा है—थोड़ा लैबोरेटरीमें, थोड़ा किताबोंमें और थोड़ा घरकी गुरुजीमें! आपने अपना जीवन बिखेर रखा है—थोड़ा बैंकमें, थोड़ा दुकानमें, थोड़ा घरमें। इस बिखरावको रोकिये।

कैसे रोकें इस बिखरावको? इसके लिए पहले एक निष्ठा जीवनमें लानी चाहिए कि जो सत्य है, उसीको मैं जीवनमें स्वीकार करूँगा। और सत्य वह है जिसमें कोई पारमार्थिक भेद नहीं है। इसका अर्थ है कि सम्पूर्ण जीवनको गुरु द्वारा उपदिष्ट परमार्थ-सत्यके अनुभवकी दिशामें प्रवाहित किया जाना चाहिए।

---

५. वेदान्तशास्त्रका तात्पर्य आत्मा और ब्रह्मकी एकतामें ही है और यही मोक्ष है ऐसे निश्चयका न होना प्रमाणगत संशय है।

६. आत्मा और ब्रह्मकी एकतामें जो दोष हैं उनके कारण बुद्धिमें जो अनिश्चय है उसे प्रमेयगत संशय कहते हैं।

७. निश्चय होनेपर भी व्यवहारका जो मूल आधार आत्मा और देहका सहज अध्यास है उसमें सत्यत्व भ्रान्ति नैसर्गिक विपर्यय है।

उक्त निष्ठाका एक सहज परिणाम होगा—अनासक्त जीवन। जो अपने जीवनको अपने लक्ष्यकी ओर प्रवाहित कर रहा है वह मार्गमें कहीं अटक नहीं सकता। यह अटकना ही आसक्तिका परिचायक है। जहाँ सुख प्रतीत होता है और जिसको अपना आपा भोक्ता प्रतीत होता है, वहाँ वह व्यक्ति आसक्त हुए बिना नहीं रह सकता। विषयमें सत्यत्व एवं रमणीयताकी तथा विषयीमें भोक्तृत्वकी भ्रान्ति मिलकर आसक्तिको जन्म देती है। कहीं, कभी, किसीसे चिपक जानेका नाम आसक्ति है। परन्तु जो गतिशील है उसके लिए देश, काल और वस्तु सदैव बदलते रहते हैं। फिर वह कहाँ, कब, किससे, क्यों और कैसे चिपकेगा ?

चार प्रकारकी आसक्तियाँ होती हैं : कर्मासक्ति, फलासक्ति, कर्तृत्वासक्ति, और अकर्तृत्वासक्ति। सुख किसी विशेष कर्मसे ही प्राप्त हो यह आग्रह कर्मासक्ति है। अरे बाबा, सुखको आने दो, उसके द्वारका आग्रह क्यों करते हो ? पतिदेवका स्वागत करो फिर चाहे वे इस द्वारसे आवें या उस द्वारसे, घरकी कीमती कारसे आवें या किरायेकी सामान्य टैक्सीसे। कर्मासक्तिमें कर्मका बन्धन है।

कर्ता और कर्मके बीचमें कर्मकी प्रेरणा होती है और कर्म और भोक्ताके बीचमें कर्मफल होता है। जब प्रेरणा सुख होती है तब कर्मफलमें भोक्ता सम नहीं रह पाता। कर्मफल प्रेरणाके अनुकूल होनेपर राग उत्पन्न करता है और प्रतिकूल होनेपर द्वेष। यही **फलासक्ति** है। जिसकी प्रेरणा कर्त्तव्यका पालन या भगवान्की प्रसन्नता या प्राप्त परिस्थितिका सदुपयोग है, वह सर्वत्र सुखका अनुभव कर सकता है, उसमें फलासक्ति नहीं रहती।

कोई-न-कोई काम करते ही रहें यह आग्रह **कर्तृत्वासक्ति** है। और अपने आत्माको अकर्ता मानकर कर्म न करनेका आग्रह **अकर्तृत्वासक्ति** है।

विषय हो, कर्म हो, परन्तु आसक्ति न हो। तब आप कहीं बीचमें अटकेंगे नहीं और अन्तमें लक्ष्यपर पहुँच जायँगे।

इस प्रकार (१) **सत्यनिष्ठा** तथा (२) **अनासक्ति-योग**–ये दो आवश्यक शर्तें हैं जो प्रत्येक मुमुक्षुके जीवनमें अनिवार्य हैं। परन्तु मोक्ष सम्पादनके कुछ अन्य आवश्यक अंग भी हैं। वे हैं : (३) **पाण्डित्य** (४) **धैर्य** (५) **संन्यास** एवं (६) **आत्माभ्यास**।

सदसद् विवेकवती बुद्धिका नाम पण्डा है; वह बुद्धि जिसके पास है उस विवेकी पुरुषको पण्डित कहते हैं। मुमुक्षुमें यह पाण्डित्य अपेक्षित है अन्यथा यह संभावना है कि उसकी कभी असत्यमें ही सत्यबुद्धि हो जायेगी। शास्त्रोंको घोट-पीसकर कण्ठाग्र कर लेना अथवा उनका अध्यापन या प्रवचन करनेकी सामर्थ्यका नाम पाण्डित्य नहीं है। **'नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन'** (मुण्डक० ३.२.३) यह श्रुति इस सम्बन्धमें स्पष्ट कथन करती है कि यह आत्मा प्रवचन, मेधा या बहुत सुननेसे प्राप्त नहीं होता।

सुख और दुःख दोनोंको सहन करनेका नाम धैर्य होता है। सुख सहन नहीं होता तो या तो हार्ट-फेल हो जाता है या बुद्धि उच्छृङ्खल हो जाती है। वह आदमी उपद्रव करने लगता है। हमको यह स्त्री चाहिए, यह भोग चाहिए—इस प्रकारकी माँग बढ़ जाती है; और हम तो यह करेंगे, वह करेंगे—इस प्रकार कर्म अनियन्त्रित हो जाता है। इसी तरह जब दुःख सहन नहीं होता तो आदमी छाती पीट-पीटकर रोता है, पागल हो जाता है, डाकू हो जाता है या फिर उसका हार्टफेल हो जाता है। **'समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते'** (गीता २.१५) जो सुख-दुःखमें सम है, वही धीर पुरुष है और वही अमृतत्वके योग्य होता है। यदि आप दुनियामें कुछ मिल जानेसे उच्छृङ्खल हो जाते हैं और कुछ खो जानेसे रोने लगते हैं तो आत्मचिन्तन कैसे करेंगे ?

जो विवेकी है, धीर है उसे सर्व-कर्म-संन्यासके लिए सम्मुख होना चाहिए। यह एक पुरुषार्थ है। मोक्षके अतिरिक्त दूसरी वस्तुओंको प्राप्त करनेका जो प्रयास है, वहाँसे उपराम होनेका नाम सर्व-कर्म-संन्यास है। जीवनमें प्रयत्न तो रहे परन्तु दूसरी वस्तुओंको पानेके लिए प्रयत्न न रहे, अपनी सहज पूर्णताके लाभके लिए प्रयत्न रहे, अपनी मुक्तिके लिए प्रयत्न रहे।

गुरुमुखसे वेदान्तशास्त्रका तात्पर्य-निश्चय करना **श्रवण** कहलाता है। उस श्रुत अर्थका अनुकूल युक्तियोंसे चिन्तन तथा बाधक युक्तियोंका खण्डन **मनन** कहलाता है। श्रवण और मनन किये हुए अर्थमें बुद्धिका तैल धारावत् प्रवाह **निदिध्यासन** कहलाता है। निदिध्यासनमें विजातीय वृत्तिका तिरस्कार है और सजातीय वृत्तिका प्रवाह है। यह जो श्रवण, मनन, निदिध्यासन है इसीका नाम आत्माभ्यास है।

अभ्यास माने दुहराना। आप जीवनमें बार-बार किसको दोहराते हैं? मकान-दुकान, रुपया, दोस्त, दुश्मन, इन्हीं अनात्माको तो दुहराते हैं। यह अनात्माका अभ्यास जो जीवनमें प्रविष्ट हो गया है, उसके निवारणके लिए आत्माभ्यास करना पड़ता है कि 'मैं नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म हूँ। मैं असंग हूँ, मैं साक्षी हूँ, इत्यादि।' इस अभ्याससे ही उस ज्ञानबलकी उत्पत्ति होती है जिससे भ्रमकी निवृत्ति होती है। केवल अपनेको असंग साक्षी मान लेनेसे और अभ्यास न करनेसे भ्रान्ति निवृत्त नहीं होती।

प्रश्न—आप सर्व-कर्म-संन्यासकी बात कहते हैं किन्तु शास्त्रमें तो कर्म करनेका बड़ा भारी विधान है? फिर भगवान्‌ने इन्द्रियाँ दी हैं तो कर्म और भोगके लिए ही तो दी हैं।

उत्तर—ठीक है, कर्मका विधान शास्त्रोंमें है, परन्तु उसका प्रयोजन भी समझना चाहिए। और कहो कि भगवान्‌ने पैर दिये हैं तो फिर चलते ही क्यों न रहें, विश्राम क्यों करें? अरे भाई भगवान्‌ने पैर दिये हैं तो नींद भी तो उसीने दी है! तो भगवान्‌ने इन्द्रियाँ दी हैं, ठीक है, परन्तु बुद्धिमें प्रवृत्ति-निवृत्तिका विवेक भी तो उसी भगवान्‌ने दिया है। प्रयोजन-वश सभी प्रवृत्ति और निवृत्तिकी संगति लग जाती है।

शास्त्रमें कर्मका विधान है, परन्तु उसका एक प्रयोजन है, और वह प्रयोजन है चित्तकी शुद्धि।

पाप कर्मोंके द्वारा, वासनापूर्ति (भोग)के द्वारा, अहंकार और नासमझीसे किये गये व्यवहार द्वारा हमारा चित्त दूषित हो गया है। वह असत् और जड़की ओर झुकता है और दुःखमें ही सुख-बुद्धि कर बैठता है, बन्धनमें ही मुक्ति समझता है, विलासितामें ही अमृतत्वके सपने देखता है। वह मोहके कारण देह-केन्द्रित हो गया है, अहं-केन्द्रित हो गया है। छोटी-छोटी वस्तुओं और सिद्धान्तोंमें ही उसकी अलं-बुद्धि हो गयी है। संक्षेपमें वह कर्म-मल और वासना-विक्षेपसे ग्रस्त हो गया है। अतः मोक्ष-सम्पादनकी प्रक्रियामें शास्त्रीय कर्म-संविधानका प्रयोजन चित्तको उक्त दोषोंसे मुक्त करना है, जिससे चित्तका सहज झुकाव ज्ञानकी ओर हो सके।

बन्दूकसे निशाना लगता है यह ठीक है, परन्तु पहिले बन्दूकको साफ करना पड़ता है। इसी प्रकार चित्त (सम्पूर्ण अन्तःकरण—मन, बुद्धि,

चित्त, अहंकार) एक यन्त्र है, जिससे पूर्णतारूप मोक्ष पर निशाना लगाना है, परन्तु पहिले उस चित्तकी सफाई, शुद्धि आवश्यक होती है।

शास्त्रीय कर्म मनुष्यको अधर्म, वासना और अहंकारसे मुक्त करनेके लिए हैं। किन्तु चित्त शुद्ध होनेके अनन्तर उन कर्मोंका न्यास भी आवश्यक हो जाता है, जिससे कर्मासक्ति और कर्तृत्वासक्तिका विनाश होता है।

मनमाने कर्म अहंकारको बढ़ाते हैं और सद्गुरु-सत्शास्त्रकी आज्ञासे किया कर्म अभिमानको मिटाता है और अपनी प्रेरणाके मूल स्रोतको खोल देता है।

३. ब्रह्मविचारसे मोक्ष

मुमुक्षाका उदय जिस चित्तमें हो गया वह चित्त शुद्ध हो गया। जो चित्त शुद्ध आत्माके चिन्तनके प्रति प्रवण हो गया वह चित्त शुद्ध है। अब आगे बढ़नेके लिए उसको सर्वकर्म-संन्यास आवश्यक ही है। क्योंकि कर्मका प्रयोजन जो चित्तशुद्धि था, वह तो पूरा हो गया और मोक्ष (अर्थात् ब्रह्मात्मैक्य-बोध)की सिद्धि करोड़ों कर्मोंसे भी नहीं हो सकती। वह तो विचारसे ही सिद्ध होगी क्योंकि बन्धन और पृथक्त्व अज्ञानसे, अविचारसे ही सिद्ध है।

बड़ी अद्भुत बात है! अपना आत्मा ही मोक्ष है और वह नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ही है। यदि मोक्ष अन्य होता, पृथक् देशमें या पृथक् कालमें होता तब तो कर्मसे, भावसे वह प्राप्य होता, परन्तु उस दशामें न वह नित्य होता और न परमानन्द-स्वरूप! फिर उसकी इच्छा भी कौन करता? यदि वह अन्तःकरणके विनाशसे सम्पन्न होता और स्वयं आत्मा भी उसके समकाल ही नष्ट हो जाता तब तो वह भयावह ही होता। जो नित्य न हो, ज्ञानस्वरूप और परमानन्दस्वरूप न हो और अपना आपा ही नहीं हो—वह कोई भी हो, मुमुक्षुका प्रेमास्पद नहीं हो सकता।

जो अपना आपा होता है और नित्य परमानन्द-स्वरूप होता है, वह अज्ञानके कारण ही अन्य-सा, अनित्य-सा, दुःख-सा भासता है; ज्ञात होते ही वह जैसा है वैसा भासने लगता है। अतः मुमुक्षुको चित्त शुद्ध हो जानेपर केवल अपने अज्ञान-निवृत्तिके लिए ही प्रयत्न करना शेष कर्त्तव्य रह जाता है। भ्रान्ति अज्ञान-मूलक एक वृत्ति है जो अविचारसे सिद्ध

है। अतः उसकी निवृत्तिके लिए ज्ञानवृत्तिकी आवश्यकता है और वह केवल विचारसे ही सिद्ध होगी।

रज्जुके अज्ञानसे उदित जो सर्प-भ्रान्ति है जिसके कारण भय और दुःख उपस्थित होता है वह क्या लाठी-प्रहाररूप कर्म यज्ञ-दान-तपरूप अनुष्ठान या सर्पको असर्परूप भाव करनेसे दूर होजायेगी! या समाधि लगानेसे शान्त हो जायेगी? नहीं होगी। वह तो भलीभांति रज्जुके स्वरूप-विचारसे ही दूर होगी। इसी प्रकार शुद्ध आत्मस्वरूपमें अज्ञानके कारण जो अन्यथासिद्धिरूप मनुष्य-भ्रान्ति, ब्राह्मणादि वर्णभ्रान्ति, सन्यासादि आश्रम-भ्रान्ति, जीवरूप कर्तृत्व-भोक्तृत्व-भ्रान्ति, देह-देही-भावरूप नैसर्गिक परिच्छन्नता-भ्रान्ति प्रतीत हो रही है, वह किसी कर्मसे, भावसे, योगसे निवृत्त नहीं होगी। वह तो केवल इन भ्रान्तियोंके निवर्तक शास्त्र और गुरु-वाक्योंके भलीप्रकार श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप विचारसे ही निवृत्त होगी।

अतः गुरु-शरणागति स्वीकार करके आत्मा और ब्रह्मकी एकताके विचारमें तत्पर रहना ही मुमुक्षुका मुख्य कर्त्तव्य है और मोक्ष-प्राप्तिका यही एकमात्र उपाय है। ●

अध्याय ३

ब्रह्मविचारकी सामग्री

(साधन-चतुष्टय एवं चित्तशुद्धि)

मानव शरीरमें मुमुक्षा होना दुर्लभ है। परन्तु उससे भी दुर्लभ है मुमुक्षाका सच्चा होना। लोग बन्धनसे तो छूटना चाहते हैं और परमानन्दकी प्राप्ति भी करना चाहते हैं परन्तु चाहते हैं उसको उसी प्रकार जैसे किसी विषयको चाहते हैं अर्थात् किसी कर्मसे या भावसे या अवस्थामें। मोक्ष आत्माका स्वरूप ही है और वह केवल अज्ञानसे ही अप्राप्त है—इसमें उनकी आस्था नहीं होती। बिना आत्माका मोक्ष कैसा ? आत्मा परिच्छिन्न प्रतीत होते हुए भी देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म ही है, इस ज्ञानसे सिद्ध जो मोक्ष है उसकी इच्छा अत्यन्त दुर्लभ है। यही सच्ची मुमुक्षाका स्वरूप है और इसकी पूर्तिका साधन किसी प्रकारका कोई कर्म, भाव या अवस्था नहीं अपितु आत्मा और ब्रह्मकी एकताका विचार है। यह विचार ही सर्व वेदान्तों (उपनिषद् वाक्यों)का विषय है।

१. औपनिषद ज्ञान

वेदकी व्याख्या दो भागोंमें विभक्त की गयी है। पहले भागको 'विधि-भाग' कहते हैं। उसमें हमारे जीवनका अनुशासन है। शासनानुसारी जीवनसे वासनाएँ निवृत्त होती हैं और जीवनमें सुख-शान्तिका विकास होता है। इस प्रकार हमारे कर्त्तव्य-अकर्त्तव्यका निर्णय करनेवाला वेदका यह विधि-विभाग शब्दराशि-प्रधान है। कानून (विधि)में अक्षर ही देखे जाते हैं।

वेदका दूसरा भाग यथार्थ वस्तुके अनुसंधान करनेके लिए है। किन्तु अनुसंधानकी प्रक्रिया यहाँ लोकसे विलक्षण है। सृष्टिमें जितने पदार्थ हैं वे इन्द्रिय, मन और बुद्धिसे ज्ञात होते हैं, मालूम पड़ते हैं। किन्तु जिसको यह मालूम पड़ते हैं वह किसी भी इन्द्रिय, मन या बुद्धिके द्वारा मालूम नहीं पड़ता। एक-एक इन्द्रिय अपने-अपने विषयमें तो प्रमाण हैं परन्तु वे वस्तुका संपूर्ण दर्शन नहीं करातीं। सब मिलकर भी संपूर्ण दर्शन नहीं करातीं क्योंकि

चित्तमें जिन वस्तुओंका संस्कार हो उनको ही हम जान सकते हैं। इसमें भी कार्य-कारणता केवल बुद्धि द्वारा ही गम्य है। अन्वय-व्यतिरेकके द्वारा यह कार्य-कारणता ज्ञात होती है कि 'जिससे पैदा हुआ और जिसमें लीन होगा वह कारण और जो वस्तु पैदा हुई वह कार्य ; अथवा जिसके बिना कोई वस्तु नहीं रहती और वस्तुके बिना भी जो रहता है वह कारण है तथा स्वयं वस्तु कार्य है। लेकिन यह कारण और कार्य, यह पैदा होना और लीन होना भी बुद्धिके सामने ही है और बुद्धि भी स्वयं पैदा होती है और लीन होती है। ऐसी अवस्थामें अपनी बुद्धि, अनुभूति या विचार द्वारा बुद्धिके प्रकाशकका (साक्षीका) (जिसको यह सब मालूम पड़ रहा है उसका) पता लगानेका प्रयत्न निष्फल हो जाता है। साक्षी दृश्य नहीं बन सकता।

स्वयं साक्षी भी अपनेको देखना चाहे तो बुद्धि-वृत्तिसे तादात्म्य करके इतना तो जानेगा कि 'मैं हूँ' (अहमस्मि) किन्तु इस वृत्तिका भी वह साक्षी ही रहेगा। 'मैं नहीं हूँ' ऐसा कभी नहीं जान सकता। जाग्रत्-अवस्थामें 'मैं हूँ' यह वृत्ति रहेगी; स्वप्नावस्थामें भी यह वृत्ति रह सकती है परन्तु सुषुप्ति-अवस्थामें यह वृत्ति भी नहीं रहेगी। इस तरह साक्षीका स्वरूप 'मैं हूँ' और 'मैं नहीं हूँ' इन दोनों वृत्तियोंसे विलक्षण मालूम पड़ता है। वह अनन्त है या सान्त, विभु है या परिच्छिन्न, अद्वितीय है या सद्वितीय—यह बात किसी भी युक्तिसे, प्रमाणसे या स्वयं साक्षीसे भी नहीं ज्ञात हो सकती। इसी साक्षीके स्वरूप-ज्ञानके लिए वेदान्तोंकी आवश्यकता पड़ती है।

जितने उपासनाके मार्ग हैं वे सब वक्ताकी प्रधानतासे होते हैं इसलिए उपासनावाक्य सब श्रद्धामूलक ही होते हैं। परन्तु औपनिषद् ज्ञान वक्ताकी प्रधानतासे नहीं, वर्ण्यकी प्रधानतासे है। जो वर्णन किया गया वह सत्य है, किसने प्रवचन किया, यह महत्त्वपूर्ण नहीं है। वेदमें यदि **'अग्निर्हिमस्य भेषजम्'** (अग्नि ठंडकी भेषज है) कहा गया तो वह वेदकी महिमा नहीं, वह तो लौकिक व्यवहार है। जिस बातको हम देख-सुनकर या किसी दूसरे प्रमाणसे जान सकते हैं, उसका वर्णन करनेमें वेदकी विशेषता नहीं। जिसे लोकमें अनुभव या इन्द्रिय-प्रमाणसे जान न सकें, जिसमें भ्रम-प्रमाद न हो, जिसमें ठगने-ठगानेकी सम्भावना न हो, ऐसी वस्तुको ठीक-ठीक बता देना ही वेदकी विशेषता है।

वेद ब्रह्मको बताता है। ब्रह्म सब देश, सब काल और सब वस्तुओंमें रहकर भी उन सबसे परे है। भेदोंकी प्रतीति होनेपर भी वह भेद रहित है। "मैं, तू, वह" का भेद नहीं है। ऐसी अपरिच्छन्न ब्रह्म-वस्तु किसीका विषय नहीं हो सकती तथापि उपनिषदोंकी **'नेति-नेति'** प्रक्रियासे उसका आत्मासे अभेदका अनुभव होता है। इसी कारण ब्रह्मात्मैक्य-बोधमें ही वेदका प्रामाण्य है तथा इसीका बोध करानेके लिए वेदके शंसन-भागकी जिसको उपनिषद् या वेदान्त भी कहते हैं, परम्परा चली आ रही है।

'उपनिषद्' का अर्थ है ब्रह्मविद्या, और वह गुरुके पास जाकर ही प्राप्त होती है। उप + नि + सद् = उपनिषद्। 'उप' = उपसंगम्य, अर्थात् विधिपूर्वक गुरुकी सेवामें उनके पास उपस्थित होकर। 'नि' = निश्चयेन, अर्थात् सम्पूर्ण दृश्य पदार्थ, ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेय आदि रूप जितनी भी त्रिपुटियाँ भासती हैं उन सबको निचोड़कर। 'सद्'=ज्ञानम्, अर्थात् उनमें जो एक-रस ज्ञानस्वरूप आत्मा है वह अद्वितीय ब्रह्म है, इस विद्याका नाम उपनिषद् है। 'सद्' धातुके और भी अर्थ हैं—**षद्लृ विशरणगत्यवसादनेषु**। सद् अर्थात् विकीर्णकर देना, उजाड़ देना, हिंसा करना, अथवा गति, ज्ञान। अतएव 'उप' अर्थात् तत्त्वके अत्यन्त निकट बैठाकर जो 'नि' अर्थात् निःशेषतया 'सद्' अर्थात् संसारको, बन्धनको विनष्ट कर दे, उस विद्याका नाम 'उपनिषद्' है। प्रतिपाद्य-प्रतिपादक सम्बन्धसे वेदके जिस भागमें यह विद्या वर्णित है उस वेद-भागको भी 'उपनिषद्' कहते हैं। इन्हींको 'वेदान्त' भी कहा जाता है। सत्यके दिग्दर्शक इस वेद-भागमें अर्थराशिकी प्रधानता है, शब्द या उसके वक्ता या उसकी भाषाकी नहीं।

इस प्रकार ब्रह्मात्मैक्य-बोध एक ओर सत्य वस्तुका ज्ञान कराता है तो दूसरी ओर अनर्थके मूल संसार-बुद्धिका ही विधूनन करके सभी बन्धनोंसे मुक्त करता है। और यही तो मोक्षका स्वरूप भी है।

यदि आप अपनेको कर्ता जानते हैं तो उसका तात्पर्य इतना ही है कि आपको पाप नहीं पुण्य-कर्म करने चाहिए। यदि भोक्ता जानते हैं तो आपको दुःख नहीं सुख मिलना चाहिए, इसीमें तात्पर्य है। यदि आप अपनेको द्रष्टा, असंग साक्षी जानते हैं तो आप राग-द्वेषसे परे हैं—इसीमें इसका तात्पर्य है। परन्तु वेदान्त आपको साक्षी ही नहीं ब्रह्म बताता है; इसका तात्पर्य है कि आप अखण्ड हैं, आपमें सारे भेद मिथ्या हैं।

सारे भेद-भ्रम मिट जानेपर साम्प्रदायिकता, प्रान्तीयता, राष्ट्रीयता आदिका व्यामोह, कम्यूनिज्म, सोशलिज्म जैसे वाद, जिनके कारण विश्वमें संघर्ष होते हैं वे सब अनर्थ अपने आप दूर हो जाते हैं। अपनेको अद्वितीय ब्रह्म जान लेनेपर एक ब्रह्माण्डके निवासी ही नहीं, अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंके निवासी, सम्पूर्ण मायाकी सृष्टि ही अपना स्वरूप हो जाती हैं। इसमें न कहीं अहंकार है, न स्पर्धा, न राग-द्वेष। ऐसा जीवनमुक्त, शान्त जीवन व्यतीत करने, सम्पूर्ण कलहोंसे विमुक्ति पाने और सम्पूर्ण पापों-दुःखोंसे मुक्त होनेके लिए यह जानना आवश्यक हैं कि 'मैं कौन हूँ'। वेदान्त-ज्ञानके बादकी रहनी सरल, सहज और निष्कपट होती है। तब किसीके प्रति अन्याय या विद्वेषकी भावना नहीं रहती। शान्ति ही शान्ति रहती हैं। पूर्ण स्वतन्त्रता पानेके लिए वेदान्त-विद्या है। उसे प्राप्त कर लेनेपर धर्म-कर्म हमें विवश करके स्वर्ग-नरक नहीं ले जा सकते। ईश्वर भी हमें कहीं जानेको विवश नहीं कर सकता। वेद भी उसे कोई आज्ञा नहीं दे सकता कि 'तुम्हें यह करना पड़ेगा'। वेद 'कर्ता' के लिए विधान करता है और ईश्वरके साम्राज्यमें तुम तबतक अनुशासित हो जबतक तुम माया-प्रकृतिको पकड़े हुए हो। ईश्वर अपने स्वरूपभूत चैतन्यका नियन्ता नहीं है, उपाधिका नियन्ता है। जीव अन्तःकरणकी उपाधिसे "मैं-मेरा" की रस्सीसे बँधा है। ईश्वर कर्मानुसार उपाधिका नियन्त्रण करता हैं। जीव उपाधिसे तादात्म्य होनेपर ईश्वर द्वारा अपना नियन्त्रण मानता है। आत्माका इनसे असंग होनेके कारण कहीं कोई सम्बन्ध नहीं है।

इस प्रकार वेदान्तोक्त ब्रह्मात्मैक्य-बोधकी प्राप्ति ही मोक्षकी प्राप्ति है। जिसका अन्तःकरण शुद्ध है उस मुमुक्षुके लिए गुरुके सान्निध्यमें ब्रह्म-विचार ही मोक्ष-प्राप्तिका साधन है। और ब्रह्मविचार तब होगा जब ब्रह्म-जिज्ञासा होगी।

आचरणकी अशुद्धि कर्म-मल हैं, राग-द्वेष वासना-मल है, चित्तकी चंचलता विक्षेप है, बुद्धिका भ्रम आवरण है। ये सब अशुद्ध अन्तःकरणके चिह्न हैं।

२. साधन-चतुष्टय

ब्रह्मविचारसे पूर्व जो साधन नियमसे हमारे जीवनमें होना आवश्यक है उसका विचार भी आवश्यक है। पूर्ववर्ती सामग्रीके बिना उत्तरवर्ती फल नहीं हुआ करता, यह सिद्धान्त सर्वविदित है। जैसे एक दीपकको

जलानेके लिए घी, बत्ती, माचिस आदि सामग्री अपेक्षित है, उसके बिना दीपक जल नहीं सकता, इसी प्रकार ब्रह्मज्ञानका दीपक जलानेके लिए आपको कुछ साधन-सामग्रीकी आवश्यकता है। वेदान्त-शास्त्रमें इसको **'साधन-चतुष्टय'**के नामसे कहा जाता है। जिसमें ये साधन उपस्थित रहते हैं वह वेदान्तका मुख्य अधिकारी है।

साध्यके अनुरूप साधन और साधनके अनुरूप सामग्री एकत्र होने पर ही साध्यकी प्राप्ति होती है। यहाँ साध्य 'मोक्ष' है, 'ब्रह्मविचार' साधन है और ब्रह्मविचारके अनुरूप सामग्री 'साधन-चतुष्टय' है।

जब हम मोक्षका स्वरूप 'अनर्थकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति कहते हैं तो ऐसा हम वासनाओंके समूहीकरण तथा एकतत्त्वके प्रति अभिमुखीकरणके लिए ही कहते हैं। वस्तुतः अविद्या-निवृत्तिसे उपलक्षित आत्मतत्त्वका नाम ही मोक्ष है।

अतः यहाँ साध्य अविद्या-निवृत्ति ही है और ब्रह्मविचार उसका साधन है।

निम्नलिखित चार साधनोंके समुदायको साधन-चतुष्टय कहते हैं :—

(१) विवेक (२) वैराग्य (३) षट्-सम्पत्ति और (४) मुमुक्षा

(क) विवेक

लोक-परीक्षाकी शक्तिको विवेक कहते हैं। **'विचिर्-पृथग्भावे'**से 'विवेक' शब्द बनता है। दो भिन्न-भिन्न चीजें जब एकमें मिल गयी हों तो उनको पृथक्-पृथक् करके जाननेकी शक्तिका नाम विवेक होता है। यहाँ नित्य और अनित्य मिल गये हैं, सत्य और मिथ्या (असत्य) मिल गये हैं, सुख और दुःख मिल गये हैं, चेतन और जड़ मिल गये हैं। इसलिए हमारे जीवनमें विपरीत बुद्धियोंने घर कर रखा है। हम हैं तो सच्चिदानन्दघन परब्रह्म और मानते हैं अपनेको असज्जडदुःखभेदरूप देह। यह जगत् (जिसमें हमारा देह भी सम्मिलित है) है तो असज्जडदुःखभेदरूप मिथ्या परन्तु हम मानते हैं इसको नित्य एवं सुखरूप सत्य। इसलिए ब्रह्म-विचारसे पूर्व बुद्धिमें यह विवेक होना आवश्यक है कि नित्य क्या है, अनित्य क्या है, सत् क्या है, असत् क्या है ? सुख क्या है, दुःख क्या है ? जड़ क्या है, चेतन क्या है ? अल्प (परिच्छिन्न) क्या है, भूमा (अपरिच्छिन्न) क्या है ? कार्य क्या है, कारण क्या है ? विवेकके लिए इन सबके लक्षण बनाने पड़ेंगे और एककी दूसरेसे विलक्षणता भी समझनी पड़ेगी। इन सबके लिए सूक्ष्म दृष्टि-सम्पन्न जिज्ञासु होना चाहिए।

एक दृश्य है, एक द्रष्टा है जो भी इन्द्रियों, मन और बुद्धिके द्वारा जाना जाता है, जाना जा सकता है, वह सब दृश्य है, विषय है। जिसके द्वारा यह सब जाना जाता है, वह है द्रष्टा, विषयी। सम्पूर्ण दृश्य 'यह' है और द्रष्टा 'मैं' है। स्पष्ट है कि दृश्य अनेक हैं, विनाशी हैं, परिवर्तनशील हैं अनित्य हैं। दृश्य पदार्थ कभी दिखते हैं, कभी नहीं दिखते, किन्तु द्रष्टा सदैव रहता है। दृश्य और दृश्याभाव दोनों द्रष्टाके बिना अनुभवमें नहीं आते जब कि द्रष्टा दृश्यकी अपेक्षा नहीं रखता। इस प्रकार द्रष्टामें दृश्यका नित्य अभाव ही है और दृश्याभाव द्रष्टासे पृथक् नहीं है। दृश्य अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठानमें (द्रष्टामें) भासमान होनेसे मिथ्या है और द्रष्टा सत्य है।

पुनः द्रष्टा ज्ञानस्वरूप हैं, अतः चेतन हैं। दृश्य ज्ञानका विषय होनेसे जड़ है। जो जड़ है, अनेकरूप है, विनाशी वह सुख हो नहीं सकता और सुख अपने प्रकाशकसे पृथक् अनुभव नहीं हो सकता। अतः द्रष्टा (आत्मा) सुखस्वरूप है और दृश्य दुखःरूप।

वेदान्तोंमें विवेक कई प्रकारके हैं—१. द्रष्टा-दृश्य-विवेक (जिसका वर्णन हो चुका) २. नित्यानित्यवस्तु-विवेक ३.सदसत्-विवेक ४. कार्य-कारण-विवेक ५. सुख-दुःख-विवेक ६. अधिष्ठान-अध्यस्त-विवेक इत्यादि।

श्रुतिका कहना है कि इस लोकमें देखो! यहाँ जो भी कर्मसे बनाया जाता है वह अनित्य होता है, क्षयी होता है। जैसे यहाँ है वैसे ही पुण्य-कर्मोंके फलस्वरूप प्राप्त होनेवाले लोक भी अनित्य होंगे, क्षयी होंगे।[१] लोकोंकी इस प्रकार परीक्षा करके विद्वान्को कर्मसे वैराग्य हो जाता है। भला नित्य-मोक्ष अनित्य कर्मका फल कैसे हो सकता हैं?[२] जो कर्मसे बनता है वह अनित्य है।[३] जो दृश्य है वह नष्ट होनेवाला है।[४] जो अध्यस्त है वह अनित्य है[५]। जो प्रतीत होता है वह अनित्य है[६]।

---

१. तद् यथेह कर्मचितो लोकः क्षीयते, एवमेवामुत्र पुण्यचितो लोकः क्षीयते।
(छान्दोग्य० ८.१.६)

२. परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात् नास्त्यकृतः कृतेन।
(मुण्डक० १.२.१२)

३. यत्कृतकं तदनित्यम्। ४. यद् दृष्टं तन् नष्टम्। ५. यदध्यस्तं तदनित्यम्।

६. यत्प्रतीतं तदनित्यम्।

वेदान्तविद्याके अधिगममें विवरण-प्रस्थान और भामती-प्रस्थान दो प्रसिद्ध प्रक्रिया-प्रस्थान हैं। इनमें सिद्धान्तका अन्तर नहीं है किन्तु अधिकारी-भेदसे प्रक्रिया-भेद है। विवरण-प्रस्थानके आचार्य हैं श्री शंकराचार्य भगवान्के शिष्य श्री पद्मपादके शिष्य श्रीप्रकाशात्मा यति तथा भामती-प्रस्थानके आचार्य हैं पण्डितप्रवर श्रीवाचस्पति मिश्र।

विवरण-प्रस्थानके अनुसार श्रवण-मात्रसे ब्रह्मज्ञान होता है। अतः वे लोग 'विवेक'के अन्तर्गत सदसत्-विवेक और कार्यकारण-विवेकको भी सम्मलित करते हैं। परन्तु भामती-प्रस्थानके अनुसार श्रवणके अनन्तर मनन-निदिध्यासनके पश्चात् ही तत्त्वज्ञान होता है। अतः वे लोग केवल नित्यानित्यवस्तु-विवेकको ही, जिससे जीवनमें त्याग-वैराग्य आता है, विवेक मानते हैं। श्रीशंकराचार्य भगवान् कहते हैं कि 'ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है—ऐसा जो निश्चय है वही नित्यानित्यवस्तु-विवेक कहलाता है।[७] इसलिए सदसत्-विवेक और कार्य-कारण विवेकको भी विवेकके अन्तर्गत ही समझना चाहिए।

सत्य क्या और मिथ्या क्या? यहाँ संकेतमें बताया जाता है। वेदान्तमें सत्यका लक्षण है **अबाध्यत्वं सत्यत्वम्**। किसी भी देश-काल-वस्तु-अवस्थामें जिसके नास्तित्वका (नहीं होनेका) बोध न हो सके उसका नाम सत्य है। 'मैं नहीं हूँ' ऐसा बोध कभी किसीको नहीं हो सकता। इसलिए 'मैं' पदका जो सच्चा अर्थ है वही सत्य है।

'कारणावस्थामें जो रहे सो सत्य' या 'जो अनादि हो सो सत्य' या 'जो प्रमाणका विषय हो, अबाधित हो तथा अन्य किसी प्रमाणका विषय न हो सो सत्य—ये अन्य मतावलम्बियोंकी परिभाषाएँ हैं; परन्तु वे ब्रह्मात्मैक्य-बोधरूप सत्यके साक्षात्कारमें सहायक नहीं हैं तथा दोषपूर्ण भी हैं। अतः उनका वर्णन यहाँ अपेक्षित नहीं है।

असत्य अथवा मिथ्याका क्या लक्षण है वेदान्तमें? अपने अभावके अधिकरणमें जो वस्तु भासती है वह मिथ्या होती है: **स्वाभावाधिकरणे**

---

७. ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्येत्येवं रूपो विनिश्चयः।
सोऽयं नित्यानित्य वस्तुविवेकः समुदाहृतः॥ (वि० चू० २०-२१)।

भासमानत्वम् मिथ्यात्वम्।[८] अर्थात् जो वस्तु जहाँ भासती है यदि वहाँ वह नहीं है तो वह वस्तु उसमें मिथ्या होती है। भासती तो है, परन्तु मिथ्या है। जैसे रास्तेमें चलते हुए देखा कि दूरसे कोई महात्मा आरहे हैं। उत्सुकता हुई। पास जाकर पता लगा कि वह तो श्रीमतीजी गेरुआ साड़ी पहने चली आरही हैं। अब यहाँ पुरुषका भास हुआ स्त्रीमें, अर्थात् पुरुषका भास वहीं हुआ जहाँ पुरुष नहीं था। अतः वहाँ पुरुष मिथ्या भासमान था और जब स्त्रीको देखा तो पुरुष-भ्रम मिट गया। भ्रम भी अपने हृदयमें था और यथार्थ-ज्ञान भी अपने ही हृदयमें हुआ। इसलिए **ज्ञान-निवर्त्यत्वम् मिथ्यात्वम्** जो यथार्थ ज्ञानसे निवर्त्य हो जाय वह मिथ्या, यह चेतनकी प्रधानतासे मिथ्यात्वका लक्षण है। पहला प्रमेय-प्रधान लक्षण है और दूसरा प्रमाताकी प्रधानतासे लक्षण है।

इस प्रकार सुषुप्तिमें 'मैं' पदका अर्थ आत्मा तो रहता है परन्तु 'यह' पदका अर्थ जगत् नहीं रहता। अर्थात् जगत् उसी 'मैं' में भासता है जहाँ वह नहीं है इसलिए मुझ आत्मामें यह जगत् मिथ्या है। सृष्टि-प्रक्रियामें भी **सदेव सोम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्** इस छान्दोग्य श्रुतिके अनुसार सृष्टिसे पूर्व एक अद्वितीय ब्रह्म ही था और **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति तद् विजिज्ञासस्व तद्** ब्रह्म इस तैत्तिरीय श्रुतिके अनुसार है कि जिससे जगत्की उत्पत्ति. स्थिति है और जिसमें अन्ततः यह जगत् लीन हो जाता है वह ब्रह्म है। इससे सिद्ध है कि ब्रह्म तो सत्य है और जगत् मिथ्या है।

दूसरे-दूसरे सिद्धान्तोंमें विवेकका अर्थ दूसरा-दूसरा है। श्रीरामानुज-सिद्धान्तमें विवेकका अर्थ है—आहारका विवेक, माने आहारकी शुद्धि-अशुद्धिक विवेक। उनका कहना है कि शुद्ध भोजन करेंगे तो आपका मन शुद्ध होगा और अशुद्ध भोजन करेंगे तो मन अशुद्ध होगा। इसके अनुसार भोज्य वस्तु तब स्वभावसे शुद्ध होती है जब उसमें कोई अशुद्ध वस्तु मिलायी न गयी हो, उसे अशुद्ध बर्तनमें न बनाया गया हो, अशुद्ध अवस्थामें न बनाया गया हो और अशुद्ध कमाईका न हो।

---

८. इसको ऐसे भी कहते हैं—अपने अधिष्ठानमें जहाँ जो वस्तु दीख रही है उसी अधिष्ठानमें उसका अत्यन्ताभाव रहता है। अपने अभावके प्रतियोगी होनेसे वस्तु मिथ्या है : स्वाधिष्ठाननिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्।

योग-दर्शनमें और सांख्यमें द्रष्टा-दृश्य-विवेक होता है। यह सुख-दुःखके विवेकसे प्रारम्भ होता है तथा द्रष्टा और दृश्यकी अत्यन्तिक भिन्नताके ज्ञान (विवेक-ख्याति)में पर्यवसित होता है। इनका कहना है कि आनेवाले दुःख त्याज्य हैं और सुख कहीं है ही नहीं[९]। क्योंकि जो सुख भी है वह परिणाममें तृष्णा जनित दुःख, भोगमें साधन-सम्पादन-जनित दुःख, भोगोत्तर कालमें सुखसंस्कार जनित राग-द्वेषका दुःख और सत्त्व-रज-तमकी वृत्ति विरोध-दुःखको जन्म देता है[१०]। असलमें भामती-प्रस्थानके अन्तर्गत विवेककी व्याख्यामें सुख-दुःख विवेकका समावेश हो जाता है।

धार्मिक लोग धर्माधर्मका विवेक करते हैं। वेदान्तके विवेकको इन सबसे पृथक् करके विविक्त रूपमें समझना चाहिए।

(ख) वैराग्य

विवेकका फल है एक निश्चयपर पहुँचना। आप सोच-विचार तो करें परन्तु किसी निश्चयपर न पहुँचें तो विवेक क्या हुआ? 'देह असत्, अनित्य, जड़ और दुःखरूप है और इसका साक्षी मैं सत्, नित्य, चेतन और आनन्दरूप हूँ' यह निश्चय ही विवेक है। 'ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है' यह निश्चय ही विवेक है। इस विवेकका पर्यवसान इस निश्चय ज्ञानमें होता है कि 'जो वस्तु बाहरसे हमारे भीतर आयेगी वह निकल जायेगी। जो अभी नहीं है वह पैदा होगी और मर जायेगी। जो मैं नहीं होऊँगा वह मिलने पर बिछुड़ जायेगा। देशसे पकड़कर लायी गयी वस्तु भाग जायेगी। कालमें उत्पन्न वस्तु मर जायेगी। अपनेसे अन्य वस्तुके संयोगका वियोग अवश्यम्भावी है। अतः कर्मसे प्राप्त अथवा उत्पन्न प्रत्येक वस्तु, देश या काल नश्वर होगा। वह ब्रह्मके जिज्ञासुमें कर्मसे उत्पन्न होनेवाली सभी इहलौकिक-पारलौकिक वस्तुओं और परिस्थितियोंसे निर्वेद अर्थात् वैराग्य उत्पन्न करेगा। विवेकका फल वैराग्य है।

वैराग्य माने राग-द्वेषकी शिथिलता[११]—न किसीसे दोस्ती और न किसीसे दुश्मनी। लेकिन वैराग्य माने क्रोध और घृणा नहीं होता। हमारे

९. कुत्रापि कोऽपि सुखीति। सांख्य दर्शन ६.७।

१०. परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। (योग साधन० १५)

११. किं नाम वैराग्यम्? अदृढरागद्वेषवत्त्वम्।

जीवनमें राग-द्वेष बहुत कमजोर होने चाहिए, प्रबलता आत्मशक्तिकी होनी चाहिए, राग-द्वेषकी नहीं। यह होता है विवेक-निष्ठासे। देहसे विविक्त आत्मा और जगत्से विविक्त परमेश्वरके प्रति निष्ठा होनेसे वैराग्य होता है।

वैराग्य माने नंगा रहना, पेड़के नीचे रहना इत्यादि नहीं होता! आपके मनमें जब शान्ति आने लगे तब समझना कि वैराग्य आगया। इन्द्रियोंमें चंचलता कम हो जाय, मनमें संशय, विपर्यय कम हो जायें, कर्माधिक्यमें रुचि कम हो जाय, जीवनमें सहनशीलता बढ़ जाय, गुरु, शास्त्र, ईश्वरपर श्रद्धा बढ़ जाय, तब समझना कि वैराग्यका उदय हुआ है

अपने आत्माके अतिरिक्त किसी भी अन्य वस्तुपर आस्था होना वैराग्यके विपरीत है। आत्माके सिवा ब्रह्मा-विष्णु-महेशपर भी अनास्था उत्पन्नकर अभ्यासजन्य समाधिपर भी अनास्था उत्पन्न कर देना और स्वर्ग-बैकुण्ठपर भी अनास्था उत्पन्न कर देना—यह वेदान्तके वैराग्यका लक्षण है, जिससे मनुष्य आत्मनिष्ठ हो जाता है। आत्मनिष्ठ होनेके लिए अन्यनिष्ठताका परित्याग करना पड़ता है।

धर्ममें, अधर्मसे वैराग्य और धर्मसे राग होता है। भक्तिमें, ईश्वरातिरिक्तसे वैराग्य और ईश्वरसे राग होता है। योगमें, त्रिगुणके कार्योंसे वैराग्य होता है! वेदान्तमें आत्माके सिवाय सबसे वैराग्य होता है।

भक्तिशास्त्रमें वैराग्य और भक्तिका अत्यन्त निकट सम्बन्ध है। तुलसीदासजीके मतमें ज्ञान और वैराग्य भक्तिकी आँखें हैं[१२]।

भागवतकारके मतमें ज्ञान और वैराग्य भक्तिके पुत्र हैं।[१३]

कुछके मतमें भक्तिका परिणाम वैराग्य है तो कुछके मतमें भक्तिका शृङ्गार वैराग्य है। वृन्दावनी रसिकोंके मतमें भक्तिका शृङ्गार वैराग्य है परन्तु भगवान्को भक्ति प्यारी है चाहे वह शृङ्गारयुक्त हो या न हो। रसिकोंके वैराग्यका विवेक 'माधुर्यकादम्बिनी' में विश्वनाथ चक्रवर्तीने किया है।

---

१२. ज्ञान विराग नयन उरगारी (रामचरितमानस)

१३. अहं भक्तिरिति ख्याता इमौ मे तनयौ मतौ।
ज्ञानवैराग्यनामानौ कालयोगेन जर्जरौ॥ (भाग०माहात्म्य १.४५)

योग-दर्शनकारने वैराग्यके दो भेद माने हैं : अपर वैराग्य और पर वैराग्य। देखे और सुने हुए, इहलौकिक एवं पारलौकिक विषयोंमें वितृष्णा (अनिच्छा) का नाम अपर वैराग्य है।[१४] और पुरुष और प्रकृति विषयक विवेक ज्ञानके उदय होनेपर जो गुणोंमें ही वितृष्णा हो जाती है वह पर वैराग्य है।[१५]

अपर वैराग्यके भी चार भेद करते हैं : यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय और वशीकार।[१६]

केवल अनित्यके ज्ञानसे वैराग्य नहीं होता ! अनित्यमें जब दोष-बुद्धि, दु:ख-बुद्धि होती है तब वैराग्यमें शक्ति आती है। भगवान् बडी कृपा करके वैराग्य देते हैं। जीवनमें वैराग्यके जो प्रसंग आते हैं वे बड़े दुर्लभ हैं। शक्तिहीन वैराग्य अपने आगेकी संतति नहीं चलाता। यदि आपके वैराग्यमें त्याग और ग्रहणकी शक्ति नहीं है, माने आप यदि सत्यको ग्रहण करके नहीं बैठ सकते और निश्चय किये हुए असत्यका त्याग नहीं कर सकते तो आपका वैराग्य शक्तिहीन है, वह ब्रह्मात्मैक्य-बोध तक नहीं पहुँचा सकता। दोषदृष्टिपूर्वक वैराग्य शक्तिशाली होता है।

वैराग्य असंगता नहीं है। असंगता आत्माका धर्म है और वैराग्य अन्तःकरणमें रहता है। विरक्त चित्तवृत्तिमें असंगता प्रतिबिम्बित होती है। किन्तु विरक्त साक्षीमात्र नहीं होता; जिससे वैराग्य होता है उसको वह देखता भी है और त्यागनेका सामर्थ्य भी रखता है।

---

१४. दृष्टानुश्रविकविषयवितृष्णस्य वशीकारसंज्ञा वैराग्यम्। (योग० १.१५)

१५. तत्परं पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्ण्यम्। (योग० १।१६)

१६. **यतमान**—विषयोंमें दोष-चिन्तन रूप प्रयत्नसे इन्द्रियोंको उनके विषयोंसे रोकना।

व्यतिरेक—चित्तमें यतमानके परिपाकसे यह बोध रहना कि इतना मल निवृत्त हो चुका, इतना कर रहा हूँ और इतना निवृत्त और करना है।

एकेन्द्रिय—इन्द्रियोंका बाह्य विषयोंमें प्रवृत्त न होना परन्तु विषयोंमें सूक्ष्म रागका बने रहना।

वशीकार—दिव्य-अदिव्य सभी विषयोंमें स्थूल प्रवृत्ति और सूक्ष्म रागका न रहना।

श्रीशंकराचार्य भगवान् कहते हैं :

इहामुत्रफलभोगविरागस्तदनन्तरम् (वि० चू० १९)
तद्वैराग्यं जुगुप्सा या दर्शनश्रवणादिभिः ।
देहादि ब्रह्मपर्यन्ते ह्यनित्ये भोगवस्तुनि । (वि० चू० २१-२२)

'इस लोक और परलोकके कर्मजन्य फल अर्थात् सुखके भोगमें वैराग्य (विवेकके अनन्तर दूसरा साधन है) । दर्शन और श्रवणादिके द्वारा देहसे लेकर ब्रह्मलोक पर्यन्त सम्पूर्ण अनित्य निश्चय किये हुए भोग पदार्थोंमें जो दोष-बुद्धि है, वही वैराग्य है ।'

इस दुनियाका व्यवहार देखते हो, सुनते हो, यहाँ क्या-क्या नहीं होता ? पति-पत्नीमें लड़ाई होती है । लोभसे अपनी कन्याको बेच डालते हैं । पर्देके पीछे क्या हो रहा है, उसको समझो । इससे जुगुप्सा अर्थात् घृणा या दोष-बुद्धि उत्पन्न होगी । वही वैराग्य है । दुनियाके व्यवहारमें कितना कपट है, यह देखकर सुनकर, समझकर वैराग्यको प्राप्त हो जाओ ! यहाँ सब चीजें बदल रही हैं—प्रेम, श्रद्धा, संग सब कुछ । देह बचपनसे जवान हुआ, जवानसे बुड्ढा हो गया ! परन्तु तृष्णा बुड्ढी नहीं हुई । यहाँ क्या भोगने योग्य है ? कुछ नहीं । भोगके साथ राग और रागके साथ कौशल बढ़ता है ।[17] दूसरेको सताये बिना भोग होता ही नहीं ।[18]

(ग) षट्-सम्पत्ति

वैराग्य-चक्रके छः अरे हैं । अर्थात् जब ये छः अरे दृढ़तासे घूमते हैं तब वैराग्य-चक्र आगे बढ़ता है । दूसरे शब्दोंमें वैराग्यके परिणामके रूपमें छः सम्पदाएँ मुमुक्षुको प्राप्त होती हैं । इन्हींको **षट्-सम्पत्ति** कहते हैं, जो साधन-चतुष्टयमें तीसरी चीज हैं । ये षट्-सम्पत्ति हैं—

शान्तो दान्त उपरतस्तितिक्षुः समाहितो भूत्वा आत्मन्येव आत्मानं पश्येत् । (बृहदा० ४.४.२३)

अर्थात् 'शान्ति, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा और समाधानकी सम्पत्तिसे युक्त होकर मुमुक्षु अपनी आत्मामें आत्माको देखे ।'

---

१७. भोगाभ्यासमनु विवर्धन्ते रागाः कौशलानि चेन्द्रियाणाम् (योग० २.१५)
१८. नानुपहत्य भूतानि उपभोगः सम्भवति (योगभाष्य २.१५)

१. शम (शान्ति) :—बारम्बार दोष-दृष्टि करनेसे विषय-समूहसे विरक्त होकर चित्तका अपने लक्ष्यमें स्थिर हो जाना शम अथवा शान्ति है। दूसरे शब्दोंमें काम-क्रोधादि विकारोंके विषय तथा तज्जन्य सुखसे वैराग्यका नाम शम है। गृहस्थ मुमुक्षुओंके लिए विहित काम-क्रोध भी त्याज्य हैं। वैराग्यकी सम्पुष्टिके बिना शम सम्भव नहीं। शम मानसिक स्वास्थ्य है। यह विकारका प्रतिद्वन्द्वी है।

२. दम (दान्ति) :—ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियोंको उनके विषयोंसे लौटाकर अपने-अपने गोलकोंमें स्थिर करना दम कहलाता है। इन्द्रियोंको वशमें रखनेकी शक्तिका नाम दम है। इन्द्रियोंका निषिद्ध विषयोंसे निग्रह तो धर्ममें ही हो जाता है। ब्रह्म-जिज्ञासुको तो विहित विषयोंसे भी निग्रह करना चाहिए। नेत्रके सम्मुख आकर्षक रूप प्रस्तुत होनेपर और उसको देखनेकी अनुमति होनेपर भी मनका नेत्रद्वारसे बाहर न निकलना दमकी पराकाष्ठा है और मनके बाहर निकलनेकी इच्छाको रोकनेका नाम दमका अभ्यास है। स्पष्ट है कि दम शमका अनुगामी है और शम है दमकी चरम परिणति। अतः दम भी वैराग्यका परिपाक है। इन्द्रियोंसे वैराग्यका नाम दम है।

३ उपरति :—कर्माधिक्यसे वैराग्यका नाम उपरति है। ऐसा नहीं कि हम दुनियादारीके कर्म तो न करें, किन्तु लोकोपकार आदि शुभकर्मोंमें व्यस्त रहें। यहाँ तक कि यज्ञ-यागादि कर्म भी उपरतिमें बाधक हैं। जिस मुमुक्षुमें शम, दम होंगे उसमें उपरति तो अवश्य ही होगी। शम-दमका फल उपरति है। श्रीमद्भागवतमें ग्यारहवें स्कन्धमें हंसावतारकी कथामें बताया गया है कि ब्रह्मा जैसे ईश्वर-कोटिके देवता भी कर्ममें व्यस्त रहनेके कारण सनकादिके अध्यात्म-सबन्धी प्रश्नोंका उत्तर न दे सके : **नाभ्यपद्यत कर्मधीः** (११.१३.१८)। फिर साधारण जीवोंकी तो बात ही क्या है!

कर्म करनेकी आदत पड़ जाती है, भोगकी आदत पड़ जाती है, पढ़ने-सोचनेकी आदत पड़ जाती है। पहले उत्सुकतावश प्रारम्भ करते हैं, फिर मजेकी खातिर करते हैं और बादमें किये बगैर रह नहीं पाते। नाम, रूप, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति और कर्मके सहारेके बिना रह नहीं पाते। इस प्रकार बाह्य आलम्बनको स्वीकार करनेकी जो आदत है वह वृत्तिकी शान्तिमें बाधक है। जिसके अन्तःकरणमें शम-शम हैं उसको तो वृत्ति ही

भार मालूम पड़ती है, फिर बाह्यालम्बनरूप वृत्ति तो भार मालूम पड़ेगी ही। अत: वैराग्यजन्य उत्तम उपरति यही है कि वृत्ति बाह्य विषयोंका आलम्बन न ले।[१९] इसमें कर्म, भोग, आकार सबसे ही वैराग्य है।

४. **तितिक्षा** :—द्वन्द्वाघातको सहर्ष सह लेनेकी जो वृत्ति है उसे तितिक्षा कहते हैं।[२०] भूख-प्यास, सर्दी-गर्मी, सुख-दु:ख, मान-अपमान आदि द्वन्द्वोंको सहनेका स्वभाव तितिक्षा कहलाता है। दु:खको सह लेना और बात है और उसे तप समझकर सहना दूसरी बात है। अत: तितिक्षामें तपोबुद्धि होनी चाहिए। छान्दोग्य-उपनिषद्‌में तितिक्षाको स्वयं एक बड़ा तप कहा है: **एतद्वै परमं तप:**। तितिक्षामें मूलत: शरीरके प्रति वैराग्य है।

'तितिक्षा' शब्दका अर्थ है अपनी शक्तिको उत्तेजित करना। अपनी सोयी हुई शक्तिको उत्तेजित करनेकी प्रक्रिया है, सहन करना। बोलनेका शक्ति उत्तेजित करती है तो मौन रहनेका प्रयत्न कीजिये। तर्क-वितर्क करनेवालोंसे उलझिये मत, चुप हो जाइये। आपके भीतरसे उनके तर्कोंको काटनेकी शक्ति उदय हो जायेगी। एक दिन आपको कोई भोजन न दे तो खाइये मत, माँगिये मत। दूसरे दिन आपके सामने थाल अपने आप आवेगा। खानेकी शक्ति भी बढ़ेगी। जो आता है उसे आने दो। छोटी-छोटी बातोंमे लड़नेमें अपनी शक्तिको व्यर्थ व्यय मत करो, उनको बिना ननुनच किये सहन कर लो। तुम्हारी चित्तवृत्ति तो परमानन्द ब्रह्ममें बैठनेके लिए है, अपनी तकलीफोंका रोना रोनेके लिए नहीं है।

५. **श्रद्धा** :—अभिमानसे वैराग्यका नाम श्रद्धा है। मनुष्यको अपने उच्चकुल, धन, विद्या, तप आदिका अभिमान होता है। जब हम किसी पर श्रद्धा करते हैं तो यह अभिमान टूटता है। वेद, शास्त्र और गुरुकी बातको सत्य मानना श्रद्धा है। अभिमानी ज्ञानके ग्रहणमें पटु नहीं होता। अभिमानी कठोर होता है जिससे पहिले तो वह दूसरेकी सुनता ही नहीं और सुनता भी है तो उसके कठोर चित्त पर वह कोई संस्कार नहीं छोड़ता। चित्तकी कठोरता ज्ञान-संस्कारको उचका देती है। मुमुक्षुको यह अभिमान नहीं

---

१९. बाह्यानालम्बनं वृत्तेरेषोपरतिरुत्तमा। (वि० चू० २४)

२०. सहनं सर्वदु:खानामप्रतीकारपूर्वकम्। चिन्ताविलापरहितं सा तितिक्षा निगद्यते॥ (वि० चू० २५)

करना चाहिए कि हम सब जानते हैं अथवा हम किसीसे क्यों पूछें अथवा हम तो अपने बराबरवालोंसे ही पूछेंगे।

अनमिला साजन है, अनदेखा मार्ग है, उसमें श्रद्धाके अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं है।

जो सत् है उसीको 'श्रत्' कहते हैं। 'श्रत्' में रेफका प्रयोग सत्को छुपानेके लिए है। सत्को धारण करनेवाली बुद्धिका नाम श्रत् + धा = श्रद्धा है। श्रद्धासे ही सत् वस्तुको उपलब्धि होती है।

६. समाधान :—शम, दम, उपरति, तितिक्षा और श्रद्धा—ये पाँचों किसी जिज्ञासुमें रहने पर भी यह आवश्यक नहीं कि उसे मनोराज्य न होता हो। अपने व्यक्तित्वके उभारसे सम्बद्ध अनेक सिद्धियों-चमत्कारोंके आकर्षण उसके मनको साधन-साध्य सम्बन्धी विकल्पोंका अखाड़ा बना देते हैं। ऐसा चित्त असमाहित है। इसके विपरीत चित्तमें नाना प्रकारके विकल्पोंकी शान्ति और बुद्धिको सब प्रकारसे शुद्ध ब्रह्ममें स्थिर रखनेका नाम समाधान है।[21] इसे वेदान्तको 'समाधि' भी कह सकते हैं। समाधान चित्तकी शान्ति है।

असलमें ये छहों साधन एक ही साधनके छः रूप हैं और उस 'एक' का नाम है वैराग्यजनित शान्ति। जैसे एक ही चेतन नेत्रगोलकमें रहनेसे नेत्रेन्द्रिय, श्रवण-गोलकमें रहनेसे श्रवणेन्द्रिय और अन्य गोलकोंमें रहनेसे तत्तत् नामोंसे प्रसिद्ध होता है, वैसे एक ही शान्ति मनमें रहनेसे शम, इन्द्रियोंमें रहनेसे दम, कर्ममें रहनेसे उपरति, शरीरमें रहनेसे तितिक्षा, हृदय (भाव)में रहनेसे श्रद्धा और चित्तमें रहनेसे समाधान कहलाती है।

स्मरण रहे कि यह शान्ति साधन-सामग्रीके अन्तर्गत है। अतः यह ब्रह्मकी स्वरूपभूता शान्तिसे भिन्न है। ब्रह्मकी स्वरूपभूता शान्ति अद्वितीयताकी संलग्नक होनेसे किसीकी विरोधी नहीं है; उसमें निवर्त्य-निवर्तक भाव नहीं होता। इसके विपरीत प्रस्तुत शान्ति शम होनेसे काम, क्रोधादि विकारोंकी, दम होनेसे इन्द्रियोंके विक्षेपको, उपरति होनेसे कर्मविक्षेपकी, तितिक्षा होनेसे शारीरिक प्रतिक्रियाओंकी, श्रद्धा होनेसे अभिमानकी और समाधान होनेसे चित्तकी सहज चंचलतारूप मनोराज्यकी

---

२१. सर्वदा स्थापनं बुद्धेः शुद्धे ब्रह्मणि सर्वथा।
तत्समाधानमित्युक्तं न तु चित्तस्य लालनम्॥ (वि० चू० २७)

निवर्तक है। सच तो यह है कि ब्रह्म-विचारकी आवश्यक पृष्ठभूमि सहज शान्ति ही है। श्रुति कहती है :

नाविरतो दुश्चरितान्नाशान्तो नासमाहितः।
नाशान्तमानसो वापि प्रज्ञानेनैनमाप्नुयात्॥ (कठ० १.२.२४)

'जो पापकर्मोंसे विरत नहीं हुआ, जो इन्द्रियोंकी चंचलताके कारण अशान्त है, जो समाहित नहीं है और जिसका मन शान्त नहीं है वह केवल प्रज्ञाके बलपर इस आत्माको प्राप्त नहीं कर सकता।'

नाविरतो दुश्चरितात्—दुश्चरित्र माने श्रुति-स्मृतिसे निषिद्ध कर्मोंका आचरण अर्थात् पापाचरण। लोक और शास्त्रकी मर्यादाको आदमी केवल वासनाकी अधिकताके कारण ही तोड़ता है।

ऐसा व्यक्ति यदि ब्रह्म-विचार करेगा तो क्या आश्वासन है कि यह वासनाके आवेशमें अब्रह्मको ब्रह्म नहीं मान बैठेगा? अतः ब्रह्मविचारका कर्म अधर्म नहीं होना चाहिए। दुश्चरित मलका ही दूसरा नाम है। मल अर्थात् पापकर्म, पापबुद्धि और पाप-वासना। सत्यके जिज्ञासुको मलका त्याग करना चाहिए।

नाशान्तः—इन्द्रियोंकी चंचलतासे उत्पन्न अशान्ति जिसमें है वह ब्रह्मज्ञानका अधिकारी नहीं है। 'नाशान्तः' अर्थात् दम रहित। ऐसा व्यक्ति न तो कर्माधिक्यसे विरत हो सकता है और न विरत होने पर शान्त-चित्त रह सकता है। इसमें पापबुद्धिके अतिरिक्त असंयम और रागद्वेषकी प्रबलता हेतु हैं। अशान्त चित्तमें त्यागका सामर्थ्य नहीं होता। काम आया तो फिसल गये, क्रोध आया तो गाली देने लगे; व्यक्ति या सिद्धान्तसे द्वेष हुआ तो सत्य ही छोड़ बैठे!

नासमाहितः—जिसमें समाधान' नहीं है वह एक दिशामें बँधकर विचार नहीं कर सकता। राग-द्वेषसे उत्पन्न जो चित्तका विक्षेप है उसकी निवृत्तिका नाम समाधान है।

नाशान्तमानसः। जिसका मन शान्त नहीं है अर्थात् जिसमें शम नहीं है वह ब्रह्मविचार नहीं कर सकता। समाधान होनेपर भी आपका मन अशान्त हो सकता है क्योंकि आपको समाधानसे उत्पन्न सिद्धियों और चमत्कारोंका ब्रह्मात्मैक्य-बोधकी अपेक्षा अधिक ख्याल हो सकता है! सिद्धियोंका प्रलोभन जिज्ञासुको लक्ष्यसे भटका देता है।

जिनमें उपर्युक्त चार दोष हैं वे सही ब्रह्म-विचार नहीं कर सकते। षट्-सम्पत्तिके अर्जनसे ये चारों दोष निवृत्त हो जाते हैं। षट्-सम्पत्तिके बिना केवल प्रज्ञाके बलपर तर्क-वितर्कसे ब्रह्म प्राप्त नहीं हो सकता। तर्कका कोई लक्ष्य नहीं होता और उसमें कोई स्थिरता नहीं होती। तर्क तो दायें बाजू, बायें बाजू दोनों ओर हो सकता है और आजका तर्क अभी नहीं तो कल, अधिक विद्वान् व्यक्तिके द्वारा काटा जा सकता है। इसीलिए श्रुति (क.ठ० १.२.९) और ब्रह्मसूत्र (२.१.११ दोनोंमें तर्ककी अप्रतिष्ठा बतायी गयी है। वेदान्तमें तर्कके स्थान पर मीमांसा अथवा पूजित विचार अपेक्षित है।

(घ) मुमुक्षा

साधन-सतुष्टयकी अन्तिम सामग्री है 'मुमुक्षा' अर्थात् मोक्षकी इच्छा। इसका वर्णन पहिले ही हो चुका है।

अहंकारसे लेकर देहपर्यन्त जितने अज्ञानसे कल्पित बन्धन हैं उनको अपने स्वरूपके ज्ञानसे जो काटनेकी, छोड़नेकी, त्यागनेकी इच्छा है उसका नाम मुमुक्षा है। [२२]**मोक्तुम् इच्छा मुमुक्षता**। परिच्छिन्न अहंभावमें जा 'मैं' का तादात्म्य है वहाँसे लेकर देहमें और देहके सम्बन्धियोंको लेकर जा तादात्म्यापन्न 'मैं' है उससे छुटकारेकी जो इच्छा है—न मैं किसीका, न कोई मेरा, इस इच्छाका नाम मोक्षेच्छा है।

जबतक 'अन्तःकरणवाला मैं' और 'अन्तःकरण मेरा' है तबतक ज्ञानका द्वार खुलेगा नहीं। तादात्म्य बुद्धिमें होता है, इसलिए मोक्षसिद्धिका उपाय एकमात्र स्वरूपका सच्चा ज्ञान ही हो सकता है। जो कुछ करके मोक्ष पाना चाहता है उसकी मुमुक्षा मन्द है। जो देवता और उपासनाके सहारे, जप, तप, होमके सहारे मोक्ष पाना चाहता है, उसकी मुमुक्षा मध्यम है। जो अपने स्वरूपके बोधसे और बोधमात्रसे ही मोक्ष पाना चाहता है, उसकी मुमुक्षा उत्तम है। उत्तम मुमुक्षाका उदय गुरु-कृपासे ही उदय होता है।

---

२२. अहंकारादिदेहान्तान्-बन्धान् अज्ञानकल्पितान्।
स्वस्वरूपावबोधेन मोक्तुमिच्छामुमुक्षता ॥ (वि० चू० २८)

स्वामी रामतीर्थने एक दृष्टान्त दिया है। एक साधु गये हिमालयमें। एक गुफ़ाके बाहर बहुत-सारे लोग इकट्ठा थे। वहाँ कोई माला लेकर जप कर रहा था, कोई हाथ जोड़कर प्रार्थना कर रहा था, कोई होम कर रहा था तो कोई ध्यान कर रहा था। पूछनेपर एकने बताया कि इस गुफामें भूत, प्रेत, पिशाच रहते हैं। इसमें जो जाता है उसीको वह पकड़ लेते हैं। भीतर अन्धेरा है। इसलिए, हम अन्धकारकी निवृत्तिके लिए प्रार्थना कर रहे हैं कि 'हे अन्धकार देवता! तुम दूर हो जाओ'। दूसरा बोला–'मैं इसके लिए होम कर रहा हूँ: 'अन्धकारं भस्मी कुरु स्वाहा'। तीसरा बोला—हम ध्यान कर रहे हैं कि प्रकाश ही प्रकाश है, अंधकार है ही नहीं। यह सुनकर महात्मा हँस पड़े। बोले—देखो भाई, यह अन्धकार हाथ जोड़नेसे, होम करनेसे या ध्यान या कल्पना करनेसे नहीं जायेगा। इसके लिए आग जलाओ और मशालें लेकर मेरे साथ भीतर घुसो। अन्धकार भाग जायेगा। रास्तेमें जो अजगर, शेर, साँप आदि मिलें उनको मारते हुए चले तो देखा कि न वहाँ भूत था, न पिशाच। मात्र सब अन्धकारकी माया थी।

जैसे अन्धकार केवल प्रकाशसे दूर होता है वैसे ही अज्ञान और उससे उत्पन्न जितने बन्धन हैं वे सब ज्ञानसे दूर हो जाते हैं। अन्य किसी साधनकी आवश्यकता नहीं है।

३. अधिकारकी सरलता

विवेक, वैराग्य, षट् सम्पत्ति और मुमुक्षासे सम्पन्न जिज्ञासु ही ब्रह्मज्ञानका मुख्य अधिकारी है। कुल मिलाकर ये नौ साधन बनते हैं, परन्तु षट्सम्पत्ति तो वैराग्यका ही परिपाक है। अतः विवेक, वैराग्य और मुमुक्षा ये तीन ही साधन बनते हैं। इनमें भी वैराग्य और मुमुक्षा, दो ही प्रधान हैं। साधकोंमें जो ऊँचे-नीचेका तारतम्य देखा जाता है वह वैराग्य और मुमुक्षाकी तीव्रता-मन्दताके आधारपर ही होता है।

जिनमें साधन-चतुष्टय हैं उनको तो ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति होगी ही। परन्तु जिनमें यह बिल्कुल न हों या बहुत कम मात्रामें हों किन्तु उत्सुकतावश उनकी ब्रह्म-विचारमें प्रवृत्ति हो गयी हो उनको भी निराश होनेकी आवश्यकता नहीं है। वेदान्तके श्रवण आदिसे तथा ब्रह्मज्ञानियोंके श्रद्धापूर्ण सङ्गसे उनमें काल पाकर वैराग्य और मुमुक्षा जाग्रत हो जायेगी।

यह कहना सही नहीं है कि केवल साधन-सम्पन्न व्यक्ति ही ब्रह्म-विचारका अधिकारी है। गीताके अनुसार तो पापी-से-पापी भी ज्ञान-नौकापर बैठकर भवसागरसे पार हो सकता है।[23] फिर पुण्यवान्, श्रद्धालुओंकी तो बात ही क्या है! अतः वेदान्त-विचारमें प्रत्येक मनुष्यका अधिकार है। भला, वेदान्त-विचारसे सिद्ध होनेवाले परमानन्दकी प्राप्ति और अनर्थकी निवृत्ति किसको इष्ट नहीं होगी ?

किसी शास्त्रमें यह नहीं लिखा कि ब्रह्म-विचारसे कितने काल पूर्व साधन-सामग्री विचारकमें होनी चाहिए। वेदान्त-विचारसे अव्यवहित पूर्व कालमें यदि यह सामग्री उपस्थित हो जाय तो अज्ञानकी निवृत्ति हो सकती है। आप घर-बार छोड़कर घण्टे भरके लिए गुरुके पास वेदान्त-श्रवणके लिए जाते हैं तो मनमें कुछ विवेक, वैराग्य है, तब न जाते हो! वहाँ न कोई इन्द्रिय-भोग होता है, न कामधन्धा, चुपचाप बैठकर सुनते हो। अतः शम, दम, उपरति तो आपके पास हो गयी। कड़े फर्शपर बैठते हो, गर्मी-सर्दी सहते हो, अतः तितिक्षा हो गयी। अभिमान छोड़कर नीचे बैठकर सुनते हो, तो श्रद्धा भी है और सत्संगमें मनोराज्य भी नहीं होता, इसलिए समाधान भी है। वेदान्त सुनकर मोक्षेच्छा आपमें जगती है, इसलिए मुमुक्षा भी हो गयी। तो गुरु-गृहमें वेदान्त श्रवण करनेमें तो आपमें साधन-चतुष्टय हो ही जाता है। यदि नियमसे प्रतिदिन सत्संग किया जाय तो यह साधन स्थायी भी हो सकता है। फिर क्या आश्चर्य है यदि किसीको सत्संगमें सुनते-सुनते ही तत्त्वज्ञान हो जाय!

४. मोक्षसाधिका भक्ति

इस प्रसंगमें एक अन्तिम बात और। प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषयमें असाधारण करण है। उदाहरणार्थ, रूप नेत्रसे ही देखा जा सकता है और शब्द कानसे ही सुना जा सकता है; रूप कानसे और शब्द नेत्रसे अनुभव नहीं किया जा सकता। परन्तु इन पाँचों इन्द्रियोंमें एक साधारण करण भी है जिसका नाम मन है, जिसके बिना कोई इन्द्रिय अपने विषयका ज्ञान नहीं कर सकती। लोकमें कहते ही हैं: मेरा मन दूसरी जगह चला

---

२३. अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं संतरिष्यसि॥ (गीता ४.३६)

गया था, मैंने सुना नहीं। मेरा मन दूसरी जगह था, मैंने देखा नहीं, इत्यादि।[२४] तो जैसे मनके बिना कोई इन्द्रिय अपना विषय ग्रहण नहीं करती, उसी प्रकार असाधारण साधन-चतुष्टयके संदर्भमें वह 'साधारण' साधन क्या है जिसके होनेपर ही सब साधन सफल होते हैं और जिसके न होनेपर नहीं होते ? उस साधारण साधन-करणका नाम है—भक्ति।[२५]

भक्ति माने प्रेमयुक्त दृढ़ निष्ठा कि 'मैं तो मोक्ष प्राप्त करके ही रहूँगा।' जिसके मनमें मोक्ष-प्राप्तिकी दृढ़ रुचि अर्थात् प्रीति नहीं है उसे मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। पहले रुचि, फिर श्रद्धा, फिर प्रीति, तदनन्तर प्रवृत्ति। यह ठीक है कि मोक्ष बनाना नहीं है, विद्यमान वस्तुको जानना है। परन्तु जाननेकी रुचिके साथ उसकी अनुभूतिकी ओर भी अग्रसर होना चाहिए।

भागो भक्तिः—भाग माने बँटवारा कर देना। यजुर्वेदमें आता है : **एष ते रुद्र भाग :** (यजु० ३.५७)। 'हे रुद्र, यह तुम्हारा भाग है। तो एक ओर है संसार और दूसरी ओर है मोक्ष। जो बोल देते हैं—'हे मोक्ष, मैं तेरा भाग हूँ, मुझे संसार नहीं चाहिए' उनमें मोक्षकी भक्ति है। 'हे ईश्वर ! अब हम भाईके, जातिके मजहबके भाग नहीं हैं, हम आपके हैं।' माने 'अब हम मोक्षके फण्डमें गये, संसार-बन्धनके फण्डमें नहीं हैं इस निश्चयका नाम भक्ति है।

मोक्ष-वासना-युक्त विवेकका नाम भक्ति है। अथवा मोक्षपक्षपाती विवेकका नाम भक्ति है। भक्ति भजनीयके स्वरूपको अपने हृदयमें ले आती है और उसके अतिरिक्तसे वैराग्य करा देती है। परन्तु यह स्मरणीय है कि वह आत्मा और ब्रह्मकी एकताका ज्ञान प्रदान नहीं करती। अन्तःकरणका परिवर्तन कर देना भक्तिका काम है और तत्त्वके अज्ञानको मिटा देना ज्ञानका काम है। दोनोंका विभाग अलग-अलग है। भक्ति व्यक्तिका विवेक है, और इसी प्रकार धर्म और योग भी तीनों परिच्छिन्न अहंके आश्रित रहते हैं। यह तत्त्वविवेक नहीं है। वृत्तिकी स्थिरता निष्ठा है, इसलिए भक्ति दृढ़ निष्ठामें हेतु है। परन्तु तत्त्वज्ञान

---

२४. अन्यत्रमना अभूवं नादर्शमन्यत्रमना अभूवं नाश्रौषमिति मनसा ह्येव पश्यति मनसा शृणोति। (बृहदा० १.५.३)

२५. मोक्षकारणसामग्र्यां भक्तिरेव गरीयसी।
स्वस्वरूपानुसन्धानं भक्तिरित्यभिधीयते॥ (वि० चू० ३२)

अज्ञानको मिटानेके लिए है। यदि कोई बिना भक्तिके मुक्त हो जाय तो जिन्दगी भर उसको शिकायत बनी रहेगी कि वृत्ति टिकती नहीं। अतः 'भक्ति' साधन-सामग्रीमें महत्त्वपूर्ण है।

नारदजीने भक्तिका लक्षण किया—अपना सम्पूर्ण जीवन-व्यवहार अपने भजनीयके प्रति समर्पित कर देना भक्ति है[२६]; तथा 'उसके विस्मरणमें परम व्याकुल होना'[२७] कि 'हाय-हाय! हम उसे भूल गये, हमारा जीवन बेकार गया'—यही भक्ति है। श्रीशंकराचार्य भगवान् कहते हैं कि 'स्वस्वरूपानुसन्धानका नाम भक्ति है'। दोनों परिभाषाओंको मिलाकर कहें तो 'अपने आपको संसार-फण्डसे निकालकर मोक्षफण्डके प्रति समर्पित जीवन तथा गुरु-उपसत्तिपूर्वक आत्मा और ब्रह्मकी एकताका अनुसन्धान और इसके व्यवधानमें व्याकुलता' यही भक्ति है। अनुसन्धान माने लक्ष्यकी ओर निशाना लगाकर तीरकी तरह चलना।

साधन-चतुष्टयसे सम्पन्न होकर अधिकारी मुमुक्षुको चाहिए कि वह ब्रह्मनिष्ठ सद्गुरुकी शरणमें जाय और अपनी मुमुक्षाकी पूर्तिका उपाय करे।

५. साधन-विचार

प्रश्न यह है कि आत्माको ब्रह्म जाननेका साधन क्या है? उसके लिए हम क्या करें? क्या छोड़ें ओर क्या ग्रहण करें? कौन-सी ध्यान-धारणा करें? समाधि कैसे लगे? ब्रह्मज्ञानके लिए उक्त समाधि आदि साधनोंको आवश्यकता है भी या नहीं?

एक पक्ष कहता है—"बिना कुछ किये कोई अवस्था, स्थिति, ज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता। केवल ब्रह्मात्मैक्य-बोधकी चर्चा अथवा विचार करनेसे ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता।" दूसरा पक्ष कहता है—"कर्मसे जो भी अवस्था, स्थिति, ज्ञान प्राप्त होगा वह विनाशी होगा। यदि किसी साधनाके परिणाम-स्वरूप ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति हो तो तद्रूप मोक्ष भी अनित्य होगा। अनित्य मोक्ष निश्चय ही वेदान्तका प्रयोजन नहीं है। अतः ब्रह्मज्ञानके लिए किसी अन्य साधनकी आवश्यकता नहीं है, स्वयं ज्ञान ही साधन है।"

---

२६. तदर्पिताखिलाचारः (नारद० ४.६५)

२७. तद्विस्मणे परमव्याकुलतेति (नारद० १.१९)

तब इसमें निर्णय क्या है ?

यह ठीक है कि मोक्ष आत्माका स्वरूप है तथा आत्मा और ब्रह्मकी एकताका ज्ञान साधन-साध्य नहीं है। किन्तु हम यह पूछते हैं कि 'आत्मा साधन-साध्य नहीं है'—यह ज्ञान आपमें उदित हुआ कैसे ? इसके उदयके लिए अन्तःकरणकी पूर्व तैयारी तो आवश्यक ही है। पहले आप यह समझें कि साधनसे क्या मिलता है और ज्ञानसे क्या मिलता है ?

साधन साध्यके लिए होता है। साध्यका प्रागभाव (उत्पत्तिसे पहले अभाव) और प्रध्वंसाभाव (नष्ट होनेके बाद अभाव) भी होता है क्योंकि स्वयं साधनका वही स्वभाव है। किन्तु जो वस्तु नित्य-सिद्ध होती है उसकी प्राप्ति केवल ज्ञानसे ही होती है। साधनसे अनित्य साध्य मिलता है तो ज्ञानसे नित्य-सिद्ध वस्तु मिलती है, यही साधन और ज्ञानका भेद है। जो वस्तु पहिलेसे विद्यमान रहती है वह केवल अज्ञानसे ही अप्राप्त रहती है; अज्ञता ही उसकी अप्राप्ति है। उस वस्तुका ज्ञान उसमें सिर्फ ज्ञातता उत्पन्न करके उसे ज्ञाताको प्राप्त करा देता है। ज्ञान केवल अज्ञानको दूर करता है, वस्तुमें कोई नवीनता उत्पन्न नहीं करता।

वस्तुके बोधमें ज्ञान प्रमाणातिरिक्त किसी अन्य साधनकी अपेक्षा नहीं रखता। जैसे रूप-ज्ञानके लिए केवल उत्तम नेत्र चाहिए; वैसे ही प्रमेय-वस्तु (ब्रह्म)के साक्षात्कारके लिए केवल शुद्ध प्रमाण (तत्त्वमसि आदि महावाक्य-जन्य वृत्ति) चाहिए; कर्म, उपासना, योग, समाधि कुछ नहीं चाहिए। किन्तु जैसे नेत्रमें रोग होनेपर उसे औषधसे शुद्ध कर लिया जाता है—औषध केवल रोग-निवृत्तिमें हेतु है, आँखकी देखनेकी शक्ति उत्पन्न करनेमें नहीं, ठीक वैसे ही जिस अन्तःकरणमें प्रमाणवृत्ति उदित होती है उसमें बाह्यकर्मों और आन्तर वासनाओं द्वारा उत्पन्न केवल मल-विक्षेपरूप रोगकी निवृत्तिके लिए साधनकी आवश्यकता होती है।[२८]

ब्रह्म-जिज्ञासुको भली-भाँति समझ लेना चाहिए कि शास्त्रोक्त सभी साधनोंका प्रयोजन मोक्ष-सम्पादिका प्रमाण-वृत्तिके आश्रय अन्तः करणके रोगकी निवृत्तिमें है, सीधे ब्रह्मज्ञानकी उत्पत्तिमें नहीं। अतः साधनोंको केवल औषधवत् स्वीकार करना इष्ट है, स्वास्थ्यवत् नहीं। रोगनिवृत्तिके

---

२८. रोगार्तस्येव रोगनिवृत्तौ स्वस्थता (माण्डूक्य० शांकर भाष्य)।

पश्चात् साधन त्याज्य हो जाते हैं। साधनसे पूर्व और साधनके पश्चात् जो आप हैं, वे तो ज्यों-के-त्यों विद्यमान हैं। केवल आपके वास्तविक स्वरूपकी अज्ञता ही नष्ट होकर ज्ञातता उदित हुई है।

अद्वैत तत्त्व कभी साधन-साध्य नहीं, सिद्ध है, नित्य प्राप्त है। नित्य प्राप्तमें अप्राप्तिका भ्रम मिटानेके लिए ही ज्ञानकी आवश्यकता है। यदि आपको भय हो कि आप ज्ञानारण्यमें भटक जायेंगे, तो प्रतिबन्धोंकी निवृत्तिके लिए उपाय कर लीजिये। साधन ब्रह्मको दिखानेके लिए नहीं केवल प्रमाणको सुधारनेके लिए होता है।

वेदान्त अप्राप्तका प्रापक नहीं है। वह बताता है : 'तुम पूर्ण ब्रह्म हो। यही ज्ञान सब कमजोरियोंको मिटा देता है। स्वास्थ्य आपका स्वभाव है।[२९] किन्हीं कारणोंसे आपको पागलपन हो गया है कि 'आप देह हैं, देही हैं', कटने-पिटनेवाले (परिच्छिन्न) हैं, रोगी हैं'। आप उन कारणोंको हटा दीजिये। बस ! और कुछ अपेक्षित नहीं है। आपके पास जो हीरा है उसे पहिचान भर लीजिये। उसके पहिचाननेमें जो प्रतिबन्ध हैं उन्हें साधनसे हटा दीजिये।

यों तो साधनकी बातें पुस्तकों और पण्डितोंसे बहुत-से लोग जान जाते हैं किन्तु उसकी गहराइयाँ तो वे अनुभवी महापुरुष ही जानते हैं जिन्होंने अपना जीवन साधनोंके प्रति समर्पित कर दिया है। अतः साधनका निर्णय किसी अनुभवी महापुरुषसे ही कराना चाहिए।

वेदान्तमें ब्रह्मज्ञानके अतिरिक्त साधनोंकी चार कक्षाएँ स्वीकार की गयी हैं। हमारे कर्मोंका प्रभाव हमारे अन्तःकरणपर पड़ता है। अतः कुछ साधन कर्मकी शुद्धिके लिए हैं। उनको **कर्म-शोधक** साधन कहते हैं। कुछ साधन पूर्वकृत कर्मोंसे उत्पन्न अन्तःकरणमें पड़े हुए राग-द्वेषकी निवृत्तिके लिए होते हैं। इसलिए इन साधनोंको **करण-शोधक** साधन कहते हैं। वासनाकी न्यूनता अथवा शुद्धि होनेपर भी बुद्धिमें जो अपने, जगत्के और ब्रह्मके बारेमें अज्ञान, संशय और विपरीत ज्ञान भरा है, उसके शोधन हेतु जो साधन हैं वे **पदार्थ-शोधक** साधन कहलाते हैं। अन्तमें पद-पदार्थका यथार्थ बोध होनेपर भी जबतक अपनी पूर्णताके बोधक 'तत्त्वमसि' आदि

---

२९. रोगार्तस्येव रोगनिवृत्तौ स्वस्थता (माण्डूक्य० शांकर भाष्य)।

महावाक्यजन्य अखण्डार्थ-धीका उदय नहीं होता तबतक ब्रह्मात्मैक्य-बोध नहीं होता। अतः इस ब्रह्मात्मैक्य-बोधिनी वृत्तिको वेदान्तमें **साक्षात् साधन** कहा गया है।

इसे आप बन्दूकके दृष्टान्तसे समझ सकते हैं। नियम यह है कि ठीक निशाना लगानेके लिए चार बातें आवश्यक हैं: (१) बन्दूककी नली साफ हो; (२) बन्दूकमें गोली भरी हो; (३ आँख, नली और लक्ष्य तीनों एक सीधमें कर लिये गये हों तथा अंगुली-अंगूठा बन्दूकके घोड़ेपर हो; और (४) अन्तमें घोड़ा दबा दिया जाय। यहाँ बन्दूककी नली साफ करना कर्म-शोधक साधन है, गोली भरना करण-शोधक साधन है, लक्ष्यकी एकता करना पदार्थ-शोधक साधन है तथा घोड़ा दबा देना साक्षात्साधन है।

इन चार साधनोंके दूसरे नाम अधिक प्रचलित हैं। कर्म-शोधक साधन **परम्परा-साधन** कहलाते हैं, करण-शोधक साधन **बहिरंग-साधन** कहलाते हैं और पदार्थ-शोधक साधन **अन्तरङ्ग-साधन** कहलाते हैं। साक्षात्साधन तो साक्षात् है ही; वैसे कोई-कोई उसे **परम अन्तरङ्ग-साधन** भी कहते हैं। अब इनके बारेमें थोड़ा-थोड़ा विचार करें।

१. **परम्परा-साधन** (कर्मशोधक साधन): वस्तु और क्रियाके अनुचित सम्बन्धसे होनेवाले जो असाधन जीवनमें आते हैं—जैसे चोरी, व्यभिचार, अनाचार, आदि; उनकी निवृत्तिके लिए जो साधन परम्पर्या चले आ रहे हैं जैसे अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह आदि, वे परम्परा-साधन कहलाते हैं। **धर्म, उपासना और योग परम्परा साधन हैं।**

शारीरिक और ऐन्द्रियक संयम तथा यज्ञ-यागादिक कर्म धर्म कहलाते हैं। कर्त्तव्य कर्मका नाम धर्म है। परन्तु धर्मका आधार एकमात्र शास्त्र ही है। शास्त्रविहित कर्मका नाम धर्म है और शास्त्रसे अविहित कर्मका नाम अधर्म है। धर्मका पालन अधर्मका नाशक है। धर्म हमारे कर्मोंका नियन्ता है। वह हमारे जीवनको वासना-पथसे हटाकर मर्यादित भोग और संवैधानिक सभ्य-सामाजिक आचरणके पथपर आरूढ करता है। प्रत्येक समाजमें प्रत्येक व्यक्तिके लिए एक अवश्यकरणीय धर्म होता है। इस प्रकार अधर्मसे निवृत्त करनेके कारण और कर्मका शोधक होनेके कारण धर्म वेदान्तका परम्परा-साधन है।

धर्मके अन्तर्गत उपासना सहकारी साधन भी है और स्वतन्त्र परम्परा-साधन भी है। उपासनासे धर्म वृद्धिको प्राप्त होता है और धार्मिक व्यक्तिकी उपासनामें सहज रुचि होती है। उपासनासे अन्तःकरणमें सत्त्वगुणी वासनाओंकी वृद्धि होती है तथा तमोगुणी-रजोगुणी वासनाओंमें कमी होती है। वासनाओंकी शुद्धिसे कर्म भी सहज शुद्ध होता है। इसलिए धर्मके साथ उपासना भी वेदान्तका परम्परा-साधन है। किन्तु कर्मकी अपेक्षा उपासना अन्तरङ्ग है क्योंकि धर्मका आधार शरीर है तो उपासनाका आधार मन है।

योग भी एक विशिष्ट उपासना है, अतः योग भी वेदान्तका परम्परा-साधन है। उपासना वासनाको बाँधती है तो योग मनकी चंचलता दूर करता है किन्तु उपासनाकी अपेक्षा योग अन्तरङ्ग है।

धर्ममें बहिर्मुख प्रवृत्ति, उपासनामें अन्तर्मुख प्रवृत्ति और योगमें निवृत्ति रहती है। धर्ममें स्पष्ट कर्ता, उपासनामें गौण कर्ता और योगमें अज्ञात कर्ता रहता है। अतः धर्म, उपासना और योग कर्तृसाध्य हैं तथा इनसे उत्पन्न होनेवाला साध्य या स्थिति कर्मजन्य ही है, इसलिए उस साध्य/स्थितिका टूटना अनिवार्य है। अतः ब्रह्मज्ञानमें धर्म, उपासना और योग केवल कर्मशोधक साधन माने गये हैं। ये क्रियारूप होनेसे स्वयं बाहर होते हैं किन्तु इनका फल भीतर अन्तःकरणमें होता है।

२. **बहिरङ्ग-साधन** (करणशोधक साधन):—**विवेक, वैराग्य, षट्-सम्पत्ति और मुमुक्षा**—ये जो साधन-चतुष्टय हैं (जिनका वर्णन किया जा चुका है) वे बहिरङ्ग-साधन कहलाते हैं। परम्परा साधनोंसे तो ये अन्तरङ्ग हैं परन्तु श्रवण-मनन-निदिध्यासनकी अपेक्षा ये बहिरङ्ग हैं। अतः इनकी गिनती बहिरङ्ग साधनोंमें ही है।

अन्तःकरणमें स्थित अविवेक, भोगासक्ति आदि दोषोंको नष्ट करनेके कारण साधन-चतुष्टयको करण-शोधक साधन माना जाता है। दोष जिस अन्तःकरणमें निवास करते हैं उस अन्तःकरणकी सफ़ाईके लिए ही उसीमें ये साधन होते हैं। इनमें बाह्य पदार्थ, क्रिया अथवा भावना नहीं है। ये निवृत्तिरूप हैं। निवृत्ति अपने अधिकरण (आश्रय)से भिन्न नहीं होती। फिर भी ये केवल अन्तःकरणके ही शोधक हैं, वस्तु-तत्त्वके बोधक नहीं हैं। इसीलिए इनका नाम बहिरङ्ग-साधन हैं (आत्मसे बाहरी)।

३. **अन्तरङ्ग-साधन** (पदार्थ-शोधक साधन)। वेदान्तका गुरु-मुखसे **श्रवण** तदनन्तर उसका **मनन** और **निदिध्यासन** - ये अन्तरङ्ग साधन कहलाते हैं। ये वस्तु (ब्रह्म)के स्वरूपको लक्ष्य करते हैं। वेदान्तमें 'पद'के अर्थका नाम पदार्थ है। जैसे 'तत्त्वमसि' एक वेदान्त-वाक्य है जिसका अर्थ है 'वह तू है।' इसमें 'तत्' और 'त्वम्' ये दो 'पद' हैं। इनमें तत्-पदार्थ है जगत्कारण ईश्वर और त्वं-पदार्थ है कर्ता-भोक्ता-संसारी-परिच्छिन्न जीव। 'असि' पद इन दोनों पदार्थोंकी एकताको सूचित करता है।

इस प्रकार गुरु-मुखसे, सत्सम्प्रदायकी रीतिसे, वेदान्तोंमें जो उपर्युक्त दो पदार्थोंकी एकताका निश्चय है वही श्रवण कहलाता है। फिर जैसा सुना है उसके द्वारा अभेद साधक और भेद-बाधक युक्तियोंसे ब्रह्मका चिन्तन करना 'मनन' है। तदनन्तर बुद्धिवृत्तिका निश्चय किये हुए अद्वैतार्थमें प्रवाह तथा विजातीय वृत्तियोंका तिरस्कार, यह निदिध्यासन कहलाता है। निदिध्यासनकी परिपक्व अवस्था ही वेदान्तकी समाधि है। योगकी समाधि या तो परम्परा-साधन है अथवा षट्सम्पत्तिके अन्तर्गत 'समाधान'की कक्षामें होनेसे बहिरंग-साधनके अन्तर्गत है। (इन सबका वर्णन यथास्थान आगे किया जायेगा)।

श्रवण, मनन और निदिध्यासन ज्ञानके साक्षात्साधन नहीं हैं। परन्तु वस्तुका लक्ष्य करानेके कारण ये अन्तरंग साधन कहलाते हैं। वेदका तात्पर्य अभेद ब्रह्मके प्रतिपादनमें है या भेदके प्रतिपादनमें ? यह जो प्रमाण (वेद)के सम्बन्धमें संशय है वह श्रवणसे दूर हो जाता है। 'ब्रह्मका हमारे साथ जो सम्बन्ध है वह भेदका ही है, अभेदका नहीं हो सकता'—यह जो बुद्धिमें असंभावना है, वह मननसे दूर होती है। वेद प्रमाण है ब्रह्मके विषयमें। इसलिए वेद प्रमाण है और ब्रह्मात्मैक्य-बोध प्रमेय है। तो प्रमाणगत संशय श्रवणसे दूर होता है और प्रमेयगत संशय मननसे दूर होता है। किन्तु प्रमाणगत संशय और प्रमेयगत असंभावना दूर हो जानेपर भी पूर्व-पूर्वके (अविद्या-कालीन) अभ्यासके कारण देहादि जागतिक पदार्थोंकी सत्यता और ब्रह्मकी अन्यताका भ्रम पुनः-पुनः उपस्थित हो जाता है। इसको 'विपर्यय' या विपरीत-बुद्धि कहते हैं। बुद्धिका यह विपर्यय-दोष निदिध्यासनसे दूर होता है।

प्रतिबन्धरहित साधक श्रवणमात्रसे कृतकृत्य हो जाता है। क्योंकि जहाँ वस्तु अपरोक्ष होती है वहाँ श्रवणमात्रसे अपरोक्षज्ञान हो होता है

और जहाँ वस्तु परोक्ष होती है वहाँ श्रवणसे परोक्षज्ञान ही होता है तथा वस्तुको प्राप्त करनेके लिए अन्य साधन अपेक्षित होता है। ब्रह्म सदा अपरोक्ष है क्योंकि वह अपना आत्मा ही है। उसमें अविद्या न कभी थी, न है और न होगी। श्रवणसे केवल प्रातीतिक अविद्याकी निवृत्ति हो जाती है।[30] हाँ जिन साधकोंमें संशय-विपर्ययरूप प्रतिबन्ध शेष हैं उन्हें श्रवण-मात्रसे ज्ञान नहीं होता। उन्हें संशयकी निवृत्तिके लिए मनन और विपर्ययकी निवृत्तिके लिए निदिध्यासनकी आवश्यकता रहती है।

४. **साक्षात्साधन**—अपने आपको अद्वितीय ब्रह्म न जानना ही अज्ञान है। इस अज्ञानकी पूर्णतया निवृत्ति करनेवाला जो ज्ञान है वही साक्षात्साधन है। यह सम्पूर्ण साधनोंका फल है। आत्माको ब्रह्म बतानेवाले जो श्रुतिके महावाक्य हैं[31] —जैसे: 'तत्त्वमसि' (वह तू है), 'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ), 'प्रज्ञानं ब्रह्म' (प्रज्ञान ब्रह्म है), 'अयमात्मा ब्रह्म' (यह आत्मा ब्रह्म है); उनके अखण्डार्थको धारण करनेवाली विकल्परहित जो बुद्धि-वृत्ति है उसको ही ज्ञानका साक्षात्साधन कहा जाता है। इसीको ब्रह्माकार-वृत्ति भी कहते हैं। यह वृत्ति अधिकारी मुमुक्षुको मात्र श्रवणसे भी हो सकती है अथवा श्रवण, मनन निदिध्यासनके परिपाकसे भी हो सकती है। यह वृत्ति अज्ञानवृत्तिका नाश कर देती है और स्वयं अपने आश्रय स्वयंप्रकाश ब्रह्मके साथ अभिन्न हो जाती है।

जो संस्कृत नहीं जानते उनके लिए ब्रह्मविद् गुरु द्वारा अपनी-अपनी बोली अथवा भाषामें बोले गये जो भी इन महावाक्योंके समानार्थक वाक्य हों, जिनसे अपनी पूर्णताका बोध होता हो, जिनमें आत्मा, परमात्मा और जगत्का एकत्व प्रतिपादित होता हो, उन्हीं वाक्योंसे जन्य प्रज्ञा साक्षात्साधन होगी।[32] फिर भी कर्म, करण और पदार्थका शोधन यथा-विधि सम्पूर्ण तो अवश्य होना ही चाहिए।

---

३०. इसमें विवरण-प्रस्थान और भामती-प्रस्थानका थोड़ा-सा मतभेद है। शब्दसे अपरोक्ष ज्ञान या वृत्तिसे? उपहितका ज्ञान अथवा शुद्धका? अद्वैत सम्प्रदायमें दोनों ही अपनी-अपनी प्रक्रियासे युक्तियुक्त हैं।

३१. आत्मा और ब्रह्मकी एकताके प्रतिपादक श्रुतिवाक्योंको 'महावाक्य' कहते हैं।

३२. ब्रह्मरूप अहि ब्रह्मवित ताकी बानी वेद।
भाषा अथवा संस्कृत करत भेद-भ्रम छेद॥ (विचारसागर ३.१०)

इस प्रकार परम्परा साधन तीन हैं—धर्म, उपासना और योग। इन तीनोंको एक नामसे कह सकते हैं : निष्काम कर्म। बहिरंग साधन चार हैं—साधन-चतुष्टय। अन्तरंग साधन तीन हैं—श्रवण, मनन, निदिध्यासन। साक्षात्साधन एक है—महावाक्यजन्य प्रज्ञा। अविद्या निवृत्तिके ये कुल नौ साधन हैं। इनमें निष्काम-कर्म और साधन-चतुष्टयका सम्बन्ध चित्त-शुद्धिसे है और शेष ज्ञानके वास्तविक साधन हैं।

६. चित्त-शुद्धि

शुद्धान्तःकरण मुमुक्षु वेदान्तका अधिकारी है। अब अन्तःकरण-शुद्धिके साधनोंपर किंचित् विशेष विचार करते हैं। श्रुति कहती है : **आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः** (छान्दोग्य० ७.२६.२) अर्थात् आहारकी शुद्धिसे अंन्तःकरणकी शुद्धि होती है। श्रीशंकराचार्यजी महाराजने 'आहार'का अर्थ किया है : 'आह्रियत इत्याहारः शब्दादिविषयज्ञानम्'। भोक्ताके भोगके लिए जो भी शब्द-स्पर्श-रूप-रस-गन्धका ज्ञान है वह सब आहार है। उस विषय-विज्ञानकी शुद्धि ही आहार-शुद्धि है। तो, इन्द्रियोंके द्वारा पवित्र विषयोंका संयमपूर्वक सेवन करनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि होती है, यह श्रीशंकराचार्य भगवान्का आशय है।

श्रीरामानुजाचार्यजी महाराज 'आहार' पदका अर्थ करते हैं 'भोजन'। भोजनमें तीन प्रकारकी शुद्धि आवश्यक है। प्रथम तो भोजनकी जाति शुद्ध हो, माने वह स्वरूपसे शुद्ध हो। माँसादि, प्याज, लशुन आदि जातिसे ही अशुद्ध भोजन हैं। दूसरे भोजनमें निमित्त-शुद्धि हो। अर्थात् वह शुद्ध बर्तनोंमें बना हो और रखा गया हो तथा कोई अशुद्ध वस्तु उसमें न पड़ गयी हो या किसीका जूठा किया हुआ न हो। तीसरे उसमें आश्रय-शुद्धि हो जैसे वह रजस्वला स्त्री, दुःखी मनुष्यके द्वारा न बनाया हो और बेईमानी या अधर्मकी कमाईका न हो। जो लोग अन्नसे मनकी उत्पत्ति मानते हैं उनके मतमें आहारका सब प्रकारसे शुद्ध होना आवश्यक है।[33] सब शुद्धियोंमें अर्थकी शुद्धि सबसे श्रेष्ठ है। जिसका अर्थ शुद्ध है वह स्वयं शुद्ध है, पानी-मिट्टीसे की गयी शुद्धि ही शुद्धि नहीं है।

---

३३. श्रीरामानुजाचार्यने आहारके विवेकसे प्रारम्भ करके कुल सात साधन अन्तःकरण शुद्धिके माने हैं : विवेक; विमोक, (छोड़नेकी शक्ति); क्रिया-

दूसरा मत है कि कर्मके द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। कर्मसे संस्कार और संस्कारसे वासना बनती है। इसलिए यदि हमारी क्रिया शुद्ध हो जाय— निषिद्ध कर्मका परित्याग होकर विहित कर्म ही हों तो चित्त-शुद्धि हो जायेगी। इन दोनों मतोंमें अन्तर यह है कि अन्नमय कोषमें जिनकी अवस्थिति होगी, उनका आहार-प्रधान अन्तःकरण-शोधन होगा और प्राणमय कोषमें जिनकी अवस्थिति होगी उनका अन्तःकरण-शोधन क्रिया-प्रधान होगा। कर्ममें भी वह कर्म करणीय है जिसे करते हुए ग्लानि न हो, अपने में तृप्ति तथा पवित्रताका अनुभव हो।[३४]

तीसरा मत है कि चित्तकी वृत्ति शुद्ध होनेसे अन्तःकरणकी शुद्धि हो जायेगी। अन्तःकरण विज्ञानमय-वासनात्मक है। वह शुद्ध वासनाके उदयसे अशुद्ध होता है। अतः इनके मतमें अन्तःकरणकी शुद्धि उपासनासे होती है। धर्मसे पचास प्रतिशत इच्छाएँ (अधर्मकी) छूट जाती हैं और उपासनामें इष्टको छोड़कर शेष उनचास इच्छाएँ भी निवृत्त हो जाती हैं।

चौथा मत है कि सम्पूर्ण वासनाओंको अभिभूत करके समाधि प्राप्त करनी चाहिए—यह योग-मार्ग है। चित्तको सर्वथा निर्विषयक बना देना। न मनमें विषय आयेगा, न अशुद्धि आयेगी। दोष तभी होते हैं जब अन्तः-करण सविषय होता है। मनमें जब पुरुष या स्त्री है तब काम है। जब धन है तब लोभ है। जब शत्रु है तब द्वेष है। यदि चित्त निर्विषयक हो जाय तो न काम, न क्रोध, न लोभ, न मोह। सद्‌गुण निर्विषयक हैं। ब्रह्मचर्यमें स्त्री या पुरुषकी अपेक्षा नहीं है, अतः ब्रह्मचर्य निर्विषयक है। इसी प्रकार सन्तोष, शान्ति, निर्मोह सब निर्विषयक हैं। वास्तवमें अन्तःकरणकी शुद्धि एक ही सद्‌गुणमें है—और वह है शान्ति। इसी शान्तिके नाम हैं ब्रह्मचर्य, सन्तोष आदि सद्‌गुण। सद्‌गुणोंके अनेक नाम तो दोषोंके

(क्रियायोगके द्वारा परमेश्वरकी आराधना); कल्याण (जो भी अपने कल्याणके साधन हैं उनका ग्रहण); अभ्यास (कल्याणके साधनोंका अभ्यास); अनवसाद (दुःख और प्रतिकूलतामें हीन भाव न आना); तथा अनुद्धर्ष (सुख और अनुकूलतामें हर्षसे पागल न होना)।

३४. यत्कर्म कुर्वतोऽस्य स्यात् परितोषोऽन्तरात्मनः।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतं तु वर्जयेत्॥

व्यावर्तक भेदसे कल्पित हैं—जैसे कामका व्यावर्तक ब्रह्मचर्य और लोभका व्यावर्तक सन्तोष है।

पाँचवाँ मत है कि अन्तःकरण न अन्न-जन्य है, न प्राण-जन्य, न कर्म-जन्य है और न वासना-जन्य। मनकी सत्ता ही नहीं है। न यह बाहर है न भीतर हृदयमें है।[३५] इसके लिए कोई प्रयत्न करनेकी जरूरत नहीं है। **यदर्थप्रतिभानं तन्मन इत्यभिधीयते।** विषयकी प्रतीतिको ही मन कहते हैं। जहाँ अन्यरूपसे विषयकी प्रतीति है, वहाँ चेतनको ही मन कहते हैं। जहाँ अन्यथा रहित विषयकी प्रतीति है, वहाँ मनको ही चेतन कहते हैं। अतः मनमें शुद्धि-विषयक प्रतीतिका नाम अन्तःकरणकी शुद्धि है और अशुद्धि-विषयक प्रतीतिका नाम अन्तःकरणकी अशुद्धि है। हम केवल शुद्धका चिन्तन करें। शुद्ध माने जिसमें दूसरी वस्तु मिली हुई न हो। इस प्रकार अद्वैत ब्रह्मका चिन्तन ही अन्तःकरणकी शुद्धि है।

तुम्हारा अन्त.करण जन्मजात शुद्ध है। जितने समय तुम परमात्माका चिन्तन करते हो उतने समय तुम्हारा अन्तःकरण शुद्ध रहता है, और जितने समय संसारका चिन्तन करते हो उतने समय अशुद्ध रहता है। बहुत दिनोंतक अभ्यास करोगे तब अन्तःकरण शुद्ध होगा, ऐसा नहीं है। परमात्माके चिन्तनमें लगो, बस अन्तःकरण शुद्ध हो गया। चिन्तनके अतिरिक्त अन्तःकरण कुछ है नहीं। इस प्रकार शुद्ध परमात्माका चिन्तन प्रारम्भ करते ही तुम शुद्धान्तःकरण होनेके कारण वेदान्त-श्रवणके अधिकारी हो।

---

३५. न बाह्ये नापि हृदये सद्रूपं विद्यते मनः।

अध्याय ४

वेदान्तका अनुबन्ध-चतुष्टय

किसी भी ग्रन्थका तात्पर्य समझनेके लिए उसके अनुबन्ध-चतुष्टयको जानना परम आवश्यक होता है। **अधिकारी, विषय, प्रयोजन और सम्बन्धको अनुबन्ध-चतुष्टयके नामसे जाना जाता है।** उपनिषदोंका (वेदान्तका) अधिकारी कौन है, उसका क्या विषय है, औपनिषद-विद्याका क्या प्रयोजन है तथा ग्रन्थका उस विद्याके साथ क्या सम्बन्ध है—इन्हीं चार अनुबन्धोंका विवेचन यहाँ इष्ट है।

१. अधिकारी

यों तो प्रत्येक मनुष्य वेदान्त-विद्याका अधिकारी है तथापि परम्परा साधनों (धर्म, उपासना, योग) और बहिरंग साधनों (विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षा)से जिसका अन्तःकरण शुद्ध हो गया है वह वेदान्त-विद्याका **मुख्य अधिकारी** है। इसमें न स्त्री-पुरुषका लिंग-भेद है, न ब्राह्मण, क्षत्रियादिका वर्ण-भेद है और न संन्यास-गृहस्थादिका आश्रम-भेद है। इसमें धनी-गरीब या पठित-अपठितका भेद भी नहीं है।

जो कोई भी मनुष्य वेदान्त-विद्याके फल मोक्षको चाहता है; जिसने धर्म और निष्काम-कर्मयोगके द्वारा कामना-मलका त्याग कर दिया है (या त्यागनेको इच्छुक है); जिसने उपासनासे अपनी वासनाएँ शुद्ध कर ली हैं अथवा योगके साधनोंसे वृत्तिका विक्षेप दूर कर लिया है; जो नित्यानित्यका विवेक करके अनित्यसे वैराग्यको प्राप्त हो गया है; जो वैराग्यके परिपाक षट्-सम्पत्तियोंसे धनी होकर मोक्ष-प्राप्तिके लिए गुरु-मुखसे श्रवण करनेको तत्पर है; जिनमें ये सब अथवा कुछ योग्यताएँ न्यूनाधिक मात्रामें उपस्थित हों, वे सब वेदान्त-विद्याके अधिकारी हैं।

रुचि और सामर्थ्य मिलकर अधिकारकी रचना करते हैं। ऐसे बहुत लोग हैं जो बुद्धिके बहुत तेज हैं—जैसे वकील, बैरिस्टर, वैज्ञानिक, परन्तु उनको मोक्षमें कोई रुचि नहीं है। और ऐसे बहुत-से श्रद्धालु मनुष्य हैं जो

सुन-सुनाकर मोक्ष चाहते तो हैं परन्तु जिनमें न विवेकका सामर्थ्य है और न त्यागका। ये दोनों प्रकारके लोग वेदान्तके सही अधिकारी नहीं हैं। हमारे मीमांसकोंने कर्मके अधिकारके सम्बन्धमें कहा—**अर्थी समर्थो विद्वान् शास्त्रेण अविपर्युदस्तः।** किसी कर्मका कोई व्यक्ति अधिकारी है या नहीं उसका निर्णय करनेके लिए यह देखो कि (१) वह उस कर्मको और उसके फलको चाहता है या नहीं; (२) उस कर्मको करनेका सामर्थ्य उसमें है या नहीं; (३) उस कर्मके विज्ञानको वह समझता है या नहीं; और (४) शास्त्रके द्वारा उस व्यक्तिके लिए उस कर्मका निषेध तो नहीं है? यदि वह 'अर्थी' है (चाहता है), समर्थी है (सामर्थ्यवान् है), विद्वान् है और उसके लिए शास्त्रका निषेध नहीं है तो वह व्यक्ति उस कर्मका अधिकारी है। परन्तु ज्ञानके प्रसंगमें अर्थी और समर्थी होना ही पर्याप्त है। मोक्षको चाहता हो और विवेक-वैराग्यरूपी सामर्थ्य उसके पास हो। (विशेष : देखिये अध्याय ३)।

२. विषय

सभी वेदान्तोंका प्रतिपाद्य विषय आत्मा और ब्रह्मकी स्वतःसिद्ध एकताका ज्ञान है। इसके लिए उपनिषदोंमें दो प्रकारके वाक्य पाये जाते हैं : (१) वे वाक्य जिनमें आत्माके और ब्रह्मके स्वरूपका अलग-अलग वर्णन किया गया है। इन वाक्योंको वेदान्तशास्त्रमें **अवान्तर वाक्य** कहते हैं। (२) वे वाक्य जिनमें आत्मा और ब्रह्मकी एकताका वर्णन किया है; ये **महावाक्य** कहलाते हैं। देहसम्बन्धी या साधन-फलसम्बन्धी या सृष्टिकी उत्पत्ति-स्थिति-भंगसम्बन्धी जितने उपनिषद्-वाक्य हैं, वे सब अवान्तर वाक्योंकी श्रेणीमें ही हैं क्योंकि उनका उद्देश्य आत्मा (त्वं-पदार्थ) या ईश्वर-ब्रह्म (तत्पदार्थ) के शोधनमें ही है। अवान्तर वाक्य महवाक्योंकी सिद्धिके लिए उपयोगी हैं।

वेदोंमें जो कर्म-विभाग है उससे सम्बन्धी वाक्योंकी मीमांसा जैमिनिकृत **पूर्वमीमांसा-शास्त्र**में की गयी है। उसमें शासन और अनुशासन[1] है तथा उसके पालनके पुरस्कार और अवहेलनाके दण्डकी व्यवस्था है। उसका उद्देश्य जीवनमें धर्म और उपासनाकी स्थापना है। अतः कर्मोपासना-सम्बन्धी वाक्य अवान्तर वाक्यकी श्रेणीमें ही हैं।

---

१. शासनात् शास्त्रम्।

वेदोंके ज्ञान-काण्डका नाम उपनिषद् है। ज्ञान-सम्बन्धी वाक्योंकी मीमांसा व्यासकृत **उत्तरमीमांसा-शास्त्र** में है जिसको वेदान्त-दर्शन भी कहते हैं। इसमें सत्य वस्तुका 'शंसन' है, ज्ञान है।[2] ज्ञान भी दो प्रकारका होता है: वृत्ति-ज्ञान और सिद्ध-ज्ञान। वृत्तिज्ञान अज्ञानका निवर्तक होता है, तथा सिद्ध-ज्ञानमें प्रवर्तक-निवर्तक भाव नहीं होता। तो महावाक्य-जन्य जो ज्ञान है वह आत्मा और ब्रह्मके भेद-ज्ञानरूप अज्ञानका निवर्तक है और अज्ञान-निवृत्तिके अनन्तर आत्माका जो सहजसिद्ध ज्ञान है वही मोक्ष है। मोक्ष सबका फल है। मोक्षका कोई दूसरा फल नहीं है।

३. प्रयोजन

उपनिषदोंका प्रयोजन है मोक्षकी सिद्धि। आत्मा ब्रह्म नहीं है, यह ज्ञान अज्ञान है। इसीके कारण "मैं कर्ता-भोक्ता-संसारी-परिच्छिन्न जीव हूँ" यह भ्रम होता है। इस भ्रमकी निवृत्ति अज्ञान-निवृत्तिसे होती है और अज्ञानकी निवृत्ति ब्रह्मात्मैक्य-बोधसे होती है। उक्त अज्ञान-निवृत्तिके अनन्तर जो ब्रह्मस्वरूप आत्मा है उसका नाम मोक्ष है। इस मोक्षकी सिद्धि होनेपर सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्ति होकर परमानन्दकी प्राप्ति होती है। यही परमात्माकी प्राप्ति, ईश्वरप्राप्ति, भगवत्प्राप्ति, आत्मसाक्षात्कार इत्यादि नामोंसे कहा जाता है। यही वेदान्त-शास्त्रका प्रयोजन है।

४. सम्बन्ध

मोक्ष या परमात्माकी प्राप्ति होती है ब्रह्मात्मैक्य-बोधिनी विद्यासे और यह विद्या है उपनिषदोंका विषय। अतः उपनिषद् और मोक्षका (ब्रह्मका) प्रतिपादक-प्रतिपाद्य सम्बन्ध है।

परमात्माकी प्राप्ति ब्रह्मज्ञानसे और ब्रह्मज्ञान उपनिषदोंसे। अतः परमात्माकी प्राप्तिमें उपनिषद् (वेदान्त) परम्परा-साधन हैं। असलमें ब्रह्मविद्या किसी ग्रन्थ, श्लोक या वाक्यमें नहीं रहती; वह तो बुद्धिमें रहती है। परन्तु ग्रन्थादिसे उदित होनेके कारण ब्रह्मविद्यामें ग्रन्थ परम्परासे साधन माने जाते हैं।

ब्रह्मज्ञानके बिना अनर्थकी निवृत्ति नहीं हो सकती। एक उस परमात्माको जानकर ही जीव मृत्युका अतिक्रमण करता है; परमात्माके ज्ञानसे ही,

---

२. शास्त्रत्वं शंसनादपि।

और किसीके ज्ञानसे नहीं; तथा ज्ञानसे ही, कर्म-उपासना आदि किसी अन्य साधनसे नहीं; यह बात साफ शब्दोंमें उपनिषद्ने कही कि इसके अतिरिक्त अन्य कोई दूसरा मार्ग ही नहीं है—

तमेव विदित्वातिमृत्युमेति नान्यः पन्था विद्यतेऽयनाय ॥

(श्वेता० ३.८)

कोई चर्मकी भाँति समस्त आकाशको लपेट ले, यह तो सम्भव हो सकता है, परन्तु उस परमात्मदेवको जाने विना दुःखका अन्त हो जाय, यह सम्भव नहीं है।[3] उस परमात्मदेवको जानकर सब पाशोंसे मुक्ति होती है।[4] वेदान्तका यह भेरी घोष है कि ज्ञानसे ही कैवल्यकी प्राप्ति होती है।[5] ब्रह्मज्ञान उपनिषद्-शास्त्रसे ही होता है, दूसरेके द्वारा नहीं।[6]

५. अनुबन्ध-विषयक कुछ शंका-समाधान

१ शंका—वेदान्त-विद्याका विचार, पठन, पाठन सब बेकार है। क्योंकि (१) मोक्ष चाहनेवाला कोई साधन-चतुष्टय-सम्पन्न अधिकारी संसारमें है ही नहीं। लोग अनर्थसे निवृत्ति तो चाहते हैं परन्तु ब्रह्मज्ञान द्वारा निवृत्ति नहीं चाहते। कर्मसे, उपासनासे अथवा योगसे अनर्थोंकी निवृत्ति होती ही है और उसमें कर्ता-भोक्ता जो जीव है वह भी बना रहता है; जबकि ब्रह्मज्ञानमें जीव ही नष्ट हो जाता है। (२) लोग परमानन्द चाहते हैं परन्तु वे उसको भी विषयवत् ही चाहते हैं। किन्तु ब्रह्मज्ञानका जो परमानन्द है उसमें कोई विषय ही नहीं है। (३) अनुभूत सुखकी इच्छा तो सब करते हैं किन्तु अननुभूत ब्रह्म-सुखकी इच्छा कोई नहीं कर सकता। अत मोक्षेच्छा ही किसीमें उदय नहीं हो सकती। (४) यदि यह मान भी लें कि कोई वास्तवमें मुमुक्षु है भी तो उसमें साधन-चतुष्टयका होना अत्यन्त कठिन है। इस प्रकार जब वेदान्त-विद्याका कोई अधिकारी ही नहीं तो उस विद्याका व्याख्यान भी निरर्थक है।

---

३. या चर्मवदाकाशं वेष्टयिष्यन्ति मानवाः।
तदा देवमविज्ञाय दुःखस्यान्तो भविष्यति ॥ (श्वेता० ५.२०)

४. ज्ञात्वा देवं मुच्यते सर्वपाशैः (श्वेता० १.८)।

५. ज्ञानादेव तु कैवल्यम् इति वेदान्तडिण्डिमः।

६. शास्त्रादिनैव जन्यम्।

समाधान :—अनर्थ क्या है ? जो असत् है, जड़ है और दुःखरूप है वही अनर्थ है। अर्थ तो केवल एक आत्मवस्तु है। इसलिए जबतक आत्मवस्तुकी परिपूर्ण ब्रह्मके रूपमें बोधरूप उपलब्धि नहीं होगी तबतक अनर्थका बीज नष्ट नहीं हो सकता। आत्माको ब्रह्मरूपमें न जानना ही सब अनर्थोंका बीज है। वह केवल वेदान्तविद्यासे ही निवृत्त हो सकता है। कर्म, उपासना और योगसे तो दुःखोंकी तात्कालिक निवृत्ति होती है क्योंकि अनुभव बताता है कि कर्मजन्य कोई अवस्था चिरकालीन नहीं हो सकती। या फिर वृत्तिमें उपसनाके काल्पनिक सुख द्वारा दुःखको प्रतिस्थापित किया जाता है; अथवा योगके द्वारा दुःखको ग्रहण करनेवाली वृत्तिमात्रका ही निरोधकर दिया जाता है। परन्तु ये सब कालमें टूटनेवाली अवस्थाएँ हैं, अतः दुःख निर्मूल नहीं हो सकता। फिर न तो दुःख और उसके हेतुओंकी सत्ता या महत्त्वका निषेध ही होता है और न सुखके निवास-स्थान (आत्मा)का ही विवेक होता है। यदि सांख्य-विवेकसे यह (सुखकी आत्मनिष्ठता) सिद्ध भी हो जाय तो भी जबतक आत्माकी अपरिच्छिन्नताका बोध नहीं होता और प्रकृतिके मिथ्यात्वका निश्चय नहीं होता तबतक उक्त आत्मसुख भी काल-बाधित ही रहेगा। और यही तो वेदान्त है !

विषयमें यदि सुख होता तब तो पृथक् भोक्ताकी आवश्यकता होती। विषयोंमें जो सुखका भान होता है वह तो अज्ञानजन्य भ्रमसे है। आत्माका सुख ही कामनावासित हृदयमें कामनाके विषयके साथ सम्पर्क होनेपर वृत्तिस्थ विषयमें भासने लगता है और अज्ञानसे सम्मुखस्थ विषयमें आरोपित कर दिया जाता है। असलमें तो विषयी अपना सुख ही 'भोगता' है। आत्म-सुखका वृत्तिमें प्रतिबिम्बन तथा उसका ज्ञान—यही वृत्तिजन्य सुख है। वह जाग्रत-स्वप्नकी अवस्थाओंमें विषयके माध्यमसे भी हो सकता है, समाधि-अवस्थामें शान्त-वृत्तिके माध्यमसे भी हो सकता है और सुषुप्ति-अवस्थामें विषयाभावसे भी हो सकता है। आत्मा सुखस्वरूप है, इस ज्ञानका नाम ही परमानन्द है, क्योंकि इस ज्ञानके उदयसे सब सुख आत्मानन्द हो जाते हैं।

लोग विषय-सुख ही चाहते हैं, यह कहना ठीक नहीं है। क्योंकि वास्तवमें लोग सुखमात्र चाहते हैं अन्यथा औषध लेकर भी वे सुषुप्ति-सुखकी, जिसमें विषय-रहित सुख है, इच्छा न करते ! क्योंकि लोग मात्र

सुख चाहते हैं और विषय-सुख उनको अनुभूत है, इसलिए उपनिषदोंसे सजातीय ब्रह्मसुखके बारेमें सुनकर उनको ब्रह्मसुख अर्थात् परमानन्दरूप मोक्षकी इच्छा हो सकती है। **सब चाहते हैं कि हमें अविनाशी सुख मिलें, सर्वत्र सुख मिले, सबसे सुख मिले, बिना श्रम किये सुख मिले और ज्ञात होता हुआ सुख मिले।** भले वह विषयसे मिले या निर्विषयक मिले ! ऐसे विलक्षण सुखका नाम ही तो ब्रह्मसुख या परमानन्द या मोक्ष-सुख है ! इसलिए प्रत्येक मनुष्य असलमें चाहता तो मोक्ष-सुख ही है किन्तु अज्ञानसे वह विनाशी, परिच्छिन्न और अपनेसे भिन्न विषयोंमें ढूँढ़ता है। इस प्रकार वेदान्तकी दृष्टिसे सब मनुष्य मुमुक्षु हैं चाहे उन्हें इसका ज्ञान हो या न हो।

रही बात साधन-चतुष्टयसम्पन्न मुमुक्षुकी, सो यह ठीक है कि ऐसे मुमुक्षुओंकी संख्या थोड़ी है, परन्तु उनका अभाव नहीं है। संसारमें चार प्रकारके मनुष्य होते हैं : विषयी, पामर, जिज्ञासु और मुक्त। इनमें **विषयी** वे लोग हैं जो शास्त्रके अनुसार इस लोक और परलोकके सुख-भोगोंको भोगते हुए शास्त्रानुसार धर्ममें बरतते रहते हैं। ये लोग वेदान्तके फलमें रुचि नहीं लेते, अतः वे वेदान्तके अधिकारी नहीं हैं। **पामर** वे लोग हैं जो संसारके भोगोंमें ही मस्त हैं, भले वे शास्त्रज्ञ हों या न हों। ये लोग भी वेदान्तके अधिकारी नहीं हैं क्योंकि इनमें सामर्थ्य नहीं है। मुक्त पुरुषोंका मोक्षरूपी प्रयोजन सिद्ध हो चुका है इसलिए उनके अधिकार-अनधिकारका प्रश्न ही नहीं है। अब बचे जिज्ञासु, वे ही वेदान्त-विद्याके अधिकारी हैं।

जिज्ञासुकी विषय-सुखमें अलं-बुद्धि नहीं होती। उन्हें तो परिणाममें, भोगमें और अर्जनमें सारे सुख भी दुःख ही नजर आते हैं। उनकी दृष्टिमें शरीर पूर्वकृत धर्माधर्मका फल है। रागद्वेषकी निवृत्तिके बिना धर्माधर्मजन्य आवागमनका चक्र समाप्त नहीं हो सकता। राग-द्वेषका आधार भेद-ज्ञान और अपनेमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व है। इसलिए ब्रह्मात्मैक्य बोधके बिना राग-द्वेषकी अत्यन्तिक निवृत्ति नहीं हो सकती। क्योंकि भेद और कर्तापन-भोक्तापनकी भ्रान्ति अपनी आत्माके ब्रह्मत्वके अज्ञानसे ही होती है, अतः जिज्ञासुओंकी प्रवृत्ति वेदान्त-विद्यामें अवश्य होती है, इसलिये विद्याका व्याख्यान (ब्रह्म-विचार) सार्थक है।

२. शंका—ब्रह्म-विद्याका प्रयोजन मोक्षकी सिद्धि है और वह ब्रह्मात्मैक्य-बोधसे होती है। ठीक है, परन्तु वह मोक्ष नित्य है या अनित्य ?

यदि अनित्य है तो अनित्यसे तो वैराग्य होना चाहिए; अनित्य मोक्षकी आवश्यकता ही नहीं। यदि मोक्ष नित्य है तो वह साधनजन्य नहीं होगा क्योंकि नित्य वस्तुको प्राप्त करनेके लिए साधनकी आवश्यकता नहीं होती; उस दशामें शास्त्र-विहित सब साधन आवश्यक सिद्ध होंगे। यदि कहो कि ब्रह्मज्ञानकी तो सार्थकता है ही, तो यह तभी संभव है जब बन्धन अज्ञानसे सिद्ध हो। परन्तु आत्मा जब ब्रह्म ही है तब उसमें अज्ञान और तज्जन्य भ्रमकी उपस्थापना हास्यास्पद है। असलमें आत्मा ब्रह्म नहीं है, जैसा प्रत्येक व्यक्तिका सहज अनुभव भी है और जैसा शास्त्रमें दोनोंका भेद बताया भी गया है। जीव अल्पज्ञ, परिच्छिन्न, संसारी है और ब्रह्म सर्वज्ञ, अपरिच्छिन्न, सर्वशक्तिमान् है। बन्धन भी प्रत्येक जीवका सहज अनुभव है। अतः बन्धन सत्य है, और बन्धनकी निवृत्ति ज्ञानसे नहीं हो सकती, वह कर्म-उपासना-योगकी अपेक्षा रखता है। अतः ब्रह्मविद्याका विचार निरर्थक है।

समाधान—मोक्ष नित्य है; फिर भी इसके लिए जो साधन शास्त्रमें वर्णित हैं वे व्यर्थ नहीं हैं। मोक्ष आत्माका अपना स्वरूप ही है, अन्य नहीं है। हम कहीं बँधे नहीं हैं। बन्धन एक कल्पना है, भ्रम है। विचार करके देखो कि बचपनसे अबतक हम कितनोंके साथ बँधे और छूटे।

धनके साथ बँधे, वह चला गया। स्त्री, पुत्र, मित्र सबके साथ अपनेको बँधा समझते रहे किन्तु सब बदलता गया। इनके आनेपर बन्धनका भ्रम होता है, पर ज्यों-के-त्यों हैं। हमें कोई बाँध नहीं सकता। सपनोंके समान ये आते-जाते रहते हैं और मोक्ष अपना सहज स्वरूप है। अपने स्वरूपभूत मोक्षकी प्राप्तिमें जो प्रतिबन्ध हैं—बन्धनका भ्रम है, उसे दूर करनेके लिए साधनकी आवश्यकता और इसलिए शास्त्रकी सार्थकता है। मोक्षको उत्पन्न करनेके लिए साधनकी आवश्यकता नहीं है अन्यथा मोक्ष भी निश्चित अनित्य ही होगा। भगवान् शंकराचार्य कहते हैं—**रोगार्तस्येव रोगनिवृत्तौ स्वस्थता**। स्वास्थ्य हमारा स्वरूप है किन्तु सर्दी-गर्मीसे, वात-पित्त-कफ़के प्रकोपसे या और किसी कारणसे शरीरमें रोग आगया तो उसके निवारणके लिए औषध-सेवन कर लेते हैं। स्वस्थ तो हम रोगसे पहिले भी थे और रोगनिवृत्तिके बाद भी रहेंगे। इसी प्रकार मोक्ष अपना स्वरूप है। उसमें जो बन्धनका भ्रम आगया है उसे दूर करनेके लिए ब्रह्मज्ञानकी आवश्यकता है। ब्रह्मज्ञानके लिए ब्रह्मविचारकी आवश्यकता है

और शास्त्र ब्रह्मविचार-रूप है, अतः शास्त्रकी आवश्यकता है। शास्त्रमें वर्णित सभी साधन परस्पर ब्रह्मज्ञानमें सहकारी हैं, यह वर्णन पहिले साधन-विचारमें कर चुके हैं।

सीधा प्रश्न है—'तुम दुःखी हो या नहीं? यदि तुम अपनेको दुःखी नहीं समझते तो तुम्हारे लिए किसी साधनकी आवश्यकता नहीं है। स्वस्थ पुरुषके लिए कोई दवा नहीं है। दवाकी आवश्यकता रोगीके लिए है। यदि तुम्हें लगता है कि 'मैं दुःखी हूँ' तो दुःखमें तो किसीका राग नहीं होता। तब तुम दुःख-निवृत्तिका साधन करो। हमको सुख हो, दुःख हमको कभी न हो, यह सबकी भावना है।

दूसरेके विषयमें कोई बात जाननी हो तो जैसा लिखा होगा या जैसा कोई कहेगा वैसा मानना पड़ेगा। किन्तु अपने विषयमें जानना हो तो स्वानुभव ही प्रमाण होगा। अतः अब सोचो कि कहीं लिखा है कि तुम दुःखी हो, इसलिए अपनेको दुःखी मानते हो या अपने दुःखीपनेके तुम स्वयं साक्षी हो? निष्कर्ष यही निकलेगा-तुम इसलिए दुःखी हो क्योंकि तुम अपने दुःखी होनेके स्वयं साक्षी हो। परन्तु नियम यह है कि जो जिसका साक्षी होता है वह उसके (साक्ष्यके) गुण-धर्मसे भिन्न होता है। तब जो तुम दुःखीपनेके साक्षी हो वह तुम दुःखी कैसे हो सकते हो?

विकारके बिना कोई दुःख नहीं होता। विकार—अर्थात् सड़न, एकसे दूसरेमें परिवर्तन। हमारी जो वस्तु जैसी थी वैसी नहीं रही, इसीसे तो हम दुःखी हुए न! जो परिवर्तनशील है वह साक्षी नहीं है और साक्षीमें विकार या परिवर्तन नहीं है। बुद्धि दिनमें सहस्र-सहस्र रूप बदलती है। यह प्रिय-अप्रिय, सुख-दुःख, मेरा-तेरा आदि रूपोंमें बदलती रहती है। बुद्धिके इन सहस्र-सहस्र रूपोंका मैं साक्षी हूँ। अतः मैं निर्विकार हूँ। किन्तु निर्विकारमें तो दुःख होता ही नहीं; तब यह दुःख कहाँसे आया? यह भूलसे, नासमझीसे, अज्ञानसे माना हुआ दुःख है। **प्रज्ञापराध एव एष दुःखमिति यत्** हम जिसे दुःख कहते हैं वह हमारी प्रज्ञाका अपराध है माने समझका दोष है।

जैसे कोई व्यापारी अपना पूरा हिसाब देखे बिना केवल आजके हिसाबको देखकर घाटा मान ले और दुःखी हो जाय, तो यह उसकी समझका दोष है; उसी प्रकार हम अनादि, अनन्त अपनी आत्मा (साक्षी)को

तो देखते नहीं कि वह नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म ही है, बस एक शरीरके विचारसे अपना पूरा हिसाब मान लेते हैं। यही समझकी भूल है।

यदि अज्ञानसे दुःख न होता तो ज्ञानसे वह दूर न हो सकता था। यह नियम है कि जो वस्तु अज्ञानसे होती है वह होती नहीं है और जो वस्तु ज्ञानसे मिट जाती है, वह भी नहीं होती। रस्सीमें रस्सीके अज्ञानसे सर्प दिखता है और रस्सीके ज्ञानसे सर्प नष्ट हो जाता है, अतः वह सर्प है ही नहीं। उसी प्रकार साक्षीके ब्रह्मस्वरूपके अज्ञानसे साक्षीमें दुःख, परिच्छिन्नता, अल्पज्ञता आदि प्रतीत होते हैं और उसके ब्रह्मत्वके ज्ञानसे वे सब नष्ट हो जाते हैं; अतः दुःखादि भी वस्तुतः हैं नहीं, केवल इनका भ्रम हममें होता है। वेदान्त भ्रमनिवर्तक ज्ञानको भी कल्पित मानता है। जैसे अविद्या कल्पित है वैसे ही अविद्या-निवर्तक ज्ञान भी कल्पित है। कल्पितकी निवृत्ति कल्पितसे ही होती है।

आप समें समसत्ता जिनकी। लखि साधक बाधकता तिनकी॥

(विचारसागर)

किसी भी वस्तुका वर्णन करो, ऐसा कहना पड़ेगा कि 'मुझे ऐसा प्रतीत होता है।' इसके अतिरिक्त और कोई भाषा नहीं है। सृष्टिका कारण, प्रलयका स्वरूप, ईश्वर, प्रकृति, किसीका भी वर्णन करो, कहना यही पड़ेगा कि मुझे ऐसा प्रतीत होता है। बन्धन भी प्रतीत होता है और मोक्ष भी। सुख भी प्रतीत होता है और दुःख भी। इस प्रतीतिको जब हम सच्ची मान लेते हैं तब सुखी, दुःखी होते हैं। भेद—प्रतीतिके ज्ञानको हम पहले सच्चा मान लेते हैं, फिर अच्छा-बुरा मानते हैं, तत्पश्चात् प्रिय-अप्रिय मानते हैं और तब फिर प्राप्ति और त्यागका प्रयत्न करते हैं। इस प्रकार हम भेद-प्रतीतिमें इतने निमग्न हो जाते हैं कि वह सत्य बन जाती है और राग-द्वेष बद्धमूल हो जाते हैं। आत्मदेव तो सर्वथा शुद्ध और आनन्दस्वरूप ही हैं।

आनन्दके सम्बन्धमें पाँच बातें मनमें बैठा लो—१. आनन्दका कोई कारण नहीं होता। अर्थात् आनन्द उत्पन्न नहीं होता। उत्पन्न हुआ आनन्द नाशवान् होगा। अतः आनन्द नित्य है। २. आनन्दका कोई कार्य नहीं होता। अर्थात् आनन्द सबका फल है, आनन्दका कोई अन्य फल नहीं है। अतः आनन्द अपरिणामी निर्विकार है। ३. आनन्दका कोई प्रतिस्पर्धी नहीं होता जैसे कि सुखका प्रतिस्पर्धी दुःख होता है। इस अर्थमें आनन्द

सुखसे विलक्षण है अतः आनन्द अद्वितीय अथवा पूर्ण है। आनन्दका कोई विजातीय नहीं है। ४. (क) आनन्दमें सजातीय भेद नहीं है, अतः सर्वत्र आनन्द एक ही है, भले वह किसी प्रकार भी (किसी भी उपाधिसे) प्रकट हो। खट्टा खानेसे आनन्द एक और मीठा खानेसे आनन्द दो, ऐसा नहीं होता। विषय-भेदसे आनन्दमें भेदका आरोप होता है पर आनन्द एक ही है। (ख) आनन्दमें स्वगत-भेद भी नहीं होता। कम आनन्द, अधिक आनन्द, गाढ़ा आनन्द, हल्का आनन्द आदि जो तारतम्य प्रतीत होता है वह वृत्तिका है, आनन्दका नहीं। ५. आनन्द कभी परोक्ष नहीं होता। अज्ञात रूपसे आनन्द कभी नहीं होता।

अर्थात् आनन्द कभी अज्ञानसे ढँकता नहीं है। आनन्द सबका सबसे बड़ा प्रेमास्पद है। सब आनन्दसे ही प्यार करते हैं। तुम सबसे अधिक जिससे प्यार करते हो वही तुम्हारा आनन्द है और सबसे अधिक प्यार अपने अतिरिक्त और किसीसे नहीं होता। 'नारद भक्ति-दर्शन'में प्रेमके लक्षणमें भी जहाँ **'तत्सुखे सुखित्वम्'** (उसके सुखमें सुखी होना) कहा गया है वहाँ **'सुखित्वम्'** (सुखी होना) आत्मगामी ही है। आनन्द अन्य नहीं है। आप ही आनन्द है।

अब सोचो पुरुषार्थ कहाँ है? अपने पुरुषार्थ आप स्वयं हैं। अपने आपको छोड़कर और कुछ पाना नहीं है और अपना आपा नित्य प्राप्त है परन्तु यह ज्ञात नहीं है, बस यही भूल है। ज्ञात हो गया बस, दुःख निवृत्त हो गया, मोक्ष हो गया। ज्ञानसे नित्य प्राप्तको ही प्राप्ति-सी होती है।

हाथमें कंगन है परन्तु भूल गये। अब ढूँढते हैं इधर-उधर। किसी जानकारने बता दिया 'वह हाथमें जो है वही तो कंगन है। बस, कंगन मिल गया। खोया नहीं था, खोया-सा था; मिला नहीं, मिल-सा गया। यही हाल अपने स्वरूपका है। उसकी ब्रह्मता खो-सी गयी है जिसके फलस्वरूप अपनेमें मृत्यु, दुःख, अज्ञान, बन्धन प्रतीत होता है। वेदान्त-वाक्योंके द्वारा कोई सद्गुरु कृपा करके बता देते हैं 'वह ब्रह्म तो तुम आत्मा ही हो।' बस, आत्माको ब्रह्मता मिल-सी गयी और बन्धनादिकी-निवृत्ति हो गयी। यही मोक्ष है।

अपनेमें यह अज्ञान कैसे हुआ? इस द्वैतरूप प्रपंचके कारण। प्रपंच माने पाँचका बखेड़ा। पाँच ज्ञानेंद्रियोंने ही जो जाल फैलाया है वही प्रपंच है। यह प्रपंच अपनेमें अपनेसे पृथक् सत्य-सा प्रतीत होता है और आत्मा

माने क्या ? आत्माका अर्थ है 'मैं'। जहाँ-जहाँ आपको 'मैं'की भ्रान्ति हो सकती है वह-वह आत्मा शब्दका अर्थ हो जायेगा। 'मैं'का अर्थ यह स्थूल शरीर। लेकिन शरीरको मेरा भी कहते हैं। स्वप्नका विचार करोगे तो स्थूल शरीर मेरा हो जायेगा। सुषुप्तिका विचार करोगे तो सूक्ष्म शरीर भी मेरा हो जायेगा। शुद्ध अहं (साक्षी)का विचार करोगे तो कारण-शरीर भी मेरा हो जायेगा। वैसे आत्मा शब्दके चार अर्थ होते हैं :

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य सन्ततो भावस्तस्मादात्मेति कथ्यते॥

सम्पूर्ण विषयोंमें जो व्यापक है, सब विषयोंका जो प्रकाशक, ग्रहण करनेवाला है, सब विषयोंको जो अपनेमें समेट लेता है (खा जाता है) और जिसका भाव सदा बना रहता है उसको आत्मा कहते हैं। ये चारों बातें अपनेमें हैं और यह आत्मा आनन्द स्वरूप ही है।

जहाँ अपनेसे भिन्न आनन्द लेना होता है वहाँ तो करणकी, इन्द्रियोंकी, आवश्यकता होती है परन्तु स्वरूपभूत आनन्दके आस्वादनके लिए किसी करणकी आवश्यकता नहीं है : **न तस्य कार्यं करणं च विद्यते।** शान्त, विक्षिप्त, सविषयक, निर्विषयक आदि वृत्तियोंकी भी आवश्यकता नहीं है। सब वृत्तियोंका प्रकाशक आत्मा ही है। अतः आत्मानन्द करण-सापेक्ष नहीं है। इसीसे उसके लिए प्रयत्नकी भी आवश्यकता नहीं है।

ऐसे आत्मामें दुःख और बन्धन केवल अज्ञानसे, भूलसे हैं। आत्माकी भूलसे नहीं, मनुष्यकी भूलसे। यह मनुष्य देहमें अभिमान करनेवाला अज्ञानी हो गया है, अपनी भूल-भ्रम दूर कर दे तो स्वयं आनन्द-स्वरूप ही है।

'यह रोग, यह अभाव, यह मौत मुझसे भिन्न कुछ है और यह मेरा कुछ नष्ट कर सकते हैं या कर रहे हैं'—यह अपनेसे भिन्न 'कुछ' मानना भ्रम है। यह द्वैत-प्रपंच है। इसका उपशम होना चाहिए।

मात्र इस उपशमके लिए साधन हैं। उपशम होते ही स्वस्थता प्राप्त हो जायेगी। अपने स्वरूप-निर्माणके लिए साधन नहीं है।

अतः वेदान्त-विद्याका प्रयोजन अपने स्वरूपका अद्वैत-बोध ही है।

प्रपंचका उपशम कर्म, उपासना, योग आदि साधनोंसे नहीं हो सकता क्योंकि द्वैत-प्रपंच अविद्याकी कृति है, अतः विद्यासे ही इसका उपशम होगा।

दुःख दो प्रकारका है : एक तो वस्तुके कम-अधिक होनेका और दूसरा मनकी परिस्थिति बदलनेका। इसमें भी सभी विचारवान् यह मानते हैं कि

वस्तु सुखद या दुःखद नहीं होती। अविद्याके कारण हम जिस वस्तुसे अपना सम्बन्ध जोड़ लेते हैं वही सुख-दुःख देती है।

शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँच विषय हैं। ये न सुखद हैं न दुःखद। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश जो विषयोंके कारण हैं, वे भी न सुखद हैं, न दुःखद। इनका कारणभूत तामस अहंकार भी सुख-दुःखका हेतु नहीं है, नासिका, श्रवणादि इन्द्रियाँ भी सुख-दुःख नहीं देतीं। पंच-प्राण भी सुख-दुःख नहीं देते। इन सबका व्यवस्थापक अहंकार भी सुख-दुःखका हेतु नहीं। ये सब-के-सब प्राकृत हैं। बुद्धि भी केवल समझती है कि यह सुख है, यह दुःख है; वह सुख-दुःख देती नहीं है। इसी प्रकार प्रकृति भी सुख-दुःख नहीं देती। जब प्रकृति और प्राकृतके समस्त विस्तारमें कोई दुःख नहीं देता तो दुःख आता कहाँसे है? उत्तर यही है कि अविद्यासे, अज्ञान, नासमझी, मूर्खतासे। जब हम किसी वस्तुको ठीक नहीं समझते, तब दुःखी होते हैं।

अहंता अर्थात् प्राकृत अहंकार तो सुषुप्तिमें भी रहता है। उस समय श्वास चलती है, रुधिराभिसरण होता है, नख-केश बढ़ते हैं, अन्न पचता है। अर्थात् अहंकार उस समय भी क्रियाशील रहता है। यह अहं दुःखका हेतु नहीं है। दुःखका हेतु तो 'अस्मिता' है। आत्मा है चेतन, द्रष्टा और अहंकार है प्राकृत। जब हम द्रष्टा और दृश्यका ठीक-ठीक अलगाव नहीं कर पाते और चित्स्वरूप होनेपर भी (अविद्याके कारण) जब प्राकृत अहंकारके साथ ऐसे एक हो जाते हैं कि अहंकारको ही अपना स्वरूप समझने लगते हैं, तब इसको ही अस्मिता कहते हैं। यही चिज्जड़-ग्रन्थि है। इस अस्मिता-रूप ग्रन्थिसे ही फिर राग-द्वेष और अभिनिवेश-रूपी क्लेश होते हैं।

असलमें दुःख देते हैं राग और द्वेष। प्रकृतिसे जैसे पुष्प उगता-बढ़ता-खिलता है, वैसे ही शिशु भी पैदा होता है और बढ़ता है। उसमें कर लिया मैं-पना, तो उससे अनुकूल-प्रतिकूलका भाव, राग-द्वेष आया और फिर रागसे सुख और द्वेषसे दुःख। अब राग-द्वेषमें इतने डूब गये कि देहको, पुत्रको, घरको अपनेसे अभिन्न मानने लगे। यह अभिनिवेश हो गया। इस प्रकार हमारे दुःखका कारण हमारा अविचार है। अविचारमें हम इतने खो गये हैं कि अपने मुक्तस्वरूपको, द्रष्टा-स्वरूपको भूल गये हैं।

अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश—ये दुःखके कारण योगदर्शनके अनुसार हैं। योगी कहते हैं कि अविद्याके इस परिवारका नाश

कर दो, विवेक-ख्यातिसे। वह होगी चित्तवृत्तियोंके निरोधसे। समाधिमें जब द्रष्टा अपने स्वरूपमें स्थित होगा, तब उत्थान-दशामें जान जायेगा कि संसारकी किसी वस्तुसे मेरा सम्बन्ध नहीं है। वह वस्तु फिर आये या जाये। योगदर्शन कहता है कि दुःख-क्लेश आविद्यक हैं। अतः अविद्याकी निवृत्ति यदि कर दो तो तुम्हारा क्लेश मिट जायेगा, किन्तु संसार प्राकृत है, अतः संसार ज्यों-का-त्यों बना रहेगा। प्राकृत संसार न सुख देता है, न दुःख।

वेदान्तदर्शन कहता है कि सृष्टि दो प्रकारकी है—एक जीव-सृष्टि और दूसरी ईश्वर-सृष्टि। पृथिवी, जलादि पंचभूत, शब्द-स्पर्शादि तन्मात्र, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण स्त्री, पुरुष आदि प्राणी इत्यादि ईश्वर-सृष्टि हैं। ईश्वर-सृष्टि दुःखद नहीं है। किन्तु 'यह मैं हूँ और यह मेरा है, यह मैं नहीं हूँ और यह मेरा नहीं है' यह जीवकी बनायी हुई सृष्टि है। तैत्तिरीय उपनिषद्का कहना है : **आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते**। अर्थात् आनन्दसे ही ये सब भूत उत्पन्न होते हैं। तो ईश्वरकी सृष्टिका उपादान तो आनन्द है।

सृष्टि आनन्दसे निकली है, आनन्दमें स्थित है, आनन्दमें ही लीन हो जायेगी।[७] अतः सृष्टि आनन्दरूप है। हुआ यह कि 'इतना मेरा, इतना तेरा'—यह जो जीवने मान लिया, इस जीव-सृष्टिसे ही दुःख निकल पड़ा। मनुष्यने कभी विचार नहीं किया। यह विचार न करना ही अविद्या है, अज्ञान है।

वेदान्तकी यह अविद्या योगदर्शनकी अविद्यासे कुछ भिन्न है। योग-दर्शनमें ईश्वर, जीव, प्रकृति, अविद्याको अनादि माना है; किन्तु वेदान्त सृष्टिको परमाणु या प्रकृतिसे बनी नहीं मानता। दूसरेसे सृष्टि बनी है, इसका निषेध करनेके लिए वह कहता है कि सृष्टि ईश्वरसे बनी है। यहाँ ईश्वरसे सृष्टि बननेका अध्यारोप ही है, सृष्टि बननेके समर्थनमें तात्पर्य नहीं है। अन्य-कारणवादके निषेधमें तात्पर्य है। तत्त्व-दृष्टिसे तो सृष्टि बनी ही नहीं है।

कर्मसे सृष्टि माननेमें प्रश्न उठता है कि पहिले कर्म या पहले शरीर? शरीरके बिना कर्म हो नहीं सकता। पहले कर्म तो बिना शरीरके कर्म

---

७. आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते आनन्देन जातानि जीवन्ति आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। (तैत्ति० ३.६)।

कहाँसे आया ? पहले शरीर तो कर्मके बिना शरीर बना कैसे ? यदि दोनों साथ-साथ थे तो उनमें कार्य-कारणभाव नहीं बनेगा। दोनोंको अनादि माननेसे भी कार्य-कारण भाव नहीं बनेगा। अतः ये अनादिरूपसे कल्पित हैं। अनादि ब्रह्म वास्तविक है और अनादि कार्य-कारणभाव कल्पित है। यह मानना पड़ेगा।

सांख्य और योग कहते हैं कि सृष्टि अविद्यासे दुःख देती है, परन्तु वेदान्तका तो कहना है कि सृष्टि ही अविद्यासे बनी है। अपनी आत्मासे भिन्न सृष्टिको हम अधिष्ठानके (प्रत्यक्चैतन्याभिन्न ब्रह्मतत्त्वके) अज्ञानसे ही मान रहे हैं। आत्माको ब्रह्मस्वरूप जानते ही सृष्टि नहीं रह जाती। अपनी आत्मासे भिन्न सृष्टि है, यह विचार अपने आपको ब्रह्मस्वरूप न जाननेसे ही है।

कालके सम्बन्धमें निर्णय यह है कि भूतकाल अनादि है और भविष्यत्काल अनन्त है। इस अनादि-अनन्त कालके मध्य तुम्हारी आयुके जो सौ-पचास वर्ष हैं वह उस कालका कौन-सा भाग है ? कहना होगा कि यह सौ-पचास वर्ष तो प्रतीतिमात्र है, अनादि-अनन्त कालमें। इसीप्रकार, तुम्हारे शरीरने जो देश घेर रखा है वह अनन्त देशका कौन-सा भाग है ? विस्तार-दृष्टिसे भी अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड अनन्त देशमें केवल प्रतीतिमात्र हैं। कारण-सत्ताकी दृष्टिसे देखें तो जो पूर्ण सत्ता होती है उसमें कोई भी परिच्छिन्न सत्ता रह नहीं सकती क्योंकि एक परिच्छिन्न-सत्ता जहाँ होगी वह पूर्ण-सत्ताको भी वहाँ परिच्छिन्न बनावेगी। अतः उस अनन्तके अज्ञानसे ही हम अनन्त कोटि ब्रह्माण्डोंको मान रहे हैं !

अब और देखो ! रूपमें नेत्र प्रमाण हैं। नेत्रमें मन प्रमाण है। मनमें बुद्धि और बुद्धिके लिए मैं प्रमाण हूँ। मैं बुद्धिके भाव-अभाव, दोनोंका साक्षी हूँ। देश, काल, वस्तु, इन सबकी प्रतीति बुद्धिके द्वारा होती है। अतः बुद्धि और बुद्धि द्वारा प्रतीत होनेवाले सब पदार्थ दृश्य होनेके कारण स्वप्नके समान मिथ्या भासमान हैं। इस प्रकार देश-काल-वस्तुकी वास्तविक सत्ता नहीं है। समाधिमें शान्त चित्तमें सृष्टिकी प्रतीति नहीं होती। विक्षिप्त चित्तमें ही सृष्टिकी प्रतीति है। पागलपनमें किसीको कुछ प्रतीत हो तो वह सत्य होगा या मिथ्या ? इसलिए समाधिमें और सुषुप्तिमें सृष्टिका अभाव होनेसे, केवल विक्षिप्त चित्तमें प्रतीत होनेसे, दृश्य होनेसे, विकारी

होनेसे परिच्छिन्न होनेसे और ज्ञाननिवर्त्य होनेसे सृष्टि सिद्ध नहीं होती। यह न तो सत्ताकी दृष्टिसे सत्य है, न ज्ञान-दृष्टिसे और न अनादि-अनन्त दृष्टिसे ही। यहाँ तक कि यह अदृष्टसे भी नहीं बनी, क्योंकि अदृष्टकी प्रतीति नहीं हो सकती। यह तो केवल अज्ञान-दृष्टिसे है। और अविद्या (अज्ञान)की कल्पना भी अविद्यामें बैठकर ही की जाती है। ब्रह्मदृष्टिसे तो अविद्या तीन-कालमें नहीं है।[८] अविद्यमान होनेपर भी मनुष्यको तो अपने अज्ञानी होनेकी अनुभूतिके बलपर अविद्याकी कल्पना करनी पड़ती है।

ब्रह्म ज्ञानस्वरूप है। ज्ञानस्वरूप उसे कहते हैं जो (अपनेको भी जाने और) दूसरेको भी जाने। लेकिन दूसरा है ही नहीं तो ब्रह्म किसको जानेगा? अपने आपको। किन्तु ब्रह्म अनन्त है। यदि अपनेको वह पूर्णतः जान ले तो उसे अपना अन्त मिल जायेगा। ब्रह्मका स्वभाव है जानना और अनन्तका स्वभाव है जाननेमें न आना। जैसे आँखका स्वभाव है देखना और आकाशका स्वभाव है पूर्णतः दृष्टिमें न आना। इसका फल यह होता है कि हम आकाशमें नीलिमा या क्षितिज देखने लगते हैं। इसी प्रकार ब्रह्मका ज्ञान स्वभाव है और दृश्य न होना भी स्वभाव है। ज्ञानस्वरूप होनेसे वह ज्ञेय बनता नहीं, और देखे बिना वह रहता नहीं। तो स्वरूपका ग्रहण न होनेसे आकाशमें नीलिमाके समान अन्यथा-ग्रहण (दूसरे रूपमें दीखना) हो जाता है। इस प्रकार अपने आपको न देख पानेके कारण वह एक, अपरिच्छिन्न, चेतनको अनेक, परिच्छिन्न, जड़के रूपमें देखने लगता है। अपनेको ही अन्यरूपसे देखता है।

देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा। (मां० का० १.९)

यह परमात्माका स्वभाव है। इसलिए यह दीखना कोई अपराध नहीं है। ज्ञान अज्ञानका विरोधी है, भानका विरोधी नहीं है। इसीसे यह प्रकृति और प्राकृत प्रपंचकी प्रतीति (जिसे सांख्य और योग नित्य मानते हैं), ज्ञान हो जानेके बाद भी रहती है, केवल इसमें जो सत्यत्वकी भ्रान्ति है कि आत्मासे भिन्न यह सत्य है, वह मिट जाती है।

प्रपंचको भ्रान्ति कहनेका भी कारण है। ज्ञान ब्रह्ममें जहाँ आना-जाना माना, वहाँ भ्रान्ति हुई। जब 'ज्ञान अन्तःकरणकी वृत्तिपर आरूढ़

८. अविद्यास्तीत्यविद्यायामेवास्तित्वं प्रकल्प्यते।
ब्रह्मदृष्ट्या त्वविद्येयं न कथञ्चन विद्यते॥

होकर प्रमेय-देशमें जाता है', ऐसा माना तभी भ्रान्ति हुई। **भ्रमणं भ्रमः।** भ्रमण ही भ्रान्ति है क्योंकि ज्ञान देश-परिच्छिन्न नहीं है। ज्ञान काल-परिच्छिन्न भी नहीं है कि एक क्षण यहाँ फिर वहाँ। ज्ञान वस्तु-परिच्छिन्न भी नहीं है, इसलिए वह विषयमें रहकर 'इदम्' और देहमें 'अहम् बन जाय, ऐसा नहीं है। इसलिए जहाँ ज्ञानका आना-जाना माना, वही भ्रम हो गया।

जैसे नेत्रवृत्ति जाकर पदार्थसे टकराकर जब लौटती है तब उस पदार्थका ज्ञान होता है, इसी प्रकार ज्ञानवृत्यारूढ़ होकर कहीं जाय और टकराकर न लौटे तो ज्ञेयकी उपस्थिति बुद्धिमें नहीं होगी। ज्ञेयसे टकराकर लौटनेपर ही बुद्धिमें ज्ञेयकी उपस्थिति होती है। यह टकराकर लौटा हुआ ज्ञान विपरीत ज्ञान हो गया। विपरीत ज्ञानका अर्थ यह है कि हम जो कुछ देखते हैं, ज्ञानके विपरीत देखते हैं। यही भ्रान्ति-ज्ञान है।

यह द्वैत-प्रपंच अविद्यासे बना है, सत्य प्रतीत होता है। अब अद्वैत ज्ञानसे इसमें सत्यत्वकी प्रतीति नहीं रहेगी। ब्रह्मज्ञानका अर्थ है—अनन्त-विषयक विद्या। अनन्तका ज्ञान होनेसे यह पता लग जायेगा कि हम जो अपने और दूसरोंमें परिच्छिन्नता देखते हैं, वह भ्रम है। किसी भी वस्तुकी उत्पत्ति-नाश नहीं है, क्योंकि न तो सद्वस्तुका और न असद्वस्तुके ही उत्पत्ति-विनाश होते हैं। भगवान् श्रीकृष्णका कहना है :

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। (गीता २.१६)

जो वस्तु है उसका कभी नाश नहीं होता और जो नहीं है वह कभी उत्पन्न नहीं होती। इस प्रकार जन्म-मृत्यु दोनोंका दोनोंमें निषेध कर दिया। न असत्से सत्की उत्पत्ति होती है और न सत्से असत्की। यह बिना हुए ही उत्पत्ति-विनाशकी लीला दीख रही है। बिना हुए दीखनेके कारण यह अनिवर्चनीय है। हम इसको अविद्यासे सत्य मानते हैं और बँधते हैं। अतः विद्यासे स्वरूपमें नित्य-निवृत्त अविद्याकी निवृत्ति होकर नित्य-सिद्ध मोक्षकी सिद्धि हो जायेगी। यही वेदान्त-विद्याका प्रयोजन है।

[जब प्रपंच ही सत्य नहीं तब जीव और ईश्वर (ब्रह्म)का द्वैत ही कैसे सत्य हो सकता है क्योंकि सारे भेद-प्रपंचके अन्तर्गत एवं प्रपंचाश्रित हैं। तथापि जीव और ब्रह्मका एकत्व वेदान्तका विषय ही है अतः इस सम्बन्धमें यहाँ अधिक कुछ नहीं लिखा जाता।]

३. शंका :—ब्रह्मविचार अभी नहीं करना चाहिए। क्योंकि विचार तो वहाँ किया जाता है जहाँ सन्देह हो। ब्रह्म-स्वरूप तो शास्त्रमें स्पष्ट ही है। यदि कहो कि विचार तो ब्रह्मका नहीं आत्मा और ब्रह्मकी एकताका करना है, फिर भी ब्रह्म-विचारकी आवश्यकता नहीं है क्योंकि एकत्व तो है ही, उसमें विचारकी क्या जरूरत? यदि कहो कि एकत्व तो है परन्तु अध्यासके कारण इस एकत्वका अनुभव नहीं होता, इसलिए विचारकी आवश्यकता है, तो पहले अध्यास तो सिद्ध करो। तभी तो विचार हो सकेगा।

समाधान :—अच्छा सुनो! अन्यमें अन्यके अवभासका नाम अध्यास है।[९] अथवा 'जो वस्तु जो न हो उसे वह-वैसा समझना अध्यास है।[१०] वस्तुको ठीक-ठीक न जाननेके कारण उसको कुछ अन्य जानना 'अध्यास' है। इसलिए अध्यास माने भ्रम होता है। अज्ञानके कारण अध्यास (भ्रम) होता है। आत्माको ब्रह्म न जानना अज्ञान है और इसलिए उसे विपरीत गुण-धर्मी जीव जानना अध्यास है।

अध्यास सबके लिए अहं-बुद्धिसे ही सिद्ध है: **अध्यासोऽहं बुद्धिसिद्धः।** यह पुस्तक है और मैं इसका द्रष्टा हूँ। मैं इस पुस्तकसे पृथक् हूँ, यह सुस्पष्ट है। किन्तु यदि द्रष्टाको यह अनुभव होने लगे कि 'मैं पुस्तक हूँ' तो भ्रम हुआ या नहीं? यही दशा इस हड्डी-माँस-चामके देहकी है। यह देह अलग है, दृश्य है, और हम इससे पृथक् इसके द्रष्टा हैं। यह बात सबको ज्ञात है फिर भी सब यह अनुभव करते हैं कि हम देह हैं। ज्ञानके विरुद्ध जो यह अनुभव होता है उसीका नाम अध्यास है और यह अहं-बुद्धिसे ही सिद्ध है। फिर ब्रह्मविचार करनेमें क्या आपत्ति हो सकती है?

४. शंका :—नहीं, ब्रह्मविचार अभी भी नहीं करना चाहिए। ब्रह्म सदैव है, अब भी है और आगे भी रहेगा। हम (आत्मा) भी सदैव हैं, अब भी हैं और आगे भी रहेंगे। ब्रह्म, आत्मा और दोनोंका एकत्व शास्त्रमें स्पष्ट ही है, अतः ब्रह्मविचार निरर्थक है।

समाधान :—हमने बताया कि शास्त्रमें सबका वर्णन स्पष्ट होनेपर भी अध्यासके कारण उस वर्णनकी सत्यतामें सन्देह है। श्रुतिका कथन है:

---

९. अन्यस्मिन् अन्यावभासः अध्यासः (ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य)।

१०. अतस्मिंस्तद्बुद्धिः अध्यासः (ब्रह्मसूत्र शांकर भाष्य)।

तत्त्वमसि अर्थात् तुम आत्मा देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न अद्वितीय ब्रह्म हो। किन्तु हमारा प्रत्यक्ष अनुभव तो यह है कि हम देह हैं, उत्पन्न हुए हैं, बड़े हुए हैं, घिस रहे हैं और एक दिन मर जायेंगे। हमें तो साफ मालूम पड़ता है कि हम हिन्दू हैं, मुसलमान हैं, ईसाई हैं, कोई हमारा शत्रु है, मित्र है। हमको तो यह भी पता नहीं चलता कि हम आत्मा हैं। फिर हम ब्रह्म तो हो ही कैसे सकते हैं? भले ही श्रुति आत्मा और ब्रह्मकी एकताका स्पष्ट वर्णन करती हो, परन्तु वह एकत्व हमारे प्रत्यक्ष ज्ञानसे विपरीत होनेके कारण सन्देहका विषय है। अतः ब्रह्म-विचार करना आवश्यक है।

सूर्य पृथिवीसे कई गुना बड़ा है, यह ज्ञान होनेपर भी वह प्रत्यक्षमें बहुत छोटा मालूम पड़ता है। विचार करने पर यह सिद्ध होता है कि उक्त विरोध पृथिवी और सूर्यके मध्य दूरीके कारण है अर्थात् दूरीकी उपाधिसे यह विरोध प्रतीत होता है। इसी प्रकार ब्रह्म-विचार करनेपर यह ज्ञात होता है कि आत्मा और ब्रह्मका प्रातीतिक विरोध अन्तःकरण और उसके कारणकी उपाधिके कारण है, वास्तविक नहीं। और यदि कार्य-कारण जगत् मिथ्या ही सिद्ध हो जाय तब तो विरोधका पूर्णतः परिहार ही हो जायेगा। अतः ब्रह्मविचार करना अवश्य कर्त्तव्य है।

श्रुति कहती है: तुम चेतन ब्रह्म हो। साम्प्रदायिक लोग कहते हैं: तुम हिन्दू हो, मुसलमान हो, ईसाई हो। धार्मिक कहते हैं: तुम जीव हो, पापी-पुण्यात्मा हो, स्वर्ग-नरकमें आने-जानेवाले हो। संसारी लोग कहते हैं: तुम देह हो, कर्ता हो, भोक्ता हो। उपासक कहते हैं: तुम ईश्वरके दास हो, सखा हो, वत्स हो, प्रेमी हो। आखिर तुम हो क्या? तुम्हारे बारेमें श्रुतिका कथन ठीक है या दूसरे लोगोंका? इस सन्देहकी निवृत्तिके लिए विचार आवश्यक है।

श्रुतिकी बात छोड़ो। आपसे एक बच्चा आकर कह गया कि आप देह नहीं, ब्रह्म हैं। अब यदि उसका कहना आपके प्रत्यक्षसे विपरीत है तो आप विचार करेंगे या नहीं? यदि कोई बालक आकर आपसे कह जाय कि भोजनमें विष है, तो क्या आप विचार किये बिना ही भोजन कर लेंगे? अतः विचारकी आवश्यकता है।

प्रत्यक्षके विरुद्ध श्रुति प्रमाण नहीं हुआ करती। श्रीशंकराचार्य भगवान् स्वयं कहते हैं कि यदि सैकड़ों श्रुतियाँ भी मिलकर यह घोषणा

करें कि नेत्रोंके सम्मुख प्रकाशमें स्थित घड़ा घड़ा नहीं कपड़ा है तो यह प्रमाण नहीं हो सकता।[11] परन्तु आत्माकी ब्रह्मरूपताके सम्बन्धमें यह विरोध स्पष्ट है। तब श्रुतिमें मिथ्या-सिद्धान्तके प्रतिपादनका दोष भी सम्भव नहीं है। अतः विचार करना पड़ेगा कि श्रुतिका सिद्धान्त ठीक है तो कैसे और हमारा प्रत्यक्ष अनुभव ठीक नहीं है तो कैसे? इसलिए ब्रह्म-विचार आवश्यक है।

यह कहा जा चुका है कि ब्रह्म-ज्ञानका बहुत बड़ा प्रयोजन है मोक्ष अर्थात् सम्पूर्ण अनर्थोंकी निवृत्ति और परमानन्दकी प्राप्ति। सम्पूर्ण अनर्थोंकी जड़ देहाध्यास है। शरीरके जन्मके बाद ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानके अभावमें देह और अन्तःकरणको मैं-मेरा मानकर जो कूड़ा-करकट आपके अन्दर भरा गया है, वही देहाध्यास सम्पूर्ण अनर्थोंका मूल है, सम्पूर्ण दुःखोंका बीज है। ब्रह्मज्ञानसे यह दुःख समूल नष्ट हो जाता है। मरण, जन्म, सयोग-वियोग, नरक-स्वर्ग—सब प्रकारके दुःख ब्रह्मज्ञानसे समाप्त हो जाते हैं। जीवनकी सारी समस्याएँ ही दुःखहानिकी हैं और ब्रह्मज्ञानसे वे निःशेषतः हल हो जाती हैं। यह बात नहीं कि ब्रह्मज्ञानसे दुःखके हेतु नष्ट हो जाते हों, प्रत्युत उन हेतुओंके मध्य अन्तःकरणमें जो हीन-प्रतिक्रियामूलक सुखी-दुःखीभावकी योग्यता है, वह समाप्त हो जाती है। अतः ब्रह्म-विचार सप्रयोजन है।

आपके जीवनमें दुःख इसीलिए है कि आप किसी चीजको छोड़ नहीं पा रहे हैं। जैसे धन, पुत्र, पति, देह या यश। या तो चीज़ें आपको छोड़ना चाहती हैं या आप चीजोंको छोड़ना चाहते हैं, परन्तु छोड़ नहीं पा रहे हैं। कहीं-न-कहीं गाँठ लगी है आपकी इनसे। यही दुःखका कारण है। यही 'चिज्जड़ग्रन्थि' है—चेतनकी जड़के साथ गाँठ, द्रष्टाकी दृश्यके साथ गाँठ। संसारकी सब चीज़ें प्रतिक्षण भूतमें भाग रही हैं और आप इन्हें वर्तमानमें रखना चाहते हैं—यही जीवनकी ग्रंथि है। आप चेतन होनेपर भी जड़-वस्तुको छोड़नेसे इनकार करते हैं, द्रष्टा होनेपर भी दृश्यके लोभमें अटके हैं, यही आपके जीवनमें दुःखका मूल स्रोत है।

ब्रह्मज्ञान वह निरोधक है जिससे दुःखके हेतुओंके इकट्ठे होने पर भी दुःखका जन्म नहीं होता। ब्रह्मज्ञान वह तलवार है जो मनुष्य-जीवनकी

---

११. नहि श्रुतिशतैरपि घटः पटो भवितुं शक्यः (श्रीशंकराचार्य)।

समस्त अविद्या, कामना और कर्मकी गाँठको काटकर उसे निर्ग्रन्थ और स्वतन्त्र बना देती है। 'उस परावर परमात्माको ज्ञान लेनेपर जीवकी हृदय-ग्रन्थिका भेदन हो जाता है, सब संशय निवृत्त हो जाते हैं और समस्त कर्म क्षीण हो जाते हैं।[१२]

ग्रन्थिका निर्माण कैसे होता है ? अध्याससे, या भ्रमसे।और भ्रम होता है अज्ञानसे। आत्माके आनन्द-स्वरूपके अज्ञानसे मनुष्य अन्यमें आनन्दकी खोज प्रारम्भ करता है। इसके लिए वह प्रथम हृदय (बुद्धि)में आता है जहाँ उसे आनन्दके स्थलके बारेमें संस्कार-रंजित प्रेरणा, सूचना, आदेश प्राप्त होता है। तदनन्तर वह आनन्दके कल्पित करण मन तथा इन्द्रियोंमें आता है। वहाँ उसे संस्कारित आनन्द-स्थल (विषय)का भोग करनेकी योग्यता प्राप्त होती है। आनन्द-यात्राका यह दूसरा पड़ाव है। भोग-ज्ञान तथा भोग-सुख प्राप्तिकी योग्यताके पश्चात् वह कर्ममें प्रवृत्त होता है। सुखके विषयको वह सटाने-हटानेका प्रयास करता है; तदनन्तर उससे अधिकार-जन्य और अभिमान-जन्य सुख भी प्राप्त करता है। यह यात्राकी तीसरी चट्टी है। चौथी चट्टी फलरूपा है। सुखभोगके पश्चात् भोक्ताको निम्न-लिखित संस्कार घेर लेते हैं :

१. सुख विषयमें है; विषय सुखरूप हैं।

२. विषय-सुख प्राप्त करना ही सच्चा पुरुषार्थ है। हमें विषय-सुख अवश्य चाहिए।

३. जो उक्त सुख और तद्विषयक पुरुषार्थमें बाधक है वह शत्रु है और जो साधक है वह मित्र है। इस प्रकार राग-द्वेषकी सृष्टि होती है।

४. "मैं कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ, परिच्छिन्न, परतन्त्र, संसारी जीव हूँ" इस भ्रमकी सृष्टि और पुष्टि होती है। आत्माको आनन्दस्वरूप न जानना अज्ञान है। परन्तु आत्मासे विषय तक तथा विषयसे वापस आत्मा तककी जो सुख-यात्रा है वह 'भ्रमण' है; और यह भ्रमण ही भ्रम है : **भ्रमणं भ्रमः**। इसीसे ग्रन्थि बनती है जिसका चतुर्मुख स्वरूप ऊपर बताया गया।

ब्रह्मज्ञानसे ग्रन्थि और उसके मूल दोनोंका नाश हो जाता है। आत्मामें आत्माके अज्ञानसे बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ, विषय, इनके संयोग-वियोग, सुख-

---

१२. भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे॥ (मुण्डक० २.२.८)

दुःख, सब प्रतीत होते हैं। परन्तु सम्पूर्ण प्रतीति वहीं दीखती है जहाँ वह नहीं है। अनन्तमें सान्त, चेतनमें जड़, सत्‌में असत्, अनन्यमें अन्य और अद्वितीयमें अनेक दीखता है। सम्पूर्ण देश-काल-वस्तु अपने अभावके अधिष्ठानमें ही दीखते हैं, अतः वे सब प्रतीतियाँ मिथ्या हैं और प्रतीतिका अधिष्ठान देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म है।

इसी अधिष्ठान ब्रह्मके ज्ञानके लिए हम ब्रह्म-विचार करते हैं। शान्तिसे चुप बैठे रहनेका नाम ब्रह्म-विचार नहीं होता। शान्ति विचारके जागरणकी भूमि है परन्तु विचार नहीं है। अज्ञानका नाश शान्तिसे नहीं, विचारसे होता है। और विचार आत्मा और ब्रह्मकी एकताका होना चाहिए।

आत्मा ब्रह्म बनता नहीं, स्वयं ब्रह्म ही है। उसका ब्रह्मत्व केवल अज्ञानसे आवृत है। ज्ञान द्वारा वह अज्ञान नष्ट हो जाता है और ब्रह्मत्व प्रकट हो जाता है। जो वस्तु ज्ञानसे मिलती है वह पहिलेसे ही मिली रहती है, और जो वस्तु अज्ञानसे अनमिली रहती है वह भी पहिलेसे ही मिली होती है। अतः आत्माका ब्रह्मत्व सिद्ध ही है, ज्ञानसे केवल उसके अनमिलेपनका भ्रम निवृत्त होता है। यही कारण है कि ब्रह्मकी प्राप्ति कर्म, उपासना या योग-समाधिसे नहीं होती, केवल ज्ञानसे होती है। आत्मामें अज्ञान त्रिकालमें है ही नहीं अतः आत्मामें अज्ञान नित्यनिवृत्त है। ज्ञानसे नित्यनिवृत्तकी ही निवृत्ति होती है।

कई आचार्य अज्ञान नहीं मानते। बड़े घटाटोपके साथ वे अज्ञानका खण्डन करते हैं। इसके लिए वे आश्रयानुपपत्ति, विषयानुपपत्ति, निमित्ता-नुपपत्ति, निवर्तकानुपपत्ति, निवृत्यनुपपत्ति आदि अनेक अनुपपत्तियोंका वर्णन करते हैं। किन्तु ऐसा करके वे अद्वैतमतका मण्डन ही करते हैं क्योंकि अद्वैत मतमें भी अज्ञान नित्यनिवृत्त ही है। वह तो केवल सबकी प्रत्यक्ष अनुभूति है कि 'मैं अज्ञानी हूँ, ब्रह्मको नहीं जानता' इसका अनुवाद करके अज्ञान सिद्ध करता है और परमार्थतः उसका अनुभव न होनेसे उसे नित्यनिवृत्त घोषित करता है। इसलिए ब्रह्मज्ञानसे नित्यनिवृत्त अज्ञानकी ही निवृत्ति होती है, किसी सत्य अज्ञानकी नहीं।

५. शंका :— ज्ञानमें कर्मकी कोई स्थिति है भी या नहीं ?

समाधान :— ज्ञान और कर्मके क्षेत्र विविक्त हैं। आत्मा और ब्रह्मकी एकतामें कर्म साधन नहीं है, उसमें तो ब्रह्मविचार-जनित ज्ञान ही एकमात्र

साधन है। किन्तु जीवनसे कर्मका बहिष्कार संभव नहीं है। वह शास्त्रकी मर्यादामें बँधकर जीवनको सर्वाङ्गीण उत्कर्ष प्रदान करता है। इस स्पष्टीकरणके साथ अब हम दोनोंके विवेकका निर्वचन करते हैं।

(१) **कर्म निर्माण-विभाग है तो ज्ञान प्रमाण-विभाग है।** यदि आप कुछ अपनेमें या अपनी परिस्थितियोंमें परिवर्तन चाहते हैं या सत्यका अपने मनोनुकूल रूपमें अनुभव करना चाहते हैं तो आपको कर्मका आश्रय लेना पड़ेगा। इसके विपरीत यदि आप सत्य वस्तुका जैसा-का-तैसा अनुभव करना चाहते हैं तो आपको ज्ञानमात्रका ही आश्रय लेना पड़ेगा।

(२) **वासनावान् कर्मका अधिकारी होता है और निर्वासनिक ज्ञानका अधिकारी होता है।** जो भोगमें परिवर्तन चाहते हैं उनका धर्ममें अधिकार है। जो अपनी मनोवृत्तियोंमें परिवर्तन चाहते हैं वे उपासनाके अधिकारी हैं। जो अपनी वृत्तियोंका निरोध चाहते हैं उन्हें योग (समाधि)का आश्रय लेना चाहिए। इस प्रकार धर्म, उपासना और योगके अधिकारी कर्मके ही अधिकारी हैं। इसके विपरीत जो साधन-चतुष्टय सम्पन्न मुमुक्षु है, वह ज्ञानका अधिकारी है।

मूल बात यह है कि जो व्यक्ति सत्यको नग्न नहीं, अपनी वासनाकी पोशाक पहनाकर देखना चाहता है, वह कर्मका अधिकारी है; और जो नग्न-सत्यके साक्षात्कारके लिए स्वयं नग्न होनेको तत्पर है वह ज्ञानका अधिकारी है। ब्रह्मका ज्ञान उसीको होता है जो नंगा हो जाता है। वासना ही वसन है और निर्वासनता नग्नता।

(३) कर्मके हेतु हैं—वासनावान् अधिकारी, कर्ताभाव, कर्मफलमें आस्था तथा कर्ममें श्रद्धा-विश्वास। ज्ञानके हेतु हैं—निर्वासनिक अधिकारी, श्रुति और प्रत्यक्ष ज्ञानके विरोधसे उत्पन्न सन्देह तथा मोक्षरूप फलमें आस्था। ज्ञानमें कर्म न होनेसे न तो कर्ताभावमें और न कर्म और उसके फलमें श्रद्धा-विश्वासकी आवश्यकता है। इस प्रकार **ज्ञान और कर्मके हेतुओंमें स्पष्ट विरोध है।**

(४) **कर्म और ज्ञानके स्वरूपमें भी विरोध है। (क) कर्म कर्तृ-तन्त्र है तो ज्ञान वस्तु-तन्त्र है।** इसका यह अर्थ है कि कर्ता स्वतन्त्र है—कर्म करे, न करे, उल्टा करे। इसीको 'कर्तुंमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' कहते हैं। किन्तु ज्ञानमें ज्ञाता परतन्त्र है। ज्ञान ज्ञाताके अधीन नहीं, वस्तुके

(ज्ञेयके) अधीन है। आप घड़ीको उठायें, न उठायें या तोड़ दें, इसमें आप स्वतन्त्र हैं, परन्तु घड़ीको घड़ी न जानकर पुस्तक जानने लगें, इसमें आप स्वतन्त्र नहीं हैं। घड़ीका ज्ञान घड़ीके अधीन है, आपके अधीन नहीं है। इसी प्रकार आप कर्म, उपासना, योग करें, न करें या उनसे विपरीत करें—इसमें आप स्वतन्त्र हैं परन्तु आत्माका ज्ञान आत्माके ही आश्रित है उससे भिन्न किसी ज्ञाताके आश्रित नहीं। चूँकि आत्माका उससे भिन्न कोई ज्ञाता नहीं हो सकता, अतः उसका अज्ञान भी अज्ञानसिद्ध ही है। इस अज्ञानकी निवृत्ति ही आत्मज्ञान है।

(ख) **कर्म श्रद्धामूलक है और ज्ञान प्रमाणमूलक है।** आपको स्वर्ग जाना है तो अपने अधिकार, कर्ताभाव, यज्ञ, मन्त्र, ब्राह्मण और स्वयं स्वर्गमें श्रद्धा-विश्वास करना पड़ेगा। परन्तु सामने उपस्थित घड़ीको देखनेके लिए किसी श्रद्धा-विश्वासकी आवश्यकता नहीं है, केवल घड़ीके प्रकाशक स्वच्छ नेत्रकी आवश्यकता है। यहाँ नेत्र ही प्रमाण है।

(ग) **कर्ममें आवृत्ति (दुहराना) आवश्यक होता है** क्योंकि कर्मका फल अनित्य होता है। जप तो आवृत्तिपूर्वक होता ही है और शास्त्रमें विधान है कि यदि जप शास्त्रोक्त संख्यासे अनुष्ठित होनेपर भी फल न दे, तो चार,बार उसी अनुष्ठानको दोहराना चाहिए। उपासनाका स्वरूप आवृत्ति है तभी इष्ट-रसका उदय होता है। योगमें तो 'अभ्यास' ही मुख्य है। कर्म (धर्म) बाह्य शरीरसे होता है। उपासना मनका कर्म है। योगमें जो क्रिया-शान्ति है; वह कर्म-उपासनाके कर्मकी अपेक्षा विपरीत-दिशामें कर्म है।

कर्म-उपासनामें अनुलोम-क्रिया है तो योगमें प्रतिलोम-क्रिया है। दोनों कर्म हैं। परन्तु ज्ञानमें न अनुलोम-क्रिया है और न प्रतिलोम-क्रिया। **ज्ञानमें आवृत्तिकी कोई आवश्यकता नहीं है** क्योंकि एक बार, और सिर्फ एक ही बारमें, प्रमाण स्वच्छ होनेपर तथा प्रमाण-प्रमेयका निर्विघ्न सम्बन्ध होनेपर, वस्तुका ज्ञान हो जाता है। हाँ, यदि प्रतिबन्धोंके कारण ज्ञान एक बारमें अदृढ़ हो तो बार-बार ज्ञान-प्रक्रियाकी आवृत्तिकी आवश्यकता हो सकती है। यह बात श्रीशंकराचार्य भगवान्‌ने ब्रह्मसूत्रके **'आवृत्तिः असकृदुपदेशात्'** (ब्र० सू० ४.१.१) भाष्यमें कही है। परन्तु स्पष्ट ज्ञान तो एक ही बार होता है, उसके दोहरानेकी आवश्यकता नहीं है।

(५) **कर्म और ज्ञानके फलोंमें भी विरोध है। कर्म साध्यका निर्माण करता है; परन्तु ज्ञान सिद्ध-वस्तुका साक्षात्कार है।** कर्मसे जो वस्तु प्राप्त होती है वह साधनके अनुरूप उत्पाद्य होती है और इन पाँचोंमें-से ही किसी एक प्रकारकी होती है: उत्पाद्य, आप्य, विकार्य, संस्कार्य और विनाश्य।

'उत्पाद्य' माने पहिले 'घट' वस्तु नहीं थी अब अपने कर्मसे अस्तित्वमें आयी। 'आप्य' माने किसी दूसरेके कर्मसे घट-वस्तु उत्पन्न हुई परन्तु उसका उपयोग हम कर रहे हैं। यह उधार सौदा है। विकार्य माने विकृत हो जानेवाला। घट उत्पन्न हुआ और उसमें नमक रख दिया। इस कर्मका परिणाम होगा कि घट गल जायेगा। 'संस्कार्य' माने जिसका संस्कार किया जा सके। 'घट' गन्दा है तो साफ़ कर दिया, उसपर चित्रकारी कर दी। चित्रित घट संस्कार्य है। 'विनाश्य' अर्थात् जो नष्ट हो जाय। घटमें डंडा मारा, घट नष्ट हो गया। 'डंडा मारना-रूप जो कर्म है' उसका फल घट-विनाश है। घट विनाश्य है। असलमें कर्मका जो भी फल होगा वह इन्हीं कोटियोंमें होगा।

अब देखो, धर्म, उपासना और योगके क्या फल हैं? वैदिक यज्ञादि कर्मोंके स्वर्गादि फल और लौकिक कर्मोंके फल भी उत्पाद्य, विकार्य, संस्कार्य और विनाश्य, इन्हींमें-से हैं। उपासनाका फल वृत्तिकी स्थिरता-रूप समाधि है जो उत्पाद्य और विनाश्य है।

दूसरी ओर, ज्ञानसे जो वस्तु मिलती है वह पहिलेसे ही विद्यमान रहती है। ज्ञानसे नयी वस्तु नहीं बनती, केवल उसके सम्बन्धमें अज्ञानकी निवृत्ति होती है। अतः ज्ञानका फल उत्पाद्य नहीं होता। ज्ञान सदैव वर्तमानमें विद्यमानका होता है। अतः ज्ञेय 'आप्य' नहीं होता। ज्ञानसे वस्तुमें न विकार होता है और न संस्कार। अतः ज्ञानका फल विकार्य और संस्कार्य नहीं होता। ज्ञानसे वस्तु नष्ट भी नहीं होती। अतः ज्ञानका फल विनाश्य भी नहीं है। अतः ज्ञान सिद्ध वस्तुका साक्षात्कार है।

यदि मुक्ति भी कर्मका फल हो तो वह भी उत्पाद्य होकर अन्तमें विनाश्य हो जायेगी। वह अन्य होनेसे जड़ भी होगी। अतः मोक्ष केवल ज्ञानैकगम्य है और वह आत्माके ब्रह्मत्वके अज्ञानकी निवृत्तिमात्रसे ही प्राप्त होती है।

६. **शंका :—** कर्मसे भी ज्ञान होता है और ज्ञानसे मोक्ष होता है। है। तब कर्मको मोक्षमें हेतु क्यों न माना जाय ?

समाधान :— कर्मसे जो ज्ञान होता है उसमें और जिस ज्ञानसे मोक्ष होता है उसमें, अन्तर है। कल्पना कीजिये कि आपको कश्मीरके सौन्दर्यका ज्ञान प्राप्त करना है। उसके लिए कश्मीर जाना-रूप कर्म अनिवार्य है। यदि वह सौन्दर्य मनमें जम गया तो आपको बार-बार कश्मीर जानेकी क्रिया करनी पड़ेगी; और यदि मनमें न जमा तो उस सौन्दर्यसे विकर्षण भी हो सकता है। असलमें, प्रत्येक सविशेष ज्ञानमें यही होता है। जो वस्तु हमसे (ज्ञातासे) अन्य है उसका ज्ञान सविशेष ज्ञान है और उसकी प्राप्तिमें कर्म साधन है तथा ज्ञानोपरान्त भी उसके पुनः पुनः ज्ञानके लिए कर्म अनिवार्य है।

किन्तु जो देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म है वह सबका आत्मा है। उसके ज्ञानका स्वरूप सभी सविशेष-ज्ञानोंके बाधसे सम्पन्न होता है। वह निर्विशेष ज्ञान है। उसे पाने के लिए (आत्मासे बाहर किसी अन्यमें) न कहीं आना है न जाना है। उसे एक बार जाननेके पश्चात् बार-बार जाननेकी आवश्यकता भी नहीं है क्योंकि निर्विशेष ज्ञान राग-द्वेषका जनक नहीं होता।

कर्म न तो आत्मज्ञान का साधन है और न फल। आत्मा भी न कर्मका कर्ता है और न कर्मका फल।

यदि कहें कि सविशेष ज्ञानका बाध (निषेध) भी एक कर्म ही है, तो ऐसा नहीं है; क्योंकि सर्वाधिष्ठान दृङ्-मात्र आत्मा सविशेष और निर्विशेष ज्ञानोंका आश्रय होनेसे उसमें सविशेषका निषेध भी आत्मरूप ही है। प्रतीति और उसकी निवृत्ति एक ही अधिकरणमें होती है। अतः बाध (निषेध)-ज्ञान कर्मकी कोटिमें नहीं आता।

कर्म सविशेष ज्ञानके पहिले भी है और बादमें भी है। किन्तु निर्विशेष ज्ञानके पहले या पीछे कर्मकी आवश्यकता या अपेक्षा नहीं है। ब्रह्मसूत्रके **अतएव चाग्नीन्धनाद्यनपेक्षा** (ब्र० सू० ३.४.२५) और **सर्वापेक्षा च यज्ञादिश्रुतेः अश्ववत्** (३.४.२६) सूत्रोंकी (शांकर) व्याख्यामें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि मोक्षके सम्पादनमें केवल ज्ञान ही समर्थ है;

उसमें कर्मकी कोई आवश्यकता नहीं है। कर्मकी उपयोगिता मात्र अन्तः-करणकी शुद्धिमें है, न कि मोक्षके उपपादनमें।

शास्त्रमें जहाँ ज्ञानके बाद कर्मकी चर्चा है, वहाँ सांसारिक विषयों (व्यवहार)के सम्बन्धमें वह बात कही गयी है। यदि कर्मसे ज्ञान होता है तो भामतीकारका प्रश्न है कि 'कर्म कौन-सा प्रमाण है ?' प्रश्न उचित है क्योंकि ज्ञान प्रमाणसे ही होता है। कर्म कौन-सा प्रमाण है ? प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि शब्द, एतिह्य, संभव, चेष्टा— इनमें-से कर्म कौन-सा प्रमाण है ? स्पष्ट है कर्म कोई प्रमाण नहीं है, वह निर्माण है। कर्मसे प्रकाश नहीं, निर्माण होता है। अन्तःकरणकी शुद्धिमें कर्म उपयोगी है, प्रयोजनीय है; किन्तु अपरिच्छिन्न ब्रह्मके दिग्दर्शनमें एकमात्र ज्ञान ही साधन है। भामतीकारका वचन है—

'वस्तुसिद्धिः विचारेण न क्वचित् कर्मकोटिभिः।

'वस्तुकी सिद्धि विचारसे होती है, करोड़ों कर्मसे भी कभी नहीं हो सकती'।

द्वितीय खण्ड

गुरु-उपसदन

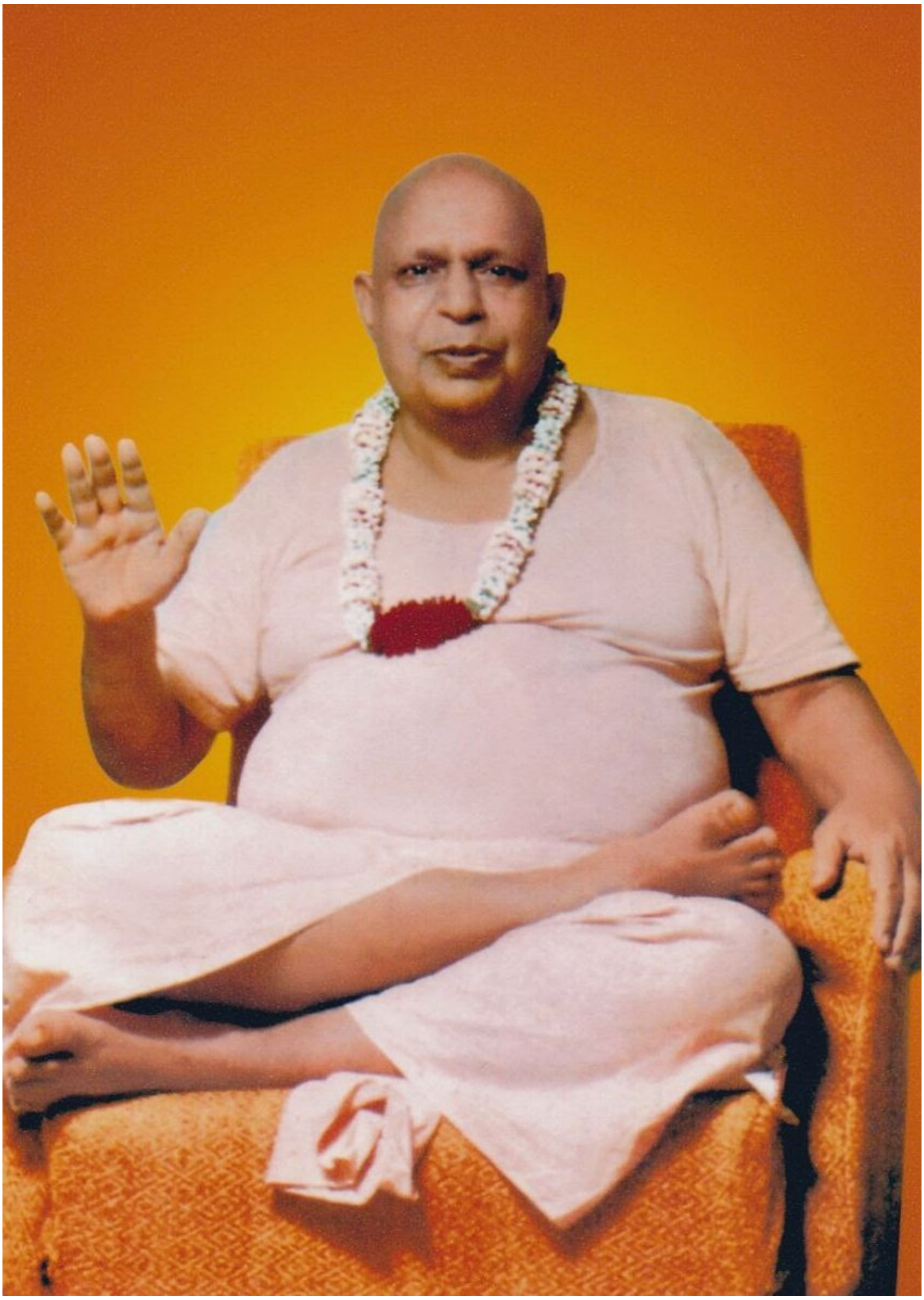

अध्याय–५

गुरु-उपसदन

उक्तसाधनसम्पन्नस्तत्त्वजिज्ञासुरात्मनः ।
उपसीदेद् गुरुं प्राज्ञं यस्माद् बन्धविमोक्षणम् ।। (वि० चू० ३३.३४)

"उक्त साधनों (साधन-चतुष्टय)से सम्पन्न आत्मतत्त्वके जिज्ञासुको चाहिए कि वे प्राज्ञ गुरुकी शरणमें जाय जिससे उसके बन्धनका विमोक्ष हो जाय ।"

१. गुरुकी आवश्यकता क्यों ?

पहिले विचार यह करना है कि वेदान्तमें गुरुकी क्या आवश्यकता है ? यों तो प्रत्येक ज्ञानमें गुरुकी अनिवार्य उपयोगिता है परन्तु ब्रह्म-ज्ञानके लिए तो दूसरा कोई रास्ता ही नहीं है । एक दृष्टान्त लो । मेरा एक बचपनका मित्र है । हम दोनों वर्षोंसे मिले नहीं, किन्तु पत्र-व्यवहार चलता है । मैं उसके घर गया, किन्तु उसने पहिचाना नहीं । मैं नाम बताता नहीं और खुला व्यवहार करता हूँ । वह हैरान होता है । इतनेमें किसीने मेरा नाम ले दिया तो गलेसे आकर लिपट गया । अब देखो कि मैं उसके सामने अपरोक्ष था परन्तु नेत्रोंके सामने होना एक बात है और पहचानना दूसरी वस्तु है ।

हमारा आत्मा जो ब्रह्म है, वह परोक्ष नहीं है । हमसे कहीं दूर नहीं है । सदा सोते-जागते उठते-बैठते अपने साथ है । यह नित्य प्राप्त है । इसमें वियोगकी सम्भावना नहीं है । परन्तु ऐसे नित्य प्राप्त आत्माको हम पहचान नहीं रहे हैं । यदि इसमें स्थित होनेसे इसकी पहचान होती तो सुषुप्तिमें, समाधिमें हो जाती । पास रहते हम इसे पहचान नहीं रहे हैं तो बतानेवालेकी आवश्यकता है । जबतक कोई बतावेगा नहीं कि 'वह ब्रह्म तो तू ही है' तबतक इसका ज्ञान नहीं होगा ।

उपासनासे परोक्ष ईश्वरकी प्राप्ति हो सकती है । उससे थोड़ी देरके लिये एक होकर बैठना हो सकता है । अभ्याससे समाधि लग सकती है ।

संकल्प-सिद्धि होनेसे वस्तुओंकी प्राप्ति तथा स्वर्ग जाना हो सकता है। लेकिन इनमें-से किसीसे आत्माकी उपलब्धि नहीं होगी। शास्त्रोंके अभ्याससे भी यह नहीं होगा। यहाँ तो जो ढूंढ रहा है वही है—**आपन खेल आपही देखे**। अतः बिना बतानेवालेके आत्माका अपरोक्ष ज्ञान हो ही नहीं सकता। इसीसे छान्दोग्योपनिषद्की श्रुतियाँ स्पष्ट कहती हैं :

आचार्यवान् पुरुषो वेद (छां० ६.१४.२)

'जो गुरुप्राप्त पुरुष है वही इसको जानता है।'

आचार्याद्धैयव विदिता विद्या साधिष्ठं प्रापत् (छां० ४.९.३)

'आचार्यसे जानी गयी विद्या ही प्रतिष्ठित होती है।'

प्रवचनसे, मेधासे, बहु-श्रवण या स्वाध्यायसे आत्माकी प्राप्ति नहीं होती।[1] इसके लिए गुरु चाहिए। इस प्रकार वेदान्तमें गुरूपसदन अनिवार्य अंग है।

२. गुरुकी शरणमें कैसे जाँय ?

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्
(मुण्डक० १.२.१२)

"उस ब्रह्मको आत्मरूपसे जाननेके लिए वह साधन-सम्पन्न जिज्ञासु हाथमें समिधा लेकर श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठकी शरणमें जाये।" यहाँ 'एव' जो अवधारण है उसका अन्वय सबके साथ करना चाहिए। तद्विज्ञानार्थम् एव स गुरुमेव अभिगच्छेत् एव समित्पाणिः एव। ब्रह्मके विज्ञानके लिए ही हाथमें समिधा लेकर ही जिज्ञासु गुरुकी ही शरणमें जाये और शरणमें जाये ही। अभिगच्छेत् अर्थात् पूर्णरूपसे जाये। मनमें संसारको अपना सर्वस्व माने और मुखसे गुरुको सर्वेसर्वा कहे, तो यह गुरु-शरणागति नहीं है।

गुरुमें पूरी भक्ति होनी चाहिए अर्थात् गुरु, इष्ट, आत्मा और मन्त्र—इन चारोंमें एकता होनी चाहिए। **'यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ'** (श्वेता० ६.२३)।

गुरु-शरणागतिमें पहिली बात है कि जो अविश्वासी है वह गुरुकी शरणमें नहीं जाता। अविश्वास जिसके हृदयमें है, वह उसी हृदयको

१. नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन (मुण्डक. ३.२.३.)

दुःख देगा। जिसके प्रति अविश्वास है उसको दुःखी नहीं करेगा। यदि संसारमें एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं जिसके प्रति तुम्हारे चित्तमें संशयरहित विश्वास नहीं है तो तुम्हारे अन्तःकरणकी स्थिति अत्यन्त शोचनीय है।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति। (गीता ४.४०)

स्वयं समझता नहीं और किसीपर श्रद्धा नहीं करता, ऐसे संशयात्माका विनाश निश्चित है अपने अन्तःकरणमें संशय और अविश्वास नहीं हो तो यही अन्तःकरणकी शुद्धि है।

गुरु-शरणागतिमें दूसरी बाधा है—अभिमान। परमात्मा मानशून्य अर्थात् मापशून्य है। देश, काल और वस्तुकृत अन्त उसमें नहीं है; वह परिपूर्ण है। और हममें है अभिमान। हममें अभिमान कब होता है? जब हम अपना मान अर्थात् माप बना लेते हैं कि हम ब्राह्मण हैं, विद्वान् हैं, हिन्दू हैं, धनी हैं, तपस्वी हैं, इत्यादि। यह साढ़े तीन हाथका शरीर हमारा माप बन जाता है। परन्तु श्रुति कहती है कि ब्रह्मको जो अपनेसे अलग मानेगा वह पराभूत हो जायेगा।[२] एक रबड़के थैलेमें पहाड़ कैसे आ सकता है? इसी प्रकार अभिमानके घेरेमें कोई ईश्वरको लेना चाहे तो कभी नहीं आ सकता। ईश्वर मिलेगा तो अभिमानकी निवृत्तिसे ही मिलेगा। अभिमान दम्भ है। इसकी निवृत्ति गुरु-शरणागतिसे ही होगी।

श्रीमद्भागवतमें मनोरोगोंमें-से प्रत्येककी अलग-अलग औषध बतायी। जैसे निस्संकल्पता कामकी और कामनाओंका त्याग क्रोधकी औषध है। परन्तु बादमें बताया कि गुरु-भक्ति एकसाथ सब मनोदोषोंकी राम-बाण ओषधि है:

इसलिए गुरु-शरणागति आवश्यक है। आत्मतत्त्वके जिज्ञासुको चाहिए कि बन्ध-निवर्तक एवं मोक्ष-साधक ब्रह्मज्ञानके लिए वह गुरुकी शरणमें जाये: **उपसीदेत्।**

'उपसीदेत्' माने सामनेसे, अभिमुख होकर गुरुके पास जाय। सामनेसे अर्थात् पीछेसे नहीं, चुपकेसे नहीं, यह तो व्यवहारकी बात है। गुरु जब स्वस्थ होकर बैठे हों, तब। यह नहीं कि जब तुम्हें अवकाश मिल गया तो पहुँच गये चाहे गुरुजी 'बाथरूम' ही क्यों न जा रहे हों। 'अभिमुख'का

---

२. ब्रह्म तं परादात् योऽन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद (बृ० २.४.६)

मतलब यह भी है कि 'गुरुदेव जो कहेंगे सो मानूँगा।' तुम्हारी धारणाएँ, मान्यताएँ सम्भव हैं ठीक न हों। यदि गुरुकी बात माननी ही नहीं है तो गुरुके पास जानेकी क्या जरूरत है ?

'उपसीदेत्' माने विधि-पूर्वक उपसन्न होना। एक तो विधि यह है कि खाली हाथ गुरुके पास नहीं जाना चाहिए। अपनी श्रद्धाकी प्रतीक–स्वरूप एवं गुरुके उपयोगकी कोई सामग्री लेकर गुरुकी शरणमें जाना चाहिए। यदि गुरुजीके घरमें होम होता है, रसोई होती है, तो उसके लिए 'समिधा' (लकड़ी) हाथमें लेकर जाओ। यदि गुरुजी विरक्त हैं तो उनके निजी उपयोगकी या खानेकी कोई वस्तु ले जाओ। तात्पर्य यह है कि उनकी सेवाके भावसे जो उनके उपयुक्त हो सो ले जाओ।

दूसरी बात 'उपसीदेत्'में यह है कि उद्देश्य स्पष्ट एवं अप्रतिहत होना चाहिए। एक बात याद आगयी। मैं संन्यासी होनेके लिए स्वामी ब्रह्मानन्दजी महाराजके पास संन्यास लेनेके कुछ वर्ष पहिले गया था। उन्होंने तब बता दिया था कि 'ऐसे रहो, वैसे रहो, यह खाओ, यह मत खाओ।' फिर २-३ वर्ष बाद एक बार रास्तेमें चलते-चलते पहुँच गया। कुम्भके मेलेमें मैंने 'साइन बोर्ड' देखा तो आव देखा न ताव भीतर घुस गया और उनसे कहा 'अब मैं आगया !' तो 'उपसन्न'का अर्थ है कि "मैं बन्धनसे मुक्ति पानेके लिए, जड़ताकी पराधीनतासे छूटनेके लिए, मृत्युसे मुक्त होनेके लिए, तत्त्वज्ञान पानेके लिए, अब मैं आगया !" 'उपसीदेत्'का अर्थ है 'अब मैं आगया।'

गुरु-उपसदन, गुरु-उपसत्ति—इन शब्दोंका अर्थ है कि 'उपसीदेत् गुरुं प्राज्ञं यस्माद् बन्धविमोक्षणम्' अर्थात् गुरुके प्रति बन्धके मोक्षके लिए उपसन्न होना।

३. सद्गुरुके लक्षण

प्रश्न यह है कि सद्गुरु कैसा हो ? श्रीशंकराचार्य महाराजने कहा कि 'प्राज्ञ' गुरुकी शरण ग्रहण करे। एक तो वे महात्मा हैं जो अत्यन्त विरक्त हैं, फकीर हैं। इनके दर्शन, सेवा आदिका बहुत बड़ा पुण्य होता है। परन्तु उन्हें तो होश ही नहीं है। वे आपके अज्ञानकी निवृत्ति करनेमें सहायक नहीं होंगे। यह मोक्ष किसीकी कृपासे, शक्तिपात आदिसे मिलनेवाला नहीं

है। जिस अन्तःकरणमें आत्माके अज्ञानस्वरूपकी, जीवाकार वृत्ति है उसीमें जब महावाक्यजन्य ब्रह्मात्मैक्यबोधिनी वृत्तिका उदय होगा, तब वह ब्रह्माकार वृत्ति जीवाकार वृत्तिको नष्ट करके अपने आश्रय आत्मतत्त्वसे अभिन्न हो जायेगी। यही मोक्ष है। अतः मोक्षकामीको ऐसे महात्माको सद्गुरुके रूपमें वरण करना चाहिए जो प्राज्ञ अर्थात् तत्त्वज्ञ हो, होश-हवासमें हो, और अपने शब्दोंके द्वारा महावाक्योंके ऐक्य-अर्थको आपकी बुद्धिमें दृढ़ कराकर आपकी वृत्तिको ब्रह्माकार बना सकनेकी योग्यता रखता हो। यही गुरु-कृपाका स्वरूप है। कृपा जब किसी पर होती है तो वह आकार धारण करके आती है। जैसे निराकार परमात्माकी कृपा साकार अवतार धारण करके प्रकट होती हैं, उसी प्रकार निराकार कृपा भी जीवनमें साकार होकर प्रकट होती है। ब्रह्माकार-वृत्तिका उदय ही प्रस्तुत प्रसंगमें गुरु-कृपाका अवतरण है। यदि गुरु-कृपा ज्ञानोत्पत्ति नहीं करती तो वह कृपा बाँझ ही है।

श्रुतिका कथन है कि गुरु श्रोत्रिय और ब्रह्मनिष्ठ हो। श्रोत्रियका अर्थ है कि जो श्रुतिका सर्वोपरि एवं सर्वाङ्गीण रहस्य समझता हो और उसीके अनुसार शिष्यका मार्ग-दर्शन करता हो, मात्र श्रुतिका पण्डित न हो। केवल पण्डिताईसे काम नहीं चलता। उस पर जितने प्रश्न, आक्षेप, शंका हो सकती हों उनका समाधान करनेमें समर्थ हो। साथ ही श्रुति-प्रतिपादित जो अन्तिम तत्त्व है, ब्रह्मात्मैक्य-बोध, उसमें उसकी निष्ठा हो। अर्थात् उसीमें उसकी गति, मति, रति हो।

उपनिषदोंमें ब्रह्मनिष्ठोंके चार भेद किये गये हैं : ब्रह्मवित्, ब्रह्मविद्वर, ब्रह्मविद्वरीयान्, ब्रह्मविद्वरिष्ठ।

आत्मक्रीडः आत्मरतिः क्रियावान् एष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।

(मुण्डक ३.१.४)

'जो आत्मामें ही खेलता है, जो आत्मामें ही सुखी है, वह ब्रह्मवेत्ताओंमें श्रेष्ठ है।' सद्गुरु ब्रह्मवित्तम होना चाहिए। जिसके पास बड़े-बड़े ब्रह्मवेत्ता भी ब्रह्मज्ञानमें निष्ठा प्राप्त करनेके लिए आवें, वह महात्मा ब्रह्मवित्तम है। एक होता है ब्रह्मवित्। कई सौ ब्रह्मविदोंमें एक होता है ब्रह्मवित्तम। करोड़ोंमें कोई एक होता है ब्रह्मवित्तम।

संसारमें चतुर लोग बहुत हैं। शब्दोंका फायदा उठाकर 'श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ' गुरुओंका बाजार लगा हुआ है। भोले-भोले लोग भ्रमित हो जाते हैं। अतः कुछ और लक्षण गुरुकी पहिचानके लिए बताते हैं। विवेक चूड़ामणिमें श्रीशंकराचार्य भगवान् कहते हैं :

श्रोत्रियोऽवृजिनोऽकामहतो यो ब्रह्मवित्तमः ॥
ब्रह्मण्ययुपरतः शान्तो निरिन्धन इवानलः ।
अहैतुकदयासिन्धुर्बन्धुरानमतां सताम् ॥ (वि० चू० ३४-३५)

'गुरु श्रोत्रिय हों, निष्पाप हों, कामना-शून्य हों, ब्रह्मवित्तम हों, ब्रह्ममें ही रतिवान् हों, ईंधनरहित अग्निके समान शान्त हों, अहैतुक दयासिंधु हों और शरणमें आये हुए सज्जनोंके हितैषी हों।'

१. श्रोत्रिय हों :—इसका वर्णन हो चुका।

२. ब्रह्मवित्तम :—इसका वर्णन भी हो चुका।

३. निष्पाप हों :—निष्पापकी पहिचान है कि 'मैं दुःखी हूँ' ऐसी संवित् उसे कभी न हो, भले शरीर सड़ रहा हो, खानेको न मिलता हो, पास कपड़े न हों, साथ कोई चलनेवाला न हो। दुःख पापका फल है और 'मैं दुःखी हूँ' यह फलवृत्ति है। निष्पापमें यह फलवृत्ति नहीं रहती। दुःखके निमित्त तो सभी शरीर-धारियोंके जीवनमें आ सकते हैं परन्तु दुःखका अभिमान होना कि मैं दुःखो हूँ, यह पापकी नहीं, पापीकी पहिचान है।

इसके अतिरिक्त गुरुके आगे 'मैं पाप करूँ' यह वासना भी नहीं रहती क्योंकि पापका कर्तृत्व-भोक्तृत्व उसके अन्दर नहीं रहता।

जिसमें पूर्व-पापका सम्बन्ध न हो और भविष्यमें पाप करनेकी वासना न हो, वह निष्पाप है।

सबसे बड़ा पाप यह है कि नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्माको अनित्य-अशुद्ध-अहंकारके साथ मिला देना। यही सब पापोंकी जड़ है। ज्ञानीमें यह निवृत्त ही है।

४. अकामहत हों :—कामनाओंसे जिनका दिल घायल है, वे कामहत हैं। परन्तु सद्गुरु वह है जिसका हृदय कामनाओंके द्वारा घायल नहीं होता, वह अकामहत हैं। अप्राप्त रूपेसे प्रतीत होनेवाली किसी भी वस्तु, व्यक्ति या परिस्थितिको प्राप्त करनेकी इच्छा 'काम' कहलाती है, जो नहीं मिली है वह मिल जाय, यह 'काम है। मिली है वह और मिले, यह 'लोभ'

है। 'मिलनेमें जो बाधा डालेगा उसको तो मैं मार ही डालूँगा', यह क्रोध है। ये सब कामके ही रूप हैं। हम हजार बरस जी जायँ—यह कालकी कामना है। 'हम स्वर्ग, वैकुण्ठ पहुँच जाँये'—यह देशकी कामना है। अमुक वस्तु, व्यक्ति हमारे पास नहीं है—यह वस्तुकी कामना है। 'इतना छूट गया, इतना और छोड़ना है'—यह भी कामना है। 'अन्तःकरणमें ऐसी वृत्ति आवे, ऐसी न आवे'—यह भी कामनामूलक ही है। पूर्ण गुरुमें किसी प्रकारकी वृत्ति अथवा स्थितिकी अप्राप्तिमूलक कामना नहीं होती। परन्तु ध्यान रहे, यह गुरुकी बात है, चेलेकी नहीं। चेलेको तो कायदेसे ग्रहण और त्याग करना चाहिए। पूरे गुरुकी यही पहिचान है कि अब 'अन्य' नामकी कोई वस्तु ही नहीं है। आत्माकी अखण्डतामें, पूर्णतामें अब कुछ भी पानेकी वस्तु शेष नहीं रह गयी। इसलिए तत्त्वज्ञके हृदयको चोट पहुँचानेवाली कोई कामना ही नहीं है।

५. **'ब्रह्मण्युपरतः' हों** :—संसारसे तो उपराम हों और ब्रह्ममें विराजमान हों। गुरु ऐसा हो जो उपराम हो। दुनिया तो दीख रही है, परन्तु दुनियामें जो रमता नहीं है और दुनियासे उपराम होकर जो अधिष्ठान ब्रह्ममें स्थित है। यदि गुरु दुनियाँके धन्धोंमें व्यस्त है तो भी और यदि समाधिमें बैठा है, प्रिया-प्रियतमके ध्यानरसमें निमग्न है तो भी—दोनों दशाओंमें वे जिज्ञासुके मतलबके नहीं हैं, क्योंकि उन्हें उपदेशका अवकाश ही नहीं है। जो गुरु है वह जागता हुआ हो और कहीं रमता न हो, ऐसा होना चाहिए।

६. **'शान्तो निरिन्धन इवानलः' हों** :—सद्गुरु शान्त हो। कैसे शान्त ? जैसे इन्धन रहित अग्नि। गुरु तो कृतार्थ हैं। उनके सारे प्रयोजन पूरे हो चुके हैं। न कोई साधन-भजन करना कर्त्तव्य-शेष रह गया है, न कोई स्थिति-प्राप्ति करनी शेष है। तब ? अब जो शान्ति उनके जीवनमें छायी है उनकी उपमा कैसी है कि इँधन तो सारा जल चुका है, किन्तु अग्नि शेष है। अपने-आप अग्नि जलती नहीं क्योंकि लकड़ी, कोयला, उपला सब खतम हो चुके हैं; धुँआ बिलकुल निकलता नहीं। राखमें ढकी जलती आग है। यदि चेला फूँककर आग जला दे तो काम निकल जाय। अन्यथा अपने-आप तो वह बुझ चुका है। यह शिष्यकी मुमुक्षा-जिज्ञासा है कि वह बुझती आगको भी प्रज्वलित करके प्रकाश कर ले और तत्त्वज्ञान प्राप्त कर ले। इस अर्थमें गुरु शान्त होता है।

गुरु शान्त है। अर्थात् उसकी वृत्तिको अब विषयकी जरूरत नहीं है। गुरुसे यह कहना कि 'हे सद्गुरुजी, आप अपने आप जो हमारे हितमें हो, उपदेश दे दो' ठीक नहीं है। उसकी दृष्टिमें तो सब नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हैं। उन्हें तो कोई कल्पना नहीं कि तुम ऐसे रहो या वैसे। वे तो जानते हैं कि तुम मुक्त ही हो। जब तुम अपनेमें अज्ञान, दुःख, जड़ता, बद्धताका अनुभव करते हुए उनसे निवेदन करोगे कि वे तुम्हें उससे बचावें, तब वे तुमसे कहेंगे—'अरे ना रे! तुम तो साक्षात् ब्रह्म हो। तुममें अज्ञान, दुःख, जड़ता, बन्धनका लेश भी नहीं है:

परमानन्द स्वरूप तू, नहि तोमें दुख-लेस।
अज अविनाशी ब्रह्म चित्, जिन आनै हिय क्लेश।।

(विचारसागर ४.३२)

यहींसे फिर प्रश्नोत्तरके द्वारा सत्संग प्रारम्भ हो जाता है।

७. अहैतुक दयासिन्धु हों:—सद्गुरु दयाके सागर होते हैं परन्तु उनकी दयाका दान किसी हेतुसे नहीं होता। अपरित्यागलक्षणा उनकी दया होती है। उनकी दृष्टिमें तो सभी अपना ही स्वरूप होता है। किसीके कोई गुण-क्रियासे प्रभावित होकर उसके प्रति अपनी दयालुता नहीं प्रकट करते। शिष्यके बड़प्पनसे गुरुका क्या लेना-देना है। कोई धनपति है तो क्या, दरिद्र है तो क्या? कोई विद्वान् या साधक है तो क्या और मूर्ख है तो क्या? वे सबके प्रति सम हैं। जो भी उनसे प्रेम करते हैं उनके प्रति उनकी अकारण दया बरस पड़ती है।

८. शरणागत-बन्धु हों:—बन्धुः आनमताम् सताम् = जो सत्पुरुष (शिष्य) गुरुके प्रति आकर झुक जाय, शरणागत हो जाय कि अब वह आगया, उनकी बात मानेगा, उन्हींसे उसका कल्याण होगा, उसको गुरु स्वीकार कर लें और अभय कर दें, यह गुरुत्वका लक्षण है।

४. गुरु मिलनेपर क्या करें

यदि ऐसा गुरु प्राप्त हो जाय तब क्या करें? उनकी विनयसे सेवा करें और उसके प्रति प्रेम करें। उसमें दोष-बुद्धि न करें और उसके महत्त्वको हृदयङ्गम करके उससे ही अपने कल्याणकी आशा करें। इस प्रकार सेवा और भक्तिसे गुरुको अपने अनुकूल बनावें।

फिर यह नहीं कि जब उनका मन होगा तब वे बता देंगे। भक्ति-सिद्धान्तमें तो यह ठीक है कि जब उनकी कृपा होगी तब बतलावेंगे। किन्तु ज्ञान-सिद्धान्तमें ऐसा सोचना लापरवाही है और तत्परताका अभाव प्रदर्शित करता है। जिसके मनमें तीव्र मुमुक्षा—जिज्ञासा होगी उसका तो जाने बिना दिल फटने लगेगा। जिज्ञासाकी तीव्र वेदना होती है और वह वेदना जबतक उदय नहीं होती तबतक ठीक-ठीक जिज्ञासा होती नहीं।

जब गुरु प्रसन्न हों तब उनके पास जाकर विनयपूर्वक प्रश्न करना चाहिए।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया। (गीता ४.३४)

'उस तत्त्वको तत्त्वज्ञसे जानो। कैसे ? तो कहा प्रणामके द्वारा अर्थात् अहंकार छोड़कर सेवाके द्वारा तथा परिप्रश्न करके।'

प्रश्नका विषय होना चाहिए 'आत्मा'। पूछे—"भगवन् ! 'मैं हूँ', यह तो मालूम पड़ता है परन्तु 'मैं क्या हूँ, कौन हूँ, कहाँसे आया हूँ, कहाँ जाऊँगा, क्यों आया हूँ'—यह सब मालूम नहीं पड़ता। कृपया आप बतावें 'मैं क्या हूँ ?' मैंने सुना है (शास्त्रसे) कि सृष्टिका स्वामी ब्रह्म है। वह ब्रह्म क्या है। कहाँ रहता है, मेरा उसका क्या सम्बन्ध है, यह ज्ञात नहीं है। कृपया बतावें वह क्या है ? शास्त्र कहता है बिना ब्रह्मज्ञानके मोक्ष नहीं होता। उस ब्रह्मज्ञानका क्या स्वरूप है ? मैं बन्धनमें हूँ तो मेरा मोक्ष कैसे होगा ?"

प्रश्न पूछनेमें चार बातोंका ख्याल रखना चाहिए : (१) प्रश्न उसके विषयमें हो जिसके बारेमें तुम्हें अज्ञान है। जिसके बारेमें तुम जानते ही हो उसके बारेमें प्रश्न नहीं करना चाहिए। जब तुम जानते न हो या जितना—जैसा तुम जानते हो उस धारणामें, जानकारीमें, मान्यतामें असन्तोष हो तब प्रश्न पूछना चाहिए। झूठमूठके प्रश्न बनाकर, जिसकी तुम्हें जिज्ञासा ही नहीं है, पूछना वर्जित है। (२) वाद-विवादके लिए प्रश्न नहीं करना चाहिए। उससे कोई समस्या हल होनेवाली नहीं है। जिज्ञासुके प्रश्न और गुरुके उत्तर कोई शास्त्रार्थ नहीं हैं। पहले प्रश्न पूछो, फिर उत्तर सुनो; तत्पश्चात् उत्तरका मनन करो और फिर भी कोई संशय शेष हो तो संशय करके फिर पूछो। (३) यदि समझना न हो या फिर समझकर

भी न मानना हो तो भी प्रश्न मत पूछो। (४) गुरुकी बातको केवल काटनेके लिए भी मत पूछो। यह वितण्डा है।

हो सकता है कि गुरु तुम्हारी वास्तविक स्थितिकी परीक्षा भी करे। साधकको कभी-कभी यह भ्रम हो जाता है कि हम अमुक स्थितिमें पहुँच गये हैं जब कि वास्तविकता वैसी नहीं होती। इसको शास्त्रमें 'अलब्ध-भूमिकत्व' कहा जाता है। यह साधनमें विघ्न है कि जहाँ वह नहीं पहुँचा है वह वहाँ अपनेको पहुँचा हुआ मान बैठे। इसलिए गुरु हमारे 'अलब्ध-भूमिकत्व'की परीक्षा करता है और कभी-कभी ऐसा कुछ बोलता है या करनेको कहता है जो हमारे मिथ्याभिमानको काट दे। शिष्यको वह सब आदरपूर्वक सहन करना चाहिए। और उनकी आज्ञाका अनुसरण करना चाहिए। जो गुरुकी गाली नहीं सह सकता उसमें दुनियाकी गालीकी सहिष्णुता भी कहाँसे आयेगी? वह कभी सहिष्णु—तितिक्षु नहीं बनेगा। आगे बढ़नेकी संभावना भी उसके जीवनमें कभी नहीं रहेगी।

उस शरणमें आये हुए शिष्यके प्रति गुरुजी सबसे पहिले क्या वचन बोलेंगे? वे बोलेंगे—बेटा, भयभीत मत हो। वेदान्तका जो फल है वहींसे गुरुजी प्रारम्भ करते हैं। वेदान्तका फल है—**अभयं वै जनक प्राप्तोसि** (बृहदा० ४.२.४) 'हे जनक! तुम्हें अभय प्राप्त हो गया है।' यह नहीं कि दुनियाँमें संयोग-वियोग नहीं रहेगा, आना-जाना नहीं रहेगा, शरीर नहीं छूटेगा—यह सब रहेगा और रहे, परन्तु निर्भय हो जाना, यही वेदान्तका फल है।

श्रीशंकराचार्य भगवान् कहते हैं कि सद्गुरुको चाहिए कि वह शिष्यको सहसा अभय प्रदान कर दे: **दद्यादभीतिं सहसा महात्मा** (वि० चू० ४३)। असलमें संसारमें जितने दुःख हैं वे दुःख नहीं हैं, भयमात्र हैं। मरना दुःख नहीं है, मरनेका भय है, क्योंकि अपना मरना कोई अनुभव नहीं कर सकता। भय मरनेका नहीं, अपनी बनायी दुनियाँ उजड़नेका है। हमारी बनायी गृहस्थी, हमारे माँ-बाप, बाल-बच्चे, पति-पत्नी इसका क्या होगा—यह भय है। अरे होगा क्या, पहिले भी ये तुम्हारे नहीं थे, पीछे भी तुम्हारे नहीं रहेंगे, बीचमें तुम इनको अपना मानकर रोते-धोते रहे हो। जिसके मनमें त्याग-वैराग्य है, असंगता है, उसके लिए तो मृत्यु, दुःख या भय नहीं है, उसके लिए तो मृत्यु स्वरूप-स्थिति है। अपने आत्मामें

दुनियाँ आभास-मात्र है और आत्माके अज्ञानसे वह मीठी लगती है फिर उसके छूटनेका दुःख होता है।

असलमें दुःख नामकी कोई वस्तु नहीं है। 'मैं दुःखी हूँ' यह वृत्ति ही दुःखका स्वरूप है। शोक भी दुःख है, इसलिए भय है। पूर्वानुभूत दुःखकी स्मृतिका नाम ही तो शोक है। तो सब भय है। इस भयसे अभय बनाने वाला सद्गुरु है। वही अपना सबसे बड़ा हितैषी है।

सद्गुरु यह नहीं सोचता कि शरणमें आये हुए शिष्यका क्या अधिकार है? वह पहिले ध्यान करके यह नहीं देखता कि इस शिष्यको ज्ञान होगा या नहीं, मोक्ष होगा कि नहीं! वह तो करुणावश विना सोचे-विचारे ही सिर पर हाथ रख देता है कि बेटा डरो मत! गुरुकी दृष्टिमें तो प्राणीमात्र नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त हैं और शिष्यके द्वारा जो अपना भय, अज्ञान, दुःख कथन किया जाता है वह गुरुकी दृष्टिमें आविद्यक आभासमात्र है जो ज्ञानकी एक किरणका भी सामना नहीं कर सकता। रह गया अधिकार तो जो गुरुशरणागतिमें आगया उसका अधिकार तो सर्वोपरि है। यदि अधिकारी न होता तो गुरुकी शरणमें आता कैसे? भावी प्रतिबन्धोंका भी गुरुकी दृष्टिमें कोई मूल्य नहीं है क्योंकि उसकी दृष्टि तो सर्वदा सबके ब्रह्मस्वरूप पर रहती है।

शिष्य सद्गुरुकी शरणमें हो, स्वयं मुमुक्षु हो, गुरुका आज्ञाकारी हो और उसका चित्त प्रशान्त हो, माने चित्तमें भागदौड़ न हो कि यहाँ जाना है, वहाँ जाना है, यह करना है, वह करना है। यह तभी होगा जब चित्तमें विकार नहीं होंगे। ऐसा शिष्य गुरुसे तत्त्वोपदेशका अधिकारी है। •

तृतीय खण्ड

ब्रह्म-विचारसे पूर्व कुछ ज्ञातव्य

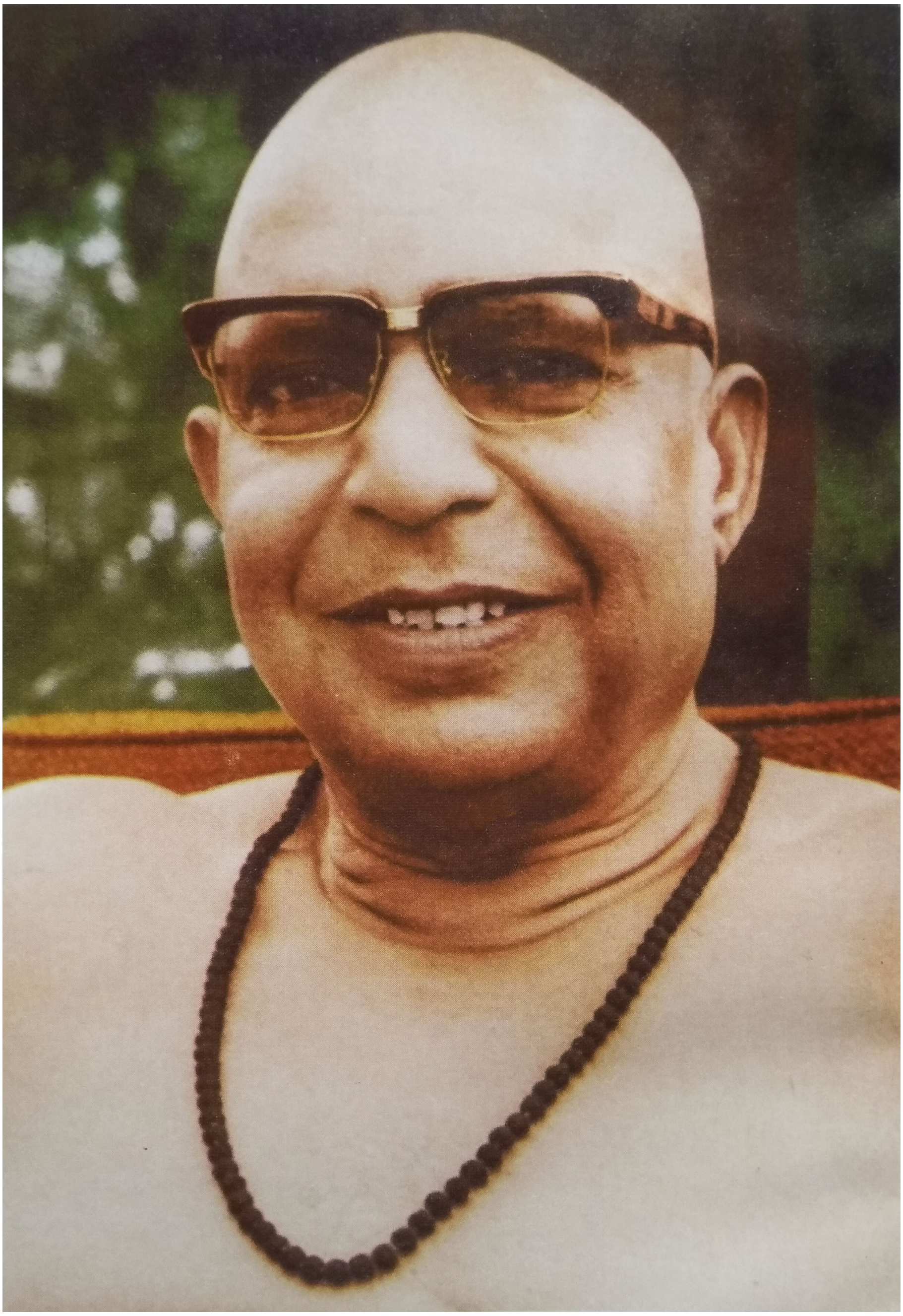

अध्याय–६

कुछ ज्ञातव्य

अब नीचे कुछ महत्त्वपूर्ण एवं विचारणीय बातें प्रस्तुत की जाती है, जिनसे वेदान्तार्थके स्पष्टीकरणमें बहुत सहायता मिलेगी :

१. **भवसागर क्या है** जिससे आप पार जाना चाहते हो ? असलमें लोग सुनसुनाकर मानने लगते हैं, कि हम भवसागरमें डूब रहे हैं, वैसे तो वे अपनेको खूब मौजमें अनुभव करते हैं । इस पर विचार करो ।

श्रीशंकराचार्य कहते हैं : **कर्तृत्वभोक्तृत्वलक्षणः संसारः ।** अपनेको पाप-पुण्यका कर्ता मानना और उनका सुख-दुःख भोगना—यही संसार है । यह पा लिया, यह भोग लिया, यह पाना है और यह भोगना है—बस इस बुद्धिका नाम ही संसार है ।

पाप-पुण्य, नरक-स्वर्ग, सुख-दुःख और अपनी परिच्छिन्नता (अर्थात् दरियाका अपनेको क़तरा समझ बैठना)— बस यही है संसार ।

श्रीविद्यारण्य स्वामीका कथन है कि जीवकी अपनी बनायी हुई सृष्टि संसार है । मैं-मेराका सारा पसारा संसार है ।

यदि तुम सचमुच भवसागरमें डूब रहे होते तो ज्ञानसे डूबनेसे नहीं बच सकते हो । डूबनेका जो बौद्ध भ्रम है उसीका विनाश तत्त्वज्ञान करता है ।

२. **भवसागरसे तरनेका उपाय** है ज्ञान । अर्थात् ब्रह्मविचार । परन्तु संस्कृतमें उपाय उसको कहते हैं जिसको पहिले तो प्रयोजन-सिद्धिके लिए पकड़ा जाता है परन्तु प्रयोजनकी पूर्ति होनेपर उसे छोड़ दिया जाता है । अतः ब्रह्मविचारकी अवधि है ब्रह्मात्मैक्य-बोध ।

३. परमात्माकी प्राप्तिके लिए चलकर जानेका मार्ग नहीं होता । उसकी जिज्ञासा ही मार्ग है : **तद् विजिज्ञासस्व** (तैत्ति० ३.१) ।

४. अपने 'मैं' का अज्ञान है और दूसरेके होनेकी भ्रान्ति है ।

५. भयकी निवृत्ति न एकान्तमें रहनेसे होती है और न भीड़में रहनेसे। समाधि एकान्त है, कर्म भीड़ है। इनसे भयकी निवृत्ति नहीं होती। प्रेमसे भी भयकी निवृत्ति नहीं होती। क्योंकि प्रेमास्पदके अहितकी आशंका बनी रहती है। विद्वत्ता और लौकिक बुद्धिमत्तासे भी भयकी निवृत्ति असंभव है क्योंकि उसमें पराजयका भय और भविष्यकी चिन्ता है। जबतक अन्यकी बुद्धि निवृत्त नहीं होती तबतक भयकी निवृत्ति संभव नहीं है: **द्वितायाद्वै भयं भवति**। भयकी निवृत्तिके लिए एक खास तरहकी बुद्धि चाहिए और वह भी हमारी बनायी हुई बुद्धि न हो, परमार्थसत्यके अनुरूप (वस्तु-तन्त्रात्मक) बुद्धि होनी चाहिए। यह स्वरूपका अनुभव करानेवाली वेदान्त-वाक्यजन्य बुद्धि है।

६. वेदान्तार्थ-विचारके बिना मनुष्यका और किसी उपायसे परम कल्याण नहीं हो सकता। और यह विचार प्रस्थान-त्रयी (उपनिषद्, गीता और ब्रह्मसूत्र)के श्रवण-मननसे उदय होता है। जिस ज्ञानसे सब प्रकारके भेदोंका मिथ्यात्व निश्चय हो जाता है वह वेदान्त-ज्ञान है। भेद पाँच प्रकारके हैं: (i) जीव-ईश्वरका भेद, (ii) जीव-जीवका भेद, (iii) जीव-जगत्का भेद, (iv) ईश्वर-जगत्का भेद (v) जगत्-जगत्का भेद।

७. ईश्वर नहीं है, आत्मा नहीं है—यह मूर्खता है, ज्ञान नहीं है। जीव-जगत्-ईश्वर तीनों हैं और अलग-अलग हैं—यह साधारण ज्ञान है। जीव-जगत्के रूपमें भी भगवान् ही हैं (माने सत्ता सबकी है परन्तु स्वगत भेदरूप भगवत्सत्ता है)—यह वल्लभाचार्यजीका सिद्धान्त है। भगवान् ही सब है, ईश्वर ही सब है—यह भागवत्-ज्ञान है। मैं ही सब हूँ—यह (कश्मीरी) शैव-ज्ञान है। किन्तु 'सब नहीं है, ब्रह्म ही है'—यह वेदान्त-ज्ञान है। वेदान्त-ज्ञानके बिना भय, दुःख आदिकी आत्यन्तिक निवृत्ति शक्य नहीं है।

८. ज्ञानसे ईश्वर-सृष्ट संसारका नाश नहीं होता परन्तु उसमें जीवने जो अपनी अविद्यासे सृष्टि कल्पित कर ली है उसके कारण होनेवाले दुःखका आत्यन्तिक नाश हो जाता है। संसारमें सुख-दुःखके हेतु भी बने रहते हैं, उनका इन्द्रियोंसे संयोग भी होता है, अन्तःकरणमें अभ्यास-संस्कार जन्य अनुकूल-प्रतिकूल संवेदन भी होता है परन्तु आत्मामें सुख-दुःखका प्रतिभास नहीं होता अर्थात् 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' इत्याकारक वृत्तिका उदय नहीं होता। यही योग है:

तं विद्याद् दुःख संयोगवियोगं योगसंज्ञितम् (गीता ६.२३)

९. श्रद्धा, भक्ति, ध्यान और मुमुक्षा—ये अविद्या-कल्पित देहके बन्धनसे छुड़ानेवाले साक्षात् साधन हैं। जहाँ पहुँचना है उसका निर्णय गुरु, शास्त्र, सत्संग पर श्रद्धा करनेसे होगा। विना लक्ष्यके तर्कका कोई उपयोग नहीं है। केवल बालकी खाल निकालनेवालोंको परमेश्वरकी प्राप्ति नहीं हो सकती। सद्‌गुरु, महात्मासे तर्क मत करो, उसकी बात पर श्रद्धा करो और मनन करो। मनन माने अनुकूल चिन्तन करो। श्रद्धा निष्ठापर्यन्त रहनी चाहिए। तत्त्वसाक्षात्कारसे पूर्व श्रद्धा दिशा देती है और बादमें निष्ठा।

भक्ति माने बुद्धिके द्वारा उसका (श्रुत लक्ष्यका) बारम्बार चिन्तन। साक्षात्कार होनेसे पूर्व वह लक्ष्यके सिवा दूसरेसे वैराग्य करा देगी और साक्षात्कारके अनन्तर बिलकुल असंग कर देगी और जीवन्मुक्तिका विलक्षण सुख देगी।

ध्यान साक्षात्कारसे पूर्व तत्त्वज्ञानकी योग्यता प्रदान करता है। तत्त्व-ज्ञान भेद-भाव नहीं मिटाता, भेद-भ्रम मिटाता है। नीलिमाका आकाशमें भासना दूसरी चीज है और आकाशके स्वरूपमें नीलिमाको सत्य मानना दूसरी चीज है। वेदान्त-ज्ञान दुनियाका भान नहीं मिटाता उसमें ब्रह्मातिरिक्त सत्यताका जो भ्रम है, उसको मिटाता है। परन्तु तत्त्वज्ञानके अनन्तर भी यदि ध्यान किया जाय तो वह प्रपंचका भी अभान कर देता है।

मुमुक्षा माने छूटनेकी इच्छा। किससे ? एक-एक वृत्तिसे, विकारसे नहीं, समूचे अन्तःकरणसे ही पिण्ड छुड़ानेकी जो इच्छा है वही मुमुक्षा है। जिसमें मुमुक्षा है वह अल्प अथवा सापेक्ष-महान्‌से सन्तुष्ट नहीं होगा। वह भूमा ही जब प्राप्त होगा तभी तृप्त होगा। असली मोक्ष वही है।

१०. ज्ञानकी सात भूमिकाएँ जो प्रसिद्ध हैं वे श्रद्धा, भक्ति, ध्यानकी ही परिपाक हैं। श्रद्धा-प्रधान **शुभेच्छा है**। भक्ति-प्रधान **'विचारणा'** है। ध्यान-प्रधान 'तनुमानसा' है। ये तीन तत्त्वसाक्षात्कारसे पूर्वकी भूमिकाएँ हैं। चौथी भूमिका तत्त्वज्ञानकी है। उसे **'सत्त्वापत्ति'** कहते हैं। तत्त्व-साक्षात्कारके बाद भक्तिकी असंगता और श्रद्धाको लेकर पाँचवीं भूमिका **'असंसक्ति'** हो जाती है; तथा भक्तिकी निष्ठा और ध्यानकी निवृत्ति और

अभानको लेकर छठी और सातवीं भूमिकाएँ **पदार्थाभावनी** और **तुर्यगा** प्रकाशित होती हैं।

११. वेदान्तमें तीन तरहका ध्यान माना जाता है : (i) बहिरंग साधनके रूपमें जो 'समाधान' है वह ध्यान है। उसका स्वरूप है : **ध्यानं निर्विषयं मनः**—मनमें विषयका न आना ध्यान है। यह ध्यान मनकी शुद्धिका साधन है। (ii) अन्तरंग साधनके रूपमें जो 'निदिध्यासन' है, वह ध्यान है। इसमें अनात्माकार-वृत्तिका तिरस्कार है और आत्माकार-वृत्तिका प्रवाह है। असलमें यह ध्यान नहीं, ध्यानकी इच्छा है। **ध्यायतीव**—ध्यान-जैसा होता है। यह तत्त्वसाक्षात्कारके अत्यन्त समीप है। 'दिध्यासा' है यह, ध्यान नहीं। (iii) तीसरा ध्यान तत्त्वज्ञानीका है। 'मैं कर्ता-भोक्ता हूँ' यह ज्ञान मनमें उदय न हो; वासनाका स्पर्श मनमें न हो; और शुद्ध सात्त्विक प्रतीतिरूप अन्तःकरणमें झिलमिल-झिलमिल आत्माका प्रतिबिम्ब हो— बस, यही ज्ञानीका ध्यान है। ध्यान माने परमात्माका स्फुरण !

१२. मोक्षकी प्राप्तिमें बस इतनी देर है जितनी चुटकी बजानेमें है। शर्त यही है कि आप चाहो मोक्षको, अन्य कुछ नहीं। आप अपनी चाहको देख लो कि क्या चाहते हो ? धन, इज्जत, कुर्सी, औरत, मर्द या और कुछ ? आपकी चाहके गर्भमें संसार है। जिस चाहके गर्भमें संसार नहीं होगा, मोक्ष आजायेगा।

१३. देखो, यह जो बन्धन है अविद्या-कल्पित है, यह वेदान्तका सिद्धान्त है। बन्धन अधर्मसे है, धर्म करनेसे कटेगा, यह धर्मका सिद्धान्त है। बन्धन ईश्वरकी विस्मृतिसे है और उसकी स्मृतिसे छूट जायेगा, यह भक्ति-सिद्धान्त है। बन्धन आत्माकी विस्मृतिसे है और स्मृतिसे कटेगा, यह शैव सिद्धान्त है। वेदान्तका कहना है कि बन्धन सिर्फ आत्माका अज्ञान है। नासमझीके अलावा बन्धनका और कोई कारण नहीं है। जबतक आप यह बात स्वीकार नहीं करते, तबतक वेदान्तका ज्ञान आपके लिए निष्प्रयोजन है।

१४. आप बँधे हैं तो कहाँ ? देहमें। परन्तु यह असम्भव है। जो सम्पूर्ण देश-काल-वस्तुका अधिष्ठान हो, वह साढ़े तीन हाथ देश, सौ-पचास बरसके काल और पचास-साठ किलो वजनमें कैसे बँध सकता है ? परन्तु बँधे हैं, यह स्पष्ट अनुभव हो रहा है। तो कहीं-न-कहीं नासमझी, मूर्खता

स्वीकार करनी पड़ेगी। अपने स्वरूपको न जाननेसे ही बन्धनकी कल्पना है और उसको जाननेसे बन्धनकी निवृत्ति है। इसका मतलब है कि अपने स्वरूपमें न बन्धन है, न मोक्ष है।

१५. आप अपनेको क्या समझते हैं ? हिन्दू, मनुष्य, जीव ? ना ! भाई पति, पुत्र, दुकानदार ? और फिर बेईमान, चोर, झूठे, छली, कपटी, खूनी ? अपने बारेमें आपका कोई अच्छा ख्याल नहीं मालूम पड़ता। भगवान्ने अन्तःकरणमें एक ऐसी मशीन लगा दी है कि आपका अपने बारेमें जो ख्याल होता रहता है (दूसरोंका जो आपके बारेमें ख्याल है वह नहीं) वह वहीं रिकार्ड होता रहता है। उसीको चित्रगुप्त यमराजको सुनाते हैं। "मैं पापी, मैं पुण्यात्मा, मैं रागी, मैं द्वेषी, मैं सुखी, मैं दुःखी" यह तुम खुद ही रिकार्ड कर रहे हो ! हस्ताक्षर हो गया न ?

तुम यह बदलता हुआ मैं (अहंकार) नहीं हो। इन सब अहंकारोंमें जो एक 'अहं' है वह परमात्मा तुम हो ! शरीर बदलनेसे, देश-काल बदलनेसे, अभिमान और संग्रह बदलनेसे वह 'अहं' नहीं बदलता।

परमात्मा अल्प और सर्व दोनोंसे निराला है।

वह अल्पज्ञ (अल्पका ज्ञाता) या सर्वज्ञ (सर्वका ज्ञाता) नहीं है। वह तो 'ज्ञ' अर्थात् ज्ञप्ति-मात्र है। उसमें अल्प और सर्व नहीं हैं (और ये उससे पृथक् भी नहीं हैं)। सर्वज्ञको कौन जान पायेगा ? कैसे जीव ईश्वरको पहिचानेगा ? ईश्वरकी कृपासे इसमें माया यह है कि अल्प और सर्वका भेद तथा अल्पज्ञ और सर्वज्ञका भेद, यह सब आत्माके अज्ञानसे ही है। उसीसे सारे भ्रम और बन्धन हैं, अतः आत्मा और अनात्माका विवेक करो; तब ज्ञानकी आग जलेगी और वह अज्ञान एवं अज्ञानके कार्यको समूल दग्ध कर देगी।

१६. वेदान्तमें प्रश्न जिज्ञासाकी पूर्तिके लिए नहीं होते, जिज्ञासाको काटनेके लिए होते हैं। ब्रह्मज्ञान-विषयक जिज्ञासाका पेट कभी भरा नहीं जाता, जिज्ञासाका पेट फाड़नेके लिए होता है। जब सब प्रश्न कट गये, उनके उत्तर कट गये, तो जो रहा, वही मैं है। 'कोऽहं' ? मैं कौन हूँ ? यह प्रश्न है। ब्रह्म क्या है ? यह प्रश्न है। मैं ऐसा हूँ, यह हूँ, वह हूँ— ये सब उत्तर हैं। ब्रह्म ऐसा है, वैसा है, वह है—ये सब उत्तर हैं। इन उत्तरोंको भी काटो। तब जो शेष रह जाय सो मैं है, वही ब्रह्म है।

आत्माकी ब्रह्मता बिना प्रश्नोत्तरोंको काटे होती ही नहीं। द्वैतका निषेध किये बिना अद्वैतकी सिद्धि होती ही नहीं। 'अद्वैतसिद्धि'का यह प्रथम पेराग्राफ है।

१७. वेदमें कहा गया है कि यज्ञ, दान, तप, उपवास और वेदानुवचनसे ब्राह्मण लोग इस ब्रह्मको जाननेकी इच्छा करते हैं।[3] जाननेकी इस इच्छाको 'विविदिषा' कहते हैं। सबका फल यह है कि हमारे हृदयमें परमात्माको 'जानने'की इच्छा उदय हो।

शुद्धान्तःकरणमें ही विविदिषा होती है। अशुद्ध अन्तःकरणमें अर्थ और कामकी इच्छा होती है। अर्थ और कामकी इच्छाओंमें जाननेकी, करनेकी, भोगनेकी इच्छाओंका विभाग रहता है। परन्तु परमात्माकी प्राप्तिकी जो इच्छा है उसमें यह विभाग नहीं होता।

१८. तत्त्वकी जिज्ञासा माने अनारोपिताकार वस्तुकी जिज्ञासा, जिसमें किसी आकार, प्रकार, संस्कारका अध्यारोप नहीं हुआ है। मनुष्याकृति गढ़े जानेसे पूर्व मैं क्या था? सृष्टिसे पूर्व सृष्टि क्या थी? सबका मूल स्वरूप अलग-अलग था या एक ही था? यह सब तत्त्व-जिज्ञासाके अंग हैं। वेदान्तका यह कहना है कि सब पुण्योंका एकमात्र फल यह है कि मनुष्यके मनमें तत्त्व-जिज्ञासाका उदय हो जाय! नहीं तो बस कमाई, भोग, ब्याह, बेटा, कुर्सी—इन्हीं सबको प्राप्त करनेकी फिकर रहती है।

क्यों और कैसेमें तत्त्व-जिज्ञासा नहीं है; वह तो व्यक्तित्वका विचार है। क्या—इस प्रश्नकी खोज तत्त्व-जिज्ञासा है।

१९. जो लोग समझते हैं कि अभ्याससे मनुष्यका मन परमात्मामें लगता है, वे तो मजदूरीकी बात करते हैं। प्यारसे मनुष्यका मन परमात्मामें लगे तो यह आसक्तिकी बात हुई। विचार करके जब परमात्मामें लगता है तो पर्दे-के-पर्दे फटने लगते हैं, अपने स्वरूपका आविर्भाव होता है। यह समाधिसे छोटा नहीं बड़ा है। बुद्धिको मारकर समाधि लगी तो क्या? बुद्धि रहते समाधि लगनी चाहिए।

२०. जो सरक रहा है वह संसार है। जो कभी नहीं सरकता वह आत्मा है। फिर संसारको छोड़नेमें भय क्यों?

---

३. तमेव वेदानुवचनेन ब्राह्मणाः विविदिषन्ति यज्ञेन दानेन तपसा अनाशकेन (बृहद्० ४.४.२२)

२१. त्यागमें स्वतन्त्रता होती है और ग्रहणमें परतन्त्रता होती है। त्यागात्मक साधनमें स्वतन्त्रता है, ग्रहणात्मक साधनोंमें परतन्त्रता है। वेदान्तका मार्ग त्यागात्मक है, अतः स्वतन्त्र है। अन्य सब मार्ग ग्रहणात्मक हैं, परतन्त्र हैं और वहाँ नहीं पहुँचाते जहाँ वेदान्त पहुँचाता है।

२२, उपलब्धि सदैव ज्ञानात्मक होती है। उपासनाका फल भी ज्ञानात्मक ही है। कैसे ? उपासना माने होता है 'इष्टके सान्निध्यके अनुभवके ज्ञानको पैदा करनेकी प्रक्रिया।' 'हम इष्टदेवके पास हैं' यह ज्ञान पैदा करनेकी प्रक्रियाका नाम उपासना है। 'हम वैकुण्ठमें हैं' यह ज्ञान पैदा करनेकी प्रक्रिया उपासना है। पैदा होगा ज्ञान ही। देश, काल, वस्तु कुछ पैदा नहीं होता; बस ज्ञानवृत्तिकी ही उत्पत्ति होती है। (इसी प्रकार कर्म और उसके फल (सुख-दुःख)में जो कार्य-कारण भाव है वह भी तद्विषयक ज्ञानवृत्तिरूप ही है)।

२३. आप सोचिये : हम अपनेको जिस चीज़के बिना दुःखी मानते हैं, उस चीज़के बिना कितने लोग सुखी हैं ? आपका दुःख कट जायेगा।

२४. अपना मोक्ष आप स्वयं ही प्राप्त करेंगे तभी मिलेगा। किसी दूसरेके प्रयत्नसे आपको मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। बन्धन हमको ही मालूम पड़ता है और हमारी ही नासमझीसे है। तब वह अपनी अक़्लसे ही दूर होगा ! अपनी भूख स्वयंके खानेसे मिटती है, दूसरोंके खानेसे नहीं। जैसे मल-त्यागकी क्रिया स्वयं करनी पड़ती है वैसे मानस-मलके त्यागकी क्रिया भी मुमुक्षुको स्वयं करनी पड़ती है। रोग होनेपर रोगीको स्वयं औषध एवं पथ्य-सेवन करना पड़ता है। वैसे ही भवरोगके रोगी मुमुक्षुको ब्रह्मज्ञानरूपी औषध एवं विषय-त्यागरूपी वैराग्य पथ्यका स्वयं ही सेवन करना पड़ता है।

२५. आत्मा किसी भी प्रमाणका विषय नहीं है और आत्मा ज्ञानस्वरूप है, अतः वह समस्त आकारों, विकारों, संस्कारों, प्रकारोंका साक्षी है। आत्मामें ज्ञातापना और ज्ञेयपना दोनों ज्ञानके विकार हैं। शुद्ध ज्ञान वह है जिसके पीछे न 'अहम्' है और न सामने 'इदम्' है। वह अखण्ड ज्ञान-स्वरूप है।

२६. आदमी 'इदम्'-भावमें इतना नहीं फँसता जितना 'अहं'-भावमें। असलमें आदमी अपने 'मैं' से हिप्नोटाइज्ड हो जाता है। 'मैं

ऐसा हूँ, मैं ऐसा हूँ' 'मैं यह था, मैं यह हूँ'—यह ज्ञान ही तकलीफ़ देता है। यहके साथ मिलकर अभिमानी बनना—यही अध्यास सब तकलीफोंकी जड़ है। 'मैं'के साथ चीज़ जुड़ी और (अभिमान से) अन्धे हुए।

२७. ज्ञानका सम्पूर्ण विषय जो कुछ भी है, होगा, हो सकता है वह सब द्वैत है। जो ज्ञानस्वरूप है वह अद्वैत है, उसमें ज्ञाता-ज्ञेयका द्वैत और ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयका त्रैत सब मिथ्या हैं।

२८. बाहर कर्म करते हैं। कर्म करते-करते कामना पैदा हो जाती है। पहलेसे कर्म-संस्कार बैठे हुए हैं। वे ही उदय होकर कर्म करा देते हैं। कामनासे कर्म और कर्मसे फिर कामना—यह हुआ संसार। इस संसारके मूलमें अविद्या है। इस अविद्यासे हमने अपने आपको मिला दिया और भ्रममें पड़ गये कि यह काम हम और यह कर्म हमारा। यह भ्रम कहाँसे आया ? अपनेको (ब्रह्म) न जाननेसे आया। अविद्या है मूल, उससे कामना, उससे कर्म और उससे फिर पुनः चक्र ! अविद्या, कामना और कर्मका यह पाश है जिससे जीव बँधा है। कबसे बँधा है ? अनादि कालीन फन्दा है यह ! यदि हम स्वयं ही इसको नहीं छोड़ेंगे, नहीं काटेंगे तो और कौन काटेगा ? यदि इसको जन्मान्तरके लिए टालते रहोगे तो करोड़ों-अरबों जन्म लेकर भी बिना स्वयं पुरुषार्थ किये इसको नहीं काट सकते ! देवता लोग तो तुम्हारी सहायता नहीं करेंगे, उल्टे इस प्रयासमें विघ्न डालेंगे क्योंकि वे जानते हैं कि यदि उन्होंने सहायता की तो एक दिन यह हमारे सिर पर पाँव रखकर हमसे भी बड़ा हो जायेगा ! जब तुम स्वयं चाहोगे कि 'हम शुद्ध-बुद्ध-मुक्त अपनेको अनुभव करें' तब तुम छूट सकते हो।

२९. 'गुरुजी मुक्त कर देंगे, इष्ट मुक्त कर देंगे' इन सबमें पराधीनता है। पराधीनता मुक्ति नहीं है। श्रद्धाके लिए बात ठीक है। किन्तु गुरुजी योग्य अधिकारीको ही मुक्त कर सकते हैं। वे तो तुम्हारी मदद कर सकते हैं, बन्धन काटना तो तुम्हींको पड़ेगा। जिसको बँधे रहना ही पसन्द है, उसको कौन मुक्त कर सकता है ?

३०. योग, कर्म और उपासनासे प्राप्त होनेवाली मुक्ति जेलसे 'पैरोल' पर छूटनेके समान है। सांख्यकी मुक्ति 'चोर यह है, मैं नहीं हूँ' इस प्रकारका ज्ञान है। वेदान्तसे जो मुक्ति है वह अपना सहज स्वरूप है, बस अपनेमें जो-जो बन्धन मान लिये हैं, नासमझीसे, अज्ञानसे, उनकी निवृत्ति

ही इष्ट है। अविद्या-निवृत्तिसे उपलक्षित आत्माका नाम ही ब्रह्म है, वही मोक्ष है। जब आप अपने आत्माको अद्वितीय जानेंगे तब मोक्षकी सिद्धि होगी। उसके पहिले दूसरा कोई साक्षात्साधन मोक्षका नहीं है। मोक्षके परम्परा-साधन सब हैं।[४]

३१. ब्रह्मात्मैक्य-बोध वेदान्तके दृष्टान्त, चुटकुले, कहानी, सुनने-सुनानेसे नहीं होता। वे तो हमारे मनोरंजन मात्रका ही साधन बनते हैं! ब्रह्मात्मैक्य-बोधके लिए गम्भीर दार्शनिक विचार चाहिए। परन्तु विद्वान् होना, व्याख्यानमें कुशल होना, दूसरी चीज है और ऐसा विचारक होना जिससे मुक्ति मिलती है, यह दूसरी चीज है। तुम्हारा वैदुष्य तुम्हें अच्छा भोग तो दे सकता है परन्तु वह मोक्ष नहीं दे सकता, क्योंकि वैदुष्य अहंकारके आश्रित रहता है और अहंकारको बढ़ाता है।

३२. श्रीशंकराचार्य भगवान्‌ने कहा कि "यदि परम तत्त्वका विज्ञान प्राप्त नहीं हुआ तो तुम्हारा शास्त्राध्ययन निष्फल रहा। और यदि परम तत्त्वको जान लिया तो भी शास्त्राध्ययन निष्फल ही है, क्योंकि शास्त्राध्ययनका प्रयोजन तो पूरा हो ही गया।"[५]

शास्त्र तो शब्दोंका एक महाजंगल है। इतने मार्ग, इतने रास्ते, इतनी चीजें, इतनी गतिविधियाँ और इतने साधन हैं कि उसमें आदमीका चित्त भटक जाता है। परन्तु यदि कोई तत्त्वज्ञानी महापुरुषका पथ-प्रदर्शन प्राप्त हो जाय तो इस जंगलमें भटकनेसे बचा जा सकता है। श्रीउड़िया बाबाजी महाराज बोलते थे: 'भटक जाओगे, मत पड़ो रे मन शास्त्र जंगले।'

३३. श्रीउड़िया बाबाजी महाराजसे किसीने पूछा—'महाराज, ईश्वरका क्या स्वरूप है?'

बाबा—'तुम अपने स्वरूपको जानते हो?'

वह—'नहीं, महाराज।'

बाबा—'साढ़े तीन हाथके शरीरके भीतर रहनेवाले अपने 'मैं' को तुम नहीं जानते, तो कोटि-कोटि ब्रह्माण्डोंमें रहनेवालेको जाननेकी बात करना हिमाकत है।'

---

४. न कर्मणा न प्रजया धनेन त्यागेनैके अमृतत्वमानशुः।

(तैत्ति० आरण्यक १०.१०)

५. अविज्ञाते परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला।
विज्ञातेऽपि परे तत्त्वे शास्त्राधीतिस्तु निष्फला॥ (वि० चू० ६१)

इसलिए पहले अपने स्वरूपको जानो। कैसे जानेंगे इसे ? दीयेकी लौ-से लौ जलती है। आप यदि सचमुचमें कलेजेके भीतर ज्ञानकी लौ जलाना चाहते हैं तो किसी ज्ञानीके हृदयसे, जिसमें ज्ञानकी लौ जलती हो, उसके दिलसे अपना दिल मिला दीजिये। उससे मतभेद मत कीजिये। उसकी रायको समझिये। अनुकूल दिशामें सोचिये।

३४. आप उतने ही शब्द सीखिये जिनसे आपके अज्ञानपर चोट लगे और वह टूट-फूट जाय, चूर-चूर हो जाय। अधिक शास्त्राभ्यास वाणीका विग्लापनमात्र ही है :

नानुध्यायात् बहून् शब्दान् वाचो विग्लापनं हि तत्।

(बृहदा० ४.४.२१)

देहवासना, लोकवासना और शास्त्रवासना तीनों ज्ञानमें रुकावट डालती हैं। ये अड़चनें हैं, प्रतिबन्ध हैं।

३५. औषध माने जो शरीरके दोषोंको छुड़ा दे। परन्तु औषध होनी चाहिए रोगके अनुसार और उसमें भी रोगीके अधिकारका ख्याल करके औषधका सेवन करना-कराना चाहिए। इसके अलवा औषध रोगीके द्वारा खायी जानी चाहिए। तभी कहीं जाकर रोग दूर हो सकेगा। यह नियम है। इसी प्रकार जहाँ रोग है अज्ञान, जिसके लक्षण हैं—बन्धन, भय और दुःख। रोगी है अन्तःकरणवान् अज्ञानी किन्तु शुद्ध बुद्धिवाला मुमुक्षु। वहाँ उसके लिए एकमात्र औषध है 'ब्रह्मज्ञान' परन्तु केवल 'ब्रह्म-ब्रह्म' रटने मात्रसे मोक्ष सिद्ध नहीं हो सकता।

यह ब्रह्म स्वर्गमें नहीं रहता कि आप उसपर श्रद्धा करें। यह ब्रह्म पातालमें भी नहीं रहता कि शेषके रूपमें उसके सिरपर सहस्रफण होते हों। न वह इन्द्रके समान स्वर्गका राजा है कि अमृतपान करता है। ब्रह्म एक ऐसी वस्तु है जिससे अलग अगर तुम होओगे तो वह ब्रह्म नहीं रहेगा, वह तुम्हारा खिलौना हो जायेगा। तुमसे अलग होकर ब्रह्म जड़ हो जायेगा, बेहोश हो जायेगा। ब्रह्मसे अलग होकर तुम टुकड़े हो जाओगे, परिच्छिन्न हो जाओगे, कट-पिट जाओगे।

ब्रह्मज्ञानका जो औषध है वह न तो नरक-स्वर्गके समान श्रद्धा करनेका है और न वैकुण्ठमें ऊपर सातवें आसमानमें जानेका है। मरनेके बाद ब्रह्मका अनुभव नहीं होता, इसी जीवनमें होता है। वह परोक्षपर विश्वास नहीं है, अपरोक्ष अनुभव है।

३६. 'प्रत्यक्ष' माने इन्द्रियोंके सम्मुख जैसे यह घड़ी। 'परोक्ष' माने जो इन्द्रियोंके सम्मुख तो न हो परन्तु जिसके होनेमें अन्य प्रमाण हो, जैसे स्वर्ग। 'अपरोक्ष' माने जो घड़ीके समान तो प्रत्यक्ष न हो और स्वर्गके समान परोक्ष न हो जैसे आँख-इन्द्रिय स्वयं। आँख है अपरोक्ष, स्वर्ग है परोक्ष और घड़ी है प्रत्यक्ष। काम-क्रोधादिक विकार भी जो मनमें होते हैं अपरोक्ष ही हैं। निद्रा, सुख-दुःख सब अपरोक्ष पदार्थ हैं।

और हम क्या हैं ? हमें देखनेके लिए न आँखकी जरूरत है न चामकी। यह नींदकी तरह न आता-जाता है। हम साक्षात्-अपरोक्ष हैं। जो अपरोक्ष है परन्तु वृत्तिकाल-पर्यन्त रहता है वह केवल अपरोक्ष कहलाता है और वृत्तिके अभावमें भी उस अभावके साक्षीके रूपमें विद्यमान रहता है, वह साक्षात् अपरोक्ष कहलाता है। साक्षात् अपरोक्ष हम स्वयं अनुभवस्वरूप आत्मा हैं और उसका कोई संकोचक नहीं है, इसलिए हम ब्रह्म हैं।

यह ब्रह्मज्ञान श्रद्धा करनेके लिए, जप करनेके लिए, स्मरण करनेके लिए नहीं है। यह तो जितने ज्ञान अनुभवमें आ रहे हैं उनमें जो एक ज्ञान है उसके अनुभवके लिए हैं। यह घड़ी है, यह किताब है, यह लाउड-स्पीकर है, यह स्त्री है, यह पुरुष है,—ये चीजें अलग-अलग हुईं परन्तु उनमें ज्ञान नामकी वस्तु एक है। आदमी दीख रहे हैं तीन सौ, परन्तु आँख एक है ; आँखें हैं दो, परन्तु मन एक है ; मनकी वृत्तियाँ हैं अनेक और वे बदलने वाली हैं, किन्तु उनका साक्षी मैं हूँ एक, अपरिवर्तनशील। यह है अपरोक्षानुभव।

३७. वेदान्तमें भी विश्वास करना पड़ता है। विश्वास दो तरहका होता है। धर्मादिका विश्वास ऐसा होता है जो मृत्युपर्यन्त विश्वास ही रहता है ; उसकी सच्चाईका अनुभव मृत्युके बाद होता है। किन्तु एक विश्वास ऐसा होता है जिसका अनुभव इसी जीवनमें हो जाता है। अनुभवी आप्त पुरुषोंके ईश्वर-विषयक वचनोंपर विश्वास ऐसा ही विश्वास है। यहाँ विश्वास और अनुभवमें फरक नहीं है क्योंकि यह दूसरे पर विश्वास नहीं है। यह अपने बारेमें ही विश्वास नहीं, अनुभव है।

आपके हृदयमें परमानन्दरूपी खजाना गड़ा है। महापुरुषोंकी इस बात पर विश्वास कीजिये। इस खजानेका नाम है ब्रह्म। परन्तु यह

ब्रह्मजी किसीके हुकुमसे बाहर निकलनेवाले नहीं हैं। इसको प्राप्त करनेके लिए आप सद्‌गुरुसे पथ-प्रदर्शन लीजिये और अपने हृदयमें प्रवेश कीजिये, उस खजानेपर जो पर्दे हैं, आवरण हैं, उनको आप फेंक दीजिये और दृढ़ निश्चय-पूर्वक यह बोध प्राप्त कर लीजिये कि 'यह तो अपना आपा ही है।' बस, लो मिल गया परमानन्द !

३८. आत्मापर आवरण क्या है? असलियत यह है कि आत्मापर कोई आवरण नहीं है। वह तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त ब्रह्म ही है। परन्तु बहुत सारी बातें आपके मनमें बिना सोचे-समझे बिठा दी गयीं हैं साँपको भगानेके लिए आपके मनमें नेवलाको लाकर बैठा दिया गया है। पंचतन्त्रकी यह कहानी आपने सुनी होगी।

एक पेड़पर बहुत-सी चिड़ियाँ रहती थीं। उस पेड़के नीचे एक साँप रहता था। वह चिड़ियोंके अण्डे-बच्चे खा जाता था। चिड़ियोंकी पंचायत हुई। उन्होंने तय किया कि 'साँपको मारनेके लिए नेवला बुलाया जाय।' नेवला आगया। नेवलेको देखकर साँप तो भाग गया किन्तु नेवला वहीं रह गया। अब वही नेवला चिड़ियोंके अण्डे-बच्चोंको खाने लगा। **भक्षितेऽपि लशुने न शान्तो व्याधिः।** एक तो लहसुन खाया और रोग भी नहीं मिटा! नेवला तो आगया पर अण्डे-बच्चे बचे नहीं।

इसी प्रकार देहाभिमानको छुड़ानेके लिए शास्त्रोंने, बहुत सारे उपाय बताये, परन्तु एक गया, दूसरा आता रहा। रोग बढ़ता गया ज्यो-ज्यों दवा की!

श्रुति-पुराण बहु कियो उपाई। छूट न ग्रन्थि अधिक उरझाई।।

आपको चाहिए था सुख। किसीने कह दिया कि विषय-उपार्जन करो तो भोग-सुख मिलेगा। अब विषयोंका उपार्जन किया, भोग-सुख तो मिला किन्तु 'मैं विषयी और विषयोंका भोग करके मैं सुखी होऊँगा' यह संस्कार शेष रह गया। अब भोग-सुखमें भी होड़ लगी। प्रजाके भोगसे कम सुखी, राजाके भोगसे अधिक सुखी, इन्द्रके भोगसे और अधिक सुखी! न जाने किस अशुभ मूहूर्तमें हमें भोक्ता बनाया गया और हम भोक्ता बन गये। इसीका नाम पाप है। गाली देनेका, किसीको मारनेका, किसीका माल लेनेका नाम 'पाप' है, यह तो आप जानते हो परन्तु 'हम भोगी हैं ऐसा

अपनेको माननेका नाम भी 'पाप' है, यह आपके दिमागसे निकल गया। हम भोक्ता हैं—यह पराधीनताका पाप ही हमारा आवरण बन गया।

हमें नहीं मालूम, कब अनजानमें हमने अपने आपको कर्ता मान लिया? हम कर्मके पराधीन हो गये। 'कर्म नहीं करेंगे तो हम बन्धनसे नहीं छूटेंगे'—यह ग्रन्थि बन गयी। और ज्यों-ज्यों बन्धनसे छूटनेके लिए कर्म करते गये त्यों-त्यों रेशमके कीड़ेकी तरह फँसते चले गये। यह अपनेको कर्ता मानना 'पाप' है।

कर्तापन-भोक्तापन पाप है। अपनेको जन्मने-मरनेवाला मानना पाप है, जन्म-जन्मान्तरमें लोक-लोकान्तरमें भटकनेवाला मानना पाप है।

यह पाप है, वह पाप है—यह तो आपको सिखाया गया परन्तु 'मैं पापी हूँ' यह मानना भी पाप है, यह नहीं सिखाया गया। पर्दे-पर-पर्दे पड़ते गये। एक नासमझी-रूपी सर्पको भगानेके लिए नेवलारूप दूसरी समझको लाया गया, दूसरीको हटानेको तीसरी और तीसरेको हटानेको चौथा नेवला आया परन्तु हर बार साँप मर गया, नेवला वहीं रह गया। अरे! आप न कर्ता हैं, न भोक्ता हैं, न संसारी हैं, न परिच्छिन्न हैं। आप टुकड़े नहीं हैं, कतरा नहीं हैं दरिया हैं; बिन्दु नहीं हैं सिन्धु हैं:

बिन्दुमें सिन्धु समाहि सुनि कोविद रचना करें।
हेरनहार हिरान, रहिमन आपुनि आपमें॥

आप कोई साधारण वस्तु नहीं हैं। परन्तु आपने इस अपने आपके परमानन्दरूपी खजानेपरसे अपना हक छोड़ दिया! बड़ोंपर विश्वास नहीं किया, ज्ञानके लिए प्रयत्न नहीं किया, आवरणका भंग नहीं किया, इसको अपना आपा नहीं समझा। केवल मुक्तिकी चर्चा करनेसे मुक्ति नहीं मिलती।

आत्म-तत्त्वको समझानेके लिए कुछ अध्यारोप किये शास्त्रने। उसी शास्त्रको हमने सच्चा समझ लिया। तब उसके अपवादके लिए और शास्त्र बने। जितना-जितना अध्यारोप बढ़ता गया, अपवादके शास्त्रोंकी भी संख्या बढ़ती गयी। परन्तु ब्रह्मज्ञानमें समझना यह है कि समस्त अध्यारोपों और उनके अपवादोंका जो साक्षी-अधिष्ठान है, वह स्वयं ही है।

इसलिए आप अपने पूरे सामर्थ्य, विवेक और बलका प्रयोग करके अपने इस अज्ञान शत्रुका नाश कर डालिये।

३९. अपने बन्धनका वर्गीकरण कर लीलिये :—

(१) आपको दुःखका बन्धन है। आप नहीं चाहते कि दुःख आवे परन्तु वह आता है और आप उसे मजबूर होकर भोगते हैं। अब यदि भोगनेमें मज़ा आता है तब तो वह दुःख दुःख ही नहीं मालूम पड़ेगा, फिर उसका बन्धन कहाँ होगा ? यदि आपको गुरुकी पराधीनतामें दुःख और 'महबूबा'की पराधीनतामें मज़ा आता है तो आप वहीं बँधे रहेंगे। बँधे रहिये। करोड़ कल्पतक आप मुक्तिका तिस्कार कीजिये कि हमें नहीं चाहिए मुक्ति, हम तो अपनी महबूबाके बन्धनमें रहेंगे ! ऐसा व्यक्ति तो जिज्ञासु नहीं है। वह संसारी है। उसे भटकने दो, लटकने दो संसारमें।

(२) आपका दूसरा बन्धन है जड़ताका। संसारकी जड़ वस्तुओंके साथ आप बँध गये हैं। मज़ेकी बात यह है कि आप हैं असंग-चेतन और मानते हैं कि जड़ संसारने आपको बाँध लिया है। भला जड़ चेतनको कैसे बाँध सकता है ? और भला असंग चेतन जड़के साथ कैसे बँध सकता है ? जड़-चेतनकी गाँठ एक भ्रमके अतिरिक्त कुछ नहीं है। यदि किसी कक्षामें बन्धन मानना ही है तो चेतनने ही जड़को अपनेसे सटाया है और वही स्वयं इसे हटा भी सकता है।

(३) दुःखका दुःख मालूम नहीं पड़ना—यह बड़ा भारी बन्धन है। इसमें तो मोक्षका दरवाजा ही बन्द हो जाता है।

(४) आपको 'अभाव' का बन्धन है। आप चाहते हैं कि दुःख हो कि न हो, वह हमको मालूम न पड़े। यह शतुर्मुर्गी विचार है। अभान, बेहोशी, इनसे उत्पन्न जो दुःखनिवृत्ति है वह मोक्ष नहीं; स्वयं एक घोर बन्धन है।

(५) आपको अपने संग्रह-परिग्रह-परिवारका बन्धन है। बन्धु + धन= बन्धन। यह फ़कीरी अर्थ है 'बन्धन'का।

(६) निर्विकल्प समाधि अथवा निर्भ्रम अद्वैत। योग-दर्शनमें जो निर्विकल्प समाधि है वह दूसरी है और वेदान्तमें इसका अर्थ दूसरा होता है। विकल्प माने दुविधा, द्वैत। अतः निर्विकल्पका अर्थ है संशयरहित, निर्भ्रम। योग-दर्शनमें 'निर्विकल्प-समाधि' माने होता है : सम्पूर्ण चित्तवृत्तियोंका विकल्परहित (बीजरहित) निरोध। परन्तु वेदान्तमें इसका यह अर्थ नहीं

है। वेदान्तमें निर्विकल्प-समाधिका अर्थ है: अद्वैत-बोधसे द्वैतका भस्मीभूत होनेका असंदिग्ध भाव। जैसे रस्सीके जल जाने पर भी उसकी ऐंठन प्रतीत होती रहती है, उसी प्रकार जिस क्षण तत्त्वज्ञान होता है उसी क्षण तत्त्वज्ञानीका यह शरीर और शरीर सहित सम्पूर्ण प्रपंच राखका ढेर हो जाता है। लेकिन किसी अनिर्वचनीय शक्तिसे (चाहे आप उसका कुछ भी नाम दें प्रारब्ध, ईश्वरका संकल्प या और कुछ) इस शरीरादिका आकार-प्रकार ज्यों-का-त्यों दीखता रहता है, ठीक अर्जुनके रथकी तरह जो कर्णके बाणोंसे तत्काल हो जल चुका था परन्तु श्रीकृष्णके संकल्पसे वह महाभारत समाप्ति-पर्यन्त ज्यों-का-त्यों दिखता रहा था।

(७) जीवन-मुक्तिका विलक्षण सुख। जब निर्विकल्प परमतत्त्वकी अनुभूति हो गयी, उसके बाद ज्ञानीका जो जीवन दग्धपट या जली हुई रस्सीके समान शेष रहता है, उसमें मोक्ष-सुखका अनुभव होता है। यही परमानन्द है।

संसार दुःखरूप है, यह अज्ञान-दशामें मालूम पड़ता है। संसारका भान नहीं हो रहा है, यह भी अज्ञान-दशामें ही मालूम पड़ता है; क्योंकि भान अपना स्वरूप है, उसका लोप करना या होना अज्ञान ही है। संसारकी प्रवाहरूपताको स्वीकार करना भी अज्ञान है। 'हम हैं और हममें संसारका भान हो रहा है फिर भी हममें कर्तृत्व, भोक्तृत्व, परिच्छिन्नत्व, संसारित्वकी कल्पना उदय नहीं होती, हमारे स्वरूपानन्द, स्वरूपस्थितिका कहीं कभी कोई भेदक या छेदक नहीं है'—बस यही जीवन-मुक्तिका विलक्षण सुख है। यही मोक्ष-सुख है।

वेदान्त आपको स्वर्गमें, वैकुण्ठमें या समाधिमें ले जानेके लिए नहीं है। अगले जन्ममें हम महात्मा हो जायँ इसके लिए भी वेदान्त नहीं है। इसी धरती पर, इसी जीवनमें, इसी शरीरमें, इसी समय, इसी स्थानमें जहाँ आप अभी बैठे हो, आपको निर्वाण-सुख प्राप्त हो, इसके लिए वेदान्त है।

ब्रह्मज्ञानीकी यह महिमा है कि उसकी कर्म करनेसे या न करनेसे कोई उन्नति-अवनति नहीं होती : **एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्** (बृहदा० ४.४.२३) **जक्षन् क्रीडन् रममाणः** (छान्दोग्य० ८.१२.३)। राजाके शरीरमें बैठकर वही खा रहा है। इन्द्रके

शरीरमें बैठकर वही स्वर्गके भोगोंको भोग रहा है। स्त्रियोंके साथ वही विहार कर रहा है। एकके ज्ञानसे सर्वका विज्ञान। उसके लिए कुछ अज्ञात नहीं रहा। वह सर्वाधिपति है, सर्वभोक्ता है। अब वह किसीका भी विधिकिंकर नहीं रहा—न वेदका, न धर्मका, न लोकका, न उपासनाका। सब पशुत्वोंसे उसकी निवृत्ति हो गयी। यही मोक्ष है।

अतः आइये अब ब्रह्म-विचार करें। ●

अध्याय–७

अध्यास-निरूपण

(१)

१. अध्यासकी स्थापना

अद्वैत वेदान्तके विचारका मूलभूत आधार है 'अध्यास'। अतः ब्रह्मात्मैक्य-विचारसे पूर्व अध्यासका स्पष्ट रूप जानना आवश्यक है। अध्यासके आधार पर ही ब्रह्म या आत्मामें भ्रान्ति अथवा अज्ञानकी सिद्धि हो सकती है, अन्यथा नहीं। यदि अज्ञान ही सिद्ध न हो तो ज्ञानसे मोक्षकी भी सिद्धि नहीं हो सकती और ब्रह्मविचारकी आवश्यकता भी नहीं होगी। 'ब्रह्मसूत्र-भाष्य'के प्रारम्भमें भाष्यकार भगवान् श्रीशंकराचार्यजी महाराजने अध्यास-भाष्यका वैदुष्यपूर्ण शैलीमें प्रवर्तन किया है। उसीके आधारपर प्रस्तुत अध्यायमें अध्यासके तत्त्वकी संक्षिप्त मीमांसा प्रस्तुत की जाती है।[१]

'अध्यास' शब्दका अर्थ है : अन्यके ऊपर अन्यका आरोप। अधि = ऊपर, अन्यके ऊपर; आस=आरोप, अन्यका आरोप। इस प्रकार किसीके ऊपर अन्य किसीके गुण-धर्मोंका आरोप 'अध्यास' कहलाता है। सृष्टिमें जितना भी नैसर्गिक लोक-व्यवहार है उसका आधार यह अध्यास ही है, यद्यपि यह अध्यास अज्ञानजन्य है। यथार्थके बोधसे अज्ञान और तज्जनन्य अध्यासकी निवृत्ति हो जाती है। कैसे ? यही समझना है।

सम्पूर्ण लोक-व्यवहारका मूल है व्यवहारकर्ता और इसीका स्वरूप आध्यासिक है। प्रतीतिकी दो कोटियाँ अनुभवमें आती हैं : एक विषय और दूसरा विषयी। विषय 'इदं'–प्रत्ययगोचर है तो विषयी 'अहं'-प्रत्यय-गोचर। यह, वह, तू-के रूपमें जो कुछ भी जाना जाता है वह सब विषय है और मैं-के रूपमें जो अनुभव होता है वह विषयी है। विषय प्रत्यक्ष होता है घटपटादिके समान, परोक्ष होता है स्वर्गादिके समान, अपरोक्ष

---

१. विशेष प्रकाशके लिए पूज्य महराजश्री-कृत ब्रह्मसूत्र-प्रवचन,-भाग १ देखे।

होता है मनमें आये विकारादिके समान। प्रत्यक्ष इदं-वाच्य है। परोक्ष वह-वाच्य है। अपरोक्ष भी अन्यरूपमें ही अनुभवमें आता है अतः वह भी इदं-वाच्य ही है। तू-वाच्य जो अपने सम्मुख अन्य जीव हैं वे भी अहं-से पृथक् ही प्रतीत होते हैं, यहाँ तक कि मनुष्यको इदं-रूपसे अनुभवमें आनेवाले अपने शरीरमें तो अहं-भाव और मम-भाव हो भी जाता है किन्तु तू-वाच्य अन्य जीवोंमें अहं-मम भाव या तो होता ही नहीं और होता भी है तो मोहवश और अत्यन्त अदृढ़। विषय अनेक होते हैं, उनका भाव और अभाव दोनों मालूम पड़ते हैं; किन्तु इनका अनुभव करनेवाला, जिसको यह सब मालूम पड़ता है, वह विषयी एक ही होता है। दूसरे शब्दोंमें विषय दृश्य हैं, विषयी द्रष्टा है। दृश्य अनेक, परिवर्तनशील और जड़ होते हैं जबकि द्रष्टा एक, अपरिवर्तनशील एवं चेतन होता है। दृश्य द्रष्टाके सापेक्ष हैं जबकि द्रष्टा दृश्यके निरपेक्ष है क्योंकि वह दृश्यके भाव और अभाव दोनोंका द्रष्टा है। दृश्यका अभाव अनुभवमें आ सकता है किन्तु अपना अभाव कोई भी अनुभव नहीं कर सकता। अतः दृश्य अनित्य भी है और द्रष्टा नित्य है। इस प्रकार द्रष्टा और दृश्य, विषयी और विषय, दोनों परस्पर अत्यन्त विरुद्ध धर्मवाले हैं—प्रकाश और अंधकारके समान। तथापि इन दोनोंका अध्यास करके ही सम्पूर्ण नैसर्गिक लोक-व्यवहारमें प्रवृत्ति होती है।

'मैं मनुष्य हूँ' इस ज्ञानमें पंचभूतोंमें कल्पित मनुष्याकृतिके साथ अध्यास अर्थात् तादात्म्य करके "मैं मनुष्य हूँ" यह आध्यासिक ज्ञान होता है और हमारे सारे व्यवहार इस 'मनुष्योऽहं-ज्ञान'की स्वीकृतिके पश्चात् ही निष्पन्न होते हैं। कर्मेन्द्रियोंमें अहं-मम-भाव किये बिना द्रष्टा अपनेको कर्ता कैसे अनुभव कर सकता है? अपने मन और ज्ञानेन्द्रियोंके साथ तादात्म्य किये बिना अपनेको भोक्ता अथवा ज्ञाता-प्रमाता कैसे अनुभव कर सकता है? अर्थात् नहीं कर सकता। इस प्रकार देह, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण तथा इन्हींसे सम्बन्धित धन, स्त्री-पुत्रादिके साथ तादात्म्य करके ही लोक-व्यवहारके आधारभूत अहं-मम भावकी सिद्धि होती है, फिर उसीसे सारा व्यवहार चलता है। ऐसा होने पर भी यह तादात्म्य मिथ्या है।

तादात्म्य माने 'अनात्माको आत्मा स्वीकार कर लेना' अथवा 'आत्माका अनात्माके साथ एक हो जाना।' यही 'अध्यास' है।

प्रश्न : यदि विषय और विषयी, अनात्मा और आत्मा, दृश्य और द्रष्टा अन्धकार और प्रकाशकी भाँति विरुद्ध स्वरूप और स्वभाववाले हैं, तो उनका परस्पर अध्यास हो ही कैसे सकता है ? भला अनेक और एकका, जड़ और चेतनका, अनित्य और नित्यका अध्यास कैसे संभव हो सकता है ?

उत्तर : हम भी यही कहते हैं कि नहीं होना चाहिए। किन्तु होता है, यह स्पष्ट है। और यही सब दुःखों एवं अनर्थोंका मूल है, यह भी अनु भूत है। ऐसी स्थितिमें इसका कारण तो खोजना ही चाहिए। यह जो दोनोंके (विषय और विषयीके) स्वरूपका ठीक विवेक नहीं होना है, यही अविवेक, अविद्या, इसका कारण है। इसी अविवेकके कारण विषय और विषयीके अत्यन्त भिन्न धर्मों और धर्मियोंका एक दूसरेमें अध्यास सम्भव हो जाता है।

२. जड़ और चेतन

यहाँ कुछ प्रारम्भिक बातें स्पष्ट कर लेनी चाहिए। (१) इनमें **पहली बात** है जड़ और चेतनकी। विषय जड़ है, विषयी चेतन है। जो वस्तु अपनेको भी जाने और दूसरेको भी जाने, उसे **चेतन** कहते हैं। किन्तु जो न अपनेको जाने और न दूसरेको, वह **जड़** कहलाती है। चेतन स्वयं प्रकाश है और जड़ पर-प्रकाश्य। दृश्यता जड़ता है, द्रष्टृत्व चेतनता है। दृश्य जड़ है, द्रष्टा चेतन है। वेदान्तमें चेतनका धर्म गति और जड़का अगति, ऐसा नहीं है। अथवा जो इन्द्रियवाला सो चेतन और जो निरिन्द्रिय हो वह जड़, ऐसा भी नहीं है। गति-अगति, सेन्द्रियत्व, निरिन्द्रयत्व सब दृश्य होनेसे जड़-पक्षमें ही हैं और इनका जो द्रष्टा है वह चेतन है। विषय जड़ हैं दृश्य होनेसे, विषयी चेतन है। द्रष्टा होनेसे।

चेतनका स्वरूप प्रकाश है या चेतन प्रकाशगुणवाला है? प्रकाश अर्थात् 'ज्ञान' चेतनका स्वरूप ही है, गुण नहीं है। वृत्तिकी उपाधिसे उसको प्रकाशक या ज्ञाता कहा जाता है। चेतनका लक्षण है: **अवेद्यत्वे सति अपरोक्षत्वम्**। अर्थात् जो कभी संवेद्य नहीं होता माने ज्ञेय या दृश्य नहीं होता, किन्तु फिर भी अपरोक्ष रहता है, वह चेतन है। इस लक्षणसे प्रत्येक व्यक्तिका 'अहं' ही चेतन ठहरता है। 'अहं' सबका द्रष्टा है, कभी किसीका दृश्य नहीं होता और 'मैं नहीं हूँ'—इस अनुभवके शक्य न होनेके

कारण अहं सबको नित्य अपरोक्ष भी है। विषयके प्रकाशक होनेसे इसी 'अहं' का नाम विषयी होता है।

३. उपाधि और विशेषण

२. दूसरी बात है **'उपाधि'** और **'विशेषण'** की। **'उप' समीपे स्थित्वा 'आधिम्'-आधानं, स्वगुणस्य-स्वधर्मस्य अन्यस्मिन् आधानं-उपाधिः।** जो किसी दूसरी वस्तुके समीप रहकर उसमें अपने गुण-धर्मका आधान अथवा अध्यारोप करके उसको दूसरी वस्तुओंसे पृथक् बोध कराये उसको उस वस्तुकी **उपाधि** कहते हैं; तथा (अध्यारोपितरूपमें) उस वस्तुको उस उपाधि द्वारा **उपहित** कहा जाता है। उपहितके स्वरूपमें उपाधिका प्रवेश नहीं होता, भले वहाँ वैसा प्रतीत होता हो। उदाहरणार्थ, आकाशमें घट द्वारा जिस आकाश-खण्डका बोध होता है वहाँ घट उपाधि है और घटकाश उपहित है। इसी प्रकार मठ उपाधि है और मठाकाश उपहित है घटाकाश और मठाकाशके जितने भेद प्रतीत होते हैं वे सब घट और मठ उपाधियोंके भेद हैं, अतः आकाशके सारे भेद औपाधिक हैं और आकाशके स्वरूपकी दृष्टिसे वे सब नामधेय हैं वास्तविक नहीं। घट या मठका आकाशके स्वरूपमें प्रवेश न होनेसे आकाश किसी प्रकार भी इनके गुण-धर्मोंसे लिप्त नहीं होता।

दूसरा उदाहरण है स्फटिक मणिका। मणिके पास रक्त, पीत, नील जैसा पुष्प रख दो, मणि उसी रंगकी दिखाई देने लगती। यहाँ स्फटिक मणिकी उपाधि रक्त पुष्प है और रक्तिम मणि उपहित। मणिमें रक्तिम वर्ण उपाधिका है, मणिका नहीं, अतः रक्तिम दीखनेपर भी मणि वर्णरहित ही रहती है।

उपाधिकी भाँति ही **विशेषण** है। वह भी अपने विशेष्यके निकट रहकर उसमें अपने गुणधर्मोंका आधान करके उसका अन्य विशेष्योंसे पृथकत्व-बोध कराता है, किन्तु विशेषणका विशेष्यके स्वरूपमें प्रवेश होता है, अतः विशिष्ट सर्वदा अपने विशेषणसे आवेष्टित रहता है। उदाहरणार्थ 'नीला कमल'में नीलापन कमलका विशेषण है और कमल नीलत्व-विशिष्ट है। नीलता 'लाल कमल'से भेद तो करती है परन्तु 'कमल' और 'नीलता'का अलगाव सम्भव नहीं है।

प्रश्न यह है कि चेतन आत्माका जो विषयी रूप है उसमें विषय आत्माकी उपाधि है या विशेषण ? विशेषण है, यह अविवेक दृष्टि है; उपाधि है यह विवेक है; और अपने अभावके अधिकरणमें प्रतीत होनेसे विषय मिथ्या है, यह बोध है। विषय, देह, प्राण, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार, सुख-दुःखादिके संस्कार—सब आत्माकी उपाधियाँ हैं। उसी-उसीसे वह विषयी, देही, कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता आदि प्रतीत होता है। परन्तु वे सब आत्माके औपाधिक स्वरूप हैं, अतः उन-उन रूपोंमें प्रतीत होते हुए भी वह वास्तवमें वैसा होता नहीं, निर्विकार, कूटस्थ ही रहता है। अतः नैसर्गिक लोक-व्यवहारका आधार होते हुए भी यह विषय-विषयीका अध्यास मिथ्या है। विषयको आत्माका विशेषण मानने पर ज्ञानसे इस अविद्या-चक्रसे मुक्ति संभव नहीं हो सकती। व्यवहारमें विषय-विषयीका आध्यासिक सम्बन्ध विशेषण-विशेष्यका मान भी लें, किन्तु वास्तवमें वह औपाधिक ही है। तभी उपाधिके द्रष्टा और अधिष्ठानकी एकतासे उपाधिके मिथ्यात्वका बोध संभव है, अन्यथा नहीं। देह-मन-इन्द्रियोंसे विशिष्ट चेतनको 'जीव' कहते हैं; वही व्यावहारिक दृष्टिसे बद्ध और मुक्त होता है—अविद्यासे बद्ध और विद्यासे मुक्त। किन्तु देह-मन-इन्द्रियोंसे उपहित आत्माका जो स्वरूप है, वह नित्य मुक्त ही है; अतः वहाँ अध्यास नित्य निवृत्त है।

४. विषय-ज्ञानकी प्रक्रिया

(३) विषयी विषयको कैसे जानता है ? चक्षु-आदिकी वृत्तिके द्वारा, केवल अन्तःकरणकी वृत्ति द्वारा अथवा सीधे साक्षीके द्वारा। तीनों दशाओंमें विषयी तो एक ही रहता है। जाग्रत्-अवस्थामें विषयी चक्षु-आदिकी वृत्ति द्वारा विषयको जानता है। स्वप्नावस्थामें वह केवल अन्तः-करणकी वृत्ति द्वारा जानता है। सुषुप्तिमें सबके अभावको सीधे ही जानता है। वृत्ति सहित आत्माका नाम ही वेदान्त-शास्त्रमें आभास है। अतः जाग्रत् और स्वप्नके विषयोंको हम **आभास-भास्य** कह सकते हैं तथा सुषुप्तिको **साक्षी-भास्य**। विषयी स्वयंमें जो वस्तु है वही स्वयं साक्षी हैं। वही सर्वावभासक स्वयं-प्रकाश है। साक्षी धर्मी नहीं होता तथापि उपाधिके कारण उसीको धर्मी कहा जाता है।

विषय इदं-प्रत्ययगोचर है तो विषयी अहं-प्रत्ययगोचर। परन्तु अहं जो है, वह शुद्ध साक्षी है। अहं सर्वप्रत्यय साक्षी है; वह अहं-प्रत्ययी नहीं,

अहं-प्रत्ययका साक्षी है। प्रत्यय तो सारे विषयके ही बनते हैं। वृत्तिमें विषयके प्रतिविम्बनका नाम प्रत्यय है। विषयके प्रत्ययोंके साथ तादात्म्यापन्न होकर ही साक्षी अहं-प्रत्ययका विषय बनता है। साक्षीका कोई प्रत्यय नहीं बन सकता। अहं बद्धः, अहं मुक्तः; अहं विद्वान्, अहं मनुष्यः इत्यादि जो अहंप्रत्यय हैं उनमें 'अहं' तो शुद्ध साक्षी है और बद्धता, मुक्तता आदिके प्रत्यय तत्तद् विषय-सम्बन्धी हैं। इस प्रकार समस्त अहं-प्रत्यय शुद्ध साक्षीके आध्यासिक स्वरूपका बोध कराते हैं।

विषयमें जब **वृत्ति-व्याप्ति** होती है, दूसरे शब्दोंमें जब वृत्ति विषयाकार होती है, तब विषयका ज्ञान और उस ज्ञानका अभिमान—ये दो परिणाम होते हैं। ज्ञानके अभिमानका नाम **फल-व्याप्ति** है और अभिमानीका नाम विषयी हो जाता है। सवृत्तिक होनेसे यह अभिमानी 'आभास' ही है और स्वरूपसे शुद्ध साक्षी है। विषय-ज्ञान इदं-प्रत्ययमूलक है और विषयीज्ञान अहं-प्रत्ययमूलक।

प्रत्यय सभी बाधित हो जाते हैं परन्तु सर्वप्रत्ययसाक्षी जो आत्मा है वह अबाधित सत्य है। जाग्रत्के प्रत्यय स्वप्नमें नहीं रहते, स्वप्नके सुषुप्तिमें नहीं रहते और सुषुप्ति स्वयं जाग्रत्में नहीं रहती। इस प्रकार इन प्रत्ययोंसे जाने जानेवाले जो विषय हैं वे भी व्यभिचारी भाव होनेसे बाधित हैं किन्तु जो विषयी है उसके ज्ञानस्वरूपका कभी व्यभिचार नहीं होता। अतः विषयी आत्मा अबाधित सत्य है।

आत्मा है, उसके न होनेका अनुभव कभी नहीं हो सकता, अतः आत्मा सत् है। 'मैं नहीं हूँ'—इसका अनुभव करनेवाला तो है ही। किन्तु 'विषय है और नहीं है'—यह अनुभव तो होता ही है। अतः विषय असत् हैं। आत्मा जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों अवस्थाओं और भूत-भविष्य-वर्त्तमान—तीनों कालोंमें एकरस विद्यमान रहता है, अतः आत्मा अबाधित है जबकि विषय बाधित हैं। जाननेवाला होनेसे आत्मा चेतन है और जाननेका विषय होनेसे विषय जड़ हैं। विषय, विषयी आत्माके लिए ही प्रिय हैं, विषयी विषयके लिए प्रिय नहीं होता। **आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति** (बृहदा० २.४.५) आत्माके लिए ही सब प्रिय होते हैं। अतः परमप्रिय होनेसे आत्मा आनन्दस्वरूप है और विषय दुःखरूप हैं। देश, काल, वस्तुसे परिच्छिन्न होनेके कारण विषय सान्त हैं और देश-काल-वस्तुका प्रकाशक होनेसे आत्मा अनन्त है।

इस प्रकार आत्मा (विषयी) अबाधित **सच्चिदानन्द अनन्त है और** विषय बाधित **असत्-जड़-दुःखरूप परिच्छिन्न हैं।** उनका मिथुनीकरण, परस्पर अध्यास संभव नहीं है किन्तु दोनोंके स्वरूपका ठीक-ठीक विवेक न होनेके कारण सत्य आत्मा और असत् विषयका परस्पर अध्यास हो जाता है और उनके धर्मोंका भी एक दूसरेमें व्यभिचार हो जाता है। इसीसे अहं-मम-रूप नैसर्गिक व्यवहार होता है।

५. अध्यासविषयक शंका-समाधान

प्रश्न : ज्ञानस्वरूप आत्मामें अज्ञान कहाँसे आगया ?

उत्तर : हम भी यही कहते हैं कि ज्ञानस्वरूप आत्मामें अज्ञान हो नहीं सकता। परन्तु 'अहं अज्ञः' (मैं अज्ञानी हूँ) यह भी तो सबकी स्पष्ट अनुभूति है। जब यह अज्ञान अपने स्वरूपमें हो नहीं सकता तो यह कहीं बाहरसे आया हुआ होना चाहिए। विषयीसे बाहर तो विषय ही है। अतः विषयकी जड़ता ही आत्मामें अज्ञानके रूपमें प्रतिबिम्बित होती है। विषयके धर्मका विषयीमें अध्यास, इसीका नाम अज्ञान है। यह अध्यास किसी सादृश्य या संसर्गके कारण नहीं है क्योंकि विषय और विषयी परस्पर-विरुद्ध स्वभाववाले हैं, अपितु यह **अयुक्त-स्थानीय-अध्यास** है। आत्मामें अज्ञान नहीं हो सकता और विषयमें ज्ञान नहीं हो सकता, फिर भी आत्मामें अज्ञान भासता है और विषयमें ज्ञान। इस अयुक्त-स्थानीय अध्यासका कारण मात्र अविवेक या भूल है। यदि कहो कि इस अविवेकका क्या कारण है तो वह भी अविवेक ही है अन्यथा **अनवस्था** प्राप्त होगी।

प्रश्न : ठीक है, यदि अविवेक ही अध्यासमें हेतु है, तो द्रष्टा-दृश्यके सांख्य-विवेकसे वह नष्ट हो जायेगा। वेदान्तके ब्रह्मविचारकी फिर भी आवश्यकता नहीं है।

उत्तर : सांख्य-विवेकमें क्योंकि सत्य-द्रष्टाका सत्य-दृश्यके साथ मिथुनीकरण होता है अतः वहाँ दो सत्योंका परस्पर विवेक है। किन्तु वेदान्तमें द्रष्टा सत्य है और दृश्य मिथ्या है अतः यहाँ सत्य और मिथ्याका विवेक है। एक बार सत्यका मिथ्यासे विवेक होने पर अयुक्त स्थानीय अध्यास सदैवके लिए निवृत्त हो जाता है; जबकि सांख्यमें दृश्य सत्य होनेके

कारण पुनः-पुनः अध्यासकी संभावना है। जब सत्य दो होते हैं तो दोनों परिच्छिन्न और अपूर्ण रहते हैं, अतः सांख्यमें अध्यास-निवृत्ति नहीं है। अतः ब्रह्मविचारकी सार्थकता है।

आत्मा सत् है इसलिए 'है और रहेगा'। विषय असत् हैं इसलिए वे 'नहीं हैं।' परन्तु लोग कहते हैं—विषय तो हैं और रहेंगे, बस हम नहीं रहेंगे। विषयमें जो अस्तित्व है वह आत्म-धर्म है। आत्मा स्वप्रकाश है इसलिए विषय भी प्रतीत होते हैं। आत्मा चित् है और विषय जड़ हैं, परन्तु लोग कहते हैं—विषय प्रतीत होते हैं इसलिए हैं, आत्मा प्रतीत नहीं होता इसलिए नहीं है। प्रतीत होना आत्म-धर्म है, विषय-धर्म नहीं है। **तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति** (कठ० २.२.१५) अर्थात् उसके प्रकाशित होनेपर ही सब प्रकाशित होते हैं।' आत्मा आनन्दरूप है और विषय दुःखरूप, परन्तु लोग कहते ही हैं—विषयोंमें सुख है। ये सब अयुक्त स्थानीय अध्यासके उदाहरण हैं।

सत्, चित् और आनन्द **परमार्थ-सत्तामें**[२] हैं, अर्थात् यह आत्माके अव्यभिचरित स्वरूप-लक्षण हैं। विषयमें यही अस्ति, भाति, प्रियके रूपमें प्रतीत होते हैं। अविवेकसे ये विषयनिष्ठ मान लिये जाते हैं। यही अध्यास है।

विषयके अस्ति, भाति, प्रिय, नाम और रूप—यही तो पाँच लक्षण हैं इनमें-से प्रथम तीन आत्मधर्म हो गये। रह गये नाम और रूप, सो वे भी **व्यावहारिक-सत्ताक-मात्र** हैं क्योंकि देश, काल, व्यक्ति, समाज आदिके द्वारा वे संस्कारित हैं। अतः वे अतत्त्व हैं, मिथ्या हैं। इस प्रकार विषय ही मिथ्या है और आत्मा सत्य है।

अच्छा अब अध्यासके अन्तरंगमें घुसें। **अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास** नामसे अध्यासके दो मुख्य भेद हैं। अन्यमें अन्यका आरोप अर्थाध्यास है

---

२. अबाधित सत्ताको **पारमार्थिक-सत्ता** कहते हैं। यह स्वयंप्रकाश एवं सर्वाधिष्ठानरूप ही हो सकती है, अन्यथा नहीं। **व्यावहारिक-सत्ता** पारमार्थिक-सत्तामें अध्यस्त होती है और केवल परमार्थ-सत्ताके ज्ञानसे ही वह बाधित हो सकती है, अन्यथा नहीं। **प्रातिभासिक-सत्ता** उन पदार्थोंकी होती है जो अविचार या मिथ्या ज्ञानसे सिद्ध हैं; यह व्यावहारिक सत्तावाले पदार्थोंके अज्ञानसे उत्पन्न होती है तथा उनके यथार्थ ज्ञानसे निवृत्त हो जाती है।

और आरोपितको वैसा ही सत्य जानना ज्ञानाध्यास है। उदाहरणके लिए रज्जुमें सर्पका आरोप अर्थाध्यास है और रज्जुको सर्प ही जानना ज्ञानाध्यास है। इसी प्रकार आत्मामें देहका आरोप अर्थाध्यास है और आत्माको देह ही समझना ज्ञानाध्यास है।

दृष्टान्तमें जब अन्धकार-दोषके कारण वृत्ति रज्ज्वाकार नहीं बनती तो बुद्धिस्थ जो रज्जुका अज्ञान रहा उसके दो अंश हो जाते हैं। एक अंशमें रज्जुके स्थानपर सर्पका आरोप होता है; और दूसरे अंशमें सर्पका ज्ञान होता है। यही अंश अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यासको जन्म देते हैं। दार्ष्टान्तिकमें 'मैं' जब अपनेको परमार्थतः नहीं जानता तो अपनेको देह या देही जानता हूँ। यहाँ देह या देही अर्थाध्यास है और ऐसा जानना ज्ञानाध्यास है।

अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यास मिलकर **सम्बन्धाध्यास** या **संसर्गाध्यास**को जन्म देते हैं। 'मैं देह हूँ' यह अर्थाध्यास है। 'देह मेरा है'—यह सम्बन्धाध्यास है।

उपर्युक्त सब अध्यासोंका मूल है अविवेक, अज्ञान, अविद्या और तज्जन्य मिथ्या-ज्ञाननिमित्तक सत्य और मिथ्याका मिथुनीकरण। वेदान्त-विचार मूल अज्ञानपर ही चोट करता है जबकि अन्य मतावलम्बी अध्यासकी शाखा-उपशाखाका ही छेदन करते हैं।

प्रश्न : यदि नैसर्गिक व्यवहारका आधार अहं-ममरूप अध्यास ही है तब तो ब्रह्मज्ञानके पश्चात् ज्ञानीका लोक-व्यवहार समाप्त हो जाना चाहिए। यह तो बड़ी भयावह स्थिति है!

उत्तर : ऐसा नहीं है। देहमें अहं-मम भाव देहके साथ ही पैदा होते हैं और शरीरके साथ ही मरते हैं। इसलिए इनकी व्यावहारिक सत्ता है। ब्रह्मज्ञानसे जब सम्पूर्ण व्यावहारिक सत्ताका बाध होता है तो इनका भी बाध (मिथ्यात्व निश्चय) हो जाता है। अज्ञानीके जीवनमें ये सत्य बने रहते हैं, इसलिए इनके परिणाम जो भय, बन्धन और दुःख हैं वे अज्ञानीको पीड़ित करते हैं। ज्ञानीके लिए वे बाधित रहते हुए वर्तमान रहते हैं अतः ज्ञानीका लोक-व्यवहार भी चलता रहता है और उसको कहीं भी भय, बन्धन और दुःख नहीं व्यापते। यह तो मुमुक्षुके लिए भयावह नहीं, सुखद स्थिति है।

प्रश्न : सत्य और मिथ्याका मिथुनीकरण आखिर हुआ कैसे ?

उत्तर : यह प्रश्न ऐसा ही है जैसे कोई पूछे कि आकाश नीला हुआ कैसे ? इतनी बातें तो पहले आपने मान लीं कि—आकाश नीला है, नीलिमा उत्पन्न हुई है, किसीसे उत्पन्न हुई है; और अब पूछते हैं कि आकाश नीला हुआ कैसे ? जैसे इसका सही उत्तर यह है कि आकाश नीला है ही नहीं, आकाशमें नीलिमा दीखती भर है, नीलिमा तो तेजका गुण है जो आकाशपर थोप दिया जाता है; उसी प्रकार सत्य और मिथ्याका मिथुनीकरण हुआ ही नहीं है। सत्यमें मिथ्याकी प्रतीति भर है। आत्मामें तीन कालमें अध्यास हुआ ही नहीं है, उसकी उत्पत्ति-सी और विनाश-सा दीखता भर है।

प्रतीतिका सत्य होना आवश्यक नहीं है और मिथ्या वस्तु प्रतीत ही न हो, यह भी आवश्यक नहीं है। आकाशमें नीलिमा, रज्जुमें सर्प, शुक्तिमें रजत इत्यादि भ्रम-स्थलोंमें नीलिमा, सर्प, रजत आदि मिथ्या भी हैं और प्रतीत भी होते हैं। यदि कहो कि नीलिमा, सर्प आदि पदार्थ अन्यत्र तो सत्य हैं ही, तो हम पूछते हैं कि दार्ष्टान्तिकमें सर्वाधिष्ठान ब्रह्मसे पृथक् रहकर किस अध्यस्तकी सत्यता किसमें भासेगी। सन्मात्र तो ब्रह्म ही है।

६. अज्ञान और ब्रह्मविचार

इस प्रकार सभी अध्यासोंमें उनके अधिष्ठानका अज्ञान निमित्त है। उसीसे सत्य अधिष्ठानमें मिथ्या अध्यस्तका मिथुनीकरण-सा प्रतीत होकर अध्यासका हेतु बनता है। यह अज्ञान मिथ्या अर्थात् सदसत्-विलक्षण अनिर्वचनीय है और अध्यासका (अहं-मम भावका) कारण है—यह **विवरणकारका मत है।**[3] और यह अहं-मम भावरूप अध्यास ही मिथ्या ज्ञान है—यह श्रीवाचस्पति मिश्रका मत है।[४] किन्तु दोनोंके मतमें अध्यास मिथ्या है और अज्ञान भी मिथ्या है।

अज्ञानके सम्बन्धमें निम्न बातें स्पष्ट कर लेनी चाहिए :—

१. अज्ञानका कोई कारण नहीं होता। अज्ञानका कारण अज्ञान ही है।

---

३. मिथ्या अज्ञानमेव निमित्तं यस्य सः मिथ्याज्ञाननिमित्तः। मिथ्या शब्दस्य अनिर्वचनीयवचत्वात्। (विवरण)

४. मिथ्याज्ञानमेव निमित्तं यस्य स मिथ्याज्ञाननिमित्तः (भामती)

अज्ञानकी सिद्धिके लिए प्रयत्न नहीं किया जाता, अज्ञान-निवृत्तिके लिए प्रयत्न किया जाता है।

२. अज्ञान अनादि और सान्त होता है। यदि अज्ञानकी आदि हो तब तो अज्ञान होता ही नहीं क्योंकि अपनी उत्पत्तिसे पूर्व क्षणमें उसका अभाव होगा। अज्ञान कैसा भी पुराना हो, वह ज्ञानसे निवृत्त हो जाता है। अतः अज्ञान सान्त है।

३. अज्ञानके आश्रय और विषयकी एकताके ज्ञानसे अज्ञान निवृत्त हो जाता है। उदाहरणार्थ 'मैं ब्रह्मको नहीं जानता' इस अनुभवमें अज्ञानका आश्रय मैं हूँ और विषय ब्रह्म है। जब यह ज्ञान उदय होता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' तब आश्रय और विषयकी एकता होनेसे अज्ञान समाप्त हो जाता है।

४. अज्ञान कोई अभाव पदार्थ नहीं है। ज्ञानके अभावका नाम अज्ञान नहीं है। मिथ्या ज्ञानका नाम अज्ञान है।

५. अज्ञानका स्वरूप सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय है। वह सत् इसलिए नहीं है क्योंकि परमार्थ सत्तामें अज्ञान नहीं हैं। असत् इसलिए नहीं है क्योंकि उसका कार्य जो अध्यास है, बन्धन है, वह स्पष्ट अनुभवमें आता है। सदसत्‌रूप हो नहीं सकता क्योंकि सत् और असत् परस्पर विरुद्ध हैं। इसलिए विवरणकारका कहना है कि जबतक ब्रह्मज्ञान नहीं होता, तबतक अज्ञानको अनिर्वचनीय पदार्थ मानकर ब्रह्मविचारकी पद्धति चालू रखनी चाहिए।

प्रश्न : ब्रह्मविचार अभी भी नहीं करना चाहिए क्योंकि अध्यास नैसर्गिक है, वह भला ब्रह्मविचारसे क्यों निवृत्त होने लगा ?

उत्तर : ब्रह्मविचार अवश्य करना चाहिए क्योंकि उससे अध्यास नैसर्गिक होने पर भी निवृत्त हो जायेगा। विचारसे मिथ्या ज्ञानकी निवृत्ति होती है। 'यह मैं हूँ, और यह मेरा है'—यह मिथ्या ज्ञान है। जब 'मैं' और 'यह' के यथार्थ स्वरूपका विचार उदय होता है तब 'मैं' सत्य है और 'यह' उसीमें अध्यस्त है अतः मिथ्या है, यह अनुभव हो जाता है। सत्य और मिथ्याका सम्बन्ध शक्य नहीं है। इस विचारसे 'यह मैं हूँ'—यह अर्थाध्यास और 'यह मेरा है'—यह संसर्गाध्यास दोनों एक साथ निवृत्त हो जाते हैं। असलमें ब्रह्म-विचारसे ज्ञानाध्यासकी निवृत्ति होती है। पूर्वोक्त दोनों अध्यास ज्ञानाध्याससे भिन्न नहीं है।

अध्यास नैसर्गिक है, इसका अर्थ सिर्फ इतना ही है कि अध्यासकी व्यावहारिक सत्ता है, अतः उसकी निवृत्तिका प्रयत्न करना चाहिए। ब्रह्म-विचारसे वह निवृत्त हो जाता है। अज्ञानीके लिए अध्यास नैसर्गिक है और सत्य है; ज्ञानीके लिए वह मिथ्या हो जाता है। किन्तु व्यवहारमें दोनोंके लिए समान रहता है।

प्रश्न : जो समसत्ताक वस्तुएँ हैं उन्हींमें परस्पर साधकता-बाधकता रहती है।[५] अतः अध्यास और ब्रह्मविचार दोनों एक ही सत्तामें होने चाहिए। तब ब्रह्मज्ञानकी क्या महिमा रह गयी ?

उत्तर : ब्रह्मज्ञान भवरोगकी एकमात्र औषध है। अतः मुमुक्षुके लिए ब्रह्मज्ञानकी बड़ी महिमा है। तथापि यह ठीक है कि अध्यास और ब्रह्मज्ञानकी एक ही (व्यावहारिक) सत्ता है, तभी दोनोंमें निवर्त्य-निवर्तक भाव बनेगा। परन्तु अध्यास एक वृत्ति है जो मिथ्याज्ञाननिमित्तक है; और अध्यासको निवृत्त करनेवाली भी ब्रह्मात्मैक्य-बोध निमित्तक वृत्ति है जिसको ब्रह्माकारवृत्ति कहते हैं। अविद्या निवृत्तिके पश्चात् यह ब्रह्माकार-वृत्ति अपने आश्रय ब्रह्मात्मामें लीन हो जाती है और आत्माका जो सहज ज्ञानस्वरूप है उसके रूपमें ब्रह्मज्ञान प्रतिष्ठित हो जाता है।

प्रश्न : 'मैं ब्रह्म हूँ'—यह भी तो एक अध्यास ही है ?

उत्तर : नहीं। 'अहं ब्रह्मास्मि' कोई अध्यास नहीं है। अहंका जो शुद्ध साक्षी स्वरूप है उसकी परिच्छिन्नताका निवर्तक महावाक्य अहं ब्रह्मास्मि है। ब्रह्म कोई परिच्छिन्न वस्तु होती और तब उसको अहंके रूपमें स्वीकार किया जाता तब तो 'अहं ब्रह्मास्मि' अध्यास होता। यह तो अहंकी अपरिच्छिन्नता-विषयक जितने भी भ्रम हो सकते हैं उन सबका निवर्तक वाक्य है। ब्रह्माकारवृत्तिकी भी सत्ता तो वही है जो अध्यासकी है किन्तु वह अध्यास नहीं है। इस विषयमें विशेष आगे कहा जायेगा। ●

---

५. आपसमें समसत्ता जिनकी। लख साधक-बाधकता तिनकी ॥ (विचारसागर)

(२)

७. अध्यासका लक्षण

अब प्रश्न यह है कि अध्यासका लक्षण और प्रमाण क्या है ? यदि अध्यास प्रमाणसे सिद्ध है तब तो वह सत्य पदार्थ हो गया। उस दशामें वह ज्ञानसे निवर्त्य नहीं होगा। और यदि वह प्रमाणसे असिद्ध है तो वह असत् पदार्थ है, उसकी निवृत्तिकी आवश्यकता ही नहीं। दोनों स्थितियोंमें ब्रह्म-विचार निरर्थक है। समझना यह है कि अध्यास किसी प्रमाणका विषय तो नहीं है, किन्तु यह सर्वलोकप्रत्यक्ष है। 'मैं अज्ञानी हूँ'—यह सर्वसामान्यकी बुद्धिका अनुभव है। इसी अनुभवका युक्तियुक्त अनुवाद अध्यास है। अध्यास अनुभवमें आता है, इसलिए असत् नहीं है; ज्ञानसे निवृत्त हो जाता है, इसलिए सत् नहीं है। अतः अध्यास सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय है। यह अध्यास जिसको है उसीके ब्रह्मस्वरूपके बारेमें है, अतः ब्रह्मात्मैक्य-बोधसे यह निवृत्त हो जाता है। इससे ब्रह्म-विचारकी सार्थकता सिद्ध है।

वेदान्तका यह पक्ष नहीं है कि आत्मामें अध्यास है। अविवेकसे आत्मामें अनात्माका अध्यास प्रतीत होता है, ऐसी वेदान्तकी स्थापना है।

अध्यासका लक्षण, परिभाषा क्या है ? पहले कहा गया है कि विषय-विषयीके गुण-धर्मोंका परस्पर अध्यारोप अध्यास है। अन्यमें अन्यके धर्मका बाधित भास अध्यास है। अथवा जो वस्तु जो नहीं है उसको वह समझना अध्यास है : **अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्बुद्धि** (ब्र० सू० भाष्य)। श्रीशंकराचार्य भगवान्‌द्वारा प्रदत्त यह अतिसूक्ष्म परिभाषा है। उन्हींकी एक दूसरी परिभाषा है : **स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः** (ब्र० सू० भाष्य)। अर्थात् 'अध्यास स्मृति-जैसा है और पहले कहीं देखी हुई वस्तुका वर्तमानकी किसी अन्य वस्तुमें बाधित आभास अध्यास है।'

उदाहरणके लिए सामने पड़ी हुई रज्जुमें अन्धकारके कारण पहले देखे हुए सर्पका स्मृतिरूप आभास होना अध्यास है और यह आभास रज्जुके यथार्थ ज्ञानसे बाधित होने योग्य है। इसी प्रकार एक चन्द्रमामें द्वित्व भासना अध्यास है।

वस्तुका भासना उसके सत्यत्वका प्रमाण नहीं है। भासमानता दो प्रकारकी होती है: **बाधित भासमानता** और **अबाधित भासमानता**। वस्तुका वहीं दिखना जहाँ उसका अभाव दिखता है, बाधित भासमानता है। बाधित होने योग्य पदार्थोंको ही **मिथ्या** कहते हैं, प्रतीत न होनेवालोंको नहीं। जगत्के स्थूल-सूक्ष्म-कारण समस्त पदार्थ बाधित भासमान हैं क्योंकि उनके लिए अस्ति-नास्ति (हैं और नहीं) दोनों प्रत्ययोंका प्रयोग होता है। घट है और घट नहीं है—ये दोनों ज्ञान घटके बारेमें होते हैं। अतः घट बाधित भासमान है। श्रुति जब जगत्की उत्पत्ति-प्रलयका वर्णन करती है तो जगत्को बाधित-भासमान बतानेमें ही उसका तात्पर्य है। इसके विपरीत आत्मा, मैं अथवा साक्षी अबाधित भासमान है क्योंकि 'मैं नहीं हूँ' ऐसा ज्ञान कभी किसीको नहीं होता। ब्रह्म, ईश्वर, परमात्मा आत्मासे अभिन्न रहकर ही अबाधित भासमान है।

बाधित भासमानताका दूसरा नाम अवभास है: **अवसन्नो भासः अवभासः। अवसन्नो नाम ज्ञानेन यो हि बाध्यते।**

अध्यासका जो रज्जु-सर्पका दृष्टान्त दिया गया उसको स्पष्ट समझना आवश्यक है। निम्न सामग्री अध्यासके लिए आवश्यक है:

१. अंधकार २. सामने पड़ी हुई रज्जु ३. देखनेवालेके मनमें सर्पके संस्कार ४. रज्जु और सर्पके आकारोंका सादृश्य।

मतलब यह कि सामने पड़ी हुई रस्सीका अन्धकारके कारण जब यथार्थ ग्रहण नहीं होता तब रज्जु और सर्पके आकारोंका सादृश्य होनेके कारण अज्ञात रज्जु-वस्तुमें पूर्वदृष्ट सर्प सर्पकी स्मृति-जैसी होती है और हमको रज्जु-स्थलमें सर्पका भ्रम हो जाता है। इस भ्रमका नाम अध्यास है। इसी प्रकार अन्य स्थलोंपर भी समझना चाहिए।

दार्ष्टान्तिकमें, ब्रह्ममें यह जगत् अथवा आत्मामें देहविषयक अहं-मम भाव अज्ञानान्धकारमें रज्जु-सर्पवत् आध्यासिकरूपसे प्रतीत हो रहा है। परन्तु जैसे प्रकाश होनेपर रज्जुके यथार्थ ज्ञानसे उसमें सर्प-भ्रान्तिकी निवृत्ति हो जाती है, उसी प्रकार ब्रह्मात्मैक्य-बोधसे जगत्-भ्रान्तिरूप अध्यासकी निवृत्ति हो जाती है। इस विषयमें निम्न शंका-समाधान मननीय हैं।

८. लक्षणविषयक शंका-समाधान

प्रश्न : रज्जु सत्य है और जिस पूर्वदृष्ट सर्पकी याद आती है वह सर्प भी सत्य ही है अन्यथा सादृश्य संस्कार कैसे पड़ेगा ? अत: अध्यासमें सत्य-सत्यका मिथुनीकरण हुआ, न कि सत्य-मिथ्याका, जैसा पूर्वमें प्रतिपादन किया गया था। इस विरोधका क्या स्पष्टीकरण है ?

उत्तर : अध्यासके लिए स्मर्यमाण सर्पके संस्कारकी आवश्यकता है न कि सर्पके सत्य होनेकी। जिसने सच्चा सर्प देखा है अथवा जिसने रबड़का सर्प देखा है अथवा जिसने केवल सर्पके बारेमें सुना है, उन सबको रज्जुमें सर्पका भ्रम हो सकता है। सादृश्यमें पदार्थोंका सत्य होना अनिवार्य नहीं है। फिर स्मृति तो भ्रमकी भी होती है, स्वप्नके पदार्थों और जादूके पदार्थोंकी भी होती है। अत: अध्यासको 'स्मृतिरूप' कहनेसे पूर्वदृष्ट सर्पका सत्य होना अनिवार्य नहीं रह जाता। 'पूर्वदृष्ट' का अर्थ है पूर्व-पूर्वके ग्रहण किये हुए सादृश्य संस्कार।

यदि कहो कि रज्जुको भी फिर सत्य नहीं मानना चाहिए, तो यह ठीक नहीं है। कोई भी भ्रम निरधिष्ठान नहीं हो सकता। यदि रज्जु आधार ही नहीं होगा तो उसमें भ्रम भी किसका होगा ? अत: यही समीचीन है कि अध्यासमें सत्य और मिथ्याका ही मिथुनीकरण हो क्योंकि न तो सत्य-सत्यका[६] और न असत्य-असत्यका[७] ही मिथुनीकरण सम्भव है।

सभी भ्रम-स्थलोंमें अधिष्ठान सत्य होता है और अध्यस्त मिथ्या। अधिष्ठान अबाधित भासमान है और अध्यस्त बाधित भासमान है क्योंकि उत्तरकालमें उसका अभाव या मिथ्यात्व-निश्चय हो जाता है। दार्ष्टान्तिकमें पूर्व-पूर्व संस्कारोंसे ब्रह्म ही अनेक रूपोंमें प्रतीत हो रहा है। ये रूप, इनकी अनेकता और इनका ज्ञान ब्रह्मके यथार्थ-बोधसे मिथ्या निश्चित हो जाते हैं।

प्रश्न : विषय और विषयी परस्पर विरुद्ध स्वरूपवाले हैं, उनमें साम्य या सादृश्य संभव नहीं है। फिर उनका अध्यास कैसे संभव है ?

---

६. सांख्यका 'सत्ख्याति'-पक्ष।

७. बौद्धोंका 'असत्ख्याति'पक्ष।

उत्तर : विषय और विषयीके यथार्थ स्वरूपका बोध होने पर इनका परस्पर अध्यास संभव नहीं है। किन्तु अज्ञानमें सब कुछ सम्भव है। अज्ञाने किं दुश्शकम् ? एक अध्यास या भ्रम अपने उत्तर कालमें दूसरे अध्यास या भ्रमका हेतु हो सकता है।

प्रश्न : रज्जुकी सर्परूप प्रतीतिमें नेत्र-प्रमाणका अपने प्रमेय रज्जुके साथ सन्निकर्ष नहीं होता। वास्तवमें सभी भ्रमस्थलोंमें प्रमाण-प्रमेयका सन्निकर्ष न होनेके कारण ही प्रमेयमें अन्यथा प्रतीति होती है। परन्तु आत्मामें जो अनात्माका अध्यास है उसमें उक्त सन्निकर्षका अभाव कैसे होता है ?

उत्तर : आत्मा रज्जुकी तरह प्रत्यक्ष प्रमाणका प्रमेय नहीं है। इसलिए यहाँ प्रमाण-प्रमेयके सन्निकर्षके अभावसे आत्मा-अनात्माका अध्यास नहीं होता। आत्माका यथार्थ ज्ञान शब्द-प्रमाणसे ही होता है और यही होता है कि "देहत्रय-साक्षी जो मैं कूटस्थ ज्ञानस्वरूप आत्मा हूँ, वही देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न अखण्ड ब्रह्मतत्त्व हूँ।" यह शाब्दी प्रमा और "मैं कर्ता-भोक्ता-परिच्छिन्न-संसारी जीव हूँ"—यह भ्रम, दोनों बुद्धिमें ही रहते हैं। परन्तु प्रमा और भ्रम दोनों साथ-साथ नहीं रह सकते। अतः अविद्यासे या अविवेकसे जब बुद्धिका शाब्दी प्रमासे सन्निकर्ष नहीं होता तभी अध्यास या भ्रमकी उत्पत्ति होती है।

प्रश्न : जब अध्यास स्मृतिरूप है तो प्रमाण-सिद्ध क्यों नहीं ?

उत्तर : वेदान्तमें स्मृति प्रमाण नहीं मानी जाती। स्मृति तो मिथ्या पदार्थोंकी भी होती है। स्वप्नमें स्मरण और स्मरणके विषय दोनों तत्काल उदित होते हैं, वहाँ स्मृतिको कैसे प्रमाण मानें ?

प्रमाका अर्थ है अबाधित ज्ञान और उस अबाधित ज्ञानका जो अनूठा करण है वह प्रमाण है। अध्यास भी बाधित प्रतीति है और स्मृतिका विषय जो सर्प-ज्ञान है वह भी बाधित हो जाता है। अतः अध्यास प्रमाण-सिद्ध ज्ञान नहीं है।

इस प्रकार अध्यासकी परिभाषामें प्रत्येक शब्दका महत्त्व है। 'स्मृतिरूपः परत्र पूर्वदृष्टावभासः'में **अवभास**से आश्रितज्ञान, **पूर्वदृष्ट**से संस्कारोंकी अनादि परम्परा, **परत्र**से भ्रमका साधिष्ठान होना तथा अन्यका अन्यमें अवभास होना और **स्मृतिरूपः**से जगत्के अत्यन्त सत्यत्व-असत्यत्वका

खंडन तथा अध्यासके अनिर्वचनीय व्यावहारिक स्वरूपका मंडन सूचित होता है। अध्यासकी भूमिकामें ही छान्दोग्योपनिषद्‌की श्रुति सार्थक हो सकती है। जिसमें कहा गया है कि एकमात्र सत् ही सत्य है, जगत्‌के नामरूप तो सब नाममात्र हैं।

एक दूसरी दृष्टिसे 'परत्र' से अन्य देश तथा स्मृतिसे अन्य काल ध्वनित होता है। अर्थात् किसी अन्यदेश-कालकी वस्तु जब बुद्धिसे अन्य देश-कालकी वस्तुपर आरोपित होती है तब बौद्ध-भ्रम अर्थात् अध्यास उत्पन्न होता है। इसका मतलब ही यह है कि जिस अधिष्ठानमें जिस वस्तुका अध्यास हो रहा है, उसमें उसका देशत्व, कालत्व, वस्तुत्व सभी अध्यारोपित (कल्पित) हैं, प्रमाणजन्य नहीं है। इसलिए अधिष्ठानज्ञानसे यह अध्यास निवृत्त हो जाता है और अध्यास-कालमें भी अधिष्ठान अध्यस्तके गुणधर्मोंसे अछूता एवं असंग ही रहता है।

अहंमें इदंका जो स्वरूप प्रतीत होता है वह अर्थाध्यास है और उस प्रतीतिका ज्ञान ज्ञानाध्यास है। अहं और अर्थाध्यासरूप इदंका जो सम्बन्ध प्रतीत होता है वह संसर्गाध्यास है। तदनन्तर ये सब अध्यास उत्तर-उत्तर अध्यासोंके हेतु बनते हैं। इस प्रकार अध्यासरूप लोक-व्यवहारकी परम्परा चलती रहती है। जैसे रज्जु→रज्जुका अज्ञान→सर्प, माला, भूछिद्र आदि आध्यासिक प्रतीतियाँ→सर्पसे भय, कम्पन, भागना आदि व्यवहार, मालासे प्रसन्नता, ग्रहण आदि क्रिया-व्यवहार, भूछिद्रसे उपेक्षा आदि व्यवहार→ सर्पकी जाति आदिका विचार, प्रहार आदि प्रतिक्रिया—यह सारा व्यवहार रज्जुके अज्ञानके आश्रित है। उसी प्रकार ब्रह्म (आत्मा)→ब्रह्मका अज्ञान →जगत् (देह) के नामरूपकी आध्यासिक प्रतीति→'यह मैं' और 'यह मेरा'—भाव→मैं मेरामें राग और तू-तेरामें द्वेष→रागद्वेषका घनीभाव→ जगत्‌के कार्य-कारणका विचार इत्यादि—यह सारा लोक-व्यवहार ब्रह्मके स्वरूपके अज्ञानके आश्रित है।

ब्रह्मविचारसे पृथक् जितने साधन हैं वे सब एक अध्यासके स्थानपर दूसरे अध्यासकी प्रतिस्थापनारूप हैं। अतः उनसे अध्यासका मूल निवृत्त नहीं होता। ब्रह्मविचार उस मूल अज्ञान पर ही चोट करता है जो समस्त अध्यासोंका मूल है। मूल नष्ट होने पर सारे अध्यासोंका महल एकसाथ नष्ट हो जाता है। ब्रह्मविचारमें भी नेति-नेतिका विचार ज्ञानाध्यास और

संसर्गाध्यासको तथा **'अहं ब्रह्मास्मि'**का विचार अर्थाध्यासको समूल नष्ट कर देता है।

प्रश्न :—अध्यासके लौकिक उदाहरणोंमें, जैसे रज्जु-सर्प, शुक्ति-रजतमें, अध्यासके अधिष्ठान जो रज्जु-शुक्तिके हैं वे अध्यासके द्रष्टासे भिन्न हैं। किन्तु आत्मामें अनात्माका जो अध्यास है उसका अधिष्ठान और द्रष्टा एक ही है। अतः प्रश्न यह है कि आत्मामें उक्त अध्यास कैसे सम्भव हो सकता है?

उत्तर :—इदं-प्रतीतिके जो विषय हैं वे हैं देश, काल और द्रव्य तथा उससे बनी वस्तुएँ। देश दैर्घ्य-विस्ताररूप है और काल वस्तुकी गतिसे उत्पन्न एक मानसिक प्रत्यय है। देश, काल, वस्तुकी परिच्छिन्नता प्रत्यक्ष प्रमाणसे सिद्ध है और इनकी अनादिता-अनन्तता एक कल्पना है। द्रव्यमें कार्य-कारणता भी अनुमान-सिद्ध है। इस प्रकार देश-काल-वस्तु, इनकी परिच्छिन्नता, अनादिता, अनन्तता, कार्य-कारणता तथा इनके भावाभावके संस्कार अनादि परम्परासे प्रत्येक जीवके अन्तःकरणमें सदैव बने रहते हैं। अन्तःकरण संस्कार-स्वरूप ही है। प्रत्येक जीव इन पूर्वदृष्ट संस्कारोंको साथ लेकर ही शरीर धारण करता है। सच्ची बात तो यह है कि पूर्वदृष्ट संस्कारराशिसे अवच्छिन्न अविद्याग्रस्त चैतन्यका नाम ही जीव है। उसीको विषयी भी कहते हैं। यह आत्माका अशोधित रूप है। यही प्रत्येक जीवका अहमर्थ है।

अविद्याके कारण यह जीव जब अपने अनवच्छिन्न स्वरूपको नहीं जान पाता तो अपने पूर्वदृष्ट संस्कारोंमें ही क्षोभ होता है, जिसके अनुसार देहादिरूप अर्थाध्यास तथा इनमें अहं-मम-भावरूपी ज्ञानाध्यास तथा संसर्गाध्यासकी सृष्टि हो जाती है। फिर जब अर्थाध्यासरूप देहादिके कारणका विचार होता है तो अपनेसे पृथक् किसी ईश्वर, प्रकृति आदिकी कल्पना होती है।

वास्तविकता यह है कि अवच्छिन्न और अनवच्छिन्न चैतन्यका भेद अविद्यासे ही है। वेदान्त-विचारसे जब यह अविद्या निवृत्त होती है तब देहादिरूप अर्थ तथा उसका ज्ञान मिथ्या-प्रतीतिमात्र रह जाता है और इनमें अहं-मम-भावरूप अध्यास निवृत्त हो जाता है। मिथ्या-प्रतीतिके कारण ईश्वरादि जो अन्यतः कल्पित किये थे वे सब प्रतीतिके अधिष्ठान एवं प्रकाशक आत्मासे अभिन्न अनुभवमें आते हैं।

सिद्धान्त यह है कि जिस अद्वितीय (अनवच्छिन्न) चैतन्यमें ये देश-काल-वस्तु नहीं हैं उसीमें पूर्वदृष्ट संस्कारोंसे प्रपंचका अध्यास होता है और स्मृतिरूप जैसे स्वप्न भासता है अथवा रज्जुमें सर्प भासता है, वैसे ही यह प्रपंच भासता है।

सर्वप्रथम अध्यास कब हुआ? यह प्रश्न ठीक नहीं है। अध्यास अनादि है किन्तु अधिष्ठान-ज्ञानसे यह निवृत्त हो जाता है। वेदान्तमें छः पदार्थ 'अनादि' माने जाते हैं, अनादि अर्थात् उत्पत्ति-रहित विद्यमान ब्रह्म, ईश्वर, जीव, अविद्या, अविद्या और चैतन्यका सम्बन्ध तथा इन पाँचोंका जीव-ईश्वरका परस्पर भेद। * इनमें ब्रह्म स्वरूपसे अनादि और अनन्त है। ईश्वर उपाधिसे अनादि और अनन्त माना जाता है। जीव प्रवाहरूपसे अनादि-अनन्त है। शेष प्रवाहरूपसे अनादि हैं किन्तु ज्ञान द्वारा सान्त हैं।

९. ख्याति-प्रकरण

प्रसंगवश यहाँ वेदान्तके **ख्याति-प्रकरणपर** एक दृष्टि डाल लें तो भ्रमके स्वरूपको समझनेमें आसानी होगी। विभिन्न दार्शनिकोंने विभिन्न तरीकोंसे भ्रमकी व्याख्या की है।

१. असत्ख्याति :—माध्यमिक सर्वशून्यवादी बौद्धोंका कहना है कि भ्रम-स्थलमें असत् और असत्का मिथुनीकरण होता है। रज्जु भी असत् है और सर्प भी असत् है। असत् रज्जुकी असत् सर्पके रूपमें ख्याति होती है। इसी प्रकार असत् आत्मामें असत् प्रपंचकी ख्याति होती है।

उक्त सिद्धान्त अनुभवके विरुद्ध है क्योंकि भ्रम निरधिष्ठान कभी नहीं होता। साथ ही भ्रमके अधिष्ठानका सत्य होना आवश्यक है। जिस किसीको रज्जुमें दीखनेवाले सर्पकी भ्रान्ति टूटती है। उसको यही ज्ञान होता है कि 'सर्प मिथ्या था, रज्जु सत्य है।' ऐसा ज्ञान किसीको नहीं होता कि रज्जु और सर्प दोनों मिथ्या थे।

२. आत्म-ख्याति :—क्षणिक विज्ञानवादी योगाचार बौद्धोंका कहना है कि आत्मा अर्थात् बुद्धि क्षणिक विज्ञानरूप है। वही बुद्धि एक क्षणमें रज्जु है तो दूसरे क्षण सर्प है। अज्ञानके कारण रज्जु-बुद्धिमें सर्प-बुद्धिका आरोप होता है। दार्ष्टान्तिकमें क्षणिक आत्मामें क्षणिक प्रपंचका आरोप होता है। किन्तु प्रपंचकी या आत्माकी क्षणिकता अनुभवके विरुद्ध है।

* जीवेशो च विशुद्धा चित्तथा जीवेशयोर्भिदा।
अविद्या तच्चितेर्योगः षडस्माकमनादयः॥

३. अन्यथा-ख्याति :—न्याय और वैशेषिक मतावलम्बी भ्रमस्थलमें अन्यथा-ख्याति स्वीकार करते हैं। इनके अनुसार रज्जु भी सत्य है और सर्प भी पृथक् सत्य है, किन्तु नेत्रदोषसे रज्जुमें सर्पकी भ्रान्ति होती है अथवा रज्जुकी अन्यथारूपमें ख्याति होती है। इसी प्रकार अज्ञानवश सत्य आत्माकी सत्य प्रपंचके रूपमें ख्याति होती है।

४. अख्याति :—यह सांख्य और पूर्वमीमांसाका पक्ष है। इनके अनुसार न तो रज्जु मिथ्या है और न सर्प मिथ्या है किन्तु रज्जुमें सर्पका ज्ञान मिथ्या है। सदोष नेत्रों या अंधकारके कारण हमको यह ज्ञान होता है कि 'यह सर्प है।' इसमें 'यह' रज्जु-आधारका सामान्य ज्ञान है और 'सर्प है' यह सादृश्यता-मूलक पूर्वानुभूत सर्पका स्मृति-ज्ञान है। दोनों ज्ञान सत्य हैं किन्तु अविवेकसे दोनोंका अलगाव न होकर 'यह सर्प है' यह भ्रम-ज्ञान होता है। अविवेककी ही सर्पके रूपमें ख्याति होती है अतः अख्याति है। इसमें मूल दोष यह है कि अन्तःकरणमें एक साथ दो ज्ञान नहीं हो सकते—रज्जुका प्रत्यक्ष सामान्य ज्ञान और सर्पका स्मृति-ज्ञान। स्मृति-ज्ञान भी यहाँ बाधित हो ही जाता है, अतः दोनों ज्ञान सत्य हैं, यह पक्ष भी सही नहीं है।

५. अनिर्वचनीय ख्याति :—यह वेदान्तका सिद्धान्त है। इसका वर्णन हम कर चुके हैं। रज्जुके अज्ञानसे सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय सर्पके रूपमें रज्जुकी ख्याति होती है—यही अनिर्वचनीय ख्याति है। दार्ष्टान्तिकमें आत्मामें प्रपंच और उसका ज्ञान अनिर्वचनीय है। अज्ञानके तमोगुणांशसे प्रपंचकी प्रतीति तथा सत्त्वांशसे प्रपंचका ज्ञान होता है। तथा रजो-गुणांशसे प्रपंचके प्रति व्यवहार होता है। अधिष्ठानके ज्ञानसे प्रपंच और उसके ज्ञानका (अर्थाध्यास और ज्ञानाध्यासका) नाश हो जाता है तथा मिथ्या-बोधसे व्यवहारका (संसर्गाध्यासका) भी नाश हो जाता है।

श्री शंकराचार्य भगवान्‌का कहना है कि भ्रमकी प्रक्रियाओंमें भेद होने पर भी एक बात सर्वमान्य है कि भ्रमस्थलमें सर्वत्र 'अन्यमें अन्यका अवभास' होता है तथा उसका कारण है अज्ञान, अविद्या, अविवेक, भूल।

अज्ञान ही अध्यासका अभिन्न-निमित्तोपादनकारण है। वही अर्थाध्यास है, वही ज्ञानाध्यास और वही संसर्गाध्यास। यह अज्ञान चैतन्याश्रित ही है।

प्रपंच जिसमें (जिस ईश्वरमें) दिख रहा है उसीको (उसी ईश्वरको, जीवरूपको) दीख रहा है। अतः 'अहं ब्रह्मास्मि' द्वारा अधिष्ठान और प्रकाशकी एकता सम्पन्न होने पर प्रपंच (अध्यास) निवृत्त हो जाता है।

प्रश्न :—आत्मा तो एक है। उसमें दूसरेका अध्यास नहीं हो सकता। फिर जीवोंकी अनेकता कैसे ?

उत्तर :—अज्ञानमें सब कुछ हो सकता है। एकमें अनेकका अध्यास भी देखा जाता है। जैसा आँखमें दोष होनेपर या अंगुली लगानेपर एक चन्द्रमा दो दिखाई पड़ता है। जीवोंकी अनेकता भी इसी प्रकार प्रतीत होती है।

१०. अध्यासकी संभावना

अब एक और प्रश्न उठाते हैं। अध्यासके सभी उदाहरणोंमें अधिष्ठान और अध्यस्त दोनों ही पराक् (बाहर) हैं। किन्तु आत्मामें प्रपंचके अध्यासमें आत्मा देह-मन-इन्द्रियोंसे प्रत्यक् (भीतर या पीछे) है तथा प्रपंच पराक् है। आत्मा और प्रपंचका परस्पर सादृश्य भी नहीं है। अतः यहाँ अध्यासकी संभावना नहीं है।

इसका समाधान यह है कि अध्यासके लिए यह नियम नहीं है कि सामने या बाहर-स्थित विषयोंमें ही अध्यास होता हो। अविवेकी लोग अप्रत्यक्ष आकाशमें तल-मलिनता आदिका अध्यास करते ही हैं जैसा उनके इन वाक्योंसे पता लगता है कि "आकाश कड़ाह या तम्बूके आकारका है" या कि "आकाश स्वच्छ है, मलिन है।" फिर भी यदि आग्रह हो कि अधिष्ठान और अध्यस्त दोनों ही विषय होने चाहिए, तो हम कहते हैं कि प्रत्यगात्मा भी नितान्त अविषय नहीं है क्योंकि वह अस्मत्-प्रतीति (अहं-प्रत्यय)का विषय भी है। अहं-वृत्तिके विषयके रूपमें यह अहमर्थ सबको अपरोक्ष भी है और प्रसिद्ध भी। इसलिए इस प्रसिद्ध अंशमें अध्यास सम्भव है।

अहमर्थ कभी भासता है, कभी नहीं भासता। जाग्रत्-स्वप्नमें भासता है, सुषुप्तिमें नहीं भासता, मूर्च्छा-समाधिमें नहीं भासता। जब नहीं भासता तो कोई दुःख भी नहीं भासता। इससे प्रकट होता है कि यह अहमर्थ ही सर्व दुःखोंके मूलमें है। अहं और इदंका मिला-जुला रूप—

'यह' वाला मैं, यही तो अहमर्थ है। अतः सब दुःखोंके मूलमें मैंका यही आध्यासिक रूप (अहमर्थ) है। यही मूल अध्यास है जो उत्तरोत्तर अध्यासोंका बीज है। निःसर्गसे प्राप्त होनेपर भी यह परमार्थ सत्य नहीं है, क्योंकि 'यह'के अधिष्ठान (ब्रह्म) और 'यह'के प्रकाशक (आत्मा)के एकत्वज्ञानसे यह निवृत्त हो जाता है।

पण्डित लोग अध्यासको ही अविद्या कहते हैं। मैं यह देह हूँ, देही हूँ, जीव हूँ या अन्य कुछ परिच्छिन्न मान या मानी हूँ—यह अध्यास है और ऐसा जानना अविद्या है। मैं ब्रह्म हूँ—यह बोधवृत्ति विद्या है जो पूर्वोक्त समस्त अध्यासों (अविद्या)की निवर्तक है। आत्मा विद्या और अविद्या दोनोंका अधिष्ठान है। अतः आत्मा स्वयं-प्रकाश सन्मात्र वस्तु है। वह आविद्यक अध्यास एवं विद्याजन्य वृत्ति दोनोंके दोष और गुण किसीसे भी अणुमात्र सम्बन्ध नहीं रखता।

प्रश्न : अध्यास न तो अत्यन्त ज्ञात पदार्थमें होता है और न अत्यन्त अज्ञातमें। कुछ ज्ञात हो, कुछ अज्ञात हो, तो अध्यास होता है। अन्धकारमें जब रस्सी स्पष्ट नहीं दीखती तो पहले 'यह कुछ है' ऐसा ज्ञान होता है, तदनन्तर 'यह सर्प है' यह भ्रम-ज्ञान होता है। यदि रज्जु अत्यन्त ज्ञात हो अथवा अत्यन्त अज्ञात हो (कुछ दीखे ही नहीं) तो सर्पकी भ्रान्ति नहीं हो सकती। किन्तु आत्मा या तो ज्ञात होगा या अज्ञात। तब उसमें भ्रम कैसे होगा ?

उत्तर : आत्मा स्वयं-प्रकाश है। स्वयं प्रकाशका लक्षण है—**अवेद्यत्वे सति अपरोक्षत्वम्**। अर्थात् 'इन्द्रियों-मनका अविषय रहता हुआ भी नित्य अपरोक्ष रहना।' इसमें जो 'असंवेद्यत्व' अंश है उसीमें अविद्या, अध्यासकी सम्भावना रहती है; और जो 'अपरोक्षत्व' अंश है उसमें विद्याका निवास है। इसीसे आत्मा सामान्यतः ज्ञात (अपरोक्षत्वांशमें) और विशेषतया अज्ञात (असंवेद्यत्वांशमें) हो जाता है और ज्ञाताज्ञात आत्मामें अध्यासकी सम्भावना हो जाती है।

स्वयं-प्रकाश आत्मा 'अवेद्य' होनेसे अविद्याका अधिष्ठान है और 'अपरोक्ष' होनेसे विद्याका अधिष्ठान है। अर्थात् आत्मा ही विद्या और अविद्या दोनोंका अधिष्ठान है। जिज्ञासुको यह ध्यानमें रखना चाहिए कि यदि आप केवल यह विचार करेंगे कि आत्मा मन-इन्द्रियोंका अविषय है,

तो आपकी बुद्धिमें अविद्या बैठ जायेगी। और यदि आप यह विचार करेंगे कि 'मैं आत्मा स्वयंप्रकाश हूँ और सदा अपरोक्ष हूँ' तो आपकी बुद्धिमें विद्याका प्रकाश होगा और अविद्याका नाश हो जायेगा।

इस प्रकार आत्मामें अनात्माका अध्यास निर्विरोध सिद्ध है।

११. उपसंहार

अध्यास स्वयं अविद्या है या अविद्याका कार्य है? भामतीकार प्रथम पक्षमें हैं तो विवरणकार द्वितीय पक्षमें। दोनों मत वेदान्तमें स्वीकार्य हैं। प्रक्रियामें आग्रह क्यों? भेद सभी आविद्यक हैं, अतः अध्यास और अविद्याका भेद भी आविद्यक है। तथापि बुद्धिके उत्कर्षमें वह सहायक है। अविद्याका लक्षण है आच्छादकत्व, माने वस्तुके स्वरूपको ढक लेना। अध्यासका लक्षण है बुद्धिका वस्तुके स्वरूपसे विपरीत होना। सुषुप्तिमें बुद्धि नहीं रहती, अतः वहाँ अध्यास नहीं रहता, किन्तु वहाँ अविद्या रहती है। तभी तो आत्मा वहाँ केवल रह जानेपर भी अनावृत नहीं होता। जाग्रत्में **अविद्या** और **अध्यास** दोनों रहते हैं। वेदान्त-साहित्यमें इनके नाम **आवरण** और **विक्षेप** हैं। माण्डूक्यकारिकामें इनके लिए **अग्रहण** और **अन्यथाग्रहण** शब्दोंका प्रयोग है। अविद्या और अध्यासके भी भेद साहित्यमें प्रचलित हैं। **अविद्या** और **माया, मूलाविद्या** और **तूलाविद्या**। जीवाश्रित अज्ञानका नाम अविद्या है और ईश्वराश्रित अविद्याका नाम माया है। शुद्ध चैतन्यकी आच्छादिका मूलाविद्या है और विषयावच्छिन्न चैतन्यकी आच्छादिका तूलाविद्या है। आत्माको ब्रह्म न जानना **कारणमूलाविद्या** है और आत्माको जीव जानना **कार्यमूलाविद्या** है। रज्जुको रज्जु न जानना **कारणतूलाविद्या** है और उसे सर्प जानना **कार्यतूलाविद्या** है।

अध्यासके भेद—अर्थाध्यास, ज्ञानाध्यास आदिकी चर्चा हो ही चुकी है।

अविद्यामें अनर्थहेतुता है और अध्यासमें अनर्थरूपता। अविद्या और अध्यास दोनोंकी निवृत्ति विद्यासे हो जाती है। वस्तुके स्वरूपका अवधारण विद्या है। आत्माके सम्बन्धमें आत्माका स्वरूप और उसकी अवधारणा (निश्चय) एक साथ ही होती है। क्योंकि आत्मा ज्ञानस्वरूप है। "मैं ही हूँ स्वयं प्रकाश चेतन और मैं ही हूँ इसका ज्ञान"—इस वेदान्त-बोधका नाम विद्या है। विद्यासे अविद्या-निवृत्ति हो जाती है और यह निवृत्ति अविद्याके अधिष्ठान ब्रह्मसे पृथक् नहीं होती। अविद्या-निवृत्तिकी कोई

अवस्था नहीं है। जैसे घड़ेका फूटना मृत्तिकासे भिन्न नहीं होता, वैसे ही अज्ञाननिवृत्ति भी ज्ञानस्वरूप ब्रह्मसे पृथक् नहीं होती : **निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः** (श्री सुरेश्वराचार्य)।

अध्यास न आत्मामें है न अनात्मामें। वह केवल बुद्धिमें है। वह भी अविवेकजन्य है, अतः विवेकसे वह निवृत्त हो जाता है।

विद्यासे केवल अविद्याकी निवृत्ति होती है, व्यवहारका लोप नहीं होता। केवल बुद्धिमें ही हेर-फेर होता है। वस्तुमें परिवर्तन करना ज्ञानका स्वभाव नहीं है; केवल वस्तुके अज्ञानका नाश ही ज्ञानसे होता है। आत्मा और जगत्का जैसा वास्तविक स्वरूप है उसका वैसा ही निश्चय करना यही विद्या है।

तो भाई मेरे ! यह विचार करो कि जो चढ़ा और जिसके ऊपर चढ़ा वह तुम नहीं हो। लो हो गयी छुट्टी ! अपनेको मानते हो धरतीवाला, धनवाला, देहवाला, इन्द्रियवाला, मनवाला। फिर धरती, धन, देह, मनके सुख दुःख और बन्धनसे छुट्टी कैसी ? तो यह जो आपने सबको अपने भीतर, अपनी गुदड़ीमें डाल-डालकर स्वयं गुदड़ीवाला बना डाला है; कहींकी ईंट कहींका रोड़ा जोड़कर तद्वान् बन गये हैं, इस 'वाला'को ही निकालना है। एकबार इसे पक्का करके समझ लो। बस एकबार यदि अपने आत्माको ब्रह्म जान लिया तो फिर देह रहने पर भी अविद्या नहीं लौटेगी। उल्टे बुद्धि हँसेगी, क्योंकि जब तुम कहोगे कि 'मैं देह हूँ' तो बुद्धि तुरन्त कहेगी कि 'यह बनावट है'। बुद्धि सदैव सत्यका पक्षपात करती है। घड़ीको लेकर लाख जप करो कि 'यह हीरा है' किन्तु घड़ी हीरा नहीं हो सकती क्योंकि तुम्हारी बुद्धि उसको घड़ीरूपमें सत्य जानती है। अध्यासके अनुकूल जो बुद्धि है वह मोहित है, मूर्च्छित है। और बुद्धिके प्रतिकूल अध्यास भी निर्बन्धक ही है क्योंकि उसका मिथ्यात्व सुनिश्चित है।

सत्यके जान लेनेपर मिथ्या कर्तृत्व, मिथ्या क्रिया-कर्म, मिथ्या कर्मफल और मिथ्या भोक्तृत्व कोई भी अलग-अलग अथवा एक साथ मिलकर भी बोधवान्को नहीं बाँध सकते। क्योंकि जो पदार्थ स्वरूपसे निर्बन्ध है, निरुपद्रव है, वह अन्यथा प्रतीत होने पर भी अपने स्वभावको नहीं छोड़

सकता; अर्थात् अन्यथा प्रतीति-कालमें भी वह निर्बन्ध और निरुपद्रव बना रहेगा। आत्मा स्वभावसे ही नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त है। अतः वह जीव और जगत्के रूपमें प्रतीत होनेपर भी इनके गुण-दोषसे किंचित् भी प्रभावित नहीं होता। क्या रस्सी साँप दीखनेपर विषैली हो जाती है? क्या उसमें दंश करनेका सामर्थ्य आ जाता है? जहाँ अध्यस्त मिथ्या होता है वहाँ अधिष्ठान ही मिथ्यारूपमें प्रतीत होता है। अतः अध्यस्तके प्रातीतिक गुण-दोषका अधिष्ठानके साथ अणुमात्र भी कोई सम्बन्ध नहीं होता।

यह जो तुम्हारी आत्मा है—जिसमें देश नहीं है किन्तु जिसमें देश स्वप्नके देशके समान फुरफरा रहा है; जो कभी कालकी सीमामें नहीं बँधता किन्तु काल ही जिसमें स्वप्नके कालकी तरह फुरफरा रहा है; जो वस्तुओंके गुण-दोषसे अच्छा-बुरा नहीं होता, बल्कि वस्तुएँ ही जिसमें स्वप्नकी वस्तुओंकी तरह फुरफुरा रही हैं—ऐसे अधिष्ठान हो तुम! स्वयं प्रकाश ब्रह्म! **अस्पर्शयोगी** हो तुम! ये अनहुई वस्तुएँ हैं। जैसे स्वप्नके यज्ञसे पुण्य नहीं होता और स्वप्नके पापसे पाप नहीं होता, उसी प्रकार ये जो जाग्रदवस्थाके पाप-पुण्य हैं वे दिखाई पड़ते हैं परन्तु उनका आपकी अबाध्यमान सत्तासे कोई सम्बन्ध नहीं है। माने हुए सुख-दुःख असली नहीं होते। बौद्धोंका एक श्लोक है:

निरुपद्रवभूतार्थस्वभावस्य विपर्ययैः।
न बाधो यत्नवत्वेऽपि बुद्धेस्तत्पक्षपाततः॥

वस्तु जैसी है वैसी ही रहती है। तलवार मारनेसे आकाश कटता नहीं है। आँख बन्द कर लेनेसे प्रकाश मिटता नहीं है। ऐसे ही बुद्धि जिसको सत्य जानती है वह किसी भी क्रिया, कारक और फलसे बाधित (असत्य) नहीं हो सकता।

आप चार घंटे भूलमें रहो, सपनेमें रहो, और एक मिनट यथार्थ ज्ञानमें रहो, तो सपना या भूल मिट जाती है कि नहीं? मिट जाती है। इसी प्रकार आप कभीके अज्ञानी सही, एक सेकेण्ड ब्रह्मत्वका अनुभव कीजिये और हमेशा-हमेशाके लिए मुक्त हो जाइये! क्योंकि लाख अध्यास होने पर भी सभी अध्यास आविद्यक हैं, उनका आपके ब्रह्म-स्वरूपके साथ अणुमात्र भी सम्बन्ध नहीं होता।

हे भगवान् ! क्या विचित्र लीला है कि जो मालूम पड़ता है वह असली वस्तु नहीं है और जो असली वस्तु है वह मालूम पड़ती हुई भी नहीं मालूम पड़ती।

शरीरका जन्म-मरण, इन्द्रियोंका परिश्रम, प्राणकी भूख-प्यास, मनका संकल्प-विकल्प, बुद्धिका निश्चय-अनिश्चय तथा उसका यथार्थ-अयथार्थ-यह सब प्रतीत होता है, इसलिए उसमें कुछ असलियत नहीं है। उन सबका होना, भासना और प्रियत्व तुम्हारा अपना होना, भासना और प्रियत्व नहीं है। उल्टे तुम्हारी अपनी सच्चिदानन्दरूपता ही औपाधिक रूपसे उनकी अस्ति (होना), भाति (भासना) और प्रियताके रूपमें भास रही है। इसलिए निर्द्वन्द्व रहो। वे सब मायाकी प्रतीतियाँ तुम्हें छू नहीं सकतीं। तुम भूत होकर प्रपंचमें निर्विष्ट हो नहीं सकते और प्रपंच चुड़ैल होकर तुम्हें लग नहीं सकती। यह बिलकुल पक्की बात है कि अध्यस्तका दोष-गुण अधिष्ठानमें और अधिष्ठानकी नित्यता, ज्ञानस्वरूपता और आनन्दरूपता अध्यस्तमें कभी व्याप नहीं सकती। इसलिए मस्त रहो। विवेकका यही फल है और इसी विवेकके न होने पर इतरेतराध्यास या अन्योन्याध्यास होता है। अर्थात् आत्मामें अनात्माके धर्मोंका अध्यास और अनात्मामें आत्माके धर्मोंका अध्यास अविद्यासे मनुष्य करते हैं। ●

अध्याय-८

अध्यास और व्यवहार

१. प्रमाण-प्रमेय व्यवहारके मूलमें अध्यास

भगवान् श्रीशंकराचार्यजी महाराजका यह एकदम मौलिक वचन है कि सम्पूर्ण प्रमाण-प्रमेय व्यवहार, चाहे वह लौकिक हो या वैदिक, आत्मा और अनात्माके इतरेतराध्यासको सामने रखकर ही होते हैं, अन्यथा नहीं। यही नहीं, विधि-निषेधमय शास्त्र तथा मोक्षपरक शास्त्र भी सब अध्यासपूर्वक ही मनुष्यको उन-उन विषयोंमें प्रवृत्त करते हैं।

खाना-पीना, सोना-बैठना, आना-जाना, वणिक्-व्यापार इत्यादि—ये सब लौकिक व्यवहार हैं। भजन-पूजन, यज्ञ-होम, संध्या-स्वाध्याय, ध्यान-समाधि—ये सब शास्त्रीय व्यवहार हैं। इन सब व्यवहारोंमें पहले आत्मा उक्त व्यवहारवाला तथा उस व्यवहारके योग्य करणवाला बन बैठता है, तभी वे सब व्यवहार होते हैं, अन्यथा नहीं होते। अन्तःकरणमें मैं-मेरा भाव अध्यारोपित किये बिना कोई भी व्यवहार सम्भव नहीं है। दूसरे शब्दोंमें अध्यास ही समस्त व्यवहारका मूल है।

श्रुतिमें जहाँ आत्माके श्रोता, मन्ता, बोद्धा स्वरूपका वर्णन है वह आध्यासिक ही है। तत्त्वज्ञानके लिए आत्माको उसके प्रमाता स्वरूपसे भी पृथक् समझना पड़ता है। प्रमाणसे तादात्म्य करके ही आत्माकी संज्ञा प्रमाता होती है; तथा प्रमाता ही प्रमाणके व्यवहारमें प्रवृत्त होता है। अतः प्रमाण-प्रमेय व्यवहार अध्यासका विलास है।

व्यवहारमात्र अध्यासका क्षेत्र है और परमार्थ अव्यवहार्य है।

अध्यास अविद्या है। इससे सिद्ध होता है कि सम्पूर्ण शास्त्र अविद्यावान्के लिए ही हैं। इसमें चौंकनेकी जरूरत नहीं। वेदमें ही लिखा है कि वेदकी

उत्पत्ति भी विराट्-शरीरके साथ-साथ ही होती है।[1] तैत्तिरीय उपनिषद्में वेदोंको बाध्यमान मनोमय कोषके अन्तर्गत माना है;[2] तथा बृहदारण्यकोपनिषद्में सुषुप्तिमें वेदोंका अभाव बताया है।[3]

जहाँ वेद कर्तृत्वकी स्थापना करता है वहाँ तो अध्यास स्पष्ट ही है। इस प्रकार विधिनिषेधमय सम्पूर्ण वेद अध्यासपूर्वक ही धर्मानुष्ठानका विधान करता है। रही मोक्ष-शास्त्रकी बात, सो उसका अधिकारी भी अज्ञानी ही है क्योंकि अज्ञानी ही बद्ध है। जो ज्ञानी महापुरुष हैं, उनके लिए मोक्ष-शास्त्र प्रयोजन-हीन है। जहाँ कहीं ज्ञानीकी प्रवृत्ति इन शास्त्रोंमें देखी भी जाती है वहाँ या तो वह कालक्षेपका साधन है अथवा पूर्वाभ्यासकी बाधितानुवृत्ति है। जिज्ञासुके निमित्तसे वह शास्त्रको अपनी वाणीका विषय बनाता है।

२. प्रमाण-विचार

प्रश्न : यदि वेद-शास्त्र अविद्यावान्के लिए ही हैं तो फिर वे प्रमाण कैसे हो सकते हैं ?

उत्तर : वेदान्तमें 'प्रमाण' का अर्थ समझना चाहिए। 'प्रमा' शब्दका अर्थ है 'अबाधित ज्ञान।' उस प्रमाका जो करण (यंत्र) है उसको 'प्रमाण' कहते हैं : **प्रमाकरणं प्रमाणम्**। जैसे रूप-ज्ञानका करण नेत्र है क्योंकि कान, नाक आदि अन्य करणोंसे नेत्रद्वारा प्रदत्त रूप-ज्ञानका न तो ग्रहण ही शक्य है और न बाध। इसी प्रकार शब्द-ज्ञानके सम्बन्धमें श्रोत्र प्रमाण हैं; गंध-ज्ञानमें नाक (घ्राणेन्द्रिय) प्रमाण है; स्वाद-विषयमें रसनेन्द्रिय प्रमाण है और स्पर्शज्ञानके विषयमें त्वचा प्रमाण है। ये पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ **प्रत्यक्ष-प्रमाण** कहलाती हैं। शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गंध जो इन इन्द्रियोंके विषय हैं वे **प्रमेय** कहलाते हैं। इन प्रत्यक्ष-प्रमाणों द्वारा जो इनके प्रमेयोंको ग्रहण करता है वह इन्द्रियवान् अहमर्थ **प्रमाता** है।

---

१. तस्माद् यज्ञात् सर्वहुत ऋचः सामानि यज्ञिरे।
छन्दांसि जज्ञिरे तस्माद् यजुस्तस्मादजायत ॥ (पुरुष सूक्त)

२. तस्य यजुरेव शिरः। (तैत्ति० २.३)

३. तत्र वेदा अवेदा भवन्ति (बृ० ४.३.२२)

प्रत्यक्ष प्रमाणोंके आधार पर ही **अनुमान** और **उपमान** प्रमाण हैं। प्रत्यक्षका अनुयायी है अनुमान और प्रत्यक्षके आश्रित है उपमान। धुएँको देखकर जंगलमें अग्निका अनुमान होता है क्योंकि घरमें धुएँ और अग्निका सहसम्बन्ध प्रत्यक्ष ज्ञानका विषय होता है। इसी प्रकार 'मोहन शेर है' इस उपमानसे मोहनकी बहादुरीका ज्ञान होता है क्योंकि शेरकी बहादुरी पहले प्रत्यक्षसे ज्ञात है।

शब्द-प्रमाण उन विषयोंके सम्बन्धमें होता है जो प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमानसे न जाने जायँ। जैसे 'वरुणदेवता घड़ेमें बैठे हैं' इस वाक्यसे जिन वरुणदेवताका ज्ञान होता है वह अन्यथा ज्ञेय नहीं हैं।

शब्द-प्रमाणके अन्तर्गत भूतके सम्बन्धमें ऐतिहासिक लोग **ऐतिह्य-प्रमाण** मानते हैं जिससे यह ज्ञान होता है कि ऐसा हुआ। पौराणिक लोग **सम्भव-प्रमाण** मानते हैं। 'ऐसा हुआ या ऐसा होगा' यह ज्ञान नहीं, बल्कि 'ऐसा हो सकता है' यह ज्ञान पुराणोंसे होता है।

नाट्य-शास्त्री **चेष्टा**को प्रमाण मानते हैं क्योंकि नाटकमें पात्र चेष्टासे ही बहुत-सी अनकही बातोंका ज्ञान दूसरोंको सम्प्रेषित कर देता है।

मीमांसक लोग दो प्रमाण और मानते हैं : **अर्थापत्ति** एवं **अनुपलब्धि**। ये अनुमानके ही बच्चे-कच्चे हैं। इनमें अनुमान प्रत्यक्षके आधार पर भी होता है और शब्दके आधार पर भी। स्पष्टार्थके अतिरिक्त उसीके आधार पर छिपे हुए अर्थका बोधक अर्थापत्ति प्रमाण होता है। अनुपलब्धि-प्रमाणसे समस्त अभावोंका ज्ञान होता है; जैसे घटकी अप्रतीतिसे घटाभावका ज्ञान होता है। इस उदाहरणमें प्रत्यक्षमूलक अनुपलब्धि प्रमाण है। परन्तु सुषुप्तिमें सर्वदृश्यका अभाव है, वह प्रत्यक्षप्रमाणसे सिद्ध नहीं है। अतः सुषुप्ति शब्दमूलक अनुपलब्धि प्रमाणका उदाहरण है। प्रत्यक्षमूलक अर्थापत्तिका उदाहरण है कि मान लो किसीने कहा कि 'सोहन मोटा है परन्तु वह दिनमें भोजन नहीं करता।' इस वाक्यका गूढार्थ यह है कि सोहन रातको भोजन अवश्य करता है। यह ज्ञान यहाँ वाक्यार्थसे अर्थापत्तिसे निकलता है। शब्दमूलक अर्थापत्तिका उदाहरण है—**नेह नानास्ति किञ्चन**—यह श्रुति-वाक्य। नानात्वका यह निषेध तभी सम्भव है जब नानात्व वास्तवमें मिथ्या हो और अभेद सत्य हो। अतः इस वाक्यसे

नानात्वका मिथ्यात्व और अभेदका सत्यत्व–दोनों ज्ञान अर्थापत्ति-प्रमाणसे गृहीत हैं।

साम्प्रदायिक लोग अपने-अपने महापुरुषोंके वाक्योंको भी प्रमाण मानते हैं। इसको वे **आप्त-प्रमाण** बोलते हैं। किन्तु आप्तोंमें भी तारतम्य होता है। जो जितना ऊँचा महापुरुष है उसके वचन उतने ही अधिक प्रमाण हैं। उदाहरणार्थ जैनमतमें अवरोह क्रमसे तीन कोटियाँ आप्त-वाक्योंकी हैं : तीर्थंकर, श्रावक और अध्येता।

वेदका प्रामाण्य आप्त वाक्योंकी अपेक्षा विलक्षण है। वेदके प्रामाण्यके सम्बन्धमें दो धाराएँ हैं : (१) ईश्वरके वचन होनेसे वेद प्रमाण हैं और (२) ईश्वरका यथार्थ निरूपण करनेके कारण वेद प्रमाण हैं। पहली धारामें अनुशासन है, विधि है, निषेध है। दूसरीमें सत्यका शंसन है, प्रकाश है। पहली व्यावहारिक है दूसरी पारमार्थिक। अनुशासन स्वतंत्र नहीं है, वह व्यक्तिको सत्यके साक्षात्कारके योग्य बनानेके लिए है। अनुशासन शंसनानुसारी है।

प्रश्न यह है कि सृष्टिके मूलमें जो ईश्वर है उसका ज्ञान किस प्रमाणसे होगा? प्रत्यक्ष-प्रमाण जो इन्द्रियाँ हैं वे अपने-अपने प्रमेयोंका ही पूर्ण प्रकाश नहीं करतीं, तब वह अपरिच्छिन्न परिपूर्ण ईश्वरको कैसे प्रकाशित करेंगी? ईश्वर न किसी एक इन्द्रियका विषय है और न सब इन्द्रियाँ मिलकर ही ईश्वरका दर्शन करा सकती हैं। अब कहो कि हम बुद्धिसे अनुपलब्धिके द्वारा पूर्ण ईश्वरको जान लेंगे तो प्रत्यक्ष-प्रमाणका कोई आधार, लिंग या आश्रय न होनेसे इन अनुमानादि प्रमाणोंके द्वारा भी ईश्वरका ज्ञान नहीं हो सकता।

यदि कहो कि हम अन्तःकरणको इतना सूक्ष्म बना देंगे कि वह अपने आप ईश्वरको देख सकेगा तो यह भी सम्भव नहीं है। पहले तो अन्तः-करणके लिए भ्रम, प्रमाद, करणापाटव और विप्रलिप्सा आदि दोषोंसे मुक्त होना कठिन है, उसमें भी प्रज्ञाका तारतम्य देखनेमें आता है। फिर प्रज्ञा ईश्वरकी प्रकाशिका है या ईश्वर प्रज्ञाका प्रकाशक है? स्पष्ट है, ईश्वर ही प्रज्ञाका प्रकाशक है। अन्तमें इसका निर्णय कैसे होगा कि प्रज्ञासे जिस तत्त्वका साक्षात्कार हुआ है वह ईश्वर ही है? इसलिए प्रज्ञा ईश्वरके

विषयमें प्रमाण है, इसके साथ यह भी मानना पड़ेगा कि प्रज्ञाके द्वारा वही ईश्वर ज्ञात हो जो किसी प्रामाणिक संविधानकी कसौटी पर खरा उतरता हो। यह संविधान वेद है।

इस प्रकार ईश्वरके सम्बन्धमें मात्र शब्द प्रमाण है। शब्दोंमें भी वेद, वेदमें भी शंसनात्मक उपनिषद् भाग, उपनिषद्में भी ब्रह्म और आत्माके अलग-अलग व्याख्यान करनेवाले अवान्तर वाक्य नहीं अपितु दोनोंकी सिद्ध एकताके दिग्दर्शक महावाक्य, प्रमाण हैं। इसमें भी महावाक्योंके अर्थसे जन्य जो अखण्डार्थधी (ब्रह्माकार वृत्ति) है, वही प्रमाण है।

वेदान्तमें छः प्रमाण स्वीकृत हैं : प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान, अर्थापत्ति, अनुपलब्धि और शब्द। किन्तु वास्तवमें तो प्रमाण दो ही हैं—प्रत्यक्ष और शब्द। इनमें भी प्रत्यक्ष इन्द्रियोंकी जो वृत्तियाँ हैं वही प्रमाण हैं गोलक नहीं। शब्द तो वृत्यात्मक है ही। अतः प्रमाण एक ही है—वृत्ति, चाहे वह इन्द्रिय और विषयके संयोगसे उत्पन्न हो अथवा शास्त्रके श्रवण-मनन-निदिध्यासनसे।

३. शास्त्र अज्ञानीके लिए हैं या ज्ञानीके लिए ?

अब हम इस प्रश्नपर विचार करते हैं कि यदि मोक्ष-शास्त्र अविद्यावान्के लिए ही हैं तो प्रमाण कैसे ? शास्त्र ब्रह्म और आत्माकी एकताके ज्ञानमें प्रमाण हैं—किन्तु शंसनके द्वारा ही, शासनके द्वारा नहीं। प्रयोजन जो मोक्ष है वह अज्ञानीको ही इष्ट है और वह ब्रह्मात्मैक्य-बोधसे ही सिद्ध होता है। अतः अज्ञान रहते हुए ही जब मुमुक्षु महावाक्योंका विचार करता है तो उससे प्रयोजनकी सिद्धि होती है। मोक्ष-शास्त्रमें प्रवृत्ति अज्ञानीकी ही होती है। ज्ञानीके लिए तो वह उसके अनुभवका अनुवाद मात्र है।

विधि-निषेधमय शास्त्र अनुशासनमें प्रमाण इसलिए है क्योंकि उसके अनुसार चलनेसे अज्ञानीमें शंसित सत्यके ग्रहणकी योग्यता आती-ही-आती है। ज्ञानीको विधि-निषेधके पालनसे कोई प्रयोजन नहीं है, क्योंकि उसने सत्यको ग्रहण किया हुआ ही है।

शुद्ध चेतनमें प्रमाता-प्रमेयका व्यवहार नहीं हो सकता क्योंकि वह अद्वितीय है। उपनिषद्‌में भी **'कं केन पश्येत्'** कहकर भूमामें सम्पूर्ण व्यवहारका निषेध किया है। जब इस अद्वितीयताका अज्ञान रहता है तो आत्माके सत्-अंशमें द्रव्यका और द्रव्यगत कर्मका भ्रम होता है, चिदंशमें जीवका (प्रमाताका) और द्रव्याश्रय ईश्वरका भ्रम होता है और आनन्दांशमें प्रिय-अप्रियका भ्रम होता है। यह प्रियता कभी ईश्वरमें तो कभी जीवमें, कभी जड़तामें तो कभी मिथ्या दर्शनमें मालूम पड़ती है। किन्तु सच्चाई यह है कि उपलब्धि (ज्ञान)के अतिरिक्त न कोई सत्ता है न आनन्द।

कर्मेन्द्रियोंकी उपाधिसे आत्मा कर्ता, मनकी उपाधिसे आत्मा भोक्ता और बुद्धि तथा ज्ञानेन्द्रियोंकी उपाधिसे आत्मा प्रमाता होता है। व्यवहार-कर्ता जो कर्ता, भोक्ता, प्रमाता है वह आत्माका ही आध्यासिक रूप है। यह अध्यास नहीं है, सत्य है, यह अविवेकीकी दृष्टि है। यह नैसर्गिक अध्यास है किन्तु मिथ्या है—यह विवेकीकी दृष्टि है। अध्यास नामकी कोई वस्तु आत्मामें है ही नहीं, अद्वितीय आत्मा ही सत्य है—यह तत्त्वज्ञकी दृष्टि है। इस प्रकार अविवेकीको ही विवेक-दृष्टि प्रदान करनेके लिए शास्त्रकी प्रवृत्ति है। तत्त्वज्ञकी दृष्टिमें तो आत्मासे पृथक् कुछ अनुभव ही नहीं होता। ऐसा होनेपर भी तत्त्वज्ञ जब व्यवहार करेगा तो वह भी मन-इन्द्रियोंके साथ तादात्म्य करके ही व्यवहारमें प्रवृत्त होगा। अनध्यस्त आत्मभाववाले शरीरसे कोई भी व्यापार नहीं कर सकता। अध्यासके बिना असंग, निर्विकार, कूटस्थ एवं चिन्मात्र आत्मामें प्रमातृत्वादि व्यवहार उपपन्न नहीं हो सकता। जहाँ-जहाँ अध्यास है वहाँ-वहाँ व्यवहार है, जैसे जाग्रत् और स्वप्नमें; जहाँ अध्यास नहीं है वहाँ व्यवहार भी नहीं है, जैसे सुषुप्तिमें। अतः सम्पूर्ण व्यवहार अध्यासपूर्वक ही होता है, यह बात अन्यथानुपपत्तिसे सिद्ध है।

प्रश्न :— फिर तो ज्ञानी-अज्ञानीके व्यवहारमें कोई भेद ही नहीं है। तब ज्ञानकी भी क्या महिमा है ?

उत्तर :— श्रीशंकराचार्य भगवान्‌का इस विषयमें क्रान्तिकारी उत्तर है कि ज्ञानी-अज्ञानीकी ही बात नहीं, पशु आदिके व्यवहारसे भी विद्वान्‌के व्यवहारमें कोई विशेषता नहीं है : **पश्वादिभिश्चाविशेषात्**। अन्तर है तो सिर्फ दृष्टिका। ज्ञानीकी दृष्टिमें सब बाधित भासमान है और आत्मा

अबाधित भासमान; उसके लिए सब भान ही है, जो भानात्मासे एक है। अज्ञानीकी दृष्टिमें सब यथागृहीत सत्य है अतः वहाँ अविद्या और तज्जन्य दुःख, भय और बन्धन भी सत्य हैं। पशुकी कोई स्वतंत्र दृष्टि नहीं है। वह प्राकृतिक आवेशोंके पराधीन होकर व्यवहारमें प्रवृत्त होता है।

पशु, अज्ञानी मनुष्य और ज्ञानी पुरुषके व्यवहारमें जो समानता है वह है—सर्वत्र अध्यासपूर्वक व्यवहार, अनुकूलके प्रति प्रवृत्ति और प्रतिकूलसे निवृत्ति। जैसे पशु डण्डेसे डरकर भागता है और हरी घासको देखकर उसके प्रति आकर्षित होता है, वैसे ही मनुष्य भी, चाहे ज्ञानी हो या अज्ञानी, क्रूर आक्रामकसे दूर भागता है और सौम्य मृदुभाषी मनुष्यके प्रति अकर्षित हो जाता है। अनुकरण और विरोधकी ये वृत्तियाँ मनुष्य और पशुमें समान हैं और इसका हेतु है उनके प्रत्यक्ष ज्ञानपर आधारित अन्वय-व्यतिरेकी ज्ञान।

प्रश्न : पशुमें बुद्धि नहीं होती और उसे ब्रह्मज्ञान भी नहीं हो सकता। वे यज्ञादि शास्त्रीय व्यवहार भी नहीं कर सकते। किन्तु मनुष्यमें बुद्धिका सर्वोच्च विकास है, वह शास्त्रीय व्यवहार भी कर सकता है तथा ब्रह्मज्ञान भी प्राप्त कर सकता है। फिर यह कथन कि पशुके व्यवहारसे ज्ञानीके व्यवहारमें कोई विशेषता नहीं है, ठीक नहीं है।

उत्तर : उक्त कथनमें यह बात नहीं कही गयी कि सबका व्यवहार एक-सा है। कहना यह है कि सबके व्यवहारकी प्रक्रिया एक-सी है। सब अध्यासपूर्वक (देहमें अहं-मम भाव करके) व्यवहारमें प्रवृत्त होते हैं, अनुकूलके प्रति आकर्षित होते हैं और प्रतिकूलसे हटते हैं।

पशुमें बुद्धि नहीं होती, यह बात सही नहीं है। अपना-अपना व्यवहार चलानेकी बुद्धि सबमें होती है। आहार, निद्रा, भय और सन्तानोत्पत्ति—यह व्यवहार मनुष्यों और पशुओंमें समान है और इसकी बुद्धि भी सबके पास है।

यह ठीक है कि पशुको मनुष्यके शास्त्रसे ब्रह्मज्ञान नहीं हो सकता, किन्तु अपनी बोलीमें उनको ब्रह्मज्ञान हो सकता है। नन्दी (शंकर भगवान्‌का बैल) तत्त्वज्ञ थे, फिर वे किसी बैलको अपनी बोलीमें तत्त्वज्ञान करा दें तो क्या आश्चर्य! इसलिए पशु आदिको भी अपनी जातिके तत्त्वज्ञ

पशुओं द्वारा ब्रह्मज्ञान कराया जा सकता है। गरुड़-काकभुशुण्डिका उदाहरण प्रसिद्ध है।

शास्त्रीय व्यवहार मनुष्यके लिए हैं, पशुओंके लिए नहीं, इसमें किसीको क्या इन्कार है। परन्तु मनुष्योंमें भी अविद्यावान् ही शास्त्रीय व्यवहारके अधिकारी हैं, तत्त्वज्ञ ज्ञानी नहीं। जिसकी अविद्या नष्ट नहीं हुई, वह शास्त्रज्ञ होनेपर भी अज्ञानी ही है। उसपर शास्त्रका अनुशासन है और रहना चाहिए भी। परन्तु ब्रह्मतत्त्वको आत्मत्वेन जाननेके कारण जिसके लिए प्रपंच सर्वदाके लिए मिथ्या हो गया है उस ज्ञानीके लिए शास्त्र निष्प्रयोजन है।

मुमुक्षुओंमें इस प्रश्न पर अक्सर चर्चा होती है कि ज्ञानके पश्चात् ज्ञानीका व्यवहार कैसा होगा? इसको आप उदाहरणसे समझें। आप इस घटको पहचान लें कि यह घट है। बादमें आप इसे खाली रखें, इसमें गंगाजल भरें, शराब भरें या पनालेका पानी भरें या इसे फोड़ दें—आपकी स्वतन्त्रता है। इसका घटज्ञानसे कोई सम्बन्ध भी नहीं है। इसी प्रकार अपने आत्माको ब्रह्म जाननेके पश्चात् इस मिथ्या अन्तःकरणमें समाधि लगायें (घट खाली रखें) इसको भगवद्-भक्तिरूपी गंगाजलसे भरें, सांसारिक व्यवहाररूपी शराबसे भरें अथवा इस देहघटको ही फोड़ दें (शरीर त्याग कर दें) इसमें तत्त्वज्ञानीका स्वातंत्र्य है। प्रयोजन और तदनुकूल व्यवहार वासनापूर्वक ही होता है। इसका ज्ञानसे सम्बन्ध नहीं है। श्रीशंकराचार्य भगवान् कहना यह चाहते हैं कि तत्त्वज्ञका व्यवहार भी वासना और अध्यासपूर्वक ही होता है भले वह बाधित ही क्यों न हो!

प्रश्न : यदि यह माना जाय कि शास्त्रीय व्यवहार ज्ञानीके लिए भी है, तो क्या आपत्ति है?

उत्तर : इसमें आपत्ति है कि शास्त्रीय व्यवहारके सम्पादनमें अधिकारीकी अपेक्षा है। वर्ण, आश्रम, वय, लिंग, देश, काल, वस्तु, रुचि, सामर्थ्य, विधि-ज्ञाता—इन सबके विचारपूर्वक अधिकारीका निर्णय होता है। यह भी देखना पड़ता है कि अधिकारीमें 'फलस्वामितायोग्यता' भी है या नहीं, अर्थात् शास्त्रीय कर्मके फलको धारण करनेमें वह समर्थ है भी या

नहीं। इसका अर्थ है कि शास्त्रीय व्यवहारका अधिकार वर्ण, आश्रम, वय, लिंग आदिका आत्मामें अध्यास करके ही सिद्ध होता है, अन्यथा नहीं। अब ज्ञानी तो वह है जिसमें वर्णाश्रमादिका कोई अभिमान नहीं, देश-काल-वस्तुकी कोई अज्ञात सत्ता नहीं। अब वह नित्य-नैमित्तिक-काम्य कर्मोंका अधिकारी भी नहीं है। उल्टे उक्त अधिकार का उससे विरोध है। ऐसी स्थितिमें शास्त्र ज्ञानीके लिए नहीं हो सकते।

यह शंका मत करो कि तब तो शास्त्र व्यर्थ हैं क्योंकि आत्मज्ञानसे पूर्व सबका उपयोग है। ब्रह्मज्ञान होनेसे पूर्व मोहवश जो शास्त्र और शास्त्रीय व्यवहारका त्याग है वह अनर्थका हेतु है। यह तो छत पर पहुँचनेसे पूर्व ही सीढ़ीको छोड़ देनेके समान है।

शास्त्रका आचार-प्रकरण चरित्र-शुद्धिके लिए है। साधन-समाधि प्रकरण अन्तःकरणकी शुद्धिमें उपयोगी है। आत्मा-सम्बन्धी प्रकरण श्रवणादिमें उपयोगी है। शास्त्र मुमुक्षुको विषयसे इन्द्रियोंमें लाता है; इन्द्रियोंसे अन्तःकरणमें, अन्तःकरणसे कर्ता-भोक्ता जीवमें, जीवसे साक्षीमें और साक्षीसे ब्रह्मात्मैक्य-बोधमें लाता है। अविद्यावान् मुमुक्षुको चाहिए कि अध्यासपूर्वक अपनेमें शब्द-प्रमाणरूपी शास्त्रका प्रमातृत्व धारण करे और ब्रह्मात्मैक्य-बोधरूपी प्रमेयका अनुसन्धान करके अपने ब्रह्मस्वरूपका साक्षात्कार करे। तदनन्तर शास्त्रमें प्रमाणत्व और अपनेमें प्रमातृत्व बाधित हो जायेगा। इसलिए शास्त्र अविद्यावान्‌को आश्रय करने पर भी व्यर्थ नहीं होते।

४. निष्कर्ष

अध्यासके निरूपणका सार यह है कि अतद्‌में तद्‌-बुद्धिका नाम अध्यास है : **अध्यासो नाम अतस्मिंस्तद्‌बुद्धिः** (अध्यास-भाष्य)। अर्थात् जो वस्तु जो है उसे वह न जानकर उसे वह जानना जो वह नहीं है, अध्यास है। कर्ता, भोक्ता, प्रमाताके रूपमें जो आत्माकी प्रसिद्धि है वह शुद्धात्माका आध्यासिक रूप है।

अध्यासका एक स्वरूप नैसर्गिक है, दूसरा शास्त्रीय है। नैसर्गिक अध्यास देह-इन्द्रियोंमें अहं-मम भावरूप है और वही प्रत्यक्ष व्यवहारका

आधार है चाहे वह व्यवहार ज्ञानीका हो, अज्ञानीका हो, मनुष्यका हो या पशु-पक्षियोंका हो। विवेकसे यह नैसर्गिक अध्यास मिथ्या अनुभव हो जाता है, किन्तु इस पर आधारित व्यवहारका लोप नहीं होता क्योंकि वह इन्द्रियों आदि उपाधिकी अपेक्षासे है। शास्त्रीय अध्यास सिर्फ मनुष्योंके लिए है और इसका उद्देश्य नैसर्गिक व्यवहारसे उत्पन्न दोषोंकी निवृत्ति करके अन्तःकरणको शुद्ध करना है। ब्रह्मात्मैक्य-बोध होने पर शास्त्रीय अध्यास निष्प्रयोजन हो जाता है।

नैसर्गिक अध्यास दो प्रकारका है : **धर्माध्यास** और **धर्मी-अध्यास**। अनात्माके धर्मोंको आत्मामें आरोपित करना धर्माध्यास है। लोग स्त्री, पुत्रादिके दुःखसे अपनेको दुःखी और उनके सुखसे सुखी मानते ही हैं। लोग तो जातिके, बिरादरीके, राष्ट्रके सुख-दुःखका अपनेमें अध्यास करके सुखी-दुःखी होते हैं। देह भी अनात्मा है अतः देहके धर्मोंका भी आत्मामें इसी प्रकार धर्माध्यास हो जाता है। "मैं मोटा हूँ, मैं पतला हूँ, मैं गोरा हूँ, मैं काला हूँ, मैं खड़ा हूँ, मैं बैठा हूँ," इत्यादि मान्यताओंमें देहके धर्मोंका आत्मामें स्पष्ट अध्यास है। इसी प्रकार इन्द्रियोंके धर्मोंका आत्मामें अध्यास करके "मैं गूँगा हूँ, मैं बहरा हूँ, मैं पंगु हूँ, मैं नपुंसक हूँ" इत्यादि मान्यताएँ होती हैं; तथा मनके धर्मोंका भी आत्मामें अध्यास होता है यथा—'मैं कामी हूँ, मैं संशयी हूँ, मैं दृढ़निश्चयी हूँ' इत्यादि। यहाँ विवेक यह करना चाहिए कि 'मैं' निर्धर्मक तत्त्व है और धर्म जिसमें हैं उसीमें रहने चाहिए, आत्मामें इनका आरोप नहीं करना चाहिए।

प्रश्न : शरीरमें दुःख या पीड़ा होने पर 'मैं दुःखी हूँ या पीड़ित हूँ' यह स्पष्ट वृत्ति बनती है। तब उसे कोई भी कैसे नकार सकता है?

उत्तर : नकारनेकी नहीं, समझनेकी बात है। दुःख या पीड़ा अनुभविताके मनकी चीज है, वह उसके मनमें ही होती है चाहे वह स्वदेहविषयक हो या परदेहविषयक। मन अन्नजन्य है। उपनिषद्का कहना है कि **अशितं त्रेधा विभज्यते** (छां०) अर्थात् खाया हुआ अन्न तीन अंशोंसे विभाजित हो जाता है। उत्तमांशसे मन बनता है, मध्यमांशसे शरीर और कनिष्ठांश मलमूत्रके रूपमें शरीरसे बाहर निकल जाता है। भाँगसे एक प्रकारका मन बनता है, शराबसे दूसरे प्रकारका; इन्जेक्शनसे

मन सो जाता है और मनके सोनेके साथ दुःख और पीड़ा भी सो जाती है। अतः अन्वय-व्यतिरेकसे दुःख और पीड़ा मनमें ही है।

अब मनका धर्म मनमें ही रहने दो और आत्माका आत्मामें। आत्मा स्थूल-सूक्ष्म दोनों शरीरोंसे पृथक् उनका साक्षी है। वह दुःखका साक्षी है दुःखी नहीं है। जब ज्ञान होता है तब मन और उसका धर्म दोनों मिथ्या हो जाते हैं और 'मैं चिन्मात्र तत्त्व हूँ' यह बोध हो जाता है। उस समय 'मैं दुःखी हूँ'—ज्ञानीकी यह फलवृत्ति अन्तःकरणमें बनती हुई भी नहीं बनती—बनना चाहती है पूर्वाभ्यासके कारण या नैसर्गिक अध्यासके कारण; किन्तु नहीं बनती स्वरूप-बोधके कारण। यदि कभी बन भी जाय तो मिथ्यात्व-निश्चयके कारण 'अहं'को दुःखी नहीं बनाती।

हम बताना यह चाहते हैं कि पीड़ा या दुःखका मनमें अनुभव होता है और अज्ञानसे वह आत्मा पर ओढ़ लिया जाता है जिसका परिणाम है यह फलवृत्ति कि 'मैं दुःखी हूँ'। यह धर्माध्यास है। ज्ञानसे यह निवृत्त हो जाता है।

अब धर्मीके अध्यासकी बात करते हैं। यह जो अहंप्रत्ययी है जिसका स्वरूप है—मैं सुखी, मैं दुःखी, मैं विक्षिप्त, मैं वासनावान् इत्याकारक अभिमानी, यही सारे अनर्थोंकी जड़ है। प्रत्यय तो बनते हैं 'इदम्'वाच्य जड़ पदार्थोंके, परन्तु उनको अपने मैंके साथ जोड़के हम 'मैं धनवान्, मैं पुत्रवान्' आदि अहं–प्रत्ययी बन जाते हैं। 'मैं भक्त, मैं धर्मात्मा, मैं ज्ञानी'—ये भी सब शास्त्रके संस्कारोंसे प्रभावित अहं-प्रत्ययी (अभिमानी)-के ही उदाहरण हैं। यह जो कर्ता-भोक्ता-प्रमाता के स्वरूपमें मैं-पदार्थ है, यही अहं-प्रत्ययी है, यही धर्मी है और यही व्यवहारी है। इसीको 'अहमर्थ' बोलते हैं। 'अहमर्थ' अलग वस्तु है और 'अहं' (शुद्ध साक्षी) अलग वस्तु है। परन्तु 'अहं' को व्यवहारी (अहमर्थ) समझना-यही धर्मीका अध्यास है। 'अहं' को अहमर्थसे पृथक् समझना और 'अहं' को ब्रह्म समझना—इससे धर्म-धर्मि-अध्यास दोनों निवृत्त हो जाते हैं।

यह मन एक धर्मशाला है। इसमें प्रतिदिन हजारों 'इदं-अहं' के प्रत्यय आते-जाते हैं। इनके प्रति उदासीन रहना चाहिए और इन सब प्रत्ययोंका जो साक्षी है वह इनके अधिकरण मनका अधिष्ठान भी है, यह ज्ञान प्राप्त करना चाहिए। इससे समूचा मन ही मिथ्या हो जायेगा।

सिनेमाके पर्दे पर क्या आया, याद करनेकी ज़रूरत नहीं है। क्या आयेगा, इसकी भी चिन्ता करनेकी कोई ज़रूरत नहीं है। जो आरहा है उसे देखते जाओ। इनमें तुम्हारा 'मैं' कोई नहीं है, 'मेरा' कोई नहीं है। छायासे लड़ाई मत करो, प्यार मत करो, ब्याह मत करो और उनके लिए मरो मत।

"इस प्रकारसे यह अनादि-अनन्त, नैसर्गिक, मिथ्या प्रत्ययरूप तथा आत्मामें कर्तृत्व-भोक्तृत्वका प्रवर्तक अध्यास सर्वलोक प्रत्यक्ष है। यही सम्पूर्ण अनर्थोंका हेतु है। इसकी समूल निवृत्तिके लिए तथा ब्रह्मात्मैक्य-बोधकी सिद्धिके लिए सारी उपनिषदें प्रवृत्त होती हैं। वेदान्तोंका यह प्रयोजन किस प्रकारसे सिद्ध हो सकता है यही ब्रह्मविचारकी प्रक्रिया एवं लक्ष्य है।"

अतः आइये अब ब्रह्मविचार प्रारम्भ करें। ●

चतुर्थ खण्ड

त्वं-पदार्थका शोधन

अध्याय–९

प्रकृति-पुरुष-विवेक

१. क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ

ब्रह्म-विचारकी प्रक्रिया यह है कि पहले हम यह विचार करते हैं कि 'मैं क्या हूँ' ? यात्रा वहाँसे प्रारम्भ करनी चाहिए जहाँ हम हैं। उस मंजिलसे यात्रा प्रारम्भ नहीं होती जहाँ हमें पहुँचना है। ब्रह्मके स्वरूपके विचारकी कुञ्जी है आत्माके स्वरूपका विचार। इसमें एक ओर तो 'मैं'का देह-देहीसे विवेक अपेक्षित है; और दूसरी ओर देहके कारण जो पंचभूत और प्रकृति तत्त्व हैं उनसे विवेक अपेक्षित है। दूसरे शब्दोंमें, आत्माका कार्य-कारणरूप देह और प्रकृतिसे विवेक ही 'मैं क्या हूँ'—का विवेक है। 'मैं' पुरुष है और देह प्रकृति-प्राकृत है। इनका विवेक ही प्रकृति-पुरुषका विवेक है।

गीतामें भगवान् श्रीकृष्णने इस प्रकृति-प्राकृत देहका नाम 'क्षेत्र' रखा है और पुरुषका नाम क्षेत्रज्ञ।[1] क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है, ऐसा उनका निर्णय है।[2] अब गीताकी प्रक्रियासे ही इस क्षेत्र-क्षेत्रज्ञका विचार प्रारम्भ करते हैं।

विषय कोई भी हो, कार्य या कारण, यथार्थ या भ्रम, सब इदं-वाच्य ही होते हैं। इदं विषयका प्रकाशस्थान है। जो कुछ भी इदन्तासे आक्रान्त है वह सब क्षेत्र है। "यह पुस्तक है, यह मनुष्य है, यह पशु है, यह शरीर है, यह अमुक इन्द्रिय है," इत्यादि जो कुछ भी इदं-वृत्तिका विषय है वह सब क्षेत्र है। नेत्रादि इन्द्रियोंके विषय, मन-बुद्धि द्वारा दृश्य एवं कल्पित विषय तथा शास्त्रादि द्वारा संस्कारित बुद्धिसे अन्यरूपमें ज्ञेय विषय, सब

१. इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः॥ (गी० १३.१)

२. क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम। (गी० १३.२)

इदं-वृत्तिके ही विषय हैं अर्थात् उनका ज्ञान 'यह अमुक है' इसी वृत्तिके द्वारा होता है; इसलिए वे सब क्षेत्र हैं। क्षेत्रको 'दृश्य' भी कहते हैं।

जो क्षेत्रको जानता है उसको क्षेत्रज्ञ कहते हैं। क्षेत्र दृश्य है तो क्षेत्रज्ञ द्रष्टा। द्रष्टा, क्षेत्रज्ञ, साक्षी—एक ही वस्तुके नाम हैं। वस्तु है आत्मा, वह अहं-वाच्य वस्तु है। अपना आपा ही क्षेत्रज्ञ, द्रष्टा, साक्षी है।

शरीर दृश्य है, इदं-वाच्य है, इसलिए क्षेत्र है। शरीरका स्वभाव शीर्ण होना है,[3] गल-सड़ जाना है, विकारी होना है। यह पैदा हुआ है, वर्तमानमें है, बढ़ता है, घटता है, बदलता है और अन्तमें नष्ट हो जाता है। दिन-रात इसमेंसे स्वेद, मल, मूत्र, कफ, कीच, नख, केश क्षरित होते रहते हैं।[4] यह कर्मबीजका खेत है।[5] प्राचीन कर्मसंस्कारोंसे यह पैदा हुआ है और नवीन देहके लिए कर्मसंस्काररूप बीज बनाकर नष्ट हो जाता है। शरीर परिच्छिन्न दृश्य है और जड़ है, अनित्य है, परप्रकाश्य है, मिथ्या है, अनेकरूप है। इसी शरीरकी परिच्छिन्नताके कारण अपरिच्छिन्न आत्मा भी परिच्छिन्न-सा मालूम पड़ता है।[6]

क्या यही शरीर मेरा स्वरूप है? क्या मुझको अपना अनुभव इदं-वृत्तिके विषयके रूपमें होता है– 'यह मैं हूँ'? 'यह' दृश्य है और 'मैं' 'यह'का द्रष्टा हूँ। फिर मैं इदं-वाच्य नहीं हो सकता। 'यह'के होने-न-होनेका जाननेवाला 'मैं' ही हूँ। अतः 'यह' मैं नहीं हो सकता। अहं-अहं-अहं—इस वृत्तिका जो विषय होगा, वही मैं होना चाहिए।

शरीर तो दृश्य है, जड़ है। वह न अपनेको जानता है, न दूसरेको। किन्तु मैं तो द्रष्टा, चेतन हूँ। मैं अपनेको भी जानता हूँ और दूसरोंको भी। अतः मैं शरीर नहीं हूँ। शरीर विकारी है, मैं निर्विकार हूँ। यदि मैं भी विकारी हो जाऊँ तो पहले-पीछेके विकारोंका साक्षी कौन होगा? शरीर अनित्य है, परिवर्तनशील है किन्तु 'मैं' नित्य एवं कूटस्थ (एकरस, अपरिणामी) हूँ। शरीर मिथ्या है—जाग्रत्में जैसा प्रतीत होता है, स्वप्नमें वैसा प्रतीत नहीं होता और सुषुप्तिमें तो बिलकुल प्रतीत ही नहीं होता;

---

३. शीर्यते इति शरीरम्।

४. क्षरणात् क्षेत्रम्।

५. क्षेत्रवद्वा कर्मनिर्वृत्तये। (द्रष्टव्य : कठ० १.१.६)

६. क्षतात् क्षेत्रम्।

तथा अपनी प्रतीतिके लिए देश, काल, द्रव्य और साक्षीके आश्रित है। परन्तु 'मैं' सत्य हूँ—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति, समाधि सब अवस्थाओंका मैं ही साक्षी हूँ; तथा अपनी प्रतीतिके लिए किसी देश-काल-द्रव्य अथवा किसी अन्य साक्षीकी आवश्यकता नहीं है। अर्थात् मैं स्वयंप्रकाश हूँ। शरीर भासमान मिथ्या है, मैं भासमान सत्य हूँ।

सच्चाई यह है कि 'भान' ज्ञान (चेतन) है और उसीमें भासमान द्रष्टा 'मैं' और भासमान दृश्य 'यह'का भान हो रहा है। द्रष्टा-दृश्यका भेद भानमात्र मिथ्या प्रतीति है। परन्तु इस सच्चाईके अनुभवके लिए पहले द्रष्टाका दृश्यसे अलगाव करना आवश्यक है, क्योंकि अज्ञानके कारण सत्य द्रष्टाका मिथ्या दृश्यके साथ मिथुनीकरण हो गया है और 'मैं यह हूँ' अथवा 'यह मेरा है' यह अध्यास हो गया है। साथ ही आज तक जो कुछ किया है, सुना है, भोगा है उससे यह अध्यास दृढ़ीभूत होकर वज्र हो गया है। हम इस शरीर, इन्द्रियों और मन-बुद्धिके साथ तथा इनके धर्मोंके साथ एक हो गये हैं। तभी तो हम अपना जन्म-मृत्यु स्वीकार करते हैं; अपनेको कर्ता, भोक्ता, ज्ञाता स्वीकार करके एक अन्तःकरणके साथ तादात्म्यापन्न रहते हुए अपनेको परिच्छिन्न परतन्त्र संसारी जीव मानते हैं तथा अपनेको दूसरोंसे पृथक् मानते हैं।

प्रश्न : शरीर अनेक हैं। उनमें कर्ता-भोक्ता-ज्ञाता जीव भी अनेक मालूम पड़ते हैं। सब लोग इन्हींको 'मैं' मानकर पृथक्-पृथक् व्यवहार करते हैं। फिर सब शरीरोंमें एक ही चिदात्मा है और वही 'मैं' हूँ, यह ज्ञान कैसे सम्भव है ?

उत्तर : कर्ता-भोक्ताका नाम द्रष्टा या क्षेत्रज्ञ नहीं है। कर्ता-भोक्ता तो जीव है जो प्रतिशरीर भिन्न-भिन्न मालूम पड़ता है। यह जीव क्षेत्रज्ञ (शुद्ध आत्मा) का औपाधिक रूप है। जैसे हम सम्पूर्ण देहमें एक ही हैं किन्तु जब जिस इन्द्रिय या अंगसे तादात्म्य करते हैं तब सिर्फ़ उसी इन्द्रिय या अंगका ज्ञान कर पाते हैं ; उसी प्रकार क्षेत्रज्ञ सब क्षेत्रोंमें एक ही है किन्तु वह जब जिस अन्तःकरणके साथ तादात्म्य करता है तब सिर्फ उसीके गुण-धर्मका अनुभव करता है। क्षेत्रज्ञ अन्तःकरणके साथ तादात्म्य करके ही जीव संज्ञावाला होता है और जीव-जीवमें भेद उत्पन्न होता है।

सुषुप्तिके अज्ञानका ज्ञाता और सुषुप्तिके सुखका भोक्ता क्या प्रतिशरीर भिन्न अनुभव किये जा सकते हैं ? नहीं, क्योंकि वहाँ अन्तःकरणकी उपाधिका ही अभाव है। जीवोंके परस्पर भेद जाग्रत् और स्वप्न-अवस्थाओंमें ही सिद्ध होते हैं क्योंकि वहाँ अन्तःकरण रहते हैं। क्षेत्रज्ञ तो जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्तिमें एक ही है किन्तु अविद्याके कारण जाग्रत् और स्वप्नकी उपाधियोंके भेदको क्षेत्रज्ञ में आरोप करके क्षेत्रज्ञमें भी भेदका आरोप कर लेते हैं।

बुद्धि किसीकी भी वासनासे विनिर्मुक्त नहीं होती, नहीं हो सकती है क्योंकि उसके निर्माणके मूलमें ही अविद्या, काम और कर्म रहते हैं। अतः इस बुद्धिको सोने-जागने दो। तुम इस बुद्धिके भावाभावके द्रष्टा हो। तुम अपने स्वरूपमें जाग्रत रहो।

ज्ञानमें भेद नहीं हो सकता क्योंकि सारे भेद ज्ञानसे प्रकाशित होते हैं। इसलिए मैं अभेद ज्ञानस्वरूप हूँ। विचार कीजिये :—

(क) विषयमें भेद होनेसे ज्ञानमें भेद नहीं होता। उदाहरणार्थ वही एक मैं उन्हीं अपनी आँखोंसे यह तुलसीपत्र भी देख रहा हूँ और इस घड़ी को भी। द्रष्टा और नेत्रमें ज्ञान एक ही है यद्यपि विषय अलग-अलग हैं।

(ख) इन्द्रिय-भेदसे भी ज्ञानमें भेद नहीं होता। फूल एक है किन्तु प्रत्येक इन्द्रिय उसका अलग-अलग ज्ञान बताती है। फूलका द्रष्टा, स्प्रष्टा, घ्राता, रसयिता एवं श्रोता भी एक मैं ही है। अतः ज्ञानका विषय फूल भी एक है और ज्ञानका आश्रय मैं भी एक है यद्यपि इन्द्रियाँ अनेक हैं।

(ग) कालके परिवर्तनसे ज्ञानमें भेद नहीं होता। उदाहरणार्थ जब ७ बजे थे तब भी मैंने घड़ी देखी थी और अब ८ बजा है तब भी मैंने घड़ी देखी है। समय पृथक्-पृथक् है किन्तु देखनेवाला एक है, ज्ञान एक है। सृष्टिके आदिकाल और प्रलयकालको कल्पना करनेवाला एक ही है। शरीरका जन्म और मरणकी कल्पना करनेवाला एक ही है।

(घ) दिशाओंके भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं होता। क्योंकि जो मैं पूर्व दिशाको जानता हूँ वही मैं पश्चिम, उत्तर, दक्षिण, ईशान, वायव्य, ऊपर-नीचेकी दिशाओंको जानता हूँ।

(ङ) आकारके भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं होता। मैंने तुलसीका बीज देखा, तुलसीको अंकुरित होते देखा, बढ़ते देखा, अन्तमें मंजरीसहित

देखा। तुलसीके आकार बदलते रहे, पर मैं नहीं बदला। (ऐसे ही शरीरके आकारोंके बारेमें विचारना चाहिए)।

(च) जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, **अवस्थाओंके भेदसे भी ज्ञानमें भेद नहीं होता।** जो मैं जागता था, वही मैं स्वप्न देखता था और वही मैं गाढ़ निद्रामें सो गया था।

(छ) **कर्मभेदसे भी ज्ञानमें भेद नहीं होता।** एकबार निषिद्ध कर्म किया, पापी हो गये। एकबार पुण्य कर्म किया, पुण्यात्मा हो गये। लेकिन अपनेको पापी या पुण्यात्मा जाननेवाले तो तुम ही हो।

(ज) **रागद्वेषमें भेद होने पर भी ज्ञानमें भेद नहीं होता।** किसी से मित्रता करो या शत्रुता, अन्तःकरण तो दर्पणके समान है। उसके सम्मुख जिस रंगकी वस्तु हो वैसी ही वह दिखा देता है, लालको लाल और हरेको हरा। इसी प्रकार शत्रु-मित्र सम्मुख आया तो अन्तःकरणमें क्रमशः द्वेष-राग प्रकाशित हो गया।

सुखका ज्ञान भी तुमको होता है और दुःखका ज्ञान भी तुमको ही होता है। सुखी-दुःखीपना, ये ज्ञान नहीं हैं; भावनामात्र हैं, अभिमान हैं। अन्तःकरणमें एकबार शान्ति आयी, एक बार विक्षेप आया। किन्तु विक्षेप और शान्ति दोनोंका ज्ञान तुम्हें ही होता है। विक्षेप या शान्तिके भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं होता। समाधि कालमें होती है और टूटती है। जब कालका प्रभाव ज्ञानमें भेद नहीं करता, तब समाधि या विक्षेप कैसे करेंगे?

(झ) **स्मृति-विस्मृतिसे भी ज्ञानका नाश नहीं होता।** अभी आपको घटकी स्मृति नहीं है तो क्या घट नष्ट हो गया या आपका घड़ेका ज्ञान नष्ट हो गया? दोनों नहीं हुए। ज्ञान ऐसा तथ्य है जो विषय, इन्द्रिय, अवस्था, देश, काल, कर्म, सुख-दुःख, विक्षेप-समाधि, स्मृति-विस्मृति किसी से भी नष्ट या भ्रष्ट नहीं होता।

भिन्न-भिन्न शरीरोंमें भिन्न-भिन्न अन्तःकरण होने पर भी उनमें जो ज्ञान है, उसमें भेद नहीं होता। वह ज्ञान ही आत्मा है। प्रत्येक अन्तःकरणमें पृथक्-पृथक् जो अहं है—'मैंने यह देखा, मैंने यह पाया, मैंने यह खोया, यह जाना', उस अहंकारके पृथक्त्वसे भी ज्ञानात्मामें भेद नहीं होता क्योंकि सबमें 'अहं-अहं' हो रहा है। यह बात भी ज्ञानके द्वारा ही ज्ञात हो रही है।

इसका अर्थ है कि ज्ञान व्यष्टि-समष्टि दोनोंसे और सबके अहंकारसे भी पृथक् है। पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश-- ये पंच महाभूत, अहंकार, महतत्त्व तथा प्रकृति—ये सब तो क्षेत्रके ही अन्तर्गत हैं। अतः ज्ञानमें भेद डाल सके, यह सामर्थ्य इनमें नहीं है। ऐसा असंसारी ज्ञान न स्वर्गमें जाता है, न नरकमें पड़ता है। उसकी मुक्ति भी नहीं होती क्योंकि बन्धन ही उसमें नहीं है। ज्ञान नित्य मुक्त है।

ऐसा ज्ञान अपना स्वरूप है। इसी ज्ञानमें कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड—अपनी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयके साथ स्फुरित हो रहे हैं। अनन्त देश, अनन्त काल, ब्रह्मासे कीटपर्यन्त समस्त प्राणी, इसी ज्ञानमें स्फुरित होते हैं। कोटि-कोटि क्षेत्र एवं उनमें प्रतीयमान कोटि-कोटि क्षेत्रज्ञ जिस अखण्ड, अद्वय ज्ञानमें प्रकाशित होते हैं वही परमार्थ ज्ञान है। यही भगवत्-तत्त्व है और ऐसा बोध ही उसका साक्षात्कार है।

शास्त्रोंमें जो भेदका वर्णन है वह अज्ञानीकी दृष्टिका अनुवाद है और जो अभेदका वर्णन है वह ज्ञानीकी दृष्टिका अनुवाद है। स्पष्ट है कि शास्त्र अज्ञानीके लिए है और अज्ञानीको ज्ञानीकी दृष्टि प्राप्त कराना, यह शास्त्रका लक्ष्य है। क्षेत्रमें भी पृथक्-पृथक् केवल आकृतियाँ ही देखनेमें आती हैं। इनके भीतर जो मूल धातु पञ्च-तत्त्व हैं वे तो एक ही हैं। अतः क्षेत्रको भी जो अनेक कहा जाता है वह मात्र अनेकताकी प्रतीतिका अनुवाद है। सब क्षेत्रोंमें एक-एक क्षेत्रज्ञ बताया, यह भी प्रतीतिका ही अनुवाद है।

जैसे स्वप्नमें एक हजार मनुष्योंकी भीड़ देखी। वे सब, उनकी आकृतियाँ, जाति, गुण, स्वभाव सब पृथक्-पृथक् दीखते थे। इस प्रकार स्वप्नमें क्षेत्र बहुत दीखते थे। उन सब क्षेत्रोंमें पृथक्-पृथक् क्षेत्रज्ञ भी जान पड़ते थे। परन्तु तत्त्वतः स्वप्नके सब पशु-पक्षी, कीट-पतंग, देवता-मनुष्यमें आत्मा तो एक ही है। स्वप्नमें तत्त्व-दृष्टि नहीं थी। वहाँ यह भी लगता था कि ये सब जीव अनादिकालसे जन्म-मरणके चक्करमें पड़े हैं, रागी हैं, द्वेषी हैं, सुखी हैं, दुःखी हैं, आगे पता नहीं कितने जन्मोंमें मुक्त हों! स्वप्नमें कोई महात्मा, कोई साधक तो कोई पापी भी लगते थे। परन्तु वह सब हम ही तो थे!

ज्ञानकी चतुर्थ भूमिकामें यह प्रपंच स्वप्नवत् प्रतीत होता है—जैसे स्वप्न देखते समय यह जान पड़े कि यह स्वप्न है। उस समय यह निश्चय हो जाता है कि अपना और दूसरोंका देह भी क[illegible]ा नहीं है।

आत्माके अज्ञानसे देह और प्रपंच सत्य-सा भासता है। भान आत्मासे पृथक् नहीं है। ज्ञाताको अज्ञानी मानना यही सबसे विपरीत प्रत्यय है। अविद्या यही है कि हम ज्ञानस्वरूप होकर भी अपनेको अज्ञानी मानते हैं।

जो अज्ञ है वह ज्ञाता नहीं हो सकता और जो ज्ञाता है वह अज्ञ नहीं हो सकता। तुम क्या हो? यदि तुमने अपनेको अज्ञ जाना तो अज्ञान तो तुम्हारा विषय हो गया। फिर तुम अज्ञानी कहाँ?

वस्तुतः तुम तो ज्ञानस्वरूप ज्ञाता हो, स्वयंप्रकाश ब्रह्म हो। तुम अज्ञानी नहीं। तब अज्ञान कहाँ है? अज्ञानका न कोई आश्रय है न विषय है। न तुममें अज्ञान है और न तुमको किसीका अज्ञान है, बस तुम-ही-तुम हो! इसीका नाम ग्रन्थिभेद है कि अज्ञान न था, न है और न होगा। तुम ज्ञानस्वरूप ब्रह्म हो।

क्षेत्रसे भिन्न क्षेत्रज्ञ है किन्तु दोनों ब्रह्मात्मासे अभिन्न हैं। सबमें अपना आत्मा है, सब अपने आत्मामें हैं। आत्मा और जगत्का वस्त्रमें सूत-जैसा ओतप्रोत भाव है।

२. क्षेत्रका विस्तार एवं पंचीकरण

अब प्रश्न यह है कि क्या हमारा अपना शरीरमात्र ही क्षेत्र (दृश्य) है? नहीं, जहाँ तक दृश्यता या इदं-वाच्यताका विस्तार सम्भव है, वह सब क्षेत्र है। हमारा शरीर, दूसरोंके शरीर, संसारके सभी ज्ञात-अज्ञात विषय, धरती, सूरज, चाँद, नक्षत्र, तारागण, माने जो भी हमारी इन्द्रियोंके विषय हैं वे सब दृश्य हैं, क्षेत्र हैं।

इन्द्रियाँ स्वयं साक्षी-भास्य हैं अतः वे भी दृश्य हैं। इसी प्रकार मन भी साक्षी-भास्य है इसलिए मन भी दृश्य है। मनके विकार भी साक्षी-भास्य हैं अतः वे भी दृश्य हैं। संक्षेपमें, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति एवं समाधि अवस्थाओंमें जो कुछ भी हमारी इन्द्रियों और मनका भास[1] होता है या हो सकता है वह सब और स्वयं मन, मनके विकार तथा इन्द्रियाँ क्षेत्र हैं। यह कार्यसृष्टि है।

उपर्युक्त कार्यरूप क्षेत्रका कारण भी क्षेत्रकी परिधिमें है। कारण अष्टधा प्रकृति है[७]। प्रकृति, महत्तत्त्व, अहंकार और पाँच भूत (पृथिवी, जल,

---

७. भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहंकार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा॥ (गी० ७.४)

अग्नि, वायु और आकाश)—ये आठ प्रकृतियाँ जगत्की सब वस्तुओंका उपादान कारण हैं। क्योंकि कार्यमें कारण अनुवृत्त रहता है इसलिए ये आठ प्रकृतियाँ भी क्षेत्रके ही अन्तर्गत हैं।

भगवान् श्रीकृष्णने इकतीस तत्त्वोंका क्षेत्र संक्षेपमें बताया है[८]—पंच-महाभूत (१-५), अहंकार (६), बुद्धि अर्थात् महत्तत्त्व (७), अव्यक्त प्रकृति (८), दश इन्द्रियाँ—पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ और पाँच कर्मेन्द्रियाँ (९-१८), मन (अन्तःकरण-चतुष्टय) (१९), पाँच इन्द्रियोंके विषय—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध (२०-२४) तथा सात विकार—राग, द्वेष, सुख, दुःख, सङ्घात, चेतना और धृति (२५-३१)।

यहाँ गिनतीमें तात्पर्य नहीं है। मनको मन-बुद्धि-चित्त-अहंकार चार माननेपर यह संख्या इकतीसके बजाय चौंतीस हो सकती है; तथा विकारोंकी संख्या भी घटायी-बढ़ायी जा सकती है। यहाँ अभिप्राय बस इतना है कि सम्पूर्ण कार्य-कारण जगत् 'प्रकृति' है, क्षेत्र है, दृश्य है और इसको जाननेवाला एक ही है जिसको पुरुष, क्षेत्रज्ञ, द्रष्टा, साक्षी कुछ भी कह सकते हैं।

सांख्य-शास्त्रमें उपर्युक्त पहले चौबीस तत्त्वोंवाली प्रकृतिको सम्पूर्ण कार्य-कारण जगत्का मूल कारण बताया है तथा पुरुषको पच्चीसवाँ तत्त्व माना है। वहाँ पुरुषको आठ प्रकृतियों और सोलह विकृतियों[९]से पृथक् माना गया है। विवेकके लिए वेदान्तमें, विशेषकर गीतामें, इस प्रक्रियाको स्वीकार कर लिया गया है। परन्तु सिद्धान्तमें सांख्य-सिद्धान्त स्वीकार्य नहीं है। सांख्यमें प्रकृति स्वतंत्र कर्तृ है और पुरुष भोक्ता है तथा प्रतिशरीर भिन्न है। किन्तु वेदान्तमें प्रकृति नाम 'माया'का है जो ब्रह्मकी शक्ति है।[१०] अतएव मायाका अधिष्ठान ब्रह्म है, माया मिथ्या है और माया-विशिष्ट ब्रह्म अर्थात् ईश्वर जगत्का मूल कारण है। सांख्यके विपरीत वेदान्तमें पुरुष भोक्ता नहीं है, उसके भोक्तृत्वका हेतु उसका प्रकृतिस्थ

---

८. महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकं च पञ्च चेन्द्रियगोचराः॥
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत्क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्॥ (गी० १३.५-६)

९. अष्टौ प्रकृतयः। षोडश विकाराः (तत्त्वसमास २-३)।

१०. मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु महेश्वरम् (श्वे० ४.१०)।

होना है।[11] पुरुष प्रतिशरीर भिन्न भी नहीं हैं क्योंकि शरीर उपाधि-मात्र है।

सांख्य-शास्त्रमें प्रकृतिसे तीन गुणोंका विकास होता है: सत्त्व गुण (ज्ञान शक्ति), रजोगुण (क्रिया शक्ति) और तमोगुण (स्थायित्व शक्ति)। प्रकृति मूल कारण है, वह किसीका कार्य नहीं है। उसमें त्रिगुण साम्यावस्थामें रहते हैं। प्रकृतिमें क्षोभ होनेपर प्रकृतिसे महत्तत्त्व होता है, महत्तत्त्वसे अहंकार और अहंकारसे पंचभूत। इस प्रकार महत्तत्त्व और अहंकार कार्य भी हैं और कारण भी हैं। पंचभूत प्रकृतिके अन्तिम कार्य हैं। अतः वे किसीके कारण नहीं हैं। इन्द्रियाँ, शरीरादि पंचभूतोंके कार्य नहीं हैं विकार हैं। प्रकृतिके हर कार्य-स्तर पर गुणोंका विकास होता है। हर कार्य सत्त्वगुणी, रजोगुणी, तमोगुणी—तीन-तीन विभागोंमें बँट जाता है। यह प्रक्रिया वेदान्तमें भी स्वीकार्य है।

अब हम विवेककी स्पष्टताके लिए क्षेत्रके इन इकतीस तत्त्वोंपर थोड़ा-थोड़ा विचार करते हैं।

(१) **पंचमहाभूत और उनका विस्तार** : प्रकृतिके अन्तिम कार्य पंचमहाभूत हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, वायु और आकाश। नामरूप-आकारयुक्त जितने पदार्थ या वस्तुएँ हैं वे सब इन्हींके विकार हैं। वृक्ष, पशु, पक्षी, कीट-पतंग, मनुष्य, नदी, पर्वत आदि सब वस्तुएँ इन्हीं पंचमहाभूतोंसे बनती हैं और उपादानत्वेन ये सब वस्तुओंमें व्यापक हैं।

पृथिवी आदि वस्तुरूप जो हमारी इन्द्रियोंसे जानी जाती हैं और जो पृथिवी आदि पंचभूत तत्त्व हैं, उनमें अन्तर है। वस्तुओंमें ये पाँचों तत्त्व मिले रहते हैं। तकनीकी भाषामें बोलें तो वस्तुओंमें पंचमहाभूत **'पंचीकृत'** हैं। किन्तु जो तत्त्व हैं वे **अपंचीकृत** रूपमें हैं। उनको **'तन्मात्र'** अर्थात् 'सिर्फ़ वही' भी कहते हैं। इनका अनुभव जिन रूपोंमें किया जाता है उनको **'पंचतन्मात्र'** कहते हैं। आकाशका तन्मात्र **'शब्द'** है, वायुका तन्मात्र **'स्पर्श'** है, अग्निका तन्मात्र **'रूप'** है, जलका तन्मात्र **'रस'** है और पृथिवीका तन्मात्र **'गंध'** है।

ये पंचतन्मात्र तीन स्थानोंमें दीख पड़ते हैं—विषयमें, इन्द्रियमें और मनमें। विषयमें उनका जो रूप है वह **अधिभूत** कहलाता है और इन्द्रिय

११. पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते (गी० १३.२०)।

एवं मनमें जो रूप है वह **अध्यात्म** कहलाता है। इसके अतिरिक्त एक रूप इनका और भी मानना पड़ता है और वह है **अधिदैव**। अधिदैव एक ओर तो अधिभूत और अध्यात्मके संयोगमें हेतु बनता है और दूसरी ओर अध्यात्मको व्यवस्थित करता है। प्रत्येक तन्मात्रके ये तीन रूप तीन गुणोंके कारण हुए हैं : सत्त्वगुणसे अध्यात्म, रजोगुणसे अधिदैव और तमोगुणसे अधिभूत।

उदाहरणार्थ अग्नि या तेजके तन्मात्र 'रूप'को लें। इसका अधिभूत रूप है—विषय-वस्तुका रंग और आकार; इसका अध्यात्मरूप 'चक्षु' है और इसका अधिदेव-रूप 'सूर्य' है। इसी प्रकार प्रत्येक तन्मात्रके तीन-तीन रूप हैं। अध्यात्म, अधिदैव और अधिभूतके इस तरह पाँच 'त्रिक' बनते हैं। प्रत्येक त्रिकको त्रिपुटी कहते हैं। ज्ञानेन्द्रियोंकी इन त्रिपुटियोंको सारणीमें प्रदर्शित किया गया है।[१२]

वैज्ञानिक लोग पदार्थकी छान-बीन करके तत्त्वका निश्चय करते हैं। यह आधिभौतिक प्रणाली है। प्राचीन भारतीय प्रणाली यह है कि हम अपने अनुभवकी छान-बीन करके तत्त्वका निश्चय करते हैं। यह आध्यात्मिक प्रणाली है।

ज्ञानेन्द्रियाँ अपने-अपने विषयमें प्रमाण हैं। श्रोत्रसे केवल शब्द ही ज्ञात होता है और शब्द किसी अन्य इन्द्रियसे ज्ञात हो नहीं सकता। अतः शब्दके विषयमें केवल श्रोत्र ही प्रमाण है। यह इसलिए है कि श्रोत्र केवल आकाशका तन्मात्र ही है। इसी प्रकार प्रत्येक ज्ञानेन्द्रियमें एक-एक तत्त्वका तन्मात्र ही है (देखिये सारणी टिप्पणी १२)। इसी बातको यों कहते हैं कि ज्ञानेन्द्रियाँ अपंचीकृत महाभूतोंसे बनी हैं।

---

१२. **सारणी : ज्ञानेन्द्रियोंकी त्रिपुटी**

पंचभूत	तन्मात्र	अधिभूत	अध्यात्म	अधिदैव
आकाश	शब्द	शब्द विषय	श्रोत्रेन्द्रिय	दिशा
वायु	स्पर्श	स्पर्श विषय	त्वगिन्द्रिय	वायुदेव
अग्नि (तेज)	रूप	रूप विषय	चक्षुरिन्द्रिय	सूर्यदेव
जल	रस	रस विषय	रसनेन्द्रिय	वरुणदेव
पृथिवी	गन्ध	गन्ध विषय	घ्राणेन्द्रिय	अश्विनीकुमार

एक गुलाबका फूल है। उसमें पाँचों तत्त्व उपस्थित हैं किन्तु नेत्र केवल उसका रूप देखते हैं, त्वचा उसकी कोमलता जानती है, रसना उसका स्वाद बताती है, नाक उसकी गंध बताती है और कान उसका चट-चट शब्द बताते हैं। यद्यपि एक-एक भूतसे बनी ज्ञानेंद्रियाँ फूलके एक-एक गुणका प्रकाश ही करती हैं तथापि फूलमें पाँचों भूत हैं और उन सब ज्ञानोंका समन्वितरूप फूलका ज्ञान है। यह ज्ञान अन्तःकरणसे होता है। इसलिए फूलमें और मनमें दोनोंमें पंचभूत हैं। फूलमें पंचीकृत रूपमें है और मनमें अपंचीकृत रूपमें।

फूलकी तरह सारे पदार्थ पंचभूतोंकी रचना है। पाँचों भूतोंके परस्पर मिलनेकी प्रक्रियाको **पंचीकरण** कहते हैं। जिस पदार्थमें जिस भूतकी प्रधानता रहती है उसमें उस तत्त्वका पचास प्रतिशत भाग रहता है। शेष पचास प्रतिशतमें बने हुए चार तत्त्वोंका बराबर-बराबर संयोग रहता है। मिलनेकी यह प्रक्रिया 'पंचीकरण' कहलाती है। उदाहरणार्थ मिट्टीमें आधा भाग पृथिवीका है और शेष आधे भागमें जल, तेज, वायु और आकाश बराबर-बराबर भागमें मिले हुए हैं।

हमारा **स्थूल शरीर** भी पंचीकृत महाभूतोंका विकार है।

ज्ञानेन्द्रियाँ और मन (अन्तःकरण-चतुष्टय) अपंचीकृत महाभूतोंसे बने हैं।

मन पाँचों तन्मात्रोंको ग्रहण करता है। ज्ञानेन्द्रियोंसे विशेष बात मनकी यह है कि ज्ञानेन्द्रियाँ तो केवल अपने-अपने विषयका और वह भी विद्यमान विषयका प्रकाश करती हैं जबकि मन पाँचों विषयोंका और भूत-भविष्य-वर्तमानके विषयोंका प्रकाश करता है। मनमें स्मृति (चित्त) और कल्पना (बुद्धि) विशेष है। इसपर भी मनसे एक समयमें एक विषयका ही ग्रहण होता है। अतः मन अपंचीकृत महाभूतोंका संघात है।

पंच महाभूतोंकी सात्त्विक तन्मात्रसे (मन और ज्ञानेद्रियाँ) बनती हैं, राजस तन्मात्रसे कर्मेंद्रियाँ और प्राण बनते हैं तथा तामस तन्मात्रासे विषय और वाह्य पदार्थ बनते है।

मन चार प्रसिद्ध हैं—मन, बुद्धि, चित्त, अहंकार। इसीको अन्तःकरण-चतुष्टय कहते हैं।

ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं—श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण।

कर्मेन्द्रियाँ पाँच है—वाक्, पाणि, पाद, उपस्थ और पायु।

प्राण दश हैं—इनमें पाँच मुख्य प्राण हैं—प्राण, अपान, समान, उदान और व्यान। पाँच उपप्राण हैं—नाग, कूर्म, कृकल, देवदत्त और धनंजय।'

आकाशकी राजस तन्मात्रसे **'वाक्'** कर्मेन्द्रिय जिससे शब्द बोलते हैं, और **'व्यान'** नामक प्राण बनता है जो शरीरके सब अंगोंमें रहकर संधियोंकी क्रियाकी व्यवस्था करता है। वायुकी राजस तन्मात्रसे **पाणि** (हाथ) इन्द्रिय जिससे आदान-प्रदान रूप कर्म होता है और **समान** नामक प्राण बनाता है जिसका स्थान नाभिप्रदेश है। इसी प्रकार तेजसे **पाद** (पैर) कर्मेन्द्रिय जिससे गमनागमनरूप कर्म होता है तथा उदानवायुका निर्माण होता है जो हृदयसे ऊपरके भागमें विचरण करता है। जलकी राजस तन्मात्रसे उपस्थ (जननेन्द्रिय) और प्राणकी रचना होती है। जननेन्द्रियसे मूत्रत्याग एवं सन्तानोत्पत्तिरूप कर्म होता है और प्राण हृदय-प्रदेशमें रहता है। पृथिवीकी राजस तन्मात्रसे पायु (गुदा) कर्मेन्द्रिय बनता है जिससे मल-त्याग और वायुनिष्कासनरूप कर्म होता है तथा अपानवायुका निर्माण होता है जिसके व्यापारका स्थान गुदा है। शरीरमें इन सबके गुण-धर्म प्रत्यक्ष हैं। [13]

कर्मेन्द्रियाँ ज्ञानेन्द्रियोंकी पूरक हैं। कान शब्द सुनना चाहता है, वाक् शब्द बोलता है। दोनोंमें आकाशका तन्मात्र है। सुनना सत्त्वप्रधान श्रोत्रेन्द्रियसे होता है, बोलना रजस्प्रधान वागिन्द्रियसे होता है। कान और जिह्वाका जो स्थूलरूप है वह आकाशके तामस तन्मात्रका परिणाम है।

त्वगिन्द्रियसे छूना चाहते हैं तो हाथ-(पाणि-) इन्द्रिय स्पर्शमें सहायक होती है। दोनोंमें वायुका तन्मात्र है तथा खाल और हाथकी स्थूल रचना वायुतत्त्वकी तामस तन्मात्रका परिणाम है।

नेत्र रूप देखना चाहते हैं तो पैर (पाद) वहाँ तक ले जाते हैं। दोनोंमें अग्निका तन्मात्र है और उनकी स्थूल रचना अग्निकी तामस तन्मात्रका परिणाम है

---

१३. प्राणोंके धर्म : **प्राण**—रात दिनमें २१६०० बार श्वास-प्रश्वासकी क्रिया करता है। **अपान**—मल त्याग तथा आँतोंकी वायुका निष्कासन। **समान**—भूख प्यास लगाना, पाचन और पोषण। **उदान**—हिचकी, छींक, स्वप्न और प्राणोत्क्रमण। **व्यान**—संधियोंकी व्यवस्था करना।

रसनासे रस ग्रहण करना चाहते हैं तो मूत्रेन्द्रिय (उपस्थ) से मूत्र-वीर्य विसर्जन करते हैं। दोनोंमें जलका तन्मात्र है और उनकी स्थूल रचना जलके तामस तन्मात्रका परिणाम है।

नासिकासे गंध-ज्ञान करते हैं तो गुदा (पायु) अपानवायु विसर्जित करती है। दोनोंमें पृथिवी-तत्त्वका तन्मात्र है तथा दोनोंके स्थूल रूप पृथिवीकी तामस तन्मात्रका परिणाम है।

दशों इन्द्रियाँ (पंच ज्ञानेन्द्रियाँ, पंच कर्मेन्द्रियाँ) अपंचीकृत पंचभूतोंसे बनी हैं किन्तु यदि ज्ञानेन्द्रियाँ उनके सात्त्विक तन्मात्रोंसे बनी हैं तो कर्मेन्द्रियाँ रजोगुणी तन्मात्रोंसे। सत्त्वगुण ज्ञानात्मक है, रजोगुण क्रियात्मक। इन्द्रियोंके गोलक (क्रियास्थान) स्थूल हैं, वे पंचभूतोंके तमोगुणी तन्मात्रोंसे बने हैं।

इन्द्रियाँ स्थूल भूतोंसे नहीं बनीं। अतएव सांख्यके मतसे इन्द्रियाँ पूरे शरीरमें व्यापक रहती हैं। उनके गोलक शरीरमें किसी भी स्थान पर हो सकते हैं। दिखायी देनेवाले गोलक इन्द्रियोंके कार्य करनेके स्थान (आफिस) हैं। यह संभव है कि कभी कहीं कोई मनुष्य किसी प्रक्रिया-विशेषसे हाथसे देखने लगे या पैरसे सूँघने लगे। चींटी नाकसे देखती है और सर्प नेत्रसे सुनते हैं—यह प्रचलित लोकोक्ति है। हम सबकी भी दो इन्द्रियाँ—रसना और वाक्, तो एक ही गोलक जिह्वामें कार्य करती ही हैं। प्राण और रयि रवि और सोम—ये ऋणात्मक-धनात्मक विद्युत्-प्रवाहके रूपमें सब इन्द्रियोंकी शक्ति सहित पूरे शरीरमें व्याप्त रहते हैं। इन्द्रियाँ शरीर-व्यापी हैं, गोलक-परिच्छिन्न नहीं हैं।

सूक्ष्म शरीरके परिमाणके सम्बन्धमें तीन मत हैं : १. अणु परिमाण, २. मध्यम परिमाण, ३. विभु परिमाण। वैशेषिकादि अणु परिमाण मानते हैं। मन विभु है, यह योगका मत है। वेदान्त अन्तःकरणको मध्यम-परिमाण अर्थात् शरीरमें नखसे शिखातक व्याप्त मानता है। इन्द्रियाँ सूक्ष्म शरीरके अन्तर्गत हैं, अतः वे सूक्ष्म शरीरके साथ व्यापक हैं।

इन्द्रियको इन्द्रिय क्यों कहते हैं ? क्योंकि यह 'इन्द्र'की है **इन्द्रस्य इति इन्द्रियम।** इन्द्रसृष्ट, इन्द्रजुष्ट और इन्द्रदत्त हैं, इन्द्रियाँ। इन्द्र

कर्मका देवता है,[१४] अतः प्राणियोंमें जो एक, दो, तीन, चार, पाँच इन्द्रियोंका विकास देखा जाता है वह कर्म-भेदके कारण ही है। योगसे छठी इन्द्रियका विकास भी मनुष्यमें संभव माना जाता है जिससे कि मानस-प्रत्यक्ष होना है। परन्तु वह इन्द्रिय नैसर्गिक नहीं है, उसकी गिनती 'मन' के अन्तर्गत ही करनी चाहिए।

'मन'की गिनती यद्यपि दश इन्द्रियोंसे पृथक् की है तथापि दश इन्द्रियोंसे निरपेक्ष होकर प्रत्यक्ष दर्शनका सामर्थ्य इसमें नहीं है। इन्द्रियोंसे प्राप्त ज्ञानको धारण करके और उनके संस्कारानुसार ही मन कल्पना करता है। उस कल्पनाके अनुसार ही मानस-प्रत्यक्ष होता है। अतः इन्द्रियातीत स्वतःसिद्ध वस्तु मनके द्वारा नहीं जानी जा सकती।

'मन' के चार विभाग प्रसिद्ध हैं : मन, बुद्धि, चित्त और अहंकार। चंचलताके कारण मनमें वायु-तत्त्वका सात्त्विक तन्मात्र है। निश्चय-अनिश्चयमें ज्ञान (प्रकाश)के कारण बुद्धिमें अग्नितत्त्वका सात्त्विक तन्मात्र है। चिन्तनमें रस होनेके कारण चित्तमें जल-तत्त्वका सात्त्विक तन्मात्र है और अभिमानकी कठोरताके कारण अहंकारमें पृथिवीतत्त्वका-सात्त्विक तन्मात्र है। आकाशका सात्त्विक तन्मात्रसे उत्पन्न 'स्फुरण'को पाँचवा विभाग मानकर 'पंचीकरण'की प्रक्रिया पूर्ण हो जाती है। स्फुरणका कार्य अन्तःज्ञान मानते हैं।

पञ्चभूत आत्मा नहीं हो सकते क्योंकि ये पाँच हैं। आत्मा अनेक नहीं होता, वह तो एक ही है। ज्ञेय होनेके कारण भी ये आत्मा नहीं हो सकते, क्योंकि आत्मा ज्ञाता है।[१५] यदि कहो कि पञ्चभूतोंका समूह (या उनके विकारोंका समूह) आत्मा है तो वह भी नहीं हो सकता

---

१४. ज्ञानेन्द्रियोंके देवताओं (अधिदैव)का वर्णन हो चुका है। कर्मेन्द्रियों और अन्तःकरणके अधिदैव इस प्रकार हैं : वाक्का अग्नि। पाणिका इन्द्र। पादका उपेन्द्र। उपस्थका प्रजापति। पायुका मृत्यु (यम)। मनका चन्द्रमा। बुद्धिका ब्रह्मा। चित्तका वासुदेव (नारायण)। अहंकारका रुद्र। इन इन्द्रियों और अन्तःकरणोंके जो कार्य हैं वे ही इनके अधिभूत रूप हैं और स्वयं येअध्यात्म हैं ही। इस प्रकार ज्ञानेन्द्रियोंकी भाँति इनकी भी त्रिपुटियोंको समझना चाहिए।

१५. पञ्चमहाभूतान्यात्मा न भवन्ति पञ्चत्वात् ज्ञेयत्वात्।

क्योंकि सङ्घात (समूह) तो किसी अन्यके लिए होता है।[१६] पंचभूतोंसे बना देह, पंचभूतोंसे बने विषय, पंचभूतोंको ग्रहण करनेवाली इन्द्रियाँ, पंचभूतोंके गुण पंचतन्मात्राएँ[१७], पंचतन्मात्राओंका संघात तथा मन—ये सब पंचमहाभूतोंके ही विस्तार तो हैं ! ये महान् भी हैं और भूत भी हैं, इसीसे इन्हें महाभूत कहते हैं। महान् इसलिए कि बहुत व्यापक हैं और भूत इसलिए कि उत्पन्न हुए हैं।[१८] इनका लय सुषुप्तिमें देखा जाता है, अतः ये उत्पन्न हुए हैं। व्यवहारमें भी कार्यका कारणमें लय देखा जाता है। अतः पंचभूतोंसे बना यह विस्तार आत्मा नहीं हो सकता।

२. अहंकार, महत्तत्त्व और अव्यक्त : पंचभूतोंका जब कोई कार्य नहीं है, तब यह विभिन्न अनुपातोंमें मिश्रित होकर देहाकृति कैसे धारण करते हैं ? इनको इस आकारमें कौन एकत्र करता है ? वह तत्त्व **अहंकार** है। जैसे लौह-चूर्णमें चुम्बक डाल देनेपर चूर्णके कण चुम्बकमें लिपट जाते हैं, वैसे ही महाभूतोंको देहाकार देनेवाला चुम्बक अहंकार है।

'अहं' और 'अहंकार' अलग-अलग वस्तु हैं। अहंकार वह 'अहं' है जो क्रियायुक्त है, कर्मजन्य है, कर्मका अभिमानी है और जो कर्म-संस्कारोंको धारण करनेवाला है। इसके व्यष्टि और समष्टि रूपोंमें भेद किया जाता है। व्यष्टि अहंकार अन्तःकरणका अंग है। समष्टि अहंकार पंचमहाभूतोंका कारण है।

पंचमहाभूत अहंकारसे उत्पन्न होते हैं और उसीमें लीन होते हैं। किन्तु अहंकार भी 'महत्तत्त्व'का कार्य है अतः उसीमें लीन होता है। इसलिए यह भी क्षेत्र है, क्षेत्रज्ञ नहीं है।

---

१६. संघातस्य परार्थत्वात्।

१७. न्याय-वैशेषिकके अनुसार द्रव्य गुण और क्रियाके आश्रयका नाम है : गुण-क्रियाश्रयत्वं द्रव्यत्वम्। अर्थात् शब्दादि गुण हैं और आकाशादि उनके आश्रय द्रव्य हैं। सांख्यका कहना है कि शब्दादि तो विषयोंसे भी सूक्ष्म हैं अतः ये द्रव्यके गुण नहीं हैं। ये तन्मात्र हैं जिनसे पञ्चमहाभूत उत्पन्न होते हैं। ये तो महाभूतोंके द्रव्यके कारण हैं। वेदान्तका कहना है कि शब्दादि मात्र ऐन्द्रियक हैं। इन्द्रियोंसे पृथक् इनकी कोई सत्ता नहीं है। अन्तःकरणमें प्रतिबिम्बित होकर ही ये गुण, क्रिया और द्रव्य दीखते हैं।

१८. भवन्ति इति भूतानि—जो हुए हैं वे भूत हैं।

क्रियाएँ तो सहस्रों होती हैं, किन्तु क्रियाएँ पुरुषके लिए होती हैं, पुरुष क्रियाके लिए नहीं होता। महाभूतोंसे लक्ष-लक्ष वस्तुएँ बन रही हैं। इस क्रियाके मूलमें कर्तृत्व-शक्ति क्या है? अहंकार है। अहंकारके बिना क्रियाके द्वारा व्यवस्थित कर्म नहीं हो सकता।

बुद्धिके बिना कर्त्ताका कर्म व्यवस्थित नहीं हो सकता, भले ही उसके पास क्रियाशक्ति हो। इसी प्रकार सृष्टिकी इस क्रियाके मूलमें जो कर्त्ता-अहंकार है, उसका भी कारण समष्टि-बुद्धि—'महत्तत्त्व' है।

महत्तत्त्व भी अव्यक्त (मूल प्रकृति)का कार्य है। अतः महत्तत्त्व भी क्षेत्र है, क्षेत्रज्ञ नहीं है।

महत्तत्त्व (बुद्धि) भी सदा क्रियाशील नहीं रहता। एक ऐसी अवस्था आती है जहाँ सब अव्यक्त हो जाते हैं; जैसे आपकी गाढ़ सुषुप्ति है। जहाँ न काल का भान है, न बाह्य वस्तुओंका और न देशका कि मैं कहाँ हूँ? वहाँ कुछ भी स्फुरित नहीं होता।

आप गाढ़ी नींदमें हैं—अपने-पराये, यह-वह मैंके भेदके ज्ञानसे अछूते। यह अव्यक्तदशा है। आपको जाग आयी, आखें खुलते ही कुछ स्फुरित नहीं होता कि मैं कौन हूँ, क्या हूँ, कहाँ हूँ? बस, 'मैं हूँ' यही ज्ञान रहता है।

यह महत्तत्त्वकी दशा है। दूसरे ही क्षण आपको बोध होने लगता है कि मैं अमुक हूँ, मैं यहाँ हूँ इत्यादि। यह अहंकारकी दशा है। अब अगले क्षण शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धका ज्ञान होना प्रारम्भ हुआ। यह पंच-महाभूतोंकी तन्मात्रोंका उदय होनेकी अवस्था है।

अव्यक्त भी क्षेत्र ही है, कारण होनेसे, अज्ञानरूप होनेसे।

वेदान्तमें जड़से सृष्टि-विस्तार नहीं मानते। इसलिए अव्यक्त, महत्तत्त्व अहंकार और पंचमहाभूत—इन आठ तत्त्वोंको शुद्ध चैतन्यकी उपाधिके रूपमें स्वीकार करते हैं। शुद्ध चैतन्यका नाम ब्रह्म है। ये आठ ब्रह्मकी उपाधि हैं।

अहंकारकी उपाधिसे युक्त जो चेतन है उसे विश्व-विराट् कहते हैं। जड़की दृष्टिसे जो अहंकार है, चैतन्यकी दृष्टिसे वही विराट् है। यह विराट् स्थूल प्रकृतिका भोक्ता है। इसका स्थान मनुष्यकी जाग्रद्-अवस्था है।

बुद्धि—महत्तत्वकी उपाधिसे युक्त जो चेतन है उसे तैजस—हिरण्य-गर्भ कहते हैं। इसीको सूत्रात्मा भी कहते हैं। यह सूक्ष्म प्रकृतिका भोक्ता है। इसका स्थान स्वप्न है।

'अव्यक्त'—अज्ञान या मायाकी उपाधिसे युक्त जो चेतन है उसको प्राज्ञ–ईश्वर कहते हैं। यह आनन्दका भोक्ता हैं और इसका स्थान सुषुप्ति है।

नियम यह है कि ज्ञानका ज्ञान नहीं होता; माने ज्ञान ज्ञेय नहीं हो सकता। जो ज्ञेय होता है वह जड़ होता है। जो ज्ञान है वह केवल प्रकाश है और प्रकाश्यकी अपेक्षासे प्रकाशक है। न्याय आदिमें प्रत्यभिज्ञारूपमें ज्ञानका ज्ञान होना मानते हैं किन्तु वेदान्तमें यह मत मान्य नहीं है। वेदान्तके अनुसार ज्ञान केवल प्रकाशक है, प्रकाश्य नहीं है। इसका अर्थ है कि अहं-कारमें जो चैतन्य है (विराट्), महत्तत्त्वमें जो चैतन्य है (हिरण्यगर्भ) और अव्यक्तमें जो चैतन्य है (ईश्वर), वह एक ही है। इस एक चैतन्यके ही ये औपाधिक नाम हैं। नाम-भेद उपाधि भेदसे ही है; चैतन्य एक ही है। वह एक चैतन्य ही क्षेत्रज्ञ है। अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहंकार, पंचमहाभूत और उसका विकार यह जगत् और यह देह—सब क्षेत्र हैं।

पुराणोंमें अहंकारके भी तीन भेद माने गये हैं—वैकारिक, तैजस और तामस। इनकी क्रियाएँ भी पृथक्-पृथक् हैं। तामस अहंकारसे पंचमहाभूत, तैजस (राजस) अहंकारसे प्राण, क्रिया-शक्ति एवं कर्मेन्द्रियाँ तथा वैकारिक (सात्त्विक) अहंकारसे ज्ञानात्मक मन एवं ज्ञानेन्द्रियोंकी उत्पत्ति हुई है।

ये सब परिवर्तनशील और ज्ञेय हैं, अतः सब क्षेत्र हैं। इसलिए ये—इनमें-से कोई एक या सब मिलकर भी, न मैं हूँ और न मेरे हैं।

देह न मैं हूँ, न मेरा है। पृथिवी-तत्त्व जिसकी प्रधानतासे स्थूल शरीर बनते हैं, वह न मैं हूँ, न मेरी है। पृथिवीका गुण गन्ध न मैं हूँ, न मेरी है। गन्धतन्मात्रसे बनी नासिका न मैं हूँ न मेरी है। गन्धकी कल्पना करनेवाला 'मन'-न मैं हूँ, न मेरा है। उस गन्धसे आनन्द आया, यह अहंकार आया कि मैंने सुगन्ध—इत्र बनाया; तो उस सुगन्धका भोग, उस सुगन्धकी बुद्धि कि यह सुगन्ध है और सुगन्धकी बीजावस्था—यह सब या इनमें-से कोई एक, न मैं हूँ, न मेरे हैं। इसी प्रकार जल, अग्नि वायु और आकाश

तथा इनके गुण रसादि, इनकी इन्द्रियाँ, मन, अहंकार, बुद्धि, अव्यक्त— ये सब न मैं हूँ और न मेरे हैं।

यहाँ 'माया'की चर्चा नहीं हुई है। उसके दो भेद हैं—अविद्या और विद्या। अविद्याके कारण अपने ठसाठस भरे अविनाशी, परिपूर्ण, अद्वितीय रूपमें ये भेद सत्य प्रतीत हो रहे हैं। विद्याके कारण ये अपने स्वरूपमें प्रतीत होते हुए भी मिथ्या प्रतीत होने लगते हैं। माया न क्षेत्र है, न क्षेत्रज्ञ, दोनोंसे विलक्षण दोनोंके भेदमें कल्पित हेतु है।

३. अन्य अङ्ग : क्षेत्रके अब सात अंग और बताते हैं : इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात, चेतना और धृति।

इच्छा : यहाँ इच्छा नाम 'राग'का है। **सुखानुशयी रागः**। पहले कोई वस्तु प्राप्त हुई थी—पुरुष, स्त्री, भोजन, भवन आदि। और उसके द्वारा सुख हुआ था, यह संस्कार मनमें है। अब उसे फिर पाना चाहते हैं। इस चाहतका नाम इच्छा (राग) है।

इच्छा हमें दीन-कंगाल-भिक्षुक बना देती है। अपनेमें अभावका—अपूर्णताका अनुभव जब हम करते हैं तब दूसरेसे उसकी पूर्ति चाहते हैं।

'इच्छा' ज्ञेय है और इसलिए क्षेत्र है।

द्वेष : दुःखानुशयी द्वेषः। जिस वस्तु, व्यक्ति या परिस्थितिसे पहले हमें दुःख हुआ था, उसे हटा देने, मिटा देनेकी इच्छाका नाम द्वेष है। दुःखद वस्तु-व्यक्तिके स्मरणसे चित्तमें जलन होनेका नाम द्वेष है।

इच्छा (राग) और द्वेष, दोनों कभी चित्तमें आते हैं, कभी नहीं आते। ये दृश्य भी हैं। अतः ये क्षेत्र हैं। न ये मैं हूँ, न मेरे हैं।

सुख : जिसमें इन्द्रियाँ प्रसन्न और निर्मल हो जाती हैं, उसे सुख कहते हैं। जब मनमें इच्छा होती है, विकार आता है, तो सुख नहीं होता। जब उसमें इच्छा की, कामना की, लहरें न उठें जब चित्त प्रसन्न होता है। यही सुख है। शान्त चित्त-सरोवरमें सुखस्वरूप आत्माका जो प्रतिबिम्ब है वही सुख है।

यह सुख निमित्तक भी होता है और निर्निमित्तक भी। कामना-पूर्तिसे चित्तमें जो तात्कालिक शान्ति आजाती है उससे होनेवाला सुख निमित्तक सुख है तथा कामनाओंके अभावसे उत्पन्न जो चित्तकी शान्ति है उससे उत्पन्न सुख निर्निमित्तक सुख है। निमित्तक सुख क्षणस्थायी होता है और

निर्निमित्तक सुख स्थायी। असलमें सुख क्षेत्रज्ञका स्वरूप है। क्षेत्रमें उसका औपाधिक आभास होता है। यह आभास क्षेत्र है। सुखकी परिभाषाएँ अनेक हैं। परन्तु मूल बात यह है कि वह क्षेत्र है, क्षेत्रज्ञ नहीं है क्योंकि सुख कभी अज्ञात नहीं होता।

दुःख : सुखका प्रतियोगी दुःख है। अतः सुखकी परिभाषाओंसे विपरीत दुःखकी परिभाषा बना लेनी चाहिए। उदाहरणार्थ जिसमें अपनी इन्द्रियाँ दूषित हो जाती हैं उसे दुःख कहते हैं। प्रतिकूलताका नाम दुःख है।

शान्त चित्तमें परमात्माका प्रतिबिम्बन सुख है और उद्वेलित चित्तमें परमात्माके प्रतिबिम्बका न पड़ना दुःख है। सुख और दुःख दोनों ही ज्ञेय हैं। अतः क्षेत्र हैं।

चेतना : मन बुद्धि और चित्तकी शक्तिका नाम चेतना है। मूर्च्छित अवस्थामें भी शरीरमें चेतना रहती है। चेतनामें ही संस्कारोंके योगसे इच्छा, द्वेष, संकल्प आदि उठते हैं। चेतना ही अनुभव, अध्ययन एवं उपदेशके अनुसार निश्चयात्मिका 'बुद्धि'का रूप धारण करती है। जब न संकल्प हो और न निश्चय किन्तु चेतना हो, तब उसका नाम चेतना होता है। जब संकल्प-विकल्प चलता है तब चेतनाको ही 'मन' कहते हैं। यह मन, बुद्धि, चेतना हमें ज्ञात होते हैं, अतः यह क्षेत्र है।

धृति : शरीरमें एक धारणा-शक्ति है, उसीको धृति कहते हैं। सुषुप्तिमें यही शक्ति जीवन, रक्ताभिसरण, हृदयकी धड़कन आदिको धारण करती है। यह अन्तःकरणमें अहंकार है (अथवा अहंकारकी शक्ति है)। इसीके कारण जीनेकी इच्छा बनी रहती है। टूटी हड्डी, कटे घाव आदि अपने आप इसी धृतिके कारण ठीक हो जाते हैं। धृति भी ज्ञेय होनेसे क्षेत्र है।

संघात : अनेक वस्तुओंके मेलसे बनी वस्तुको संघात कहते हैं। यह प्रपंच और शरीर पंचमहाभूतोंका संघात है। इन्द्रियों, प्राण, अन्तःकरण, इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, चेतना, धृति—इन सबका संघात है शरीर। जब ये सब अलग-अलग क्षेत्र हैं तो मिलकर भी क्षेत्र ही रहेंगे। अतः इन सबका संघात शरीर और सम्पूर्ण जगत् क्षेत्र ही है। मैं ज्ञाता, क्षेत्रज्ञ, इनसे विलक्षण ज्ञानरूप हूँ।

इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिः बुद्धेरात्मा महान् परः॥
महतः परमव्यक्तमव्यक्तात् पुरुषः परः।
पुरुषान्न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः॥
(कठोपनिषद् १.३. १०-११)

"इन्द्रियोंसे परे तन्मात्र हैं, उनसे परे मन है। मनसे परे बुद्धि है, बुद्धिसे परे अहंकार है। अहंकारसे परे महत्तत्त्व है, महत्तत्त्वसे परे अव्यक्त है। (यह हुआ क्षेत्र)। अव्यक्तसे परे पुरुष है (यह क्षेत्रज्ञ है)। पुरुषसे परे कुछ नहीं है। पुरुष ही सूक्ष्मताकी पराकाष्ठा है। पुरुष ही परम गति है।" (क्षेत्रज्ञ ही ब्रह्म है)।

३. प्रकृति एवं पुरुषका विवेक

क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ (प्रकृति और पुरुष) अनादि हैं। उपनिषद्का कहना है कि एक ही ब्रह्ममें जो अनेकता दीखती है वह मायाका कार्य है।[१९] माया आभासके द्वारा ही ब्रह्ममें जीव और ईश्वरका भेद करती है। इसलिए क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका जो दोपना है वह भी माया-रचित है, वास्तविक नहीं। गीतामें भगवान्ने अष्टधा प्रकृतिको अपनी **अपरा प्रकृति** बताया है और जीवात्माको **परा-प्रकृति**[२०]। ब्रह्म-प्रकृति होनेसे इनका ब्रह्मसे अनिवर्चनीय सम्बन्ध है। वेदान्तमें माया सदसद्-विलक्षण अनिर्वचनीय ही है। अतः उसका कार्य भी अनिर्वचनीय ही है।

वेदान्तमें छः पदार्थ अनादि माने जाते हैं। शुद्ध चेतन (ब्रह्म): ईश्वर; जीव; ईश्वर-जीवका भेद, और अविद्या चितका परस्पर सम्बन्ध।[२१] अनादि भी दो प्रकारके होते हैं—वास्तविक अनादि और कल्पित अनादि। ब्रह्म परमार्थसत्य (वास्तविक) अनादि है और अनन्त भी है। शेष सब कल्पित अनादि हैं माने विवेकके लिए इनका अनादित्व स्वीकार किया जाता है किन्तु ये अनन्त नहीं हैं, सान्त हैं क्योंकि ब्रह्मज्ञानसे इनका मिथ्यात्व निश्चित हो जाता है। आकाश अनादि है तो उसमें

---

१९. इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते (बृहदा० २.५. १९)।

२०. गीता ७. ४–५।

२१. ये छः स्वरूपसे अनादि हैं और प्रपञ्च प्रवाहरूपसे अनादि हैं।

दीखनेवाली नीलिमा भी अनादि है। किन्तु आकाश सत्य है और नीलिमा कल्पित है क्योंकि नीलिमा अपने अधिष्ठान आकाशका ठीक-ठीक ज्ञान होने पर बाधित हो जाती है।

अनादि शुद्ध ब्रह्ममें कल्पित-अनादि प्रकृति है। प्रकृतिका ब्रह्मके साथ कल्पित-अनादि तादात्म्य सम्बन्ध है अर्थात् वास्तवमें दोनोंका अभेद है किन्तु विवेकके लिए भेद स्वीकार किया जाता है। अनादित्व सत्यत्वका लक्षण नहीं है। अर्थात् कोई वस्तु अनादि होनेसे ही सत्य नहीं हो जाती। अबाधितत्व सत्यत्वका लक्षण है। इसके विपरीत जो अधिष्ठान ज्ञानसे बाधित हो जाय वह मिथ्या है। स्वप्नमें भगवान् विष्णुका दर्शन हुआ। भगवान् विष्णु अनादि नित्य-सत्य लगे। जागने पर पता लगा कि वह मूर्ति तो मनके संस्कारसे उत्पन्न हुई थी। अतः वह दर्शन और उसके विष्णु भगवान् बाधित हो गये।

ब्रह्म अनन्त है और स्वप्रकाश है। स्वयंप्रकाशकी प्रकृति है देखना और अनन्तकी प्रकृति है पूरा-पूरा देखा न जाना। अतः जब ब्रह्म अपने आपको ही देखता है तो पूरा न दीख पानेके कारण उसी अनन्तमें सान्तकी कल्पना हो जाती है और एक अनेक दीखने लगता है।

वेदान्तमें प्रकृतिको **'अव्याकृत'**[२२] कहते हैं। **'माया'** भी[२३] अव्याकृतका ही नाम है। सांख्यमें प्रकृति' जड़ सत्ता है जो सबीज, संस्कारयुक्त है। संस्कारके अनुसार उसमें अंकुर, परिणाम होते हैं। किन्तु चेतन सबीज नहीं हो सकता। चेतन तो सबीज, निर्बीजका साक्षी होता है।

---

२२. सृष्टिमें जितनी आकृतियाँ हैं उनका मूल 'अव्याकृत' है। आकृतियाँ जिस मूल धातुमें गढ़ी गयी हैं उस मूल धातुका नाम 'अव्याकृत' है। वेदान्तमें यह ब्रह्मकी सबीज अवस्था है।

२३. 'माया' भी प्रकृतिका ही नाम है। जड़ताके संदर्भमें जो प्रकृति है, चेतनताके संदर्भमें वही माया है। दोनों त्रिगुणमयी हैं। किन्तु 'माया' पुरुषके आश्रित है जबकि प्रकृति स्वतन्त्र है। प्रकृति स्वयं परिणामी है; माया पुरुषको ही अनेकरूप दिखाती भर है, स्वयंकी परिणमता भी प्रातीतिक ही है, वास्तविक नहीं। प्रकृति पुरुषसे पृथक् सत् है किन्तु वेदान्तमें प्रकृति अर्थात् माया सदसद्विलक्षण अनिर्वचनीय है।

वेदान्तके प्रक्रिया ग्रन्थोंमें मायाके तीन स्वरूपोंका वर्णन है। शुद्ध सत्त्वगुणयुक्त माया, मलिन सत्त्वगुण-युक्त अविद्या एवं तमोगुण-प्रधान प्रकृति।

चैतन्य अनेकाकार भी नहीं हो सकता अन्यथा उस अनेकताका साक्षी कौन होगा ? अतः चैतन्यमें न परिणाम हो सकता है और न विकार तब चैतन्यको सृष्टिकी अनेकताका मूल मानना केवल 'माया'के द्वारा ही संभव हो सकता है। माया माने 'जादू'। जादूके खेलमें यदि पुत्र दिखता हो तो उसके लिए न उस पुत्रके माता-पिताकी आवश्यकता है, न पंचभूतोंकी; क्योंकि जादूमें वस्तु रूपान्तरित नहीं होती, रूपान्तरित रूपमें भासती है। वेदान्तकी भाषामें इसीको **'विवर्त'** बोलते हैं। विवर्त अर्थात् विपरीत वर्तन : ब्रह्मका जगत्के रूपमें दीखना। ब्रह्म मायासे ही अनेक रूपमें प्रतीत होता है : इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते। यह बृहदारण्यकका वचन है।

सृष्टिके प्रकार-भेद-का जो मूल हेतु है, उसका नाम 'प्रकृति' है। और प्रकृतिके समस्त प्रकार-भेदोंके मूलमें अधिष्ठानरूपसे (व्यापक रूपसे) विद्यमान चेतनका नाम 'पुरुष' है। प्रकृति जड़ताका मूल है तो पुरुष चेतनत्वका। प्रकृति अध्यस्त है पुरुषमें, अतः प्रकृति बाध्य है। ये दोनों अनादि हैं : पुरुष परमार्थ-अनादि है और प्रकृति कल्पित-अनादि। ब्रह्ममें इन पुरुष-प्रकृतिकी प्रतीति एवं भेद मायिक है, आविद्यक है।

प्रकृतिके विकार हैं पंचभूत, इन्द्रिय, मन, विषय, अहंकार, महत्तत्त्व, अव्यक्त। और जितना भी कार्य-कारणात्मक जगत् है— सत्त्वगुण, रजोगुण, तमोगुण ये भी प्रकृतिसे ही निकलते हैं।

देहादि भौतिक वस्तुएँ, इन्द्रिय, अन्तःकरण तथा कर्तृत्व इनमें प्रकृतिको हेतु बताया है और सुख-दुःखके भोगमें पुरुषको हेतु बताया है।[२४]

पुरुषमें कर्तापन कर्मेन्द्रियोंकी उपाधिसे आता है। हाथकी उपाधिसे कर्तापन तो पादकी उपाधिसे गन्तापन! ज्ञानेन्द्रियोंकी उपाधिसे ज्ञातापन आता है। मनकी उपाधिसे आनुकूल्य-प्रातिकूल्यका ज्ञातापन आता है। बुद्धिकी उपाधिसे धर्माधर्मका ज्ञातापन आता है। चित्तकी उपाधिसे स्मर्तापन तथा अहंकारकी उपाधिसे अहंता आती है। स्थूलदेहकी उपाधिसे जाग्रद्-अवस्थाका अभिमान, व्याधिका अभिमान, वर्णादिका अभिमान; सूक्ष्मदेहकी उपाधिसे स्वप्नावस्थाका अभिमान, आधिका अभिमान,

---

२४. कार्यकरणकर्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते॥ (गीता १३.२०)

कर्तृत्व-भोक्तृत्वका अभिमान, संसारीपेनका अभिमान; कारण शरीरकी उपाधिसे समाधि, सुषुप्ति अवस्थाओंका अभिमान आता है। ये सब उपाधियाँ प्रकृतिमें कल्पित हैं।

पुरुषमें (चेतन क्षेत्रज्ञमें) भोक्तृत्व स्वरूपगत नहीं है, वह भी उपाधि-गत ही है। 'अहं सुखी, अहं दुःखी' यही सुख-दुःखके भोगका स्वरूप है। इसमें जो सुख, दुःखके साथ तादात्म्यापन्न अहं है वही भोक्ता है। किन्तु सुख-दुःख तो क्षेत्रके अंग हैं। इसलिए जो सुख-दुःखको जाननेवाला है, वह सुखी-दुःखी नहीं हो सकता।

यदि मैं सुखी हूँ तो सुखका साक्षी कैसे ? यदि मैं दुःखी हूँ तो दुःखका साक्षी कैसे ?

असलमें अविविक्त चैतन्य (क्षेत्रसे अलग न किया हुआ क्षेत्रज्ञ) ही भोक्ता है। शुद्ध चैतन्य भोक्ता नहीं है।

सुख आत्मगामी है और दुःख मनोगामी। संसारमें सुखके पूरे निमित्त होनेपर भी सुखका अनुभव नहीं होता और कितना भी दुःखी व्यक्ति हो सो जाने पर सुखका अनुभव होता है। बिना मनके दुःख-अनुभव नहीं होता, जबकि बिना मनके सुख-अनुभव होता है जैसे सुषुप्तिमें। अतः सुख भीतरसे आता है और दुःख आप बाहरसे मोल लेते हैं। आत्माकी विद्यमानता ही सुख है। ये सुख-दुःख भोक्ताके ही होते हैं।

जबतक पुरुष अज्ञात है तबतक उसीकी संज्ञा पुरुष है। जब ज्ञात हो जाता है (कि वह पुरुष, क्षेत्रज्ञ, मैं हूँ) तब उसकी संज्ञा ब्रह्म हो जाती है। अज्ञात ब्रह्म ही पुरुष है।

इसी प्रकार, जबतक साधिष्ठान प्रकृतिका ज्ञान नहीं है तबतक उसका नाम प्रकृति है। साधिष्ठान प्रकृतिका ज्ञान होने पर उसका नाम प्रतीति हो जाता है, (माया हो जाता है)। पुरुष और प्रकृति दोनों आविद्यक स्थितिमें ब्रह्ममें कल्पित हैं। इनमें विकार, गुण, कार्य-कारण भाव सब आविद्यक दशामें ही कल्पित हैं। विद्या-दशामें यह सब मेरी माया है, मुझमें प्रतीतिमात्र है।

प्रकृति वस्तुतः न है, न किसीमें हेतु है। वह विवेकके लिए कही जाती है—अध्यारोपित की जाती है। जबतक अपनी अपरिच्छिन्नताका बोध नहीं है तबतक ही प्रकृति, पुरुष, इनका द्वित्व, इनके धर्म सत्य प्रतीत होते हैं।

जैसे चतुष्कोण लौह-खण्डको अग्निसे लाल किया तो अग्नि चतुष्कोण दीखने लगी और लौहखण्ड अग्निरूप (दाहकता-गुणयुक्त) दीखने लगा। इसी प्रकार देहकी परिच्छिन्नताका आरोप आत्मामें और आत्माकी चेतनताका आरोप देहमें हो गया है। इसी परस्पर अध्यायके कारण पुरुषको सुख दुःखके भोगमें हेतु कहा गया है। पुरुष भोक्ता नहीं होता, भोक्तृत्वमें हेतु है—ऐसा कहा जाता है। प्रकृति कर्त्री नहीं होती, कर्तृत्वमें हेतु है ऐसा कहा जाता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व ही संसारका लक्षण है : **कर्तृत्व-भोक्तृत्वलक्षणः संसारः**। ज्ञानसे यही संसार निवृत्त होता है। भूत-भौतिक प्रपंच तो ऐसे ही इन्द्रियोंके समान बने रहते हैं।

क्षेत्रज्ञका स्वरूप वस्तुतः न कर्ता है, न भोक्ता है। यह उसका औपाधिक धर्म है ज्ञानसे बस यही जाना जाता है कि क्षेत्रज्ञमें क्षेत्र मिथ्या है और 'ज्ञ' सत्य है। मिथ्या क्षेत्रकी मिथ्या उपाधियाँ सत्य ज्ञानस्वरूप मुझ आत्माको परिच्छिन्न नहीं कर सकतीं। प्रकृति जड़, दृश्य, परिवर्तनशील होनेसे मुझ चैतन्य, द्रष्टा, अपरिणामी ब्रह्मको बाँध नहीं सकतीं और मैं असंग होनेसे बँध नहीं सकता। अतः मैं नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त ब्रह्म हूँ, यह निश्चय करना चाहिए।

देहत्रय·साक्षी·विवेक

१. स्थूल शरीर

आत्मा वा अरे द्रष्टव्य : (बृहदा० २.४.५)

इस श्रुतिमें यह संकेत है कि 'अनात्मा न द्रष्टव्य:, आत्मा वा द्रष्टव्य:' अर्थात् पहिले अनात्माको (जो तुम नहीं हो उसको) देखना बन्द करो फिर आत्माको (जो तुम शुद्ध सच्चिदानन्दघन हो उसको) देखो। 'तत्त्वमसि' महावाक्यमें यही त्वं-पदके शोधनकी प्रक्रिया है।

प्रकृति-पुरुषका, क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके विवरणपूर्वक व्याख्यानके बाद अब यह आसान बात हो जाती है कि हम यह समझ जायें कि 'मैं यह शरीर नहीं हूँ और न शरीर मेरा है।' यह शरीर प्रकृतिका कार्य है, पंचभूतोंका विकार है, मायाका परिणाम है, ब्रह्मका विवर्त है। अत: यह दृश्य है, विकारी है, परिणामी है, विनाशशील है, जड़ है। यह 'मैं' कैसे हो सकता है क्योंकि मैं दृश्यका, विकारका, परिणामका, परिवर्तनका जाननेवाला चेतन साक्षी हूँ। 'मैं हूँ' तभी इनका ज्ञान होता है। यदि 'मैं न होऊँ' तो इनका अस्तित्व ही प्रमाणित नहीं होगा।

विचारके लिए हम देहके तीन विभाग कर लेते हैं :

१. स्थूल शरीर २. सूक्ष्म शरीर और **३. कारण शरीर**

मुर्दामें जो शरीर उपलब्ध होता है वह स्थूल शरीर है। जीवित प्राणीमें स्थूल, सूक्ष्म, कारण तीनों शरीर रहते हैं। ब्रह्मज्ञानीके शरीरमें स्थूल, सूक्ष्म दो ही शरीर उपलब्ध होते हैं, उनका कारण शरीर नष्ट हो जाता है।

अब इनका पृथक्-पृथक् विवेचन करते हैं।

स्थूल शरीर : मज्जा, अस्थि, मेद, मांस, रक्त, चर्म और त्वचा— इन सात धातुओंसे जिस शरीरकी रचना होती है, वही स्थूल शरीर है। चरण, जंघा, वक्षस्थल, भुजा, पीठ, मस्तक आदि नामवाले अनेक अंग-

उपांग इस स्थूल शरीरके अवयव हैं। ज्ञानेन्द्रियों-कर्मेन्द्रियोंके गोलक; अन्तःकरणका पीठ मस्तिष्क, रक्त-शोधक हृदय, समस्त नस-नाड़ियोंका स्थूल मंडल, हड्डी, मांस, रुधिर, मल, मूत्र आदि सब इसी स्थूल शरीरके अंग हैं। वैद्य-हकीम-डाक्टर जिस शरीरकी चीड़-फाड़ एवं जाँच करते हैं, वह यही स्थूल शरीर है। यह स्थूल शरीर दृश्य है तथा पंचीकृत पंचमहाभूतोंका विकार है। इसके प्रत्येक अवयवमें पाँचों भूत (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश) मिले हुए हैं। पंचीकरणमें चूँकि एक-एक तत्त्वके पांच-पाँच भाग हो जाते हैं, अतः कुल पच्चीस तत्त्वोंका संघात यह स्थूल शरीर है।

इस स्थूल शरीरमें जितना भाग कठोर है उसमें पृथ्वी तत्त्वकी प्रधानता है, जितना भाग द्रवरूप है उसमें जलतत्त्वकी प्रधानता है, जितनी ऊष्मा या उसका कार्य है वह अग्नितत्त्वका है, जितनी गतिशीलता है उसमें वायुतत्त्व प्रधान है। और जितना पोल (शून्यस्थान) है वह आकाशतत्त्वकी प्रधानतासे है।

मनुष्यका यह स्थूल शरीर अपने हाथके परिमाणसे साढ़े तीन हाथका है। यही मोटा-पतला, गोरा-काला, स्त्री-पुरुष लिंगवाला होता है। इसीकी उत्पत्ति, वृद्धि, मृत्यु होती है। इसीका ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र वर्ण होता है। ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, संन्यासी भी यही स्थूल शरीर होता है। यही हिन्दू, मुसल्मान, ईसाई होता है। इसीकी पूजा, प्रतिष्ठा, मान-अपमान होता है। स्त्री-पुत्रादिके सारे सम्बन्ध इसी स्थूल शरीरके आश्रित हैं।

जाग्रत्-अवस्थाका सारा व्यवहार इसी स्थूल शरीरके द्वारा सम्पन्न होता है तथा मनुष्य इसी स्थूल शरीरमें 'मैं और मेरा' भाव करता है। अज्ञानी इस भावको सत्य समझकर अपने शुद्ध स्वरूपको भूलकर तद्रूप हो जाता है। ज्ञानी अपने शुद्ध साक्षी स्वरूपको समझता है अतः उसके व्यवहारमें स्थूल शरीरमें मैं—मेरा भाव रहता हुआ भी उसको मिथ्या (प्रतीतिमात्र) समझता है; वह उस भाव और व्यवहारसे असंग बना रहता है।

पंचभूतोंमें स्थूल-आकृतियोंका भेद क्यों हुआ ? इसका कारण इस शरीरमें रहनेवाले कर्ता-भोक्ता जीवात्माका पूर्वकृत कर्मसंस्कार है। लौह-

चूर्णमें चुम्बक जैसे अपनी शक्ति आदिके अनुसार चूर्णके कणोंको अपने साथ चिपका लेता है, उसी प्रकार पंचमहाभूतोंको जीवात्मा अपनी वासनाओंके अनुसार अपने साथ सम्बद्ध कर लेता है।

यह स्थूल शरीर जीवात्माका भोगायतन है। जैसे गृहस्थ घरमें रहता है वैसे ही जीवात्मा इस स्थूल शरीरमें रहता है।[1] जैसे घर ईंट, पत्थर, लोहा, सीमेन्ट, लकड़ीसे बना होता है और इसलिए उन्हींका है, गृहस्थ केवल व्यवहारके लिए उसे मेरा कहता है; उसी प्रकार यह स्थूल शरीर पंचमहाभूतोंसे बना है अतः उन्हींका है, जीवात्माको तो भोगायतन होनेके कारण इसको व्यवहारतः मेरा कहना चाहिए। 'मैं' तो यह है ही नहीं। जब यह शरीर हमारा कहना नहीं मानता, इसका ह्रास-विकास हमारी इच्छाके अनुसार नहीं होता अपितु पंचभूतोंके नियमोंके अनुसार चलता है, तब यह शरीर मेरा कैसे ? यह तो पाँच भूतोंका ही है। जिसकी जो वस्तु हो उसको सुपुर्द कर देनी चाहिए।

पच्चीस तत्त्वोंका संघात यह स्थूल शरीर 'मैं' नहीं हो सकता क्योंकि संघात किसी दूसरेके लिए होता है : 'संघातस्य परार्थत्वात्'। यह शरीर आत्माके लिए है, किन्तु आत्मा नहीं है।

स्थूल शरीरका न कोई एक अवयव आत्मा (मैं) है और न सब मिलकर आत्मा है। आत्मा तो स्थूल, सूक्ष्म, कारण—तीनों देहोंका ज्ञान-स्वरूप साक्षी है। कर्ता-भोक्ता-संसारी-परिच्छिन्न जो जीवात्मा है वह भी सूक्ष्म शरीर और कारण शरीरवाला ही है, क्योंकि जन्मान्तरमें स्थूल शरीर तो यहीं रह जाता है और सूक्ष्म-कारण शरीरको ही साथ लेकर जीवात्मा देहान्तरणको प्राप्त होता है।

विचारकको चाहिए कि प्रकृति-पुरुष विचारपूर्वक वह अपनेको स्थूल शरीर और उसके धर्मोंसे अपनेको पृथक्, उनके भावाभावका साक्षी अनुभव करे। अनुभवका सूत्र यही है कि जो दृश्य है, ज्ञेय है, वह असत्, जड़, दुःखरूप है अतः वह अनात्मा है (मैं नहीं है) और जो द्रष्टा है, ज्ञाता है, साक्षी है, वह सच्चिदानन्दरूप है, अतः वही आत्मा है (मैं हूँ)। मैं सबके भावाभावका साक्षी हूँ। अतः मैं शुद्ध ज्ञानस्वरूप हूँ।

---

१. विवेकचूड़ामणि ९०,९२।

स्थूल शरीर दृश्य है, अतः जड़ है। इसके छः भावविकार[२] हैं :–उत्पन्न होना (जायते), उत्पन्न होकर अस्तित्वमें आना (अस्ति), बाल, युवा, वृद्ध आदि परिणामको प्राप्त होना (विपरिणमते), बढ़ना (वर्द्धते), वृद्ध होकर क्षयी होना (अपक्षीयते) और अन्तमें मर जाना (विनश्यति)। आत्मा इन छः भावविकारोंका साक्षी है। वह उत्पन्न नहीं होता, उत्पत्तिका साक्षी है, अतः उत्पत्तिसे पूर्व विराजमान है। वह शरीरके वर्द्धन, परिणाम, क्षय और विनाशका साक्षी है, अतः वह सर्वकालमें है।

जैसे घटका द्रष्टा घटसे पृथक् है, उसी प्रकार स्थूल शरीरका द्रष्टा स्थूल शरीरसे पृथक् है।

इस स्थूल शरीर और इसकी जाग्रत् अवस्थाका जो अभिमानी है उसको **'विश्व'** कहते हैं। किन्तु आत्मा विश्वसे भी विलक्षण है। इसका विवेक अवस्थात्रय-साक्षी-विवेकमें देखना चाहिए। स्थूल शरीर क्रिया-भोगप्रधान है, अतः इसकी शक्ति रजोगुण है।

२. सूक्ष्म शरीर

स्थूल शरीरकी ज्ञान-कर्मात्मक चेष्टाओंके जो हेतु हैं वे पंचमहाभूत हैं परन्तु वे अपने तन्मात्रोंसे बने सूक्ष्म शरीरके माध्यमसे ही इसको चेष्टित करते हैं।

यह सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीरकी स्थिति, पोषण और लयमें कारण है। वासनाएँ, शक्तियाँ, कर्तृत्व-भोक्तृत्व, अभिमान और इन सबका हेतु अज्ञान (अविद्या) इसी सूक्ष्म शरीरमें रहते हैं। जन्मान्तरण और देहान्तरणका हेतु भी यही सूक्ष्म शरीर है।

भगवान् श्रीशंरकाचार्यने **सूक्ष्म शरीर**को **लिंग-शरीर** और **पुर्यष्टक** नाम भी दिया है। उनके अनुसार[३]सूक्ष्मशरीरके आठ अवयव हैं और उनके कुल मिलाकर बाईस तत्त्व[४] हैं :

---

२. यास्कमुनिने शरीरके ये छः भावविकार बताये हैं।

३. विवेक चूड़ामणि ९८-२००।

४. कुछ लोग सत्रह तत्त्व मानते हैं। उनके मतमें अन्तःकरण दो हैं—मन, और बुद्धि तथा पंचतन्मात्रा, अविद्या, काम और कर्मकी गिनती सूक्ष्म शरीरमें नहीं है। कुछ लोग सत्ताईस तत्त्व मानते हैं; वे प्राण दस मानते हैं। वेदान्त-विचारमें गिनतीका महत्त्व नहीं है।

१. पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ २. पाँच कर्मेन्द्रियाँ ३. पाँच प्राण ४. अन्तःकरण-चतुष्टय ५. पाँच तन्मात्राएँ तथा ६. अविद्या ७. काम और ८. कर्म।

इन सबका वर्णन प्रकृति-पुरुष-विवेकमें हो चुका है। सूक्ष्म शरीर अपंचीकृत पंचभूतोंसे बना है तथा यह पुरुषके सम्पूर्ण व्यापारोंका करण है। अविद्या, काम और कर्म इस शरीरकी रचनाके निमित्त हैं।

मैं सुनता हूँ, मैं छूता हूँ, मैं देखता हूँ, मैं रस लेता हूँ, मैं सूंघता हूँ—ये ज्ञान-चेष्टाएँ; मैं बोलता हूँ, मैं लेता-देता हूँ, मैं आता-जाता हूँ, मैं मल-मूत्र त्यागता हूँ—ये कर्म-चेष्टाएँ; शरीरकी सभी ज्ञात-अज्ञात क्रियाएँ; मनके संकल्प-विकल्प, बुद्धिके निश्चय-अनिश्चय, चित्तके चिन्तन, अहंकारके सभी प्रकारके अभिमान; शब्दादि विषयोंका ज्ञान, उनके प्रति राग-द्वेष, उनके प्रति वासनाएँ और अपने ब्रह्मत्वका अज्ञान—ये सभी सूक्ष्म शरीरके धर्म हैं।

विचार यह करना चाहिए कि स्थूल शरीरकी भाँति ही सूक्ष्म शरीरके अवयव भी दृश्य हैं; ज्ञेय हैं और मैं इनका द्रष्टा-ज्ञाता हूँ। अतः मैं सूक्ष्म शरीरसे भिन्न ज्ञानस्वरूप साक्षी हूँ। इसके धर्म मेरे धर्म नहीं हैं, प्रकृतिके गुणों और पंचभूतोंके हैं। अपने ब्रह्मत्वके अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाले जो जीव-धर्म हैं जैसे कि 'मैं पापी-पुण्यात्मा हूँ, सुखी-दुःखी हूँ, लोक-परलोकमें आने-जानेवाला हूँ, इसी शरीरमें हूँ, इत्यादि।' वे भी अज्ञान और इन्द्रिय या अन्तःकरणके सहयोगसे उत्पन्न होनेकी वजहसे सूक्ष्म शरीरके ही धर्म हैं, मुझ साक्षी आत्माके नहीं। सत्त्व, रज और तमके जो सात्त्विक, राजस, तामस विकार हैं वे भी सूक्ष्म शरीरके धर्म हैं, साक्षी आत्माके नहीं। अतः मैं साक्षी न कभी गुणोंके बन्धनमें था और न कभी उनसे मुक्त होऊँगा क्योंकि मैं तो नित्य मुक्त हूँ।

साक्षीमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व, परिच्छिन्नत्व और संसारित्व औपाधिक[५] हैं, स्वरूपगत नहीं। कर्मेन्द्रियोंकी उपाधिसे कर्तापन है, ज्ञानेन्द्रियोंकी उपाधिसे ज्ञातापन है, मनकी उपाधिसे भोक्तापन है, सूक्ष्म शरीरकी उपाधिसे संसारित्व

---

५. कर्तृत्व भोक्तृत्व कहीं भी सिद्ध नहीं होते—न जड़में और न चेतनमें। ये दोनोंके आध्यासिक स्वरूपमें ही हैं। ज्ञान होनेपर अध्यास निवृत्त हो जाता है और उपाधि मिथ्या अनुभव हो जाती है। उस समय प्रातीतिक कर्तृत्व-भोक्तृत्व चिद्विलास मात्र हो जाते हैं।

है और स्थूल-सूक्ष्म देहके अधिष्ठान एवं साक्षीके एकत्वके अज्ञानसे परिच्छिन्नत्व है। साक्षी स्वरूपसे नित्यमुक्त है।

यह सूक्ष्म शरीर सम्पूर्ण स्थूल देहमें व्यापक है—यह वेदान्त-शास्त्रकी प्रक्रिया है। अतः जीवात्मा अपने सूक्ष्म शरीरकी आकृति स्थूल देह-जैसी ही मानता है। मरनेके बाद इसी सूक्ष्म शरीरसे पूर्वके स्थूल शरीरके द्वारा किये गये पाप-पुण्योंका फल भोगता है। तदनन्तर कर्मवशात् जिस स्थूल योनिको प्राप्त करता है उसी आकृतिको तादात्म्यसे प्राप्त हो जाता है।

सूक्ष्म शरीरका उपलब्धि-स्थान स्वप्नावस्था है। उस समय स्थूल शरीर तो शय्यापर पड़ा रहता है और जीवात्मा केवल इसी सूक्ष्म शरीरके आधारपर सम्पूर्ण जाग्रत्-सृष्टि जैसी स्वप्न-सृष्टि रच लेता है। उस समय इसके भोग भी स्वाप्निक ही (सूक्ष्म) होते हैं। जाग्रत्-अवस्थाका जो अभिमानी 'विश्व' था वह भी वहाँ नहीं रहता। स्वप्नके अभिमानीका नाम **'तैजस'** है, और स्वप्नमें सब कुछ ज्ञानात्मक होनेसे उस समय उसकी शक्ति सत्त्वगुण है। आत्मा इस तैजससे विलक्षण है। किन्तु जाग्रद्-अवस्थाका जो साक्षी है वही स्वप्नावस्थाका साक्षी है। साक्षी दो नहीं हो सकते।

अब आप विचार कीजिये कि क्या आप कुछ कर रहे हैं? क्या कुछ भोग रहे हैं? क्या कुछ जान रहे हैं? क्या कुछ अभिमान कर रहे हैं? नहीं। सभी कुछ अपने आप ही तो हो रहा है! गुण गुणोंमें वर्त रहे हैं, प्रकृतिके गुण ही सब कर रहे हैं, अधिदैव अपने अध्यात्मको अधिभूतमें प्रेरित कर रहे हैं, साँस चल रही है, भूख लग रही है, भोजन पच रहा है, शरीरका पोषण हो रहा है, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति आदि अवस्थाएँ शरीरमें आ रही हैं, सुख-दुःखके अभिमान आपके अहंमें जाग-सो रहे हैं, इत्यादि। जो भी देहोंमें हो रहा है उसको आप तो बस देखिये, देखते रहिये, क्योंकि आप साक्षी हैं। साक्षीका काम तटस्थतासे प्रकाशित करना मात्र होता है; वह किसी घटनामें भागीदार नहीं होता।

३. कारण शरीर

स्थूल और सूक्ष्म—दोनों शरीरोंका बीज क्या है? अर्थात् उनकी विविधताका निमित्त और मूल उपादान क्या है? पंचभूतोंके विकार होनेसे दोनों शरीरोंका मूल उपादान त्रिगुणमयी प्रकृति या अव्यक्त ही है।

अव्यक्तसे ही 'व्यक्त शरीर' उत्पन्न होता है। शरीरकी भिन्नताका हेतु पूर्वकर्मों और भोगोंके संस्कार हैं, जिनका स्वयंका हेतु अज्ञान है। अपने ब्रह्मत्वके अज्ञानके कारण प्रकृति अन्यरूपसे कल्पित है; अन्यथा कार्य-कारणकी कल्पनासे उपलक्षित जो आत्मतत्त्व है वही वेदान्तशास्त्रमें प्रकृति या उससे उपलक्षित ईश्वर कहलाता है। इसलिए वेदान्तमें अज्ञान या अविद्या ही मूल कारण है। वेदान्तमें माया, अविद्या, अज्ञान, अव्यक्त, अव्याकृत, प्रकृति—सब एक ही तत्त्वके नाम हैं।

अतः जीवात्माका **कारण शरीर** 'अज्ञान' बताया गया है। इसका लक्षण है: "मैं नहीं जानता" यह ज्ञान। इस शरीरका अनुभव सुषुप्ति-अवस्थामें होता है जबकि मनुष्य न तो जाग्रद्-अवस्थाके अनुसार विषयोंकी कामना करता है और न स्वप्नावस्थाकी तरह स्वप्न देखता है उस समय सूक्ष्म शरीरमें सिर्फ जड़ प्राण तो चलते हैं किन्तु अन्य कोई चेष्टा या ज्ञान नहीं होता। असलमें तो प्राणोंका चलना भी मनुष्यकी अपनी सुषुप्तिका अनुभव नहीं है। दूसरोंकी सुषुप्तिकी अवस्थामें प्राण चलता हुआ देखकर अपने ऊपर उसका अध्यारोप कर लेता है। सुषुप्तिसे उठनेपर वह मनुष्य अपने अनुभवको इन शब्दोंमें कहता है: "मैं सुखसे सोया, कुछ पता नहीं रहा"। स्पष्ट है कि इस अवस्थामें उसने अज्ञानका (कुछ पता नहींका) अनुभव किया। यह अज्ञान ही कारण है। उस समय अनुभवकर्ता (साक्षी) स्वयं उपस्थित रहनेपर भी जागनेपर अपने भावका वर्णन नहीं करता बल्कि दृश्यके अभावका वर्णन करता है। इस सुषुप्ति-अवस्थासे यह भी स्पष्ट है कि साक्षी भाव और अभाव दोनोंका साक्षी होता है तथा भाव और अभाव दोनोंका साक्षी एक ही होता है क्योंकि जो जाग्रत् और स्वप्नके दृश्यको देखनेवाला था वही सुषुप्तिमें उनके अभावको देखनेवाला होता है।

यह अज्ञान जाग्रत्, स्वप्नमें भी उपलब्ध होता है। लोग कहते हैं: मैं ब्रह्मको नहीं जानता, मैं अमुक विषयको नहीं जानता। यह 'न जानना' ही कारण शरीर है

'मैं साक्षी ब्रह्म हूँ'—यह न जानना मूल अज्ञान है। इसको **मूलाविद्या** भी कहते हैं। 'मैं अमुक विषयको नहीं जानता'—इस अज्ञानमें विषयका अज्ञान है। इस अज्ञानको **तूलाविद्या** कहते हैं।

उपनिषद्‌की प्रतिज्ञा है कि एकके विज्ञानसे सर्वका विज्ञान हो जाता है (मुण्डक० १.१.२) और उदाहरणं दिया है मृत्तिकासे बने घट-सराव आदि का (छा० १.१.४) ब्रह्मज्ञानके द्वारा जब कारण-शरीर भंग हो जाता है तब सब विषय उसे ब्रह्मरूप अनुभव हो जाते हैं ।

यहाँ यह ख्याल रखना चाहिए—अविद्या (वृत्तिरूपसे) वुद्धिमें ही रहती है, वहीं जहाँ विद्या रहती है । इसलिए सूक्ष्म शरीर अविद्याका आश्रय है । किन्तु अविद्या स्वयं कारण शरीर है । यों भी कह सकते हैं कि अविद्याका कार्य 'मैं कर्ता, भोक्ता, सुखी, दुःखी, संसारी, परिच्छिन्न जीव हूँ'—यह विपरीत ज्ञान और इसके आश्रित रहनेवाले काम और कर्म सूक्ष्म शरीरके भाग हैं जबकि अविद्या स्वयं कारण शरीर है ।

'मेरा हीरा हिराय गयो कचरेमें'—आपका यह हीरा साक्षी आत्मा इन तीन शरीरके ढेरमें, कूड़ेमें, कचरेमें खो गया है। इन तीनों देहोंके साक्षीको विवेक करके, बिचार करके, इस कचरेसे अलग कर लीजिये । यही इस देहत्रय-साक्षी-विवेकका प्रयोजन है ।

४. देहत्रय-साक्षी

१. 'मैं दुःखी हूँ, मैं अज्ञानी हूँ,– यह चित्तकी केवल स्फुरणा है । तुमने अपने दुःख और अज्ञानको देखा है, अतः तुम इनके द्रष्टा हो, इनसे पृथक् इन स्फुरणाओंके प्रकाशक, साक्षी हो । जो 'मैं' सुखी, दुःखी मालूम पड़ता है, वह मैं तुम नहीं हो, तुम वह 'मैं' हो जिससे यह मालूम पड़ता है ।

२. इस प्रकार विचार करो—मैं गृहस्थ, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, हिन्दू, मुसलमान, मनुष्य, देवता, युवा, वृद्ध इत्यादि नहीं हूँ । ये तो स्थूल शरीर हैं । मैं इनका साक्षी हूँ ।

३. मैं सोता हूँ, जागता हूँ, देखता हूँ, करता हूँ, संकल्पादि करता हूँ, निश्चय करता हूँ, चिन्तन करता हूँ, अभिमान करता हूँ—ये सब सूक्ष्म शरीरके धर्म हैं, मेरे नहीं हैं । ये मैं नहीं हूँ ।

४. ब्रह्म क्या है ? मैं कौन हूँ ? ईश्वर क्या है ? माया क्या है ? सृष्टिका मूल उपादान क्या है ? आप कहेंगे पता नहीं । यही अज्ञान है जो कारण शरीर है । आप इस अज्ञानके भी साक्षी हैं ।

५. मैं न पंचभूत हूँ और न उनसे बना यह शरीर । शरीर पंचभूतोंका है, मेरा नहीं है । शरीर मेरी इच्छा या कहे अनुसार नहीं चलता । तब यह

मेरा कैसे ? देह मेरे श्रमसे भी नहीं बना। नहीं, तो भला कौन सर्प, बिच्छू, कीड़ा बनना चाहता ? तब देह मेरी कैसे ? देह तुमको दानमें नहीं मिली, पैतृक सम्पत्तिके समान 'दाय'में नहीं मिली, किसी शत्रुको परास्त करके उसे पाया नहीं। तब देह तुम्हारी कैसे ?

मैं इन्द्रिय नहीं हूँ और न इनका समुदाय हूँ। एक तो मैं इनके धर्मोंके भावाभावका साक्षी हूँ और ये मेरे ज्ञेय हैं। दूसरे मैं एक हूँ और ये दश हैं, या चौदह हैं। तीसरे ये जड़ हैं—न अपनेको जानें न दूसरेको; और मैं चेतन हूँ—मैं इनको भी जानता हूँ और अपनेको भी। चौथे सुषुप्तिमें ये सो जाती हैं परन्तु इनके सो जानेपर भी मैं जागता रहता हूँ।

७. संस्कार-विशिष्ट जड़ सत्ताका नाम 'बीज' है और बीज-विशिष्ट चेतनका नाम 'जीव' है। अज्ञान ही सबका 'बीज' है और इसलिए अज्ञानके कार्य सूक्ष्म शरीरके धर्मोंके संस्कारसे युक्त चेतनका नाम 'जीव'

मैं न बीज हूँ और न जीव क्योंकि मैं सूक्ष्म शरीर और उसके धर्मोंके भावाभावका साक्षी हूँ।

८. अज्ञानसे जगत् (शरीर) सत्य भासता है और ज्ञानके द्वारा उसका मिथ्यात्व निश्चय हो जाता है। देश, काल, आकारकी वृत्ति जाग्रत्-स्वप्नमें रहती है और सुषुप्तिमें नहीं रहती। किन्तु ज्ञानस्वरूप साक्षी 'मैं' सर्वत्र रहता हूँ। इनका यह ज्ञान और अज्ञान दोनों साक्षीके दृश्य हैं। अतः मैं साक्षी देश, काल, वस्तुसे परिच्छिन्न नहीं हूँ।

९. देश, काल, वस्तुकी कल्पनाका कर्ता कौन है ? धर्माधर्म, पाप-पुण्यका कर्ता कौन है ? कोई नहीं, बस संकल्प ही कर्ता है। मैं उस संकल्पका साक्षी हूँ, मुझमें ही अज्ञान और संकल्प दोनों होते हैं और मुझको दोनों भासते हैं। अतः मैं अविनाशी सत् हूँ, अविनाशी चित् हूँ। मैं ही सृष्टिका उपादान हूँ। जैसे घड़ेका बनना, फूटना और न रहना तीनों मिट्टीमें ही होते हैं, उसी प्रकार देश, काल वस्तुरूप सृष्टिका जाग्रत्में होना, स्वप्नमें विपरीत भासना और सुषुप्तिमें न भासना—यह जिस सूक्ष्म अविनाशी सत्तामें होता है, वह अविनाशी चेतन सत्ता मैं हूँ।

१०. साक्षीमें देश (लम्बाई-चौड़ाई) नहीं होता। साक्षीमें काल नहीं होता, अर्थात् उसकी आयु नहीं होती। साक्षी सत्य होता है, उसका साक्ष्य असत्य होता है। साक्षी अद्वितीय होता है।

११. देहको साक्षी 'मैं' समझना मानो पीतलको सोना समझना है और साक्षी 'मैं'को देह समझना मानो सोनेको पीतल समझना है। वेदान्त-ज्ञानका प्रयोजन यह है कि जो वस्तु जो है और जैसी है उसको वही और वैसी ही समझना।

(क) देह अनेक तत्त्वोंका संघात है। मैं एक हूँ और मैं मात्र ज्ञानतत्त्व हूँ।

(ख) देह नियम्य है और मैं स्वतन्त्र हूँ तथा मायाके द्वारा इनका नियन्ता हूँ।

(ग) देह मांसादि-विकारमय अपवित्र है; मैं ज्ञानमय पवित्र हूँ।

(घ) देह तामस है, अन्धकाररूप है; मैं प्रकाशरूप प्रकाशक हूँ।

(ङ) देह अनित्य और असत् है; मैं कालका प्रकाशक होनेसे नित्य सत् हूँ।

१२. मैं जाग्रद्-अवस्थामें मन-इन्द्रियोंके द्वारा जगत्को जानता हूँ तथा स्वप्नावस्थामें केवल मन द्वारा जगत्को जानता हूँ। सुषुप्तिमें मैं बिना मन-इद्रियोंके ही जगत्का अभाव जानता हूँ। इसलिए मैं ज्ञानस्वरूप हूँ।

जाग्रत्में जिससे संसारके होनेका पता लगता है, स्वप्नमें जिससे स्वप्नका पता लगता है और सुषुप्तिमें जिससे जाग्रत् और स्वप्नके न होनेका पता लगता है, वह ज्ञान मैं हूँ। वही साक्षी है।

१३. यह देह 'घट' है। पंचभूतोंमें यह घटित हुआ है, अतः यह घट है। जैसे घटका द्रष्टा घटसे पृथक् होता है ऐसे ही देहघटका साक्षी मैं देहसे पृथक् हूँ। वेदान्तमें पृथक्का अर्थ 'विलक्षण' (विपरीत लक्षणोंवाला) होता है।

१४. आकृतियोंको छोड़ दो और उनके उपादानको पकड़ो तो तुम्हें सत्ता प्राप्त होगी। वृत्तियोंको छोड़ दो और उनके साक्षीको पकड़ो, तो तुम्हें ज्ञान प्राप्त होगा। विचार करो कि मैं आकृतियोंसे रहित सन्मात्र हूँ। मैं वृत्तियोंका साक्षी चिन्मात्र हूँ। मैं सुख-दुःखके अभिमानसे रहित आनन्दमात्र हूँ। मैं सच्चिदानन्दघन-तत्त्व हूँ।

१५. अहं-बुद्धिमें-से बुद्धि छोड़ दो, अहं रहने दो। 'अहं' में-से 'हं' छोड़ दो, 'अ' रहने दो। हन्ति हन्यते इति हम्—जो मारता है, मरता है उसे 'हं' कहते हैं। हं=कर्तृत्व। हं=आकाशका बीज अक्षर। इसलिए 'अहं' माने मैं—जो न मरता है, न मारा जाता है, जिसमें कर्ता-कर्म नहीं हैं, जिसमें आकाशका भी बीज नहीं है।

१६. जाग्रत्-अवस्थामें देहके घेरेमें जो चैतन्य रहता है उसका नाम है 'विश्व'। स्वप्नमें अन्तःकरणके घेरेमें जो चैतन्य रहता है उसका नाम 'तैजस' है। सुषुप्तिमें अज्ञानके घेरेमें जो चैतन्य रहता है उसका नाम 'प्राज्ञ' है। ये अपनी-अपनी अवस्थाओंके अभिमानी हैं। मैं साक्षी इन तीनोंसे विलक्षण हूँ। एक शरीरमें आने-जानेवाली अवस्थाओंके अभिमानको यदि छोड़ दें तो 'विश्व' ही समष्टि जाग्रत्का 'विराट्' है, तैजस ही स्वप्नावस्थाका 'हिरण्यगर्भ' है और प्राज्ञ ही समष्टि कारण 'ईश्वर' है। अभिमान रहित शुद्ध चेतन व्यष्टिमें 'साक्षी' रहता है और समष्टिमें अधिष्ठान ब्रह्म। साक्षी मैं ही हूँ। उपनिषद्का कहना है कि साक्षी आत्मा ही ब्रह्म है। **'अयमात्मा ब्रह्म** (माण्डूक्य० २)। इसलिए 'मैं' ब्रह्म हूँ'।

१७. मैं भी भासता हूँ और देह भी। किन्तु देह कभी भासता है (जैसे जाग्रत् या स्वप्नमें) और कभी नहीं भासता (जैसे सुषुप्ति, समाधि, मूर्च्छामें), जबकि मैं सदैव भासमान रहता हूँ। "मैं नहीं हूँ" यह ज्ञान कभी किसीको नहीं हो सकता। देह बाधित भासमान है, मैं अबाधित भासमान हूँ। अतः देह मिथ्या है और मैं साक्षी सत्य हूँ।

१८. देहमें छः भाव-विकार रहते हैं; मुझ साक्षीमें ये नहीं रहते। देहमें आध्यात्मिक (दैहिक) आधिदैविक और आधिभौतिक (भौतिक) ताप-दुःख लगे रहते हैं, अहंकार उनको लेकर सुखी-दुःखी होता रहता है, किन्तु मैं उन सबका साक्षी सब दुःखोंसे परे हूँ।

१९. सम्यक्त्वकी कल्पनासे अर्थात् वस्तुको उत्तम माननेसे उसके विषयमें संकल्प उठता है। संकल्पसे काम (उसे पानेकी इच्छा), कामसे प्रयत्न होता है। प्रयत्न सफल हुआ तो लोभ होता है कि यह और मिले, असफल हुआ तो क्रोध होता है। लोभसे मोह होता है तो क्रोधसे हिंसा। इनमें किसीमें भी मेरा कर्तृत्व नहीं है क्योंकि यह सब देहमें अपने आप होता रहता है। मैं आकाशके समान इन सब देह-विकारोंका साक्षी हूँ।

विकार स्वयं होते हैं, संस्कार बाहरसे डाले जाते हैं, आकार कर्मानुसार प्राप्त होता है, प्रकार स्वभावानुसार होता है। हमें चाहिए कि हम इन सबसे मुक्त हो जायँ।

२०. मैं साक्षी असंग चेतन हूँ। अतः मुझसे कर्मका कोई सम्बन्ध नहीं है।

२०. देह बदलता रहता है। मैं साक्षी नहीं बदलता। मैं अव्यय हूँ क्योंकि अपने स्वरूपका त्याग मैं कभी नहीं करता।

२१. सत् आत्मा है, मैं हूँ; और असत् जगत् है, देह है। इसलिए आत्मा और देहका कोई परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता। सभी सम्बन्ध कल्पित एवं व्यावहारिक हैं।

२२. व्याधि स्थूल शरीरमें होती है, आधि सूक्ष्म शरीरमें होती है। किन्तु 'मैं' साक्षी तो नीरोग हूँ, सारी गड़बड़झाला इस देहकी उपाधिमें है।

२३. ज्ञान वह है जिसमें कोई ज्ञातापनेका अभिमान नहीं है। मैं ज्ञाता हूँ किन्तु मैं ज्ञेयाभिमानी नहीं हूँ। मैं शुद्ध साक्षी चिन्मात्र हूँ जिसमें ज्ञातासे भिन्न कोई ज्ञेय नहीं है।

२४. शब्दसे वस्तुका होना तो प्रतीत हो किन्तु वास्तवमें वह न हो तो उसे 'विकल्प' कहते हैं। माया, अविद्या, अज्ञान, भेदबुद्धि इत्यादि कुछ ऐसे ही विकल्प हैं। ये अन्तःकरणमें हैं ही नहीं, बस यों ही शास्त्रके अध्यारोपसे सिरमें जड़ जमाये बैठे हैं। अज्ञानका ही नाम 'कारण शरीर' है। मुझ साक्षीमें कारण शरीर बन्ध्यापुत्रवत् है।

२५. शरीर तमोगुणका कार्य है, इसमें होनेवाली क्रिया रजोगुणकी है और शान्ति, ज्ञान और सुख सत्त्वगुणके हैं। किन्तु मैं तो स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर नहीं हूँ। अतः मैं निर्गुण हूँ। सत्त्व, रज, तमकी वृत्तियाँ अन्तःकरणमें आती-जाती रहती हैं, किन्तु मैं उन समस्त वृत्तियोंका साक्षी हूँ। अतः मैं निर्गुण हूँ।

२६. मैं निर्गुण हूँ, अतः निष्क्रिय हूँ। तब मुझमें अविद्या, काम और कर्म कहाँ रह सकते हैं?

२७. मुझ निर्गुण, निष्क्रिय, असंग एवं स्थूल, सूक्ष्म, कारण देह-रहित एकरस तत्त्वका आवागमन (देहान्तरण) सम्भव नहीं है। अतः मैं संसारी जीव नहीं हूँ।

२८. मैं ज्ञान हूँ, साक्षी हूँ। जहाँ अज्ञात वस्तुकी सत्ता नहीं रहती, वह ज्ञान है; जो ज्ञात होता है, वह तो ज्ञानसे अभिन्न होता है।

२९. परमात्मा कहाँ है? अपने शरीरमें ही। वह तुम्हारे 'मैं'के अतिरिक्त और कुछ नहीं।

३०. शरीर पंचभूतोंसे बना है, अतः पंचभूत शरीरकी आकृतियोंसे अतीत हैं। किन्तु पाँच होनेसे ये भी आकृति हैं। इनका मूल कारण प्रकृति इनसे अतीत है। यह प्रकृति जिस द्रष्टाको प्रतीत होती है वह प्रकृतिसे न्यारा है। जब यह ज्ञान होता हैं कि द्रष्टा अद्वितीय ब्रह्म है, तब प्रकृति अपनी सत्ता छोड़ देती है। तब आत्मा ही मूल तत्त्व रहता है। इस देहमें रहते हुए ही यह आत्मतत्त्व देहातीत है।

३१. शरीरको मैं, मेरा मानना ही दुःखका उपादान कारण है। •

अध्याय–११

आत्माके स्वरूपके सम्बन्धमें अनेक मत

शरीरमें जो स्थूलता है उसका मूल मिट्टी (पृथिवी) है। इसमें जो द्रव है उसका मूल पानी है। इसको गर्मीका मूल अग्नि है। श्वास तथा गतिका मूल वायु है। इसमें जो खालीपन है, उसका मूल आकाश है। संकल्प या मनका मूल अहंकार है। विचारका मूल महान् या महत्तत्त्व है। सुषुप्तिका मूल प्रकृति है। आपके शरीरमें जो 'अहं-अहं' (मैं-मैं)–यह ज्ञान स्फुरित हो रहा है, इसका मूल क्या है ? वही आत्मा है।

आत्मा माने मैं। वर्तमान कालमें 'मैं हूँ' यह सबको स्वीकार है। किन्तु 'मैं क्या वस्तु हूँ' आत्माके इस विशेष रूपके बारेमें मतभेद है। मतभेद यह है कि आत्मा पहिले था या नहीं, आगे रहेगा या नहीं, केवल देह है या देहसे अन्य कर्ता-भोक्ता है, देहके बराबर है या देहके किसी कोनेमें है या देहमें रहता हुआ बाहर-भीतर भरपूर है, इत्यादि।

मतभेद वस्तुके स्वरूपके अज्ञानसे होता है और ज्ञानकी प्रणाली यह है कि उस वस्तुके स्वरूपके सम्बन्धमें जितने मत हैं, उन सबका अपवाद किया जाय। सभी अध्यारोपोंसे विनिर्मुक्त ज्ञान तत्त्वज्ञान है। **अनारोपिताकारं तत्त्वम्।**

१. चार्वाकमत : देह आत्मा है

१. चैतन्य-विशिष्ट देहमात्र आत्मा है—ऐसा प्राकृत जन और लोकायतिक मानते हैं। ये चार्वाकी लोग हैं। बहुमत इन्हींके पक्षमें रहता है। इसीलिए ये लोकायत हैं। ये लोग केवल प्रत्यक्ष-प्रमाणके आधार पर ही अन्वय-व्यतिरेकका सहारा लेकर विचार करते हैं।

ये चारुवाक् हैं, मीठा बोलते हैं। कहते हैं—"भैया, यह तुम्हारा देह ही आत्मा है। न तुम कहींसे आये हो, न देहपातके बाद कहीं जाना है। जबतक देह है, तभीतक सारा खेल है! कौन किसके पूर्व या उत्तर जन्मको जानता है ? इसलिए लोकभोग्य सुख ही पुरुषार्थ है, और बस मर गये—यही मोक्ष है।"

पूछा—"देहमें जो चैतन्य है वह क्या है?" तो बोले—"अरे, वह तो चार भूतों (पृथिवी, जल, अग्नि, वायु)का एक विशेषण है। जैसे एक कमलका बीज (कमलनाल) सरोवरमें डाल दिया। उसमें-से एक तना निकला, फिर कमलका फूल निकला, उसका रंग नीला था। तो यह नीलापन कमलका विशेषण है। इसीप्रकार चार भूतोंसे एक शरीररूपी कमल खिला और इस कमलमें नीलिमाके समान यह चैतन्य विशेषण हो गया जो 'मैं हूँ—मैं हूँ'के रूपमें प्रकट होता है। जबतक देह है विशेषण भी रहेगा, जब देह नहीं रहेगा, विशेषण भी मिट जायेगा। चैतन्य कोई अलग वस्तु नहीं है, जड़ताका ही एक विकास है। आत्मा केवल देह ही है और कुछ नहीं।"

परन्तु देह माने क्या ? 'दिह् उपचये धातुसे देह शब्द बनता हैं, अतः देहका अर्थ है 'ढेर'। यह हड्डी, चाम, रुधिर; मल, मूत्रका ढेर या संघात है। यह स्थूल शरीर है। किन्तु कोई व्यक्ति यह नहीं कहता कि 'मैं देह हूँ'। सब यही कहते हैं कि 'मैं मनुष्य हूँ', 'मैं ब्राह्मण हूँ', 'मैं गृहस्थ हूँ' इत्यादि। माने सबको आकृति या धर्ममें ही अध्यास होता है, देह हूँ—ऐसा अध्यास नहीं होता। स्थूल देह तो मुझ द्रष्टाका दृश्य है। ज्ञेय हैं, इसमें 'मेरा' भाव होता है—फिर यह देह मैं कैसे ? यदि देह संघात है तो वह अन्यके लिए होगा, भोक्ताके लिए होगा। देह मेरे लिए है, अतः देह मैं नहीं हूँ।

२. इन्द्रियाँ या प्राण आत्मा है

२. दूसरे लोग कहते हैं कि देह इन्द्रियोंके बिना कुछ कर-भोग ही नहीं सकता, कुछ जान ही नहीं सकता। यहाँ तक कि मैं 'पुरुष हूँ, स्त्री हूँ, मैं देखता हूँ सुनता हूँ' इत्यादि सभी ज्ञान इन्द्रियोंसे ही होता है। अतः इन्द्रियाँ ही आत्मा हैं।

मूलतः यह पक्ष भी चार्वाकी ही है। इस पक्षमें मुख्य कमजोरी यह है कि इन्द्रिय अनेक हैं और 'मैं'की अनेकता अनुभव-विरुद्ध है। सबका यही अनुभव है कि जो मैं सुननेवाला हूँ वही मैं बोलनेवाला हूँ। अनेक इन्द्रियाँ एक मेरे लिए ही हैं। अतः मैं अलग-अलग इन्द्रिय नहीं हूँ। सब इन्द्रियोंका समूह भी आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि अनेकको एक सूत्रमें बाँधनेके लिए उन अनेकमें अन्वित और उनसे व्यतिरिक्त कोई अलग 'मैं' होना

चाहिए। दूसरे स्वप्नमें इन्द्रियोंके न रहनेपर ज्ञान होता है, अतः इन्द्रियाँ अहम्-ज्ञानका स्रोत नहीं हो सकतीं। इसी प्रकार 'प्राण' ज्ञानालम्बन नहीं हो सकता क्योंकि प्राण दृश्य है। मैं प्राण हूँ—यह ज्ञान कभी किसीको नहीं होता।

३. मन आत्मा है

३. इसपर तीसरा मत है कि मन ही आत्मा है। इनके अनुसार जाग्रत्में इद्रियोंके द्वारा उपलब्ध ज्ञानकी उपलब्धि करनेवाला 'मन' ही है। स्वप्नमें भी इन्द्रियोंके न रहनेपर भी मन अवशेष रहता है और स्वप्नका ज्ञान करता है। अतः मन ही ज्ञानालम्बन आत्मा है।

किन्तु यह मन बहुरुपिया है। सुबहसे शामतक कितने रूप धारण करता है, परन्तु अहंकी संवित् तो एक ही रहती है। जो मैं अज्ञानी था वही मैं अब ज्ञानी हो गया किन्तु मैं तो वही रहा! अतः मन आत्मा नहीं हो सकता। मनमें संकल्प–विकल्प, भाव, विकार आते हैं; उनके साथ हम तादात्म्य बनायें या न बनायें, इसकी स्वतन्त्रता हमको है। सुषुप्तिमें मनके न रहनेपर भी अभाव-ज्ञान रहता है। अतः मन ज्ञानालम्बन-रूप आत्मा नहीं हो सकता।

४. बुद्धि आत्मा है

४. चौथा मत है कि मनकी नियन्त्री बुद्धि है। अतः बुद्धि ही आत्मा है। बुद्धि क्या है? तो कहा विज्ञानमात्र है। अतः विज्ञानमात्र आत्मा है। क्षणिक-विज्ञानवादी बौद्धोंका मत है कि क्षणिक-विज्ञानरूप बुद्धि ही आत्मा है।

विज्ञानको आत्मा माननेमें आपत्ति यह है कि विज्ञान क्षणिक है किन्तु इस क्षणिकताका विज्ञान किसको है? वह तो मुझको ही होता है। मैं यदि क्षणिक हूँ तब तो प्रतिक्षण उत्पन्न होता हूँ और प्रतिक्षण मरता हूँ। यह अनुभवके विरुद्ध है। सुषुप्तिमें बुद्धिके न रहनेपर भी ज्ञान रहता है। इसलिए मैं क्षणिक-विज्ञानरूप बुद्धि आत्मा (ज्ञानालम्बन) नहीं हूँ।

यह जो 'अहमस्मि' (मैं हूँ) स्फुरित हो रहा है उसमें एक 'अहं' है दूसरा 'अस्मि' है। इसमें जो 'अस्मि' (हूँ) है वह तो सत्ता है और अहं उसमें प्रत्यय है। 'अस्मि' मिट्टी है', 'अहं' घट है। मिट्टी ही सच्ची है,

घट कल्पित है। इसी प्रकार 'अस्मि' ही सत्य है, 'अहं' उसमें कल्पित आकार है।

अहमस्मि, अहमस्मि, अहमस्मि—यह तीन बार स्फुरण हुआ। प्रथम कालमें प्रथम अहं, द्वितीयमें द्वितीय अहं, तीसरेमें तृतीय अहं। अहंमें तो भूत, वर्तमान, भविष्यकी कल्पना होती है परन्तु 'अस्मि' सबमें एक है। 'अस्मि' एक है, वर्तमानकालमें है, प्रत्यक्ष है और अस्तिमात्र है (क्रियाशील नहीं है। अहं प्रत्यय है तरंगके समान और 'अस्मि' स्वसत्ता है जलके समान। अहं है नीलिमाके समान और अस्मि है आकाशके समान। अहं है चलती श्वासके समान और अस्मि है वायुके समान !

मनमें बदलती वृत्तियाँ—अहं-अहं-अहं। उनमें जो एक विज्ञान है वह आत्मा है, अहमाकार या इदमाकर क्षणिक बुद्धियोंकी धारा आत्मा नहीं है।

५. विज्ञानमें मुख्यतः तीन धाराएँ हैं : द्रव्यकी, देशकी, कालकी।

चार्वाक द्रव्यके साथ तादात्म्य करके देहको आत्मा बताते हैं। जैन देशके साथ तादात्म्य करके आत्माका वर्णन करते हैं : जैसे आत्मा सिद्ध-शिला पर बैठता है, आलोकाकाशमें भ्रमण करता है, योनि और शरीरके अनुसार संकोच-विस्तारको प्राप्त होता है। बौद्ध कालके साथ तादात्म्य करके 'क्षणिकं-क्षणिकं'—वाले विज्ञानकी धाराको आत्मा बताते हैं। किन्तु ये सब बुद्धिके साथ तादात्म्य करके आत्माको लक्षित करनेकी पद्धति है।

परन्तु इन तादात्म्योंका साक्षी कौन है ? मैं-मैं, यह ज्ञान है, ज्ञात होता है, अतः इसका प्रकाशक चैतन्य चाहिए। देश, काल, द्रव्य—सब साक्षी-भास्य हैं। देशाकार, कालाकार, द्रव्याकार बुद्धि और इनकी अभावाकार बुद्धिका जो साक्षी है वही चेतन आत्मा है।

५. शून्य आत्मा है।

६. कुछ लोग कहते हैं कि आत्मा शून्य है। यह शून्यवादी माध्यमिक बौद्धोंका मत है। इनका कहना है कि अहं-अहं जो यह ज्ञान है, वह सुषुप्तिमें नहीं रहता। तब वहाँ क्या रहता है ? कुछ नहीं, क्योंकि अहं-इदं रूपसे कुछ भी ज्ञात नहीं होता। अथवा यों कहो कि वहाँ 'शून्य' बच रहता है। जाग्रत होनेपर उसी शून्यमें-से अहं-अहं निकाल आता है। अतः शून्य ही ज्ञानालम्बन आत्मा है।

पूछा—शून्यका स्वरूप क्या है? तो बोले—यह शून्य एक ऐसा रेगिस्तान है जिसमें बालूका एक कण नहीं है, एक ऐसा वन है जिसमें एक वृक्ष नहीं है, एक ऐसी अग्नि है जिसमें ज्वाला नहीं है, एक ऐसा जल है जिसमें कोई जल-बिन्दु नहीं है, एक ऐसा आकाश है जिसमें कोई घट, पट, मठ नहीं है :

अन्तःशून्यं वहिर्शून्यं शून्यकुम्भमिवाम्बरे ।

असलमें बौद्ध इस शून्यको चतुष्कोटि विनिर्मुक्त अनिवर्चनीय मानते हैं। अस्ति, नास्ति, अस्ति-नास्ति, नास्ति- नास्ति—यही चतुष्कोटि हैं, इनसे विनिर्मुक्त शून्य आत्मा है।

भगवान् शंकराचार्य पूछते हैं—**ससाक्षिकं निस्साक्षिकं वा ?** आपके शून्य रूप आत्माका कोई साक्षी है या नहीं ? यदि नहीं तो 'शून्य' कल्पित है। 'मैं शून्य हूँ' ऐसा अनुभव कभी किसीको नहीं हो सकता। 'मैं हूँ' इस वृत्तिज्ञानका और सुषुप्तिमें इस वृत्तिके अभावका साक्षी शून्य नहीं हो सकता; वह कोई चेतन ही होना चाहिए। अतः शून्य आत्मा नहीं है।

उपर्युक्त देह, इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि, शून्य उपनिषद्-प्रतिपाद्य आत्मा इसलिए भी नहीं हो सकते क्योंकि श्रुति त्वं-पदार्थ आत्माको तत्पदार्थ ईश्वर ब्रह्म बताती है और इनमें-से किसीमें भी तत्पदार्थ (ईश्वर-ब्रह्म)के साथ एकताकी योग्यता नहीं है।

६. पूर्वमीमांसा-न्यायमत

७. पूर्वमीमांसा और न्यायशास्त्रका मत है कि आत्मा स्थूल-सूक्ष्म शरीरोंसे भिन्न संसारी (देहान्तरण वाला) कर्ता-भोक्ता जीव है।

वेदान्तमें भी जीवात्माको कर्ता-भोक्त-संसारी परिच्छिन्न बताया है, किन्तु वह सप्रयोजन है। आत्मामें जीवत्वकी कल्पना शास्त्रीय अध्यास है। देहत्रय-विवेकमें यह स्पष्ट कर दिया गया है कि साक्षी अहंकारके कर्त्तृत्व-भोक्तृत्वका भी साक्षी है। अतः अहंकारसे परे है साक्षी। फिर उपनिषद्ने आत्माको जीव क्यों कहा ? तो जैसे नेत्रेन्द्रिय आत्मा नहीं है, नेत्रेन्द्रियकी उपाधिसे वह द्रष्टा कहा जाता है, मन आत्मा नहीं है किन्तु मनकी उपाधिसे आत्मा मन्ता कहा जाता है, उसी प्रकार अहंकार और कर्मेन्द्रियोंकी उपाधिसे आत्मा कर्ता और अहंकार तथा मनकी उपाधिसे भोक्ता कहा जाता है। कर्ता-भोक्ता कहनेका भी प्रयोजन है कि मुमुक्षुके जीवनमें क्रियाका

संकोचन हो, जान-बूझकर संस्कारोंका आधान हो और सांसारित्वके हेतुसे धर्माधर्मका विवेक जाग्रत् रहे। यह आत्मोन्नतिका मार्ग है तथा आत्मामें वास्तविक कर्तृत्वादि नहीं है, इस मोक्ष-ज्ञानकी भूमिका है।

असलमें शुद्ध चैतन्य संसारी कर्ता-भोक्ता होता नहीं है, बस अज्ञानसे मालूम पड़ता है। किन्तु पूर्वमीमांसा और न्याय इसको वास्तविक रूपसे कर्ता-भोक्ता-संसारी-परिच्छिन्न मानते हैं। यह वेदान्त-सिद्धान्तके विपरीत है, अन्यथा न तो त्वं-पदार्थ आत्माकी तत्पदार्थके साथ एकता सिद्ध हो सकती है और न नित्य स्वतन्त्र मोक्ष ही सिद्ध हो सकता है।

वेदान्तमें अध्यारोपमें आत्माको कर्ता आदि मानते हैं, किन्तु जब कार्यकारणरूप दोनों उपाधियोंका निषेध किया जायेगा तब कर्तापन इत्यादिका भी अपवाद हो जायेगा।

चैतन्यात्मा सत्-चित्-आनन्द अद्वैत स्वरूप है। उसके सत्-अंशकी प्रधानतासे आत्मामें द्रव्यकी भ्रान्ति हो रही है। चिद्-अंशकी प्रधानतासे भोगकी भ्रान्ति हो रही है और आनन्दांशकी प्रधानतासे सुखको भ्रान्ति हो रही है। विषयमें सत्ता होना (अस्ति), विषयका भासना (भाति) और विषयका सुखरूप प्रतीत होना (प्रिय), ये आत्माके सदंश, चिदंश और आनन्दांशकी भ्रान्तियाँ हैं। अज्ञानके कारण ये भ्रान्तियाँ होती हैं। इस प्रक्रियामें विषय तो हो जाता है सच्चिदानन्द और आत्मा हो जाता है परिच्छिन्न, कर्ता, भोक्ता, संसारी।

जो लोग अपनेको सत्-चित्-आनन्द मानते हैं वे भी अपनेको अल्प कर्ता, अल्पभोक्ता, अल्प आनन्दवाला मानते हैं। इसमें उनका देह-भाव गया नहीं है, अन्यथा अल्पत्वका हेतु क्या है? सत्स्वरूपमें भ्रान्ति होनेसे अपनेको देह मान बैठे, चित्स्वरूपमें भ्रान्ति होनेसे अपनेको अल्पज्ञ या अज्ञ मान बैठे और आनन्द स्वरूपमें भ्रान्ति होनेसे अपनेको अल्पभोक्ता, अल्प सुखवाला मान बैठे! जब आप कर्मेन्द्रियोंसे जुड़ते हैं, उन्हें मैं-मेरी मानते हैं, तब आप कर्ता बन जाते हैं। अपनेको कर्मेन्द्रियोंके साथ और कर्मेन्द्रियोंको अपने साथ मिला लिया, यह परस्पराध्यास है, यही कर्तृत्व-बुद्धिका जनक है। इसी प्रकार जब आप ज्ञानेन्द्रियोंके साथ जुड़ते हैं तब अपनेको ज्ञाता मानते हैं। जब आप प्रिय-अप्रिय संस्कारोंके साथ जुड़ते हैं तब आप अपनेको भोक्ता, सुखी-दुःखी मानते हैं। इसी प्रकार वासनाके साथ

जुड़नेसे अपनेमें संसारित्व, देहके साथ जुड़नेसे जन्मने-मरनेवालेका भाव होते हैं। ये सब आत्मामें अध्याससे प्रतीत होते हैं, वास्तवमें नहीं हैं।

इतना सब लवाज़मा अपने साथ जोड़कर यह चैतन्यात्मा 'जीव' बना हुआ है और देहसे व्यतिरिक्त होकर इस नवद्वार-पुरीका राजा बना हुआ है तथा कर्ता, भोक्ता, संसारी, परिच्छिन्न प्रतीत होता है। इसका हेतु क्या ? अपनी अपरिच्छिन्नताका अज्ञान और अपनी परिच्छिन्नताकी भ्रान्ति।

छः अपराधोंसे ग्रस्त आत्मा जीव होता है : १. अपनेको अपरिच्छिन्न ब्रह्म न जानना; २. अपनेको परिच्छिन्न जीव मानना ३. अपनेको वासनावान् जानकर आने-जानेवाला संसारी मानना; ४. अपनेको प्रिय-अप्रियका भोक्ता जानना; ५. अपनेको कर्मेन्द्रियोंवाला कर्ता जानकर पापी-पुण्यात्मा मानना ६. अपनेको स्थूल देह मानकर जन्म-मरणवाला मानना।

आत्मामें ये छः अपराध कहाँसे कैसे आये ? तो शंकराचार्य भगवान्का कहना है कि ये सब अविचारसे आये। बिना विचार किये, बिना गुरुकी शरण गये, बिना वेदान्तका सत्संग किये, बिना सोचे हुए गतानुगतिकी न्यायसे आत्मामें ये आरोप स्वीकार कर लिये गये हैं तथा विचार, सत्संग, गुरु-शरणागति आदिसे ये अविचारकृत उपद्रव समाप्त हो जाते हैं। यदि केवल बिना विचारे युक्ति, श्रुति और श्रुत्याभासके आधारपर ही तत्त्वका निर्णय किया जाय तो मोक्ष ही असिद्ध हो जायेगा।

७. सांख्य-योग-मत

८. सांख्य मतावलम्बी कहते हैं कि शरीरमें जो भोक्ता है वही आत्मा है। आत्मा पुरुष है, अहं ज्ञानालम्बन है, असंग है, नाना है, भोक्ता है किन्तु कर्ता नहीं है क्योंकि उनके मतमें प्रकृति कर्त्री है।

यह बात युक्तिके विरुद्ध है कि कोई केवल कर्ता हो या केवल भोक्ता हो। क्यों ? तो सुनिये। प्रथम तो भोक्ता एक है, भोग्य अनेक हैं। बिना कर्मके भोगमें वैविध्य कहाँसे आया ? प्रियताका वैविध्य तो स्पष्ट ही है। अतः आत्मा केवल भोक्ता है, यह बात युक्तियुक्त नहीं है। असलमें जो कर्ता है वही भोक्ता है, जो भोक्ता है वही कर्ता है।

दूसरे कर्म और भोगकी सन्धि कहाँ है ? भोजन करना कर्म है या भोग ? यदि केवल भोग (पूर्व कर्मोंका फल) है तो भोजनके किसी भी प्रकारसे धर्माधर्मकी उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए। फलसे नवीन कर्मकी

उत्पत्ति नहीं होनी चाहिए। दण्डका दण्ड नहीं होता। परन्तु भोजनमें पाप-पुण्य होता है। भोजनको हाथसे उठाना कर्म है और जीभसे स्वाद लेना भोग है। कर्म कर्मेन्द्रियोंसे होता है, भोग ज्ञानेद्रियोंसे होता है। अब चूंकि हाथ बुद्धिपूर्वक उठाया जाता है अतः उसमें कर्तृत्व है और इसलिए भोजन-विधिके अन्तर्गत भी पाप-पुण्य होता है। अतः कर्म और भोगकी सन्धि कहीं नहीं है और कर्ता-भोक्ताकी भी सन्धि कहीं नहीं है।

यदि कहो कि कर्ता स्वतन्त्र होता है—करे, न करे, उल्टा करे, परन्तु कोई प्राणी स्वतन्त्र नहीं है। साथ ही भोक्ता परतन्त्र होता है अन्यथा दुःखी कौन होना चाहेगा? इसलिए जीव भोक्ता तो है, कर्ता नहीं है। इसका उत्तर वेदान्तमें यह देते हैं कि जहाँ कर्ता-भोक्ता वास्तविक है वहाँ स्वातन्त्र्य-पारतन्त्र्य भी वास्तविक है; उसी कक्षामें एक अलग सर्वज्ञ, सर्व-शक्ति ईश्वरकी सत्ता स्वीकार की जाती है जो जीवका नियन्त्रण करता है। परन्तु सांख्य ईश्वरको मानता नहीं है, इसलिए सांख्यका यह तर्क बेदम है।

पुनः वेदान्तमें कर्ता-भोक्ता अवास्तविक हैं अर्थात् आत्माके शुद्ध स्वरूपके अज्ञानसे कल्पित हैं, आरोपित है, प्रतीयमान हैं। अतः आत्माके स्वरूपके यथार्थ बोधसे स्वतन्त्रता-परतन्त्रताकी अवास्तविकताका ज्ञान हो जाता है। वहाँ कर्त्ता-भोक्ता जीवका आत्मा ही ईश्वर है, यह बोध हो जाता है।

सांख्य जिस संसारको सत्य मानता है, वेदान्तमें वह अज्ञानीके लिए है। प्रकृतिका द्रष्टा पुरुष अज्ञान-दशामें कर्म और भोगसे युक्त है, इसलिए वह परिच्छिन्न है, संसारी है और अपरिच्छिन्नताका अज्ञानी है। द्रष्टाका जो स्वरूपमें अवस्थान है वह भी अपनी अपरिच्छिन्नताके अज्ञानसे कलुषित होनेके कारण वास्तविक नहीं है क्योंकि द्रष्टाका द्वैत-भ्रम अभी मिटा नहीं है; उसके लिए दूसरा दृश्य, दूसरा द्रष्टा और दूसरा ईश्वर-रूप संसार बना हुआ है।

८. उपासक मत

९. उपासक लोग कहते हैं कि कर्ता-भोक्ता-संसारी-परिच्छिन्न जीव है तो इसकी तो बिना ईश्वरके चलेगी नहीं; ईश्वर तो इससे अलग मानना ही पड़ेगा। जीव अल्पज्ञान, अल्पशक्ति, परतन्त्र और देहसे परिच्छिन्न है

अतः उसे सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, स्वतन्त्र और अपरिच्छिन्न (व्यापक) ईश्वरके अधीन मानना पड़ेगा। अतः ज्ञानालम्बन जीवका आत्मा भी ईश्वर है और वह ईश्वर भोक्ता जीवसे पृथक् है यद्यपि दोनों ही चेतन हैं (ज्ञानस्वरूप हैं)। जीव और ईश्वरमें नियम्य-नियामक सम्बन्ध है।

अद्वैत-वेदान्तकी दृष्टि यह है कि चैतन्यात्मामें जीवत्व पंचभूतोंके कार्य देह और उसके करणोंकी उपाधिसे प्रतीत होता है, वास्तवमें है नहीं। उसी प्रकार उसी चैतन्यात्मामें देहादि-समष्टि उपाधियोंकी कारणभूता मायाकी उपाधिसे ईश्वरत्व प्रतीत होता है। कार्योपाधिक चैतन्यका नाम जीव है और कारणोपाधिक चैतन्यका नाम ईश्वर है। कारण 'माया' अपने कार्य देहादि उपाधियोंका नियमन करती है और अज्ञानके कारण जीव उस नियमनको अपना नियमन मानता है और मायाके नियमनको ईश्वर चैतन्यका नियमन मानता है। ज्ञान होने पर वस्तुतः (परमार्थतः) जीव और ईश्वर दोनों एक ही शुद्ध चैतन्य हैं।

उपासकोंकी दृष्टिमें जीव और ईश्वरका भेद सत्य है (क्योंकि उनके लिए उपाधि सत्य है), किन्तु वेदान्तमें यह भेद व्यावहारिक है, पारमार्थिक नहीं। ब्रह्मात्मैक्य-बोधसे यह भेद बाधित हो जाता है।

प्रश्न : जीवके शुभाशुभ कर्मोंका फल कौन देता है? सृष्टिमें जीव-जगत्का जो नियमन देखनेमें आता है उसका आधार क्या है? ईश्वरको माने बिना गति नहीं है।

उत्तर : पूर्वमीमांसा ईश्वरको नहीं मानता। वहाँ कर्मको स्वयं ही फलदाता मानते हैं तथा नियामक कर्मसे उत्पन्न 'अपूर्व' मानते हैं। हाँ, उपासक लोगोंका कहना है कि कर्म और उसका अपूर्व 'जड़' है, वह स्वयं फल देने और नियमन करनेमें प्रवृत्त नहीं हो सकता। अतः 'ईश्वर-चेतन' माननेकी आवश्यकता है।

९. वेदान्तमत

वेदान्तको भी 'ईश्वर' मान्य है किन्तु ईश्वर फल देने और नियमन करनेमें परम स्वतन्त्र नहीं है; उसमें भी बीचमें जीवके किये हुए कर्म हेतु होते हैं। यदि बीचमें 'कर्म'को न मानें तो दो दोष स्पष्ट हैं: **अकृताभ्यागम दोष और कृतनाश (या कृतविपरिणाम)** दोष। जीवको जो दुःखभोग मिला है वह यदि उसके किसी पूर्वकर्मका फल नहीं है तो यह अन्याय है;

यह 'अकृताभ्यागम' दोष होगा। और यदि जीव जो पुण्यकर्म कर रहा है उसका फल सुख भोगे बिना ही वह कर्म नष्ट हो जाय तो वह भी अन्याय होगा। यह 'कृतनाश' दोष है। फिर भला अच्छा कर्म संसारमें कौन करना चाहेगा ? इसलिए कर्म, भोग और भोक्ता जीवके बीच एक चेतन कड़ी है, यह श्रुतिसम्मत सिद्धान्त है।

सांख्यमें जो ईश्वरको नहीं मानते वह युक्ति-विरुद्ध है। सांख्यका आत्मा भोक्ता है, कर्ता नहीं। परन्तु कर्ता हुए बिना प्रत्येक भोक्ताके भोगमें वैविध्य कैसे आ सकता है ? इसलिए आत्मा कर्ता-भोक्ता दोनों होना चाहिए। तब तो सांख्यमतका ही खण्डन हो गया। यदि कहो इसमें ईश्वर निमित्त है (जैसा सेश्वर सांख्यवादी मानते हैं) तो बताओ कि ईश्वर स्वतन्त्रतासे फल देता है या कर्मके अनुसार ? यदि स्वतन्त्रतासे देता है तो उसमें पहले कहे हुए अकृताभ्यागम एवं कृतविपरिणाम दोष आते हैं; और यदि कर्मके अनुसार फल देता है तो वेदान्त-मत प्राप्त होता है।

सांख्यका 'पुरुष' द्रष्टा है। अब द्रष्टा तो द्रष्टा ही है, वह प्रकृतिका द्रष्टा है। प्रकृति चंचल हो अथवा स्थिर, उससे उसके द्रष्टृत्वमें क्या फरक पड़ता है ? अतः चित्तकी चंचल दशा (द्रष्टाकी वृत्तिसारूप्यकी दशा)में भी और निरुद्ध दशा (द्रष्टाकी स्वरूपावस्थान दशा)में भी द्रष्टाके भोगमें वैचित्र्यका कोई हेतु नहीं है। इससे पता चलता है कि 'द्रष्टाका द्रष्टापना ही उसका भोक्तृत्व है।' यह वेदान्तका मत है :

भोक्तृत्वं नाम उपलब्धृत्वम् ।

सांख्यवादी आत्माको भोक्ता एवं प्रकृतिको भोग्य मानते हैं। उनका आत्मा प्रकृतिके आनन्दका भोक्ता है, स्वयं आनन्दरूप नहीं है। अतः आनन्दके कंगाल आत्माको अपने आनन्द-भोगके लिए प्रकृतिके ही विकारके साथ तादात्म्य करना पड़ेगा, फलतः राग-द्वेष दोनोंसे वह मुक्त नहीं हो सकता। भोक्ता आत्माकी यह दशा होती है।

अब आनन्दमें खलल न पड़े, अधिक आनन्द हो, उसके लिए प्रकृतिके स्वामी ईश्वरको भी मानना पड़ेगा। योग-दर्शनमें जिस ईश्वरकी कृपासे समाधिलाभ मानते हैं उसका स्वरूप वहाँ बताया है कि क्लेश-कर्म विपाकाशयसे अपरामृष्ट जो पुरुष-विशेष है वह ईश्वर है।[1] वह निरतिशय

१. क्लेशकर्मविशाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वर : (योग० १. २४),

सर्वज्ञताका बीज है और सब गुरुओंका गुरु है।[२] पुरुष-विशेष कहकर योगदर्शनने ईश्वरको जीवसे पृथक् बताया है।

कोई अपनेको कर्ता-भोक्ता-परिच्छिन्न जीव तो माने परन्तु अपनेसे पृथक् सर्वज्ञ सर्वशक्ति ईश्वरको न माने तो उसे सुख प्राप्त नहीं हो सकता। तुम्हारे अल्प सुखका सम्बन्ध यदि अनन्त सुखसे न हो तो वह अल्प सुख भी क्षयको प्राप्त हो जायेगा।'

ईश्वर कैसा है? जैसे तुम वैसा ईश्वर। यदि तुम चेतन हो तो ईश्वर भी चेतन है। यदि तुम देहधारी हो तो तुम्हारा ईश्वर भी देहधारी होगा। विशेषता स्वतन्त्रता, परतन्त्रताकी है। तुम अज्ञानसे संसारमें भटकते हो, वह लीलासे, मायासे अवतार-शरीर धारण करके। और जिस दिन तुम्हें यह ज्ञान हो जायेगा कि तुम नित्य शुद्ध, बुद्ध, मुक्त, सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेद रहित सच्चिदानन्द अद्वय ब्रह्म हो, उस दिन तुम्हारा ईश्वर भी तुमसे पृथक् स्वरूप और पृथक् अस्तित्ववाला नहीं रहेगा।

असलमें वही ब्रह्मरूप ईश्वर तुम्हारा प्रत्यगात्मा है जो 'अहमस्मि' इस ज्ञानका अवलम्बन है। ईश्वर और जीवमें भेद–सिर्फ अज्ञानकालमें है, ज्ञान-कालमें दोनों एक ही वस्तु हैं। अथवा एक ही वस्तुके दो नाम हैं।

लोग अवतार-वादको लेकर भेदकी पुष्टि करते हैं, परन्तु अवतारवाद भेदका निषेध करनेके लिए है, भेदकी स्थापना करनेके लिए नहीं है–यह बात हम अवतारके भीतर पैठकर उसको जानते हैं।

वह ईश्वर जो आत्मा है वह भोक्ता है या नहीं? भोक्ता होगा तो उसे कर्ता भी होना पड़ेगा। और यदि उत्पत्ति-प्रलयका कर्ता होगा तो उसे उत्पत्तिका पुण्य और प्रलयका पाप भी होगा। तब वह सुखी-दुःखी भी होगा। इसी प्रकार यदि ईश्वर कर्ता है तो उसे कर्मफलका भोक्ता भी होना पड़ेगा; ईश्वर परतन्त्र हो जायेगा और उसका ईश्वरत्व ही बिगड़ जायेगा। अतः ईश्वर भोक्ता नहीं है, भोक्ताका अन्तर्यामी है। ईश्वर सुखरूप है, वह सुखका भोक्ता नहीं है।

यदि कहो कि ईश्वर भोक्ता तो नहीं, भोजयिता है; जब कि जीव भोक्ता है। अथवा ईश्वर समष्टि-भोक्ता है और जीव व्यष्टि-भोक्ता है।

---

२. तत्र निरतिशयं सर्वज्ञ बीजम्। पूर्वेषामपि गुरुः कालेनानवच्छेदात्।

(योग १. २५–२६)

तो शुद्ध चैतन्य जो ईश्वर है वह तो वास्तवमें अभोक्ता ही है, मायासे भोक्ता प्रतीत होता है। व्यष्टि, समष्टिका भेद भी देहके साथ तादात्म्य होनेके कारण है, वास्तवमें नहीं। यदि देहमें तादात्म्य न हो तो न एक देहका भोक्ता जीव सिद्ध होता है और न समष्टि-भोक्ता ईश्वर, एकमात्र शुद्ध चैतन्य साक्षी ही रहता है। वही ब्रह्म है, वही सबका आत्मा 'मैं' है।

वेदान्तमें जो दृक् है, द्रष्टा है, वह चेतन है; और जो दृश्य है वह जड़ है। मालूम पड़ना (जानना, देखना) जिसका धर्म है वह द्रष्टा नहीं, मालूम पड़ना जिसका स्वरूप है, वह द्रष्टा है। अर्थात् द्रष्टा-साक्षी ज्ञानस्वरूप है, ज्ञान गुणवाला धर्मी नहीं है। वेदान्तमें जो दृक् है वही ब्रह्म है; वह अद्वितीय सच्चिदानन्दघन है और उसके दृश्य मिथ्या हैं।

जो द्रष्टा (दृक्) है उसका भान दो रूपोंमें होता है: उपहित एवं अनुपहित। माने उपाधि सहित (उपहित) और उपाधि रहित (अनुपहित)। जो चैतन्य उपाधि रहित है वह ब्रह्म है। जो चैंतन्य उपाधि सहित है वह दो रूपोंमें अनुभव होता है; कार्योपाधिक (देह सहित) चैतन्य जो 'जीव' है और कारणोपाधिक (देहकी कारण प्रकृति या माया सहित) चैंतन्य जिसको ईश्वर कहते हैं।[3] किन्तु दृश्य कोई भी हो तभीतक सत्य रहता है जबतक कि उसके अधिष्ठानका ज्ञान नहीं होता। ज्ञान होने पर दृश्य मिथ्या हो जाता है। तब वह उपाधि भी जो जीव और ईश्वरको अलग-अलग करती है मिथ्या हो जाती है और फिर जीव-ईश्वरका भेद भी मिथ्या हो जाता है।

ईश्वर वह चीज है जो सब जगह, सब समय, सबकी आत्माके रूपमें मौजूद है। उसे यदि आत्माके रूपमें नहीं पहिचाना तो स्वर्ग और बैकुण्ठमें नहीं पहचान पाओगे! जहाँ ढूँढनेकी इच्छा और प्रयत्नवाला 'अहं' बैठा है वहीं ईश्वर भी बैठा है। वह तुम्हारा आत्मा है, तुम वही हो। ●

---

३. अन्तःकरणविशिष्ट चैतन्य जीव है। अन्तःकरणावच्छिन्न चैतन्य कूटस्थ आत्मा है। अन्तःकरणसामान्यपरिच्छेदाभावावच्छिन्न चैतन्य ईश्वर है। अन्तःकरणसामान्यपरिच्छेदात्यन्ताभावावच्छिन्न चैतन्य ब्रह्म है।'

अध्याय–१२

पंचकोष-साक्षी-विवेक

पंचकोष-अवतारणा

आइये; अब इस सच्चे आत्माको इसी शरीरमें खोज निकालें ! यह आत्मा स्थूल, सूक्ष्म और कारण तीनों शरीरोंका साक्षी तथा उनसे व्यतिरिक्त है, यह प्रतिपादन हो चुका है। अब इसको पंचकोषोंके साक्षीके रूपमें खोजना है। तैत्तिरीय उपनिषद्में इस प्रक्रियाका आश्रय लिया गया है।

तैत्तिरीय उपनिषद्की ब्रह्मवल्ली प्रकरणमें प्रारम्भ किया कि **ब्रह्मविद् आप्नोति परम्।** ब्रह्मवित् परब्रह्मको प्राप्त करता है। अर्थात् जिसने अपने आत्माको ब्रह्म जान लिया वह निरतिशय बृहत् (ब्रह्म) हो गया, यह तात्पर्य है। यहाँ जानना (ज्ञान) साधन है और अज्ञान-दशामें ब्रह्मको 'प्राप्त' करनेके लिए प्रवृत्त हुआ मुमुक्षु 'ब्रह्मवित्' है। उससे प्राप्ति भी ब्रह्मकी ही होती है; क्योंकि 'ब्रह्मके ज्ञानसे दूसरे किसीकी प्राप्ति नहीं हो सकती। अतः 'परम्' का तात्पर्य भी ब्रह्म ही है। आत्मामें अज्ञाततया कल्पित अन्य ब्रह्मको प्राप्त करनेके लिए उद्यत मुमुक्षु अन्तमें ब्रह्मज्ञान द्वारा अपने आत्माको ही साक्षादपरोक्ष ब्रह्मरूपमें अनुभव कर लेता है।

वह ब्रह्म कैसा है ? ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है : **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।** (तैत्ति० २.१) ब्रह्म बौद्धोंका असत् (शून्य) नहीं है सत् है और वह भी अनन्त अर्थात् अपरिच्छिन्न है। अनन्त होनेसे वह क्षणिक भी नहीं है। सांख्योंकी प्रकृतिसे विलक्षण बतानेके लिए उसे 'ज्ञानम्' भी कह दिया ! ब्रह्ममें ज्ञान भी अपरिच्छिन्न है; अनन्त है। अनन्त सत् होनेके कारण ब्रह्म सर्वाधिष्ठान है अर्थात् सर्व नामरूपोंके अभावका अधिकरण है। अनन्त चित् होनेके कारण ब्रह्म ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयकी त्रिपुटीसे अपरिच्छिन्न चिन्मात्र

तत्त्व है, अतः उसमें जीवोंकी अनेकताका प्रश्न ही नहीं उठता और न जीव-ईश्वरका भेद ही सिद्ध होता है। ऐसा अनन्त सच्चित् ब्रह्म सर्वभेदोंके मध्य अभेदरूपसे अपनी महिमामें स्थित है। यह स्थिति ही उसका अनन्त आनन्द है। प्रत्येक प्राणीके 'अहं'के रूपमें वही स्फुरित हो रहा है। वही ज्ञानालम्बन आत्मा है, वही सदालम्बन सबका अधिष्ठान है और वही सुखालम्बन आनन्दस्वरूप ब्रह्म है।

ऐसा ब्रह्म अज्ञात क्यों है ? तो कहा कि ब्रह्मका यह विशेष स्वरूप बुद्धिरूपी गुहामें छिपा हुआ है। **यो वेद निहितं गुहायां परमे व्योमन्** (तैति० २.६) आत्माके सम्बन्धमें जो अनेकविप्रतिपत्तियाँहैंकि "मैं देह हूँ, इन्द्रियाँ हूँ, प्राण हूँ, मन हूँ, बुद्धि हूँ, अहंकार हूँ, जीव हूँ, शून्य हूँ, ईश्वर हूँ" इत्यादि; वे ही मानों ब्रह्मके छिपनेकी गुहा हैं।

वेदान्तकी पद्धति यह है कि वह बिना विचार किये अनुभवका अपवाद नहीं करता। और विचारके लिए उसका अध्यारोप आवश्यक है। अतः तैत्तिरीय श्रुति 'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'का आत्मत्वेन अनुभव करानेके लिए आत्मामें इन सब अन्यथा विकल्पोंको पाँच कक्षाओंमें निक्षिप्त करती है। इनमें क्रमशः ब्रह्मत्वका अध्यारोप करके उत्तरोत्तर कक्षाओंमें ब्रह्मत्वका बोध करानेके लिए साथ-साथ अपवाद भी करती चलती है। अन्तमें अपवादका भी अपवाद करके जो अपवादके अयोग्य है उस प्रत्यक् आत्मामें ब्रह्मत्वकी ज्ञातता उत्पन्न करती है। इन्हीं पाँच कक्षाओंको **'पंच कोष'** कहते हैं। कोषकार रेशमका कीड़ा होता है और कोष नाम तलवारकी म्यानका भी है। अतः कोष नाम आवरकका है। शरीरमें आत्माकी ब्रह्मताके ये पाँच 'कोष' या आवरक हैं। आत्मा इन कोषोंसे व्यतिरिक्त है।

कोष पाँच हैं—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय।

१. अन्नमय कोष एवं अन्नमय पुरुष

१. **अन्नमय कोष** :—अन्न और रससे उत्पन्न, पोषित तथा अन्ततः अन्नरसमें मिल जानेवाला मनुष्यका जो यह स्थूल शरीर है वही आत्माका 'अन्नमय कोष' है।

इस अन्नमय शरीरमें 'मैं'-करके जो सिरसे पैर तक व्याप्त होकर

चैतन्य पुरुष स्थित है उसका नाम **'अन्नमय पुरुष'** है[1] 'मैं स्थूल देह हूँ'— यह ज्ञान 'अन्नमय पुरुष'का ज्ञान है।

अन्न पृथिवीसे उत्पन्न होता है तो पृथिवी जलसे, जल अग्निसे उत्पन्न होता है तो अग्नि वायुसे और वायु आकाशसे। आकाश आत्मासे उत्पन्न होता है।[2] इस प्रकार आत्मा ही स्थूल शरीरके रूपमें प्रकट होता है। तो फिर क्या शरीर आत्माका कार्य है या विकार है? यह दोनों नहीं हो सकता क्योंकि आत्मा न तो विकारी हो सकता है और न किसीका कार्य या कारण। शरीर आत्मामें आत्माका दृश्य है, यह स्पष्ट है। श्रुतिके अध्यारोपका तात्पर्य इस विवेकको उत्पन्न करनेमें है कि शरीर पंचभूतोंका कार्य या विकार है और पंचभूत स्वयं आत्मासे या ब्रह्मसे उत्पन्न होते हैं। अतः उनका ब्रह्ममें प्रागभाव और प्रध्वंसाभाव है जिसमें वे मिथ्या हैं तथा उनका अधिष्ठान ब्रह्म ही सत्य है। फिर मिथ्या पंचभूतोंका कार्य यह स्थूल शरीर (अन्नमय कोष) सत्य कैसे हो सकता है? इसलिए 'अन्नमय पुरुष'में अन्नमय शरीर बाधित है, मिथ्या है, किन्तु 'पुरुष' अबाधित है। वह पुरुष ही आत्मा या ब्रह्म है।

तैत्तिरीय उपनिषद्में ब्रह्मकी उपमा तित्तिर पक्षीसे दी गयो है। अतः इस अन्नमय पुरुषके अंगोंमें पक्षीके शरीरके अवयवोंकी कल्पना की गयी है। स्थूल शरीरका शिर इस अन्नमय पुरुषका शिर है, दोनों हाथ मानों दायें-बायें पक्ष हैं, मध्य भाग आत्मा (महत्त्वपूर्ण भाग) और नाभिसे नीचेका भाग मानों उसकी पूँछ है, वही प्रतिष्ठा है जिसपर सारा शरीर टिका रहता है।[3]

अन्नमयकोष आत्मा नहीं हो सकता, यद्यपि इसमें नैसर्गिक अहं-बुद्धि होती है। कारण वही हैं जिनके कारण देहत्रय-विवेकमें स्थूल शरीर आत्मा नहीं हो सकता। अन्नमयकोष छः भावविकारवाला है, अनेक तत्त्वोंका

---

१. तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः। आकाशाद्वायुः। वायोरग्निः। अग्नेरापः। अद्भ्यः पृथिवी पृथिव्या ओषधयः। ओषधीभ्योऽन्नम्। अन्नात्पुरुषः। **स वा एष पुरुषोऽन्नरसमयः**। तस्यरसमेव शिरः। अयं दक्षिणः पक्षः। अयमुत्तरः पक्षः। अयमात्मा। इदं पुच्छं प्रतिष्ठा। (तैत्ति० २.१.१)

२. वही।

३. वही।

संघात है, घटके समान दृश्य है, नियम्य है। किन्तु जो पुरुष है, आत्मा है, वह एक है, नियामक है और परिवर्तन तथा दृश्यका साक्षी है। मूढ़ लोक अविवेकके कारण इस देहमें अहं-बुद्धि करके बन्धन और दुःखके सहभागी होते हैं।

देहात्मभाव अविचार-सिद्ध है, जीवात्मभाव अल्प-विचार-सिद्ध है और ब्रह्मात्मभाव पूर्ण-विचार-सिद्ध है। जड़ पुरुषोंकी 'मैं देह हूँ' ऐसी देहमें अहं-बुद्धि होती है। शास्त्रोंके विद्वान्की जीवमें अहं-बुद्धि होती है कि 'मैं जीवात्मा हूँ'; किन्तु जो विवेक-विज्ञानसे युक्त महात्मा हैं, उनकी सत्य आत्मतत्त्वमें ही अहं-बुद्धि होती है कि 'मैं ब्रह्म हूँ'[४]। किन्तु यदि मैं जीव हूँ तब भी और यदि ब्रह्म हूँ तब भी मैं यह अन्नमय कोष नहीं हो सकता। यह शरीर तो परलोकमें साथ जाता नहीं, अनन्त सच्चित् हो सकता नहीं।

भला कौन विवेकी पुरुष है जो हड्डी-मांस-चाम-मल-मूत्रके इस थैलेमें अहं-बुद्धि करेगा ? क्या कभी कोई छाया, शरीरमें या अपनी परछांईमें या अपने स्वप्नके देहमें आत्मबुद्धि करता है ? इसी प्रकार इस आविद्यक अन्नमय कोषमें भी आत्मबुद्धिका परित्याग करना चाहिए।

२. प्राणमय कोष एवं प्राणमय पुरुष

२. **प्राणमय कोष :**—इस अन्नमय कोषसे आन्तर और इसमें व्याप्त एक और शरीर है जो अन्नमय कोषकी गति, क्रिया और कर्मके लिये उत्तरदायी है। इसको **प्राणमय कोष** कहते हैं। प्राण और कर्मेन्द्रियाँ, इसके अवयव हैं।[५] इस प्राणमय कोषमें व्याप्त चैतन्यको **प्राणमय पुरुष** कहते हैं।

विना क्रिया-शक्तिके शरीर मुर्दा है। क्रिया-शक्तिके रहते हुए ही 'मैं जीवित पुरुष हूँ' यह ज्ञान होता है। अतः लोग प्राणमय पुरुषको ही आत्मा (मैं) मानते हैं।

---

४. विवेक चूड़ामणि १६२

५. वही १६७

इस प्राणमय पुरुषकी आकृति वैसी ही है जैसी कि अन्नमय कोषकी क्योंकि यह अन्नमय कोषमें व्याप्त है।[६]

इस प्राणमय पुरुषका शिर प्राणवायु है, दाँया पक्ष व्यान वायु है, बाँया पक्ष अपान वायु है, आकाश (समान वायु) इसका आत्मा है और पृथिवी-इसकी पूँछ और प्रतिष्ठा है।[७]

जैसे अन्नमय कोषमें आत्मत्व (अहं-बुद्धि) अविद्यासे कल्पित है, उसी प्रकार प्राणमय कोषमें भी है। अन्नमयकी तरह प्राणमय भी इदं-वाच्य है, दृश्य है। सुषुप्तिमें प्राणोंका अभाव होनेपर भी आत्मसत्ताका अभाव नहीं होता। अतः प्राणोंकी बाधित सत्ता है। पुनः सुषुप्तिमें प्राणोंके चलते रहनेपर भी कोई विशिष्ट व्यापार शरीर या इन्द्रियोंका नहीं होता। सुषुप्त पुरुषका कोई कुछ ले जाये या दे जाये, प्राण उसमें दखल नहीं देता। इसलिए प्राण जड़ है, वह चेतन आत्मा कैसे हो सकता है ?

प्राणमय पुरुषमें प्राण बाधित हैं और पुरुष अबाधित। अन्नमय पुरुषमें जो पुरुष है वही प्राणमय पुरुषमें भी है। एक ही पुरुष (आत्मा)का बाह्यतम आवरण अन्नमय कोष है और उससे आन्तर प्राणमय कोष है। व्याप्य-व्यापक दृष्टिसे अन्नमय कोषका शरीर (आत्मा प्राणमय पुरुष है— ऐसा कह सकते हैं।

जैसे स्थूल शरीरका नाम अन्नमय कोष है, उसी प्रकार सूक्ष्म शरीरका अंग है प्राणमय कोष।

३. मनोमय कोष एवं मनोमय पुरुष

३. मनोमय कोष : इस प्राणमय कोषसे आन्तर और प्राणमय कोषमें व्याप्त एक और शरीर है जो प्राणमय कोषका आत्मा है। ज्ञानेन्द्रियाँ और मन इसके अवयव हैं।[८] इसको **मनोमय कोष** कहते हैं।[९] इसमें अहं-मम बुद्धि करनेवाला जो व्यापी चैतन्य है उसको **मनोमय पुरुष** कहते हैं।

६. ७. तस्माद्वा एतस्मादन्नरसमयादन्योऽन्तर आत्मा प्राणमयः तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविध एष। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्राण एव शिरः व्यानो दक्षिणः पक्षः। अपान उत्तरः पक्षः। आकाश आत्मा। पृथिवी पुच्छं प्रतिष्ठा। (तैत्ति० २. २. १)

८. विवेक-चूड़ामणि १६९

इस मनोमय पुरुषका आकार वैसा ही है जैसा प्राणमयका अर्थात् जैसा अन्नमयका। इस पुरुषके अवयवोंकी कल्पना इस प्रकार है : यजुर्वेद इसका सिर है, ऋक् दक्षिण पक्ष है, साम उत्तर पक्ष है, आदेश आत्मा है और अथर्वाङ्गिरस मन्त्र पुच्छ-प्रतिष्ठा है।[१०] तात्पर्य यह कि मनोमय पुरुष वेदमय है। आत्माका वैदिक परोक्षज्ञान मनोमय कोषमें निवास करता है।

लौकिक विषयोंका ज्ञान और पूर्व-पूर्व विषयोंके ज्ञान-कर्म और भोगकी परिपाक जो वासनाएँ हैं (इसमें लौकिक-अलौकिक सभी विषयोंकी वासनाएँ हैं) वे सब मनोमय कोषके अन्तर्गत हैं। मनोमय कोष भी सूक्ष्म शरीरका अंग है।

यह मनोमय कोष आत्मा नहीं हो सकता—दृश्य होनेसे, पारिणामी होनेसे, विकारवान् होनेसे तथा सुषुप्तिमें अभावको प्राप्त हो जानेसे।

मनोमय पुरुषमें मनोमय कोष बाधित है और पुरुष वही है जो अन्नमय और प्राणमयका है। मनोमय कोष आत्माका तीसरा आवरक है।

'अहं ज्ञानवान्, अहं वासनावान्, अहं विक्षिप्तः, अहं समाधिस्थः' इत्यादि–ये सभी अभिमान मनोमय पुरुषके हैं।

'सम्पूर्ण धर्म, उपासना और योग–इसी मनोमय कोषकी शुद्धिके लिए हैं। मलिन मन बन्धनका हेतु है तथा शुद्ध मन मोक्षका हेतु है। इतना होनेपर भी मनोमय कोष आत्मा नहीं है। विद्या और अविद्या दोनोंका आश्रय मन ही है।

४. विज्ञानमय कोष एवं विज्ञानमय पुरुष

४. **विज्ञानमय कोष** : मनोमय कोषसे आन्तर और इसमें व्याप्त एक अन्य शरीर है जो मनोमयका आत्मा है। ज्ञानेन्द्रियाँ और बुद्धि इसके अवयव हैं।[११] इसको **विज्ञानमय कोष** कहते हैं। इसमें अहं-मम बुद्धि करके जो व्याप्त चैतन्य है उसको **विज्ञानमय पुरुष** कहते हैं।[१२]

९-१०. तस्माद्वा एतस्मात्प्राणमयादन्योऽन्तर आत्मा मनोमयः। तेनैष पूर्णः। स वा एष पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य यजुरेव शिरः। ऋग्दक्षिणः पक्षः। सामोत्तरः पक्षः। आदेश आत्मा। अथर्वाङ्गिरसः पुच्छं प्रतिष्ठा। (तैत्ति० २.३.१)

११. विवेक चूणामणि १८६

१२-१३. तस्माद्वा एतस्मात् मनोमयादन्योऽन्तर आत्मा विज्ञानमयः। तेनैष पूर्णः।

इस विज्ञानमय पुरुषका आकार वैसा ही है जैसा मनोमयका अर्थात् जैसा अन्नमयका। उस विज्ञानमय पुरुषके आकारमें अवयवोंकी कल्पना इस प्रकार है : श्रद्धा उसका सिर है; ऋत उसका दक्षिण पक्ष है; योग उसकी आत्मा (मध्यभाग) है और महत्तत्त्व पुच्छ-प्रतिष्ठा है।[13] इसका अर्थ है कि लौकिक-वैदिक कर्मोंका विज्ञान, लौकिक-वैदिक सत्यके स्वरूपका निश्चय, उस निश्चयके विपरीत शंकाओंका समाधान तथा अनुकूल युक्तियोंका उद्बोधन—यही विज्ञानमय कोष है। इसमें ज्ञानेन्द्रियोंके सहित वृत्तियुक्त बुद्धि रहती है तथा पुरुषका कर्तापनेका अभिमान भी इसी कोषमें निवास करता है। व्यष्टि-बुद्धिका कारण महत्तत्त्व है, इसलिए विज्ञानमय कोषकी प्रतिष्ठा महत्तत्त्व ही है।

'मैं ज्ञाता हूँ, मैं कर्ता हूँ, मैं अमुक वर्णी हूँ, मैं अमुक आश्रमी हूँ; मैं शरीर हूँ या शरीरसे पृथक् शरीरसे परिच्छिन्न जीवात्मा हूँ; मैं पापी हूँ, मैं पुण्यी हूँ, इत्यादि—जितने कर्म, भोग और ऐन्द्रियक ज्ञानके अभिमान हैं वे सब विज्ञानमय कोषके ही विकार हैं क्योंकि यह कोष पूर्ववर्ती तीनों कोषोंमें व्याप्त है।

यह विज्ञानमय पुरुष अहं स्वभाववाला जीव है[14] तथा समस्त लौकिक-पारलौकिक व्यवहारोंका निर्वाह करनेवाला है। यही पूर्ववासनासे कर्म करता है और उसका फल भोगता है तथा आवागमनके चक्रमें पड़ता है। जाग्रदादि अवस्थाएँ, सुख-दुःख आदि भोग, देहादिके अभिमान और ममता इसी विज्ञानमय कोषमें रहते हैं।[15]

महत्तत्त्वका सात्त्विक परिणाम होनेसे यह विज्ञानमय कोष अत्यन्त ज्ञानमय है किन्तु ज्ञानस्वरूप आत्मा नहीं है। भ्रमसे इसीको आत्माके रूपमें ग्रहण किया जाता है। असलमें ज्ञानस्वरूप आत्माकी यह अतिनिकटकी उपाधि है, इसीसे उक्त भ्रम होता है। विज्ञानमय कोषका सम्पूर्ण व्यवहार दृश्य है, परिवर्तनशील है। सुषुप्तिमें बुद्धिके सो जानेपर इसका कोई स्वरूप उपलब्ध नहीं होता है। अतः यह 'मैं' आत्मा नहीं हो सकता।

स वा एष पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य श्रद्धैव शिरः। ऋतं दक्षिणः पक्षः। सत्यमुत्तरः पक्षः। योग आत्मा। महः पुच्छं प्रतिष्ठा। (तैत्ति० २.४.१)

१४-१५. विवेकचूड़ामणि १८८-१९०.

५. आनन्दमय कोष एवं आनन्दमय पुरुष

(५) **आनन्दमय कोष** :—विज्ञानमय कोषसे आन्तर और उसमें व्याप्त एक अन्य कोष भी है जिसको **आनन्दमय कोष** कहते हैं। यह विज्ञानमयका आत्मा है। इस कोष में मैं-मेरा भावसे जो चैतन्य स्थित है उसको **आनन्दमय पुरुष** कहते हैं।[१६]

इस आनन्दमय पुरुषका आकार वैसा ही है जैसा विज्ञानमयका, अर्थात् जैसा अन्नमयका। इसके अवयवोंकी कल्पना इस प्रकार है : 'प्रिय' इसका शिर है; मोद दक्षिण पक्ष है, प्रमोद उत्तर पक्ष है, आनन्द आत्मा है। ब्रह्म इसकी पुच्छ अर्थात् प्रतिष्ठा है।[१७]

संस्कारवशात् जिन वस्तुओंमें प्रियता मालूम पड़ती है वे वस्तुएँ 'प्रिय' हैं। पूर्वकालमें सुखरूपसे जिनका ग्रहण किया गया है वही वस्तु-व्यक्ति-परिस्थिति 'प्रिय' कहलाती है। वर्तमान कालमें प्रिय वस्तुओंके दर्शनसे होनेवाला सुख प्रिय है। उन वस्तुओंकी उपलब्धिसे होनेवाला सुख मोद है और उनके भोगसे होनेवाला सुख 'प्रमोद' है। 'आनन्द' सामान्य सुख है जो सभी विशेष (वृत्तिजन्य) सुखोंमें व्याप्त रहता है। 'आनन्द' नाम ब्रह्मका है। वही सब सुखोंका केन्द्र है अथवा आत्मा है। अतः इस आनन्दमय कोषकी प्रतिष्ठा ब्रह्म ही है। क्योंकि आनन्दमय आनन्दका ही विकार (औपाधिक स्वरूप) है।

इस आनन्दमय कोषकी उपलब्धिका स्थान कौन-सा है? सुषुप्तिमें इस कोषकी अभिव्यक्ति सहज तथा उत्कट होती है। वहाँ यह-वह-तुम और तदपेक्ष्य अहंकी भी स्फूर्ति नहीं होती मात्र सुखकी ही स्फूर्ति होती है। किन्तु यह तमाच्छादित सुख है। जाग्रदादि दूसरी अवस्थाओंमें जब सत्त्वगुणकी वृद्धि होती है अथवा जब पुण्यकर्मोंके परिपाक-स्वरूप प्रिय पदार्थोंकी उपलब्धि होकर मोद या प्रमोदकी स्थिति होती है तब आनन्दमय कोषकी अभिव्यक्ति होती है। पुण्यकर्म-फलभोगकी वृत्तिमें आनन्दरूप आत्माका प्रतिबिम्बन आनन्दमयता उत्पन्न करता है। जीवका भोक्तृत्व आनन्दमय कोष है।

---

१६. १७. तस्माद्वा एतस्माद् विज्ञानमयादन्योऽन्तर आत्मानन्दमयः तेनैष पूर्णः। स वा एव पुरुषविध एव। तस्य पुरुषविधतामन्वयं पुरुषविधः। तस्य प्रियमेव शिरः। मोदो दक्षिणः पक्षः। प्रमोद उत्तरः पक्षः। आनन्द आत्मा। ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा (तैत्ति० २. ५. १)

आनन्दमय कोष भी आत्मा नहीं हो सकता क्योंकि यह कर्मजन्य है, स्थूल शरीरके आश्रित है, प्रकृतिका विकार है, उपाधियुक्त है और इसके आनन्दमें भी न्यूनाधिक्यका तारतम्य है।'

आनन्दमय पुरुषमें 'आनन्दमय' औपाधिक होनेसे बाध्य है। पुरुष (साक्षी) अबाध्य है। अन्नमयसे आनन्दमय कोष तक सबमें पुरुष वही एक है। वही आनन्दमय पुरुष (भोक्ता)का आत्मा है। वही मैं हूँ। इसका कोई संकोचक न होनेसे वह ब्रह्म है।

६. पंचकोष-साक्षी

अन्नमयादि कोषोंकी कल्पना (उपन्यास) साक्षीको समझानेके लिए है। यह तुम्हारा हाथ है। हाथकी हड्डी, माँस, चाम—यह अन्नमय कोष है। लकवा हो जानेपर हाथ उठाये नहीं उठता। उस अवस्थामें जो न उठनेवाला हाथ है वह अन्नमय कोष है। हाथ उठानेकी शक्ति जो उस समय हाथसे चली गयी, वह शक्ति हाथका प्राणमय कोष है। क्रिया-शक्तिका नाम प्राणमय कोष है। लेकिन हाथ उठानेकी शक्ति भी अपने आप कार्य नहीं करती। जब हाथ उठानेकी इच्छा होती है तब हाथ उठता है। इस इच्छाका नाम मनोमय कोष है। हाथ उठानेकी इच्छाका जो कर्ता है उसका नाम विज्ञानमय कोष है। हाथ उठानेमें जो सुख मिलता है (जिस प्रयोजनसे हाथ उठाया है) वह प्रियता आनन्दमय कोष है। इसी प्रकार सम्पूर्ण शरीरमें पंचकोषोंकी स्थिति समझनी चाहिए।

इस शरीरमें हड्डी-मांस-चाम आदिके रूपमें जो अन्नमय कोष है वह तुम नहीं हो, यह दृश्य है, विकारी है, मर्त्य है, परिवर्तनशील है; तुम द्रष्टा हो, अविकारी हो, अमृत हो, एकरस (कूटस्थ) साक्षी हो। शरीरकी क्रिया करनेकी जो शक्ति है, प्राणमय कोष, वह भी तुम नहीं हो क्योंकि वह जड़ है, तुम चेतन हो। क्रिया करनेकी जो इच्छा है वह मनोमय कोष भी तुम नहीं हो क्योंकि इच्छाएँ अनेक होती हैं, तुम एक हो। जिसमें इच्छाएँ होती हैं, उन इच्छाओंका कर्ता विज्ञानमय कोष भी तुम नहीं हो क्योंकि सुषुप्तिमें कर्ता उपलब्ध नहीं होता और तुम साक्षी वहाँ भी रहते हो। कर्ताकी इच्छा और प्रयत्नका जो मूल प्रेरक है सुख, आनन्दमय कोष, वह भी तुम नहीं हो क्योंकि आनन्दमयता औपाधिक है और तुम निरुपाधि आनन्दरूप हो। तब तुम क्या हो? तुम केवल उपलब्धिमात्र हो। इतनी

बात कही जा सकती है कि जो वस्तुएँ दृश्यत्वेन मालूम पड़ती हैं, वह तुम नहीं हो।

जाग्रत्-अवस्थामें पाँचों कोष काम करते हैं। स्वप्नावस्थामें अन्नमय कोष क्रियाशील नहीं रहता, शेष चारों काम करते हैं। क्योंकि वहाँ प्राणके चलनेसे अन्नका पाचन होता है, बाल बढ़ते हैं, रक्तसंचार होता है। मनोमय तो सारा स्वप्न है ही और उसमें कर्तृत्वाभिमान तथा सुखोपलब्धि होनेसे वहाँ विज्ञानमय और आनन्दमय कोषोंकी उपस्थितिका भी पता चलता है। सुषुप्ति-अवस्थामें अन्नमय, मनोमय और विज्ञानमय कोष लीन रहते हैं केवल प्राणमय और आनन्दमय कोष काम करते हैं।

अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, आनन्दमय कोषोंको मत देखो; इनके अलग-अलग अभिमानी जो अन्नमय पुरुष, प्राणमय पुरुष, विज्ञानमय पुरुष और आनन्दमय पुरुष हैं उनको भी मत देखो। देखो उस निरुपाधि पुरुषको जो अन्नमयादि कोषोंकी उपाधिसे तत्तद् पुरुषोंके रूपमें प्रतीत होता हुआ भी उन उपाधियोंके गुण-दोषसे असंस्पृष्ट चिन्मात्र साक्षीके स्वरूपसे नित्य विराजमान रहता है।

ये पंचकोष गुफ़ा हैं। आत्मारूप सिंह इन पाँच गुफाओंके भीतर छिपा है। इन पंचकोषोंका साक्षी आत्मा 'मैं' इनसे पृथक् है।

विचारकी प्रणाली यह है कि एक समयमें एक कोषका विचार करो। पहले सोचो कि 'मैं देह हूँ' क्या यह ठीक है? फिर श्रुति प्रमाण और युक्तिसे इसका अपवाद कर दो। 'मैं अन्नमय कोष नहीं हूँ' यह अपवाद जबतक दृढ़ न हो जाय तबतक विचार जारी रखो। तदनन्तर सोचो कि 'मैं प्राण हूँ'—क्या यह बात सही है? श्रुति-प्रमाण और युक्तिसे इसका अनौचित्य दृढ़ करो जबतक कि 'मैं प्राणमय कोष नहीं हूँ' यह अपवाद दृढ़ हो जाय। इसी प्रकार श्रुति और युक्तिका सहारा लेते हुए 'आनन्दमय कोष' तकका अपवाद दृढ़ करना चाहिए।

शंका : पंच कोषोंसे व्यतिरिक्त कोई आत्मा अनुभवमें नहीं आता। फिर मैं आत्मा इन कोषोंसे पृथक् हूँ—यह अनुभव कैसे हो?

समाधान : यह ठीक है कि अहं-प्रत्यय इन्हीं पाँच कोषोंके अन्तर्गत उपलब्ध होता है किन्तु आत्मा अहं-प्रत्यय नहीं है, अहं-प्रत्ययका साक्षी

है। साक्षी कोषातीत है और सारे कोषोंका अनुभव उसीसे होता है। साक्षी किसी कोषमें नहीं रहता, उल्टे सभी कोषोंका अधिष्ठान यही साक्षी है।

साक्षी न विषय है और न विषयी तथापि दोनों उसकी ही अन्यथा प्रतीति हैं। जैसे सर्प रज्जुकी अन्यथा प्रतीति है, अतः सर्प दर्शन-कालमें भी रज्जु प्रतीत ही है भले वह रज्जुरूपमें नहीं, सर्परूपमें है, तथा जैसे अन्धकारके नाशक प्रकाशमें सर्पकी भ्रान्ति नष्ट होकर रज्जुकी प्रतीति हो जाती है, उसी प्रकार अन्नमयादि कोषोंमें जो अहं-प्रतीति हो रही है उसके रूपमें भी साक्षी ही प्रतीत हो रहा है। तथापि साक्षीके शुद्ध स्वरूपकी अहंत्वेन प्रतीतिके लिए सभी अहं-प्रत्ययोंके निषेधक ज्ञानकी आवश्यकता है। इसपर भी साक्षीकी प्रतीति घटवत् सम्भव नहीं है। जो अनुभवात्मा है, वह कभी अनुभवका विषय नहीं हो सकता। वह तो केवल अन्यथा प्रतीतिके रूपमें ही सम्भव है जो भ्रान्ति ही है।

आत्मासे भिन्न अन्य ज्ञाता और उससे भिन्न कोई ज्ञान नहीं होता। इसलिए आत्मा अज्ञेय है, ऐसा कहा जाता है। उसकी अज्ञेयताका हेतु आत्माकी असत्ता नहीं है। श्रुति आत्माको स्वयंप्रकाश बताती है।[१८] आत्माके भानके बाद ही सारा प्रपञ्च भासित होता है।[१९] जिससे सब जाना जाता है, उस साक्षी आत्माको किससे जानोगे?[२०] मनसे सबको जानते हैं परन्तु मन अपने ज्ञाता साक्षी आत्माको नहीं जान सकता।[२१]

शंका : पंचकोषोंसे अतीत शून्य ही क्यों न माना जाय ?

समाधान : शून्यका साक्षित्व तो मानना ही पड़ेगा अन्यथा तो 'शून्य है' इसीमें क्या प्रमाण होगा? शून्यका साक्षी स्वयं अपनेको शून्य कैसे अनुभव करेगा? तैत्तिरीय श्रुतिका कहना है :

असन्नेव स भवति असद् ब्रह्मेति वेद चेत् (तैत्ति० २.६.१)

'वह स्वयं असत् ही हो जाता है जो ऐसा जानता है कि ब्रह्म असत् है'।(इसका तात्पर्य है कि आत्मा ही ब्रह्म है)। ●

---

१८. अत्रायं पुरुषः स्वयं ज्योतिर्भवति।

१९. तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति (मुण्डक० २.२.१०)।

२०. येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात् (बृहदा० ४.५.१५)।

२१. यतो वाचो निवर्तन्ते अप्राप्य मनसा सह (तैत्ति० २.३.१)।

अध्याय–१३

अवस्थात्रय-साक्षी-विवेक

१. तीन अवस्थाएँ और उनके अभिमानी

अवस्थाएँ तीन प्रसिद्ध हैं : जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। प्रतिदिन प्रति शरीरमें ये आती-जाती रहती हैं। प्रत्येक मनुष्य इनके आने-जानेको तथा इनके पृथक्-पृथक् विलासको जानता है। परन्तु कभी इनके और इनके जाननेवाले स्वयं अपने आपके बारेमें विचार नहीं करता। इसके विचारमें आत्म-साक्षात्कारका बीज निहित है। माण्डूक्योपनिषद्के आधारपर एक विवेचन प्रस्तुत है।

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति—तीनों चित्तकी अवस्थाएँ हैं और चित् (साक्षी आत्मा)की दृष्टिमात्र हैं।

जब देहमें पाँचों कोष क्रियाशील रहते हैं उस समय साक्षी अविद्या-वृत्तिसे सुखके प्रयोजनसे, अन्तःकरणसे तादात्म्यापन्न होता है तथा मन, इन्द्रियों और देहकी चेष्टापूर्वक शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध–इन पाँचों विषयोंको अपनेसे बाहर अनुभव करता है तथा स्थूल विषयोंका भोग करता है। इस अनुभवकी अवस्थाका नाम **जाग्रत्-अवस्था** है। हम सोये न हों; मनोराज्यमें तल्लीन न हों, समाधिस्थ न हों और अपनी इन्द्रियोंका, शरीरका और अपने आस-पासके पर्यावरणका ज्ञान हो रहा हो, तो हमारी इस अवस्थाका नाम जाग्रत्-अवस्था है। पृथिवी, समुद्र, नदियाँ, नगर, नागर, सूर्य, चन्द्र, अग्नि, वायु, आकाश और हमारी शास्त्रविद्या, पूर्वजन्म, उत्तरजन्म इत्यादि सम्पूर्ण जीव-ईश्वर-रचित जगत् जाग्रत्–अवस्थाका विलास है।

जब देहमें निद्राके कारण अन्नमय कोष क्रियाशील नहीं रहता किन्तु प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय कोष क्रियाशील रहते हैं, तब देहेन्द्रियोंकी चेष्टाके बिना ही साक्षी जाग्रत्-अवस्थाके समान ही अपने देहको और देहके बाहरके विलासको साक्षात् देखता है तथा वहाँके सूक्ष्म

भोगोंको अपने स्वप्नदेहकी इन्द्रियोंके द्वारा भोगता है। अनुभवकी इस अवस्थाका नाम **स्वप्नावस्था** है।

स्वप्नावस्थाका विलास बिलकुल वैसा ही है जैसा जाग्रत्का। बस; अन्तर इतना है कि जाग्रत्में भोग स्थूल हैं और स्वप्नमें सूक्ष्म। जाग्रत्में राग-द्वेष, हेयोपादेयके जो संस्कार हैं वे जाग्रत्-अवस्थामें तो फलित होनेके लिए कर्मकी अपेक्षा रखते हैं किन्तु स्वप्नमें कामनामात्रसे ही फलित हो जाते हैं। अतः स्वप्नमें केवल वासनामय भोग है।

जाग्रत्-अवस्थामें जब मनुष्य स्थूल शरीर और उसके पर्यावरणका भान खोकर मनोराज्यमें तल्लीन हो जाता है तब वह अवस्था भी स्वप्नावस्थाके ही तुल्य है।

स्वप्नावस्थामें जाग्रत्–अवस्थाकी स्मृति नहीं होती किन्तु जाग्रत्में स्वप्नकी स्मृति होती है। इससे पता चलता है कि जाग्रत्–अवस्थाका और स्वप्नावस्थाका अभिमानी बिलकुल एक नहीं है, यद्यपि दोनों अवस्थाएँ एक ही साक्षीकी भास्य हैं।

जाग्रत्-अवस्थाके अभिमानीका नाम **'विश्व'** है और स्वप्नाभिमानीका नाम **'तैजस'** है। 'विश्व' बहिःकरणका अभिमानी है और 'तैजस' अन्तःकरणका। स्वप्नकालमें अन्नमय कोषके अक्रिय हो जानेसे बहिःकरणाभिमानी विश्व तैजसमें सर्वथा लीन हो जाता है जिससे स्वप्नमें जाग्रत्की स्मृति भी नहीं रहती। जाग्रत्-अवस्थामें अन्तःकरण भी जागता रहता है इसलिए 'तैजस' विश्वमें सर्वथा लीन नहीं होता और जाग्रत्में स्वप्नकी स्मृति बनी रहती है।

जब निद्राकी प्रगाढ़तासे अन्नमय, मनोमय और विज्ञानमय तीनों कोष सो जाते हैं (अक्रिय हो जाते हैं) और केवल प्राणमय और आनन्दमय कोष क्रियाशील रहते हैं उस समय साक्षीको जाग्रत् और स्वप्नका कोई स्थूल या सूक्ष्म विलास अनुभव नहीं होता, यहाँ तक कि "मैं वही जाग्रत् और स्वप्नका देखनेवाला हूँ" यह वृत्ति भी वहाँ नहीं रहती, किन्तु सुखका अनुभव वह अवश्य करता रहता है क्योंकि जब सोकर उठता है तो कहता है कि 'मैं सुखसे सोया था, मुझे किसी बातका पता नहीं।' अज्ञान और सुखके अनुभवकी इस अवस्थाका नाम सुषुप्ति है।

सुषुप्त्याभिमानीका नाम **'प्राज्ञ'** है। 'प्राज्ञ'में विश्व' और 'तैजस'का सर्वथा प्रलय हो जाता है, जिससे सुषुप्ति-अवस्थामें जाग्रत् और स्वप्नकी कोई स्मृति भी शेष नहीं रहती। किन्तु 'प्राज्ञ' जाग्रत्में 'विश्व'से एक होकर रहता है; तभी तो उसे जगनेपर सुषुप्तिके अज्ञान और सुखकी स्मृति होती है।

जाग्रत्-अवस्थामें तीनों गुण वर्तमान रहते हैं। जाग्रत् सत्त्वप्रधान है क्योंकि इसमें ही सब प्रकारके ज्ञान और सुख होते हैं। यह एक मत है। दूसरा मत है कि जाग्रत् रजोगुण-प्रधान है क्योंकि स्वप्नमें भी सब ज्ञान और सुख होते हैं, किन्तु स्थूल-देहकी क्रिया जाग्रत्की विशेषता है। स्वप्न और सुषुप्तिमें निद्रा-दोषके कारण तमोगुण है ही। सुषुप्ति तमःप्रधान अवस्था है।

जाग्रत्-अवस्थामें यदि सत्त्वगुणकी प्रधानतासे अहं-इदं-प्रत्ययोंका तिरस्कार कर दिया जाय तो समाधि-अवस्था प्राप्त हो जाती है। समाधि सत्त्वप्रधान सुषुप्ति-अवस्था ही है। परन्तु यह पुरुष-प्रयत्नसे प्राप्त होती है जबकि निद्रान्वित सुषुप्ति नैसर्गिक है।

२. तुरीय आत्मा

जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीन अवस्थाएँ हैं। इनकी अपेक्षासे आत्मा-को (साक्षीको) चौथा या तुरीय कहा जाता है किन्तु तीनका अधिष्ठान भी होनेसे वह नितान्त पृथक् चौथा तत्त्व नहीं है अन्यथा अनवस्था प्राप्त होगी। तीनसे विलक्षण होनेके कारण वह तुरीय है।

हमको मालूम पड़ता है कि हम इस समय जाग्रत् हैं और इन्द्रियोंसे विषयोंको देख रहे हैं। कौन देख रहा है? मैं ही देख रहा हूँ। यहाँ इन्द्रियोंकी बाह्य उपाधिको स्वीकार करके मेरी ही संज्ञा 'विश्व' हो गयी। बाह्य इन्द्रियोंको छोड़कर स्वप्न मैं ही देखता हूँ। वहाँ मुझ साक्षीकी संज्ञा 'तैजस' हो गयी। तैजस को तैजस इसलिए कहते हैं क्योंकि स्वप्नमें पदार्थ न होनेपर भी अपने तेजसे ही वहाँके सारे विषयोंको प्रकाशता है। उसके बाद सुषुप्ति आती है जहाँ न बाह्य इन्द्रियाँ रहती हैं और न अन्तरिन्द्रियाँ। उस सुषुप्तिको भी हम देखते हैं। वहाँ मुझ साक्षीकी संज्ञा प्राज्ञ है। हमको जाग्रत् और स्वप्नसे विलक्षण एक अवस्थाका ज्ञान ही न

होता यदि उस सुषुप्ति-अवस्थाको हम न देखते होते। ये तीनों अवस्थाएँ ऐसी हुई जैसे कोई एक व्यक्ति सफेद, लाल और काले कपड़े पहने और उतार दे। कपड़े तीन किन्तु उनका पहिननेवाला एक। इसी प्रकार आत्मा तीनों अवस्थाओंसे विलक्षण है। आत्मा इन अवस्थाओंसे पृथक् इनका साक्षी है, यह निश्चय हुआ।

स्वप्नावस्थामें जाग्रत्‌की स्मृतितक नहीं रहती। उस समय 'विश्व' 'तैजस'में सर्वथा लीन हो जाता है। सुषुप्तिमें न जाग्रत्‌की स्मृति होती है, न स्वप्नकी। उस समय 'विश्व' और 'तैजस' दोनों 'प्राज्ञ' में लीन हो जाते हैं। इसका अर्थ है कि बहिःकरणकी उपाधिसे जो जाग्रत्‌का द्रष्टा बना हुआ है; वही जगने पर उन्हीं करणोंसे तादात्म्य करके कहता है : 'उस समय मैं नहीं देखता था और अब मैं देखता हूँ।'

सच यह है कि द्रष्टा कभी सोता नहीं। "मैं सो रहा हूँ—"ऐसा अनुभव कभी किसीको नहीं हो सकता। यदि होता है तो तुम जग ही रहे हो। होता यह है कि मन-बुद्धि-इन्द्रियाँ सोती हैं उन्हींके सोने-जागनेको अपने ऊपर आरोप करके हम "मैं सोया' या 'मैं जागा' कहते हैं।'

जाग्रत्-अवस्थाके जितने अनुभव हैं उनसे मैं अलग हूँ, क्योंकि उनके न रहने पर भी मैं रहता हूँ। इसी प्रकार स्वप्न-अवस्थाके अनुभवोंसे भी मैं पृथक् हूँ। मैं सुषुप्तिके अज्ञान और सुखके अनुभवसे भी विलक्षण हूँ क्योंकि इनका मैं साक्षी रहता हूँ। अनुभूयमान विषय जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिका कोई भी हो वह 'न मैं हूँ न मेरा है' क्योंकि उसको यथास्थान छोड़कर मैं उठ जाता हूँ।

जब मैं, मेरा कोई पदार्थ संसारमें है ही नहीं तो उनके संयोग और वियोगमें सुखीपने या दुःखीपनेका जो अभिमान है, वह एकदम झूठा है। उसमें कर्तापनका जो अभिमान है कि 'मैंने यह बनाया और यह बिगाड़ा', एकदम झूठा है। साक्षीमें न कर्तापन है, न भोक्तापन।

जाग्रत्-अवस्थाका विस्तार हमारे मनने किया है। स्वप्नावस्थाका विस्तार भी मनने ही किया है और सुषुप्ति भी मनकी ही एक अवस्था है। यह तीन लोक, चौदहों भुवन, अनन्त कोटि-ब्रह्माण्डका अनुभव जो किसीको न कभी हुआ, अब हो रहा है या आगे होगा, सब-का-सब हमारे मनकी कल्पना है। हम मन और उसके समूचे भानाभानरूप संसारके साक्षी हैं।

आत्मामें तुरीयत्वकी कल्पना मायासे है। यदि जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति ये तीन हों तो अपनेमें चतुर्थकी कल्पना भी न हो। इन तीनोंसे पृथक् करनेके लिए आत्माको चतुर्थ कहा जाता है। लोगोंको भ्रम हो गया है कि तुरीय एक चौथी अवस्था है। वे समझते हैं कि समाधि नामकी चौथी अवस्था प्राप्त करनेपर हम तुरीय होते हैं। परन्तु वेदान्त-सिद्धान्त ऐसा नहीं है। **तुरीयं त्रिषु सन्ततम्** (भागवत ११.२५.२०) हम जाग्रत्में भी तुरीय हैं, स्वप्नमें भी और सुषुप्तिमें भी। अपने तुरीयपनेमें कभी अन्तर नहीं पड़ता। अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें रहते हुए भी उनके साथ हमारा कोई सम्बन्ध न कभी था और न होगा। उनके बदल जानेपर भी मैं नहीं बदलता। जाग्रत्में स्वप्न और सुषुप्ति नहीं रहती; सुषुप्तिमें जाग्रत् और स्वप्न नहीं रहते। अतः ये तीनों अवस्थाएँ मिथ्या हैं। मिथ्या हैं अर्थात् ये वहीं (साक्षीमें) भास रही हैं जहाँ नहीं हैं : **अधिष्ठाननिष्ठात्यन्ताभावप्रतियोगित्वं मिथ्यात्वम्**। जिस अधिष्ठानमें जिस वस्तुका अत्यन्ताभाव है उसीमें उस वस्तुका भासना मिथ्यात्व है।

ये अवस्थाएँ कहाँ भास रही हैं? एक अनन्त प्रकाशमें, एक अनन्त अधिष्ठानमें जिसमें जाग्रत्का आकाश भी अध्यस्त है। वह अनन्त प्रकाश और अनन्त अधिष्ठान एक ही ब्रह्म है। **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** जो है वही अनन्त सत्की दृष्टिसे अधिष्ठान कहा जाता है और अनन्त ज्ञानकी दृष्टिसे प्रकाश या साक्षी। उस अनन्त ब्रह्ममें ये तीनों अवस्थाएँ मिथ्या हैं।

३. जाग्रत्-पुरुष और जाग्रत्-अवस्थाका अभिमानी

जाग्रत्-पुरुषका अभिमानी होना एक बात है और जाग्रत्-अवस्थाका अभिमानी होना दूसरी बात है। पहली कोई साधनकी बात नहीं है किन्तु दूसरी बात साधनकी है। जाग्रत्-पुरुषके अभिमानी और जाग्रत्-अवस्थाके अभिमानी—इन दोनोंमें भेद करो।

जैसे स्वप्नमें हम अपनेको गंगास्नान करने जाते देखते हैं। तो इसमें एक तो वह स्वप्न-पुरुष मैं हूँ जो गंगा-स्नान करने जा रहा है और दूसरा वह मैं हूँ जो पूरे स्वप्नको देख रहा हूँ अर्थात् स्वप्नाभिमानी। स्वप्न-पुरुष स्वप्नके एक शरीरका अभिमानी है और स्वप्नाभिमानी सम्पूर्ण स्वप्नावस्थाका अभिमानी है। इसी प्रकार अब जाग्रत्-पुरुष तथा जाग्रत्-

अवस्थाका अभिमानी, ये दो भेद कर लो। जब हम शरीरमें बैठते हैं तब जाग्रत्-पुरुषके अभिमानी बनते हैं। फिर मेरा घर, मेरा कारखाना, मेरी स्त्री, मेरा पुत्र, यह मेरा-तेरा, लड़ाई-झगड़ा, संयोग-वियोग, सुख-दुःख आदि सब-का-सब इसी जाग्रत्-पुरुषको 'मैं' माननेसे होता है। हमारा नाम, हमारे हाथ-पैर-नाक-कान आदि अंगोंके नाम, हिन्दू-मुसलमान आदि जाति-धर्म भेद, भारतीय-योरोपीय प्रभृति जितने भेद हमने मान लिये हैं, अविचारसे ही सब स्वीकार कर लिये हैं। विचार करके देखो तो हम इस देहके अभिमानी नहीं, सम्पूर्ण जाग्रत्-अवस्थाके अभिमानी हैं। इस जाग्रत्-अवस्थामें मैं भी है, तू भी है, वह भी है, यह भी है।

एक विद्वान्‌ने स्वप्नमें देखा कि वह दूसरे विद्वान्‌से शास्त्रार्थमें हार गया है। जागने पर बड़ा दुःखी हुआ। लेकिन विचार करनेपर समझमें आया कि मुझे किसी दूसरेने पराजित नहीं किया है। स्वप्नका वह दूसरा विद्वान् मेरी ही बुद्धिवृत्ति थी। मैं अपनेसे ही पराजित हुआ हूँ। इसी प्रकार हम जाग्रत्‌में जो समझते हैं कि अमुकसे हम हार गये, हमारी सम्पत्ति दूसरेके पास चली गयी, यह मनका भ्रम है। हम अपनेसे ही हारते हैं। सम्पत्ति हमारी ही दूसरी दूकानमें चली गयी है।

यह जो जाग्रत्-पुरुष (देह)का अभिमानी है, वह हम नहीं हैं। हम तो समूची जाग्रत्-अवस्थाके अभिमानी अर्थात् 'विश्वात्मा' या 'वैश्वानर' हैं। ऐसा विचार जाग्रत्-अवस्थाका विचार है।

एक शरीरके अभिमानी होनेसे पाप-पुण्य होता है। किन्तु विश्वात्मा पाप-पुण्य नहीं करता। वह तो सभी पाप-पुण्योंका ज्ञाता है, उनके फल दुःख-सुखका ज्ञाता है।

जाग्रत्-अवस्थाके जितने भोग हैं वे सब स्थूल भोग हैं, मन-इन्द्रियों तथा शरीरकी चेष्टा द्वारा भोग्य हैं तथा वे धर्मजनित, अधर्मजनित और धर्माधर्मजनित हैं। असलमें तो सुख-दुःखका भोग ही सब भोगोंका, सब कर्मोंका फल है।

सांख्यकी दृष्टि यह है कि सुख-दुःख तो हमारे पुण्य और पापके फल हैं किन्तु जिन भौतिक वस्तुओंके कारण ये सुख-दुःख होते हैं वे सब प्राकृत हैं, प्रकृति, महत्तत्त्व अहंकार और पंचभूतोंके कार्य हैं।

न्याय-वैशेषिककी दृष्टिसे सब-के-सब पदार्थ परमाणुजन्य—पाकज हैं। पदार्थ परमाणुजन्य हैं, तुम्हारे कर्मजनित नहीं हैं। उनको अपना मानकर सुखी होना और उनके बिछुड़नेसे दुःखी होना, यह सब मनका खेल है।

पूर्वमीमांसा शास्त्र सब-की-सब सृष्टि कर्मजन्य मानता है। कर्म प्रारब्ध, संचित आदिके रूपोंमें भिन्न-भिन्न प्रकारके होते हैं इनके मतमें संसारकी जो वस्तुएँ हैं वे जीवोंके सम्मिलित प्रारब्ध (**समष्टि प्रारब्ध**)से होती हैं तो उनसे जो सुख-दुःख होते हैं वे जीवके अलग-अलग प्रारब्ध (**व्यष्टि प्रारब्ध**)से होते हैं। इसमें भी व्यष्टि प्रारब्धसे सुखाकार वृत्ति, दुःखाकार वृत्ति तो होती है किन्तु उसकी जो फलवृत्ति है कि 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' वह भ्रान्तिजन्य है, वृत्तिके साथ तादात्म्यके कारण है। इनके यहाँ जीव कर्ता-भोक्ता है; कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों ही जीवके स्वाभाविक धर्म हैं। अतः अशुभ कर्म करनेसे जीवको दुःख और दुःखाभिमानकी प्राप्ति होती है तथा शुभ कर्मसे उसे सुख और सुखाभिमान होता है। अत्यन्त पुण्योंसे स्वर्ग जाकर अत्यन्त सुखी और अत्यन्त पापसे नरक जाकर अत्यन्त दुःखी होता है।

वेदान्तकी दृष्टि यह है कि 'मैं सुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ' यह अभिमान भ्रान्तिजन्य है।

किसी भी दृष्टिसे जो 'विश्व' है (जाग्रत्-अवस्थाका अभिमानी) वह सुखी-दुःखी नहीं हो सकता। जो जाग्रत्-पुरुष है वही कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुःखी होता है।

४. स्वप्न और सुषुप्ति तथा उनके अभिमानी

जाग्रत्-अवस्थाके निमित्त जो धर्माधर्म हैं उनकी समाप्ति होनेपर तथा स्वप्नावस्थाके जो धर्माधर्म हैं उनका उदय होनेपर स्वप्नावस्था होती है। स्वप्न भी संस्कारजन्य हैं। जिन धर्माधर्ममें स्थूल वस्तुओंको सामने लाकर सुख-दुःख देनेकी योग्यता नहीं होती, ऐसे हल्के धर्माधर्म स्वप्नमें अपने विषयको सूक्ष्मरूपसे उपस्थित करके सुख-दुःख देते हैं।

जागरणसे विलक्षण स्वप्नकालीन जो भोग हैं वे अपनी ही बुद्धिके विस्तार हैं। वे सूक्ष्म भोग हैं और अपने आत्माके प्रकाशमें ही उनका भोग होता है। जो स्वप्न-पुरुष (देह)का अभिमानी है, वही इनका भोग करता

है। जो समूची स्वप्नावस्थाका अभिमानी है अर्थात् तैजसात्मा, वह तो इनका ज्ञातामात्र है। ज्ञान करना ही उसका भोग है।

विचार यह करना है कि हम स्वप्नपुरुष नहीं, स्वप्न-द्रष्टा हैं जो समूचे स्वप्नको देखनेवाला है।

जाग्रत्में हम यह भूल जाते हैं कि हम ही सृष्टि बनानेवाले हैं। ऐसा इसलिए हो जाता है क्योंकि हम एक देहके अभिमानी बन जाते हैं। किन्तु स्वप्न हमारे जीवनमें आता है, इसको याद दिलानेके लिए कि हममें नवीन विश्व बनानेका सामर्थ्य है। स्वप्नमें हम मीलों लम्बा देश और वर्षों लम्बा काल बना लेते हैं। स्वप्नके ईश्वर हम ही हैं, यह स्पष्ट हो जाता है।

जाग्रत्-अवस्था हमारा व्यापार-भवन है, स्वप्नावस्था विज्ञान-भवन और सुषुप्ति-अवस्था विश्राम-भवन है। किन्तु हम इनमें बँधे नहीं हैं। सुषुप्तिमें जाते हैं तो स्वप्नमें नहीं रहते। स्वप्नमें जाते हैं तो सुषुप्तिमें नहीं रहते और जाग्रत्में जाते हैं तो स्वप्नमें नहीं रहते। अतः हम इनमें कहीं आबद्ध नहीं हैं।

इस प्रकार प्रतिदिन इन अवस्थाओं द्वारा हम अपने त्याग, अपनी असंगता, अपने वैराग्यका अनुभव करते हैं।

हमारा प्रेम सबसे अधिक किससे है? अपने सुखसे, अपने आत्मासे। इसलिए सबको छोड़कर हम सुषुप्तिमें अपने आपमें सबकी स्थापना इतने धीरेसे कर लेते हैं कि पता भी नहीं चलता। सब कब छूट गये— कुछ पता नहीं।

स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाएँ यदि न होतीं तो यह जाग्रत् ही सत्य हो जाती। जाग्रत्को मिथ्या समझनेका कोई उपाय ही नहीं रहता। सत्यका विचार करते समय हमारा निश्चय कितना पक्षपात पूर्ण होगा यदि केवल जाग्रत्के आधारपर ही अनुभवकी मीमांसा की जाय और प्रतिदिन होनेवाली स्वप्न और सुषुप्तिके अनुभवकी मीमांसा न की जाय! स्वप्न और सुषुप्तिके अनुभवके प्रकाशमें जाग्रत्के अनुभव तुच्छ हैं।

स्वप्नके पदार्थोंमें स्थिरता नहीं होती। जाग्रत्के पदार्थोंके रहते-रहते ही रज्जुमें सर्पके समान स्वप्नके पदार्थ बाधित हो जाते हैं, इसलिए ये प्रातिभासिक हैं। यही कारण है कि स्वप्नके पदार्थोंसे हमारा राग नहीं होता, जाग्रत्के पदार्थोंमें राग हो जाता है। यदि स्वप्नके पदार्थोंमें भी

स्थिरता हो जाय तो उनमें भी जाग्रत्‌के पदार्थोंके समान राग हो जायेगा। अतः राग होनेसे ही जाग्रत्‌के पदार्थ सच्चे नहीं हैं। कभी-कभी स्वप्नमें भी राग हो जाता है और वह स्वप्न जीवनभर याद रहता है।

स्वप्नसे ज्ञात होता है कि हमारी कल्पना-शक्ति कितनी प्रबल है। सुषुप्तिसे ज्ञात होता है कि सबका अभाव मेरे रहते मुझमें ही हो जाता है। संसार प्रतीतिमात्र है, स्वप्न है। अपने स्वरूपमें संसार नामकी कोई वस्तु नहीं है।

५. आत्माका प्रथम पाद विश्व-विराट्

साक्षीका वास्तविक स्वरूप समझनेके लिए पहले उसके औपाधिक स्वरूपोंको समझना आवश्यक है। ये औपाधिक स्वरूप हैं– जाग्रत्-अवस्थाके अभिमानी 'विश्व', स्वप्नावस्थाके अभिमानी 'तैजस', सुषुप्ति-अवस्थाका अभिमानी 'प्राज्ञ'।

आप जाग्रत्-पुरुषके अभिमानीके रूपमें अपने आपको जानते हैं। इसको शुद्ध साक्षीके रूपमें जाननेके लिए आप अपना कदम आगे बढ़ाइये। पहला कदम है कि आप अपनेको 'विश्व' (सम्पूर्ण जाग्रत्-अवस्थाका अभिमानी) जानिये, एक देहका अभिमानी नहीं। दूसरा कदम है कि आप अपनेको 'तैजस' (सम्पूर्ण स्वप्नावस्थाका अभिमानी) जानिये; तीसरा कदम है कि अपनेको 'प्राज्ञ' (सम्पूर्ण सुषुप्ति-अवस्थाका अभिमानी) जानिये। और चौथा कदम है कि अपनेको शुद्ध साक्षी जानिये जो जाग्रत्‌का, स्वप्नका और सुषुप्तिका एक ही द्रष्टा है।

स्वप्नमें मैं-के तीन भेद स्पष्ट हैं: स्वप्न पुरुष, स्वप्नाभिमानी, स्वप्नद्रष्टा। स्वप्नमें जो मैं गंगास्नान करने जा रहा है वह स्वप्न-पुरुष है। जगनेपर जो मैं सोचता हूँ कि पूरा स्वप्न मेरे संस्कारसे बना था, वह स्वप्नाभिमानी (तैजस) है। स्वप्नद्रष्टा और जाग्रत्-सुषुप्तिका द्रष्टा एक ही है। इसी प्रकार जाग्रत्‌में मैं-के तीन भेद हैं: जाग्रत् पुरुष (जो जाग्रत्‌के देहका अभिमानी है), जाग्रत्-अभिमानी (विश्व) जो सम्पूर्ण जाग्रत्-अवस्थाका अभिमानी है और जाग्रत्-द्रष्टा जो तीनों अवस्थाओंमें एक है। सुषुप्तिमें मैं-के दो ही भेद हैं: सुषुप्ति-अभिमानी मैं (प्राज्ञ) जो जागनेपर सुषुप्तिके अज्ञान और सुखकी स्मृति करता है तथा सुषुप्तिका द्रष्टा जो जाग्रत् और स्वप्नका भी द्रष्टा है।

जैसे स्वप्नमें समस्त स्वप्न बनाने-बननेवाला मैं (तैजस) था, वैसे ही जाग्रत्में सम्पूर्ण जगत् बनने-बनानेवाला मैं (विश्व) ही हूँ। जैसे स्वप्नमें स्वप्न-पुरुष वास्तविक मैं नहीं है वैसे ही जाग्रत्में जाग्रत्-पुरुष मैं नहीं हूँ। पुनश्च, स्वप्नकी उपाधिसे मैं ही ''तैजस' बनता हूँ तो जाग्रत्की उपाधिसे मैं ही 'विश्व' बनता हूँ। सुषुप्तिकी उपाधिसे मैं ही 'प्राज्ञ' बन जाता हूँ। निरुपाधिरूपमें मैं ही शुद्ध साक्षी हूँ।

साक्षी जब जाग्रत्-स्थानमें रहता है तब उसकी संज्ञा 'विश्व' होती है। किन्तु जाग्रत्-स्थानको समझनेके लिए हमें अपनेको एक देहकी जाग्रत्-अवस्थासे हटना होगा।

हम शरीरके गुण-दोष, जन्म-मृत्यु तथा परिच्छिन्नताको छोड़कर विश्वात्मा—स्थूल समष्टिके अभिमानी **विराट्**के साथ एक हो जायेंगे। परिच्छिन्न अहंका विसर्जन, यह आत्माका प्रथम पाद है।

जाग्रत्-अवस्थाकी विशेषता क्या है? वहिष्प्रज्ञता, अर्थात् प्रज्ञाका बाहरकी ओर होना। मैं चेतन हूँ और यह दृश्यमान जगत् जड़ है; इस प्रज्ञाका नाम बहिष्प्रज्ञता है। हमारी प्रज्ञा जड़को विषय बना रही है, माने अपनेसे अन्यको विषयरूपमें ग्रहण कर रही है, यही जाग्रत्-स्थानकी विशेषता है। इस जाग्रत्-अवस्थामें केवल प्रज्ञा ही बहिर्मुख हो रही है। जब चेतन अन्यकी कल्पना करके उसको प्रकाशित करता है, तब उसका नाम प्रज्ञा हो जाता है। लेकिन जब चेतन चित्त (जगत्)को प्रकाशित तो करता है किन्तु अन्यत्वको प्रकाशित नहीं करता, तब उसे ब्रह्म कहते हैं। सविषयक ज्ञानका नाम चित्त है और निर्विषयक ज्ञानका नाम ब्रह्म है।

ब्रह्म स्वयंप्रकाश और अनन्त है। स्वयंप्रकाश होनेसे वह देखे बिना रह नहीं सकता और अनन्त होनेसे पूरा-पूरा देखा नहीं जा सकता। अतः अपनेको ही परिच्छिन्नवत् अन्यथारूपमें कल्पित करके प्रकाशित करता है। यही बहिष्प्रज्ञताका रहस्य है। न जाग्रत्-अवस्था दोष है और न उसकी बहिष्प्रज्ञता दोष है किन्तु इनको सत्य मान लेना दोष है, अविद्या है, नासमझी है। वेदान्त-विचार इसी नासमझीको दूर करता है।

अच्छा, यदि मैं यह जाग्रत् देह नहीं हूँ, विश्वात्मा हूँ, तो मेरे अंग कौन-कौन-से हैं? तो कहा कि विचार करो कि मेरे सात अंग हैं, उन्नीस मुख हैं, मैं स्थूलभुक् वैश्वानर हूँ:

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग् वैश्वानरः प्रथमः पादः। (माण्डूक्य० ३)

सप्तांगके सन्दर्भमें भगवान् श्रीशंकराचार्यने श्रुतिका उल्लेख किया है : **तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येक पादौ।** (छान्दोग्य० ५. १८. २.)।

पृथिवी पैर है, जल मूत्रस्थान है, अग्नि मुख है, वायु प्राण है, आकाश मध्य देह है, सूर्य नेत्र हैं और देवलोक मूर्धा है—ये अपने सात अंग हैं। विश्वात्माके रूपमें देखनेपर अपना यह रूप भासता है।

हम इस परिच्छिन्न शरीरके रूपमें ही हैं, इसी भ्रान्त धारणाको दूर करना है। यह आत्मा जिसे तुम परोक्ष रूपमें जानते हो वह तुम्हारा आत्मा ही वैश्वानर है। जो विश्व भी है और नर भी है, वह विश्वानर है और विश्वानर ही वैश्वानर है। तुम नर ही नहीं, वैश्वानर हो। अत्यन्त तेजोमय द्युलोक तुम्हारा मूर्धा अर्थात् मस्तक है। विश्वको रूप दिखानेवाले सूर्य तुम्हारे नेत्र हैं। समष्टि वायु तुम्हारा प्राण है, इत्यादि।

सब रूप सूर्यकी किरणोंके ही वक्रीभवन हैं। जैसे वर्षाके जलमें सूर्यकी किरणें पड़कर जब टेढ़ी हो जाती हैं तब इन्द्रधनुष दिखाई देने लगता है, इसी प्रकार ज्ञान इन्द्रियोंमें आकर वक्रता प्राप्त होनेसे नाना रूपोंमें दीखने लगता है। नेत्रमें आया ज्ञान-रूप, कानमें आया ज्ञान-शब्द, नाकमें आया ज्ञान गन्ध—इत्यादि; इस प्रकार एक ही ज्ञानका अनेक रूप हो जाता है।

जितने भी विषय प्रतीत हो रहे हैं सब दृष्टिमात्र हैं, दृष्टिसे भिन्न नहीं। इसका अर्थ है कि द्रष्टा और दृश्य (घट-पटादि) दोनों एक देशमें हैं। हमको बाह्य घटका ज्ञान नहीं होता, हमको बुद्धि-वृत्तिमें जो घटाकार है उसीका ज्ञान होता है। दृष्टि तो स्वतन्त्र ही है।

यदि एक साथ घट और पुस्तक दोनों प्रतीत होते तब तो हम कह सकते थे कि पुस्तक घट नहीं। किन्तु ये तो अलग-अलग प्रतीत होते हैं, अतः दृष्टि ही घट या पुस्तक रूपमें प्रतीत होती है। भिन्न-भिन्न दृष्टियोंका भेद भी दृष्टिमात्र ही है। भिन्न-भिन्न कालमें भिन्न-भिन्न दृष्टियाँ हैं और काल भी दृष्टिमात्र है। यह सृष्टि हमारी दृष्टिने की और दृष्टिको हमने देहमें

परिच्छिन्न कर दिया, अतः हम देह हैं यह प्रतीत होने लगा। देहसे उठाकर दृष्टिको अब वैश्वानर-विराट्में ले चलना है।

वैश्वानर अग्नि भीहै। अतः अग्निहोत्रके आहवनीय अग्निकी कल्पनाके रूपमें सात अंगोंका वर्णन किया गया है।

इस वैश्वानरके उन्नीस मुख हैं। पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ पाँच प्राण और चार अन्तःकरण --यही उन्नीस मुख हैं। प्रत्येक देहमें वैश्वानरके यही भोगद्वार हैं, उपलब्धिके द्वार हैं। बहिरंग पदार्थ बाह्य करणोंसे—इन्द्रियोंसे, और अन्तरंग पदार्थ अन्तःकरणादिसे गृहीत होते हैं। इनमें इन्द्रिय-गोलक पंचीकृत महाभूतोंसे और इन्द्रियाँ तथा मनादि अन्तःकरण-चतुष्टय अपंचीकृत महाभूतोंसे बने हैं। इन्द्रिय गोलकोंमें एक-एक महाभूतकी प्रधानता है और मनमें ये पाँचों हैं। वस्तुतः इन्द्रिय-वृत्तिको ही मन कहते हैं। मन जिस समय जिस इन्द्रिय-गोलकमें आता है उस समय मनका ही नाम वह इन्द्रिय हो जाता है। यह वैश्वानर इन उन्नीस मुखोंसे स्थूल विषयोंका (शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्धका) भोग करता है।

यदि आप सप्ताङ्ग विराट् पुरुष हैं तो इन उन्नीस मुखोंका क्या स्वरूप होगा, क्योंकि व्यष्टिकी इन्द्रियाँ विराट्की इन्द्रियाँ कैसे होंगी ? जैसे एक शरीरमें अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूत होते हैं, ऐसे ही समष्टिमें भी होते हैं। सप्ताङ्ग विराट् (वैश्वानर) अधिभूत है, उन्नीस मुखवाला जो जीव है, वह 'हिरण्यगर्भ' (तैजस) अधिदैव है और जो इन मुखोंसे स्थूल विषयोंका भोक्ता (स्थूलभुक्) है वह 'ईश्वर' (प्राज्ञ) अध्यात्म है। जाग्रत् अवस्थामें स्वप्न और सुषुप्तिकी स्मृति रहनेसे यह तो स्पष्ट ही है कि तैजस और प्राज्ञ जाग्रत्में विश्वसे एक होकर रहते हैं। अतः अध्यात्म, अधिदैव, अधिभूतका उपर्युक्त विवेचन संगत है। फलतः समूची विश्वसृष्टिके प्राण, इन्द्रियाँ, मन आदि मेरे ही करण हैं! और सभी शब्दादिक विषय मेरे स्थूल भोग हैं।

जाग्रत्-अवस्थामें विषयोंका भोक्ता कौन है? यह वैश्वानर है, यह श्रुति बताती है किन्तु वास्तवमें यह सुषुप्तिका अभिमानी प्राज्ञ ही जाग्रत्में विश्वसे एक होकर भोक्ता बना हुआ है और वही स्वप्नमें तैजससे एक होकर स्वप्नके सूक्ष्म भोगोंका भोक्ता (सूक्ष्मभुक्) है। सुषुप्तिमें वही (प्राज्ञ) सुषुप्तिके आनन्दका भोक्ता (आनन्दभुक्) है। अवस्थाओंके भोग्य विषय बदल जाते हैं, भोक्ता वही रहता है।

विश्व और तैजस दोनों सप्ताङ्ग हैं और दोनों उन्नीस मुखवाले हैं। लेकिन बहिष्प्रज्ञा केवल विश्वमें है; तैजस अन्तःप्रज्ञ है। विश्वमें स्थूल भूत हैं और तैजसमें सूक्ष्म भूत हैं। जैसे विश्व समष्टि-विराट् ही है, वैसे ही तैजस भी समष्टि-हिरण्यगर्भ ही है। माण्डूक्य उपनिषद्में एक जीववाद या दृष्टि-सृष्टिवादकी प्रक्रिया है। इसमें विश्वसृष्टिमें एक ही चिदात्मा जीव है, जितने अलग-अलग जीव प्रतीत होते हैं, वे सब जीवाभास हैं, स्वप्न पुरुषकी तरह; तथा उस एक जीवके लिए कोई अज्ञात सत्ता नहीं है। अतः जो कुछ भी अनुभवका विषय है वह द्रष्टाकी दृष्टिके समकाल ही अवस्थित है, न आगे है न पीछे है। अतः विश्व, तैजस, प्राज्ञ सब समष्टि सृष्टिको लिये हुए हैं। इसके विपरीत आभासवादकी प्रक्रियासे विश्वादि व्यष्टि शरीरके अभिमानी हैं।

ये इन्द्रियाँ क्या हैं? 'इन्द्रिय' शब्दका अर्थ है 'इन्द्रकी वस्तु'। इन्द्र अर्थात् द्रष्टा; उसकी वस्तु अर्थात् दृष्टि। द्रष्टाके पास देखनेका जो करण-साधन है उसको इन्द्रिय कहते हैं। जिन करणोंसे बाहर देखते हैं वे 'बहिरिन्द्रिय' और जिनसे भीतर देखते हैं वे अन्तरिन्द्रिय! इसीसे बहिष्प्रज्ञता और अन्तःप्रज्ञताका भेद होता है। 'प्रज्ञा' ही इन्द्रिय है। अपनेसे भिन्नको देखे तो प्रज्ञा और अपनेसे अन्यको न देखे तो चेतन! सविषयक ज्ञानका नाम प्रज्ञा है। निर्विषयक प्रज्ञाका नाम ज्ञान है।

ज्ञानीको भी पदार्थ दीखते तो हैं किन्तु बाधित होकर दीखते हैं, मिथ्यात्वके निश्चयके साथ दीखते हैं। इसलिए भेद दीखने पर भी ज्ञानीके लिए वह भेद नहीं है; वह ब्रह्मस्वरूप है। किन्तु अज्ञानीको जिस समय कुछ भी प्रतीत नहीं हो रहा है, उस समय भी उसके चित्तमें सम्पूर्ण भेदका बीज बैठा है। अज्ञानीकी समाधि भी भेदात्मक है और ज्ञानीका व्यवहार भी अभेद-स्वरूप है। ज्ञानीकी दृष्टिमें बाहर-भीतरका भेद नहीं रहता, क्योंकि वह पूर्ण है।

सुख-दुःख बाह्य वस्तु नहीं, मनके आकार हैं। सबसे अन्तरंग हैं 'अहं'। अहं साक्षी-भास्य है। सुख-दुःखकी प्रतीति अहंको ही होती है। पाप-पुण्य भी बुद्धिस्थ सुख-दुःख ही हैं। क्योंकि सुख-दुःख क्रमशः पुण्य और पापके फल हैं। कर्मकी दृष्टिसे जो पुण्य-पाप हैं फलकी दृष्टिसे वही सुख-दुःख हैं। कर्म करनेका फल है कर्तृत्व-बोध कि अहं कर्ता; इस कर्तृत्वके

भोगका फल है भोक्तृत्व-बोध कि अहं भोक्ता। कर्तापन और भोक्तापन दोनोंकी वृत्ति अन्तःकरणमे ही होती हैं। जाग्रत् और स्वप्न दोनोंमें ये वृत्तियाँ होती हैं।

जहाँ हम कर्मेन्द्रियोंको अपनी समझते हैं, वहाँ कर्ता बनते हैं; जहाँ ज्ञानेन्द्रियोंको अपनी समझते हैं, वहाँ ज्ञाता बनते हैं; जहाँ अन्तःकरणको अपना समझते हैं, वहाँ भोक्ता बनते हैं। केवल सदंश (परिच्छिन्न सत्)में तादात्म्य कर्तृत्वका जनक है। केवल चिदंश (परिच्छिन्न चित्)में तादात्म्य ज्ञातृत्वका जनक है। केवल आनन्दांश (परिच्छिन्न आनन्द)में तादाम्य भोक्तृत्वका जनक है। दूसरे शब्दोंमें, कर्मेन्द्रियोंकी उपाधिसे ज्ञाता और अन्तःकरणकी उपाधिसे भोक्ता। अथवा सदंश (की सन्मात्रा)के अज्ञानसे कर्तृत्व, चिदंश (को चिन्मात्रता)के अज्ञानसे ज्ञातृत्व और आनन्दांश (की आनन्दमात्रता)के अज्ञानसे भोक्तृत्व—यह तीन प्रकारकी भ्रान्ति अपने सच्चिदानन्दस्वरूपके अज्ञानसे हो रही है। अतः इस देहमें न कर्ता है, न ज्ञाता है और न भोक्ता है। इस देहका ज्ञान मेरा ज्ञान नहीं है, देहका कर्म मेरा कर्म नहीं है, देहका भोग मेरा भोग नहीं है—अपने स्वरूपके ज्ञानसे यह अनुभव होता है।

स्वरूपके अज्ञानसे सारा उपद्रव है। अतः इस अज्ञानको मिटाना अपना कर्त्तव्य है। अज्ञान ही कारण शरीर है। कारण शरीरमें अज्ञान रहता है। जहाँ अज्ञान होता है वहाँ कार्य-कारणभाव कल्पित होता है। जैसे स्थाणुके अज्ञानसे उसमें पुरुषका भ्रम हुआ। यह पुरुष स्थाणुसे नहीं, अज्ञानसे आया। अज्ञानसे उत्पन्न वस्तु सचमुच उत्पन्न नहीं होती, उत्पत्तिका भ्रम ही होता है। अतः अज्ञान कारण शरीर है अर्थात् शरीरकी उत्पत्ति हुई ही नहीं है। स्थूल और सूक्ष्म शरीर हम अज्ञानवश मान रहे हैं; इनकी प्रतीति मात्र है और यह प्रतीति व्यावहारिक है। घड़ामें गंगाजल है तो घड़ा पवित्र है और शराब है तो अपवित्र है—जैसे यह पवित्रता-अपवित्रता व्यावहारिक है, वस्तु-सत्यकी दृष्टिसे घड़ा मिट्टी मात्र है, उसी प्रकार स्थूल-सूक्ष्म शरीरोंकी व्यावहारिकता है।

अद्वैत-ज्ञानके आधारपर व्यवहार चलानेकी बात भावुकता है। 'सबमें एक ही परमात्मा है, अतः सबके साथ समान व्यवहार करो' यह बात सोच-समझकर नहीं कही जाती। जब अपने शरीरके अंगोंके साथ ही समान

व्यवहार नहीं किया जा सकता तो समाजमें सबके साथ समान व्यवहार कैसे किया जा सकता है ? व्यवहारका आधार भेद-ज्ञान है और आत्मा अभेद-स्वरूप है। अतः व्यवहार सर्वदा सामाजिक मर्यादाके अनुसार होना चाहिए। व्यवहार विशेषमें, सगुणतामें होता है; आत्मतत्त्व निर्विशेष, निर्गुण है।

निर्विशेषमें विशेषताका व्यवहार कैसे ? न वस्तु-व्यक्ति-परिस्थितिमें गुण-दोष है और न कोई कर्म या भोग सगुण-सदोष है, यही निर्विशेषका अर्थ है। साधकके लिए शास्त्र देश, काल, वय, अवस्था, पात्र, शक्तिके अनुसार विशेष धर्माधर्मकी व्यवस्था करता है। धर्माधर्मका व्यवहार शास्त्रीय अध्यारोप है। पशुवत् जो शरीरका यान्त्रिक व्यवहार है वह नैसर्गिक है। शास्त्रीय व्यवहार एक ओर नैसर्गिक व्यवहारके दोषोंका अपनयन करता है, दूसरी ओर अन्तःकरणमें सद्वृत्तियोंको जन्म देकर हीनांगपूर्ति और गुणाधानके द्वारा परमार्थका मार्ग प्रशस्त करता है।

कर्मको अच्छा-बुरा मानना भूल है। कर्म करके अन्तःकरणमें जो उस कर्मका प्रभाव पड़ता है उसको देखना चाहिए। कर्म केवल साधन है। इदमाकार वृत्ति साधनरूपा है और अहमाकार वृत्ति फलरूपा है। 'यह पुण्य कर्म है'—इस प्रकार वह कर्म साधन हुआ। कर्म करने पर 'मैंने पुण्य कर्म किया, मैं पुण्यात्मा हूँ' यह अहमाकार वृत्ति फल हुई। परन्तु यह सब-का-सब साक्षी-भास्य है। व्यष्टिमें-से, परिच्छिन्नमें-से इस अहमाकार-वृत्तिको पृथक् करना ही उसे समष्टिके रूपमें, समग्र विश्वके रूपमें अनुभव करना है। हम ही समष्टि वैश्वानर (विराट्) हैं। पृथक्-पृथक् पिण्डोंमें प्रतीत होनेवाले पृथक्-पृथक् 'अहं' स्वप्न-पुरुषोंकी भाँति प्रतीति मात्र हैं। उन सबमें स्वप्नद्रष्टाकी भाँति जो एक-एक आत्मतत्त्व पिरोया हुआ है, व्याप्त है, वही वैश्वानर-विराट् है। सम्पूर्ण जाग्रत्-अवस्थाकी उपाधिसे शुद्ध साक्षी-ब्रह्मका ही नाम विराट् है।

वाणी आदि समस्त इन्द्रियोंको मनमें लीन करो अर्थात् मनसे भिन्न इन्द्रियाँ नहीं हैं, यह देखो। मनको बुद्धिमें लीन करो अर्थात् मनके संकल्प-विकल्प सभी ज्ञात वस्तु-विषयक होते हैं, ऐसा जानो। (लीन करना नहीं है, लीन ही है यह जानना है)। बुद्धिको ज्ञानमें और ज्ञानको महत्तत्त्वमें (समष्टि बुद्धि तत्त्वमें) लीन करो। अब महत्तत्त्वको भी अपने आपमें लीन

करके बैठो।' तब दीखेगा कि मैं कितना विशाल हूँ। तुममें जो पशुत्व आया है वह इस हड्डी, मांस, चामके देहके साथ अपने मैं को बाँध लेनेसे आया है। तुम देह नहीं, देहवाले नहीं, विराट् पुरुष हो।

तुम्हारे देहमें यह सारा भूत-भौतिक प्रपंच और तत्सम्बन्धी सारा आधिदैविक प्रपंच समाया हुआ है। और इस पर भी यह तुम्हारे स्वरूपके एक चतुर्थांशमें कल्पित है।

अपनेको विश्व-विराट् जानना यह आत्माके ब्रह्मत्वके बोधका पहला चरण है। दूसरा चरण है अपनेको सूक्ष्म समष्टिका भोक्तारूप तैजस-हिरण्यगर्भ समझना। तीसरा पाद है अपनेको स्थूल-सूक्ष्म-समष्टिका कारणात्मा आनन्दभुक् प्राज्ञ-ईश्वर जानना। तदनन्तर कारणत्वका भी निषेध कर देने पर सर्व-विशेषोंकी निवृत्तिसे उपलक्षित जो अनन्त आनन्द-स्वरूप ब्रह्मतत्त्व है उसको अपना तुरीय स्वरूप अनुभव करना—यह चतुर्थ एवं अन्तिम पाद है।

अपनेको व्यष्टि स्थूल, सूक्ष्म, कारण शरीर या शरीरवाला मानते रहनेसे प्रपंच बना रहेगा। किन्तु सम्पूर्ण विश्वको अपना स्थूल शरीर, समष्टि-सूक्ष्मको अपना सूक्ष्म शरीर, सम्पूर्ण कारणको अपना कारण शरीर माननेसे प्रपंचका उपशम होकर तुरीय तत्त्वमें स्थिति हो जायेगी, अद्वैता-वस्था प्राप्त हो जायेगी।

वस्तुतः आत्माको शरीरसे परिच्छिन्न मानना भ्रम है। शरीरसे तो पंचभूत भी परिच्छिन्न नहीं हुए जिनसे यह बना है फिर भला असंग आत्मा क्या परिच्छिन्न होगा? शरीरका प्रत्येक तत्त्व समष्टिसे एक है। जैसे चौका अलग करनेके लिए कोयलेसे एक रेखा खींच लेते हैं वैसे ही मनसे एक रेखा खींच ली है कि 'यह शरीर मेरा, यह मैं'। लेकिन यह रेखा सर्वथा कल्पित है।

६. आत्माका दूसरा पाद—तैजस : हिरण्यगर्भ

हम देह नहीं हैं, व्यष्टि नहीं हैं, विराट् हैं। परमात्माकी प्राप्तिकी ओर यह प्रथम पग था। अब दूसरा पग उठावें: स्थूलको छोड़कर सूक्ष्ममें चलें।

---

१. यच्छेद्वाङ्मनसी प्राज्ञस्तद् यच्छेज् ज्ञान आत्मनि।
ज्ञानमात्मनि महति नियच्छेत् तद् यच्छेच्छान्तमात्मनि॥ (कठ० १.३.१३)

स्वप्नस्थानोऽन्तः प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक् तैजसो द्वितीयः पादः (माण्डूक्य० ४)

यदि स्थूल व्यष्टि नहीं है, तो सूक्ष्म व्यष्टि है यह बात तो अपने आप ही समाप्त हो गयी। भेदकी अधिक सम्भावना स्थूलमें ही रहती है। स्थूलका आधार सूक्ष्म होता है। स्थूल आकाशका आधार सूक्ष्म मन है क्योंकि लम्बाई-चौड़ाईरूप देश अन्तःकरण रहते ही भासता है। सुषुप्तिमें मनके लीन हो जाने पर आकाश नहीं भासता और स्वप्नमें मन नये आकाशकी सृष्टि कर लेता है। जैसे स्वप्नमें वैसे ही जाग्रत्में भी आकाशकी सृष्टि इसी मनने की है। अतः मनमें आकाश है, आकाशमें मन नहीं है।

इसी प्रकार यह स्थूल शरीर मनमें है, स्थूल शरीरमें मन नहीं है। क्योंकि स्थूल शरीर तो आकाशके एक भागमें है और जब आकाश मनमें है तो स्थूल शरीर भी मनमें ही है। स्वप्नमें हम अपना शरीर और पूरा संसार मनमें देखते हैं। इसी प्रकार जाग्रत्का शरीर और पूरा संसार मन ही है। इस शरीरमें जो मन प्रतीत हो रहा है वह अन्तःकरणाभास है। इस देहमें जो जीव प्रतीत हो रहा है वह जीवाभास है। परमात्माकी ओर दूसरा कदम उठाना यह है कि हम जानें कि सम्पूर्ण सूक्ष्म समष्टि मेरा सूक्ष्म शरीर है और उसका अभिमानी तैजस–हिरण्यगर्भ मैं हूँ।

तैजसके रहनेका स्थान स्वप्न है, जैसे विश्वके रहनेका स्थान जाग्रत् है। तैजस अन्तःप्रज्ञ है, वैसे ही जैसे विश्व बहिष्प्रज्ञ है। जाग्रत्में प्रज्ञा (बुद्धि) बाह्य पदार्थोंको विषय बनाती प्रतीत होती है जबकि स्वप्नमें प्रज्ञा आन्तर पदार्थोंको बाह्यवत् विषय बनाती प्रतीत होती है। जाग्रत् स्थूल है और स्थिर भासता है, स्वप्न सूक्ष्म है और स्थिर नहीं भासता है, इतना ही वैधर्म्य दोनोंमें है अन्यथा अनुभवकी दृष्टिसे दोनों समान हैं।

जाग्रत्की प्रज्ञाके पास अनुभवके अनेक साधन हैं जैसे ज्ञानेन्द्रियाँ इत्यादि जिनसे बाह्य विषयोंका अनुभव होता है परन्तु बाह्य विषय कोई पदार्थ नहीं हैं, वे मनके स्फुरणमात्र हैं। इसी बाह्य-प्रज्ञाका मनपर संस्कार पड़ जाता है। और मन एक संस्कारोंसे रंगे हुए चित्रपटके समान हो जाता है। स्वप्नमें यही मनःसंस्कार बाह्य-साधन-निरपेक्ष होकर दृश्य रूपमें भासते हैं, ठीक वैसे ही जैसे उन संस्कारोंके आहरण-कालमें जाग्रत्में भासते थे। मनमें ये संस्कार इसी जन्मके नहीं होते, पूर्व-पूर्व जन्मके

भी संस्कार होते हैं। इसीलिए स्वप्नमें ऐसी बातें भी दिखती हैं जो इस जन्ममें देखी-सुनी नहीं हैं। स्वप्नमें संस्कारोंका असम्बद्ध मेल भी हो जाता है, जैसे मनुष्यके शरीरपर हम घोड़ेका सिर देखते हैं।

कर्मकाण्डी लोग स्वप्नको उन कर्मोंके फलभोगकी अवस्था मानते हैं जिनमें जाग्रत्‌में फल देनेकी शक्ति नहीं होती। प्रकृतिगुणवादी स्वप्नको रजोगुणका कार्य मानते हैं। आयुर्वेद स्वप्नमें देखे हुए पदार्थोंके आधारपर शरीरमें वात-पित-कफकी अधिकताका अनुमान करते हैं। शकुन शास्त्री स्वप्नके फलका विचार करते हैं। किन्तु वेदान्तमें स्वप्नका जो विचार है वह इनमें-से कोई नहीं है। वेदान्तका विचार यह है कि स्वप्नमें जो देश-काल-वस्तु दिखाई पड़ती हैं वह जाग्रत्-अवस्थामें उपलब्ध नहीं होतीं। स्वप्न बाह्य साधनोंकी अपेक्षा नहीं रखता। स्वप्नका घड़ा जाग्रत्‌की मिट्टीसे नहीं बना और स्वप्नकी आग जाग्रत्‌की किसी दमकलसे बुझाई नहीं जा सकती। अविद्या, काम और कर्म—इन्हीं तीनका नाम संसार-चक्र है जो जाग्रत् और स्वप्न, दोनोंमें समानरूपसे वर्तता है। अविद्या सबके मूलमें बैठी रहती है।

अपने स्वरूपसे भिन्न अन्यको मानना अविद्या है। जो अपनेसे भिन्न है, उसमें हेय-उपादेय बुद्धि होगी और तब यह चाहिए, यह नहीं चाहिए—ऐसी कामना होगी। कामनाके अनुसार कर्म होगा और उस कर्मका संस्कार अन्तःकरणपर पड़ेगा। अतः जबतक अविद्या रहेगी, संसार नहीं छूटेगा। इन्हीं अविद्या, काम और कर्मसे प्रेरित होकर स्वप्नकी सृष्टि जाग्रत्‌के समान प्रतीत होती है।

जाग्रत् और स्वप्न दोनों संस्कारजन्य हैं अतः वे प्राज्ञकी ही अन्यथा प्रतीति (विवर्त) हैं। जाग्रत्‌में बहिष्प्रज्ञता हेतु है, तो स्वप्नमें अन्तःप्रज्ञता। श्रुतिका कहना है कि जाग्रत्‌के शब्दादि विषयोंका इन्द्रियोंमें, और इन्द्रियोंका मनमें अन्तर्भाव करके ये आत्मदेव अपनी महिमाका स्वरूपसे अनुभव करते हैं: **अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानम् अनुभवति** (प्रश्न० ४.५)। अर्थात् देश, काल, वस्तु वहाँ कुछ भी न होनेपर वहाँ देश, काल, विश्वकी सृष्टि कर लेते हैं और फिर स्वयं ही उनको देखते हैं।

इन्द्रिय-गोलक तो स्वप्नमें रहते नहीं, वहाँ केवल वासना है। वहाँ द्रष्टा केवल अपनी वासनाको ही देखता है। द्रष्टाकी दृष्टिपर वासनाका आवरण रहता है। एक जीववादकी दृष्टिसे विचार करनेपर 'तत्' (ईश्वर)

और 'त्वं' पदार्थके मध्यमें संसाररूपी आवरण आता है। यह आवरण विचार न करनेके कारण दृष्टिपर है, द्रष्टापर नहीं है। रज्जुमें सर्पकी प्रतीति है। हमें यदि रज्जु देखना है तो रज्जु और नेत्रके बीच जो प्रतीत होता हुआ सर्प है उसे विचारके द्वारा हटाना होगा। रज्जुपर तो कोई आवरण है नहीं।

अब यदि रज्जूपहित चैतन्यको देखना है तो वह कहाँ दीखेगा ? यदि दीखेगा तो दृश्य-जड़ हो जायेगा। चैतन्यका साक्षात्कार अन्य रूपमें नहीं होता, अहम् रूममें ही होता है। अतः स्वप्नमें जो वासनामयी प्रज्ञा है वह अपनी ही प्रज्ञा है, इसलिए मैं तैजस हूँ।

केवल प्रकाशस्वरूपमें जो विषयी रूपसे रहता है, उसे तैजस कहते हैं। असलमें, विषयशून्य प्रकाशस्वरूप प्रज्ञाका नाम तेज है; उसमें जो विषयी रूपसे रहता है—वासनायुक्त प्रज्ञामें जो विषयी रूपसे रहता है, उसका नाम तैजस है।

विश्व भी प्रज्ञाका भोग है और तैजस भी। जहाँ तक ज्ञानमें ज्ञानका अभिमानी (ज्ञाता) और ज्ञानका विषय (ज्ञेय) है वहाँ तक ज्ञानका नाम प्रज्ञा है। प्रज्ञा तो जाग्रत्में भी वही है और स्वप्नमें भी वही है अन्यथा तो जाग्रत्-स्वप्नकी स्मृति ही न हो। फिर भी विश्व और तैजसके अन्तरका हेतु बहिष्प्रज्ञता और अन्तःप्रज्ञता है; सप्तांगता और उन्नीस मुखोंकी दोनोंमें समानता है ही। विश्वको (जाग्रत्में) तैजसके अनुभव (स्वप्न)की स्मृति रहती है किन्तु तैजसको (स्वप्नमें) विश्वके अनुभव (जाग्रत्)की स्मृति उसी प्रकार नहीं रहती। विश्व कार्यका अभिमानी है, तैजस सूक्ष्म कारणका अभिमानी है। विश्वका भोग जाग्रत्के स्थूल विषय हैं और तैजसका भोग स्वप्नके सूक्ष्म विषय हैं। असलमें प्रज्ञा ही स्थूल, सूक्ष्म होती है, विषय नहीं। वृत्ति ही भोग्य होती है क्योंकि बिना वृत्तिके किसी विषयका बोध नहीं होता। वस्तुका रूप, रंग आदि भोग्य नहीं बनता, रूपाकार, गन्धाकार वृत्ति ही भोग्य बनती है।

जब प्रज्ञा ही भोग्य बनती है तो विश्व और तैजसका भेद क्यों ? स्वप्नमें वासनामात्र प्रज्ञा है, उसमें स्थूल विषय नहीं है। अतः यह जाग्रत्के भोगसे पृथक् है। इन पृथक् भोगोंका भोक्ता मैं तैजस—हिरण्यगर्भ हूँ। यह भोक्ता भी विश्वकी तरह प्राज्ञ ही है। एक ही शरीरमें अवस्था-भेदसे भी दो वास्तविक भोक्ता नहीं हो सकते। और कर्ता सदैव एक ही होता है।

जाग्रत् और स्वप्न दोनों दर्शन-वृत्तियाँ हैं और इनसे उपहित आत्म-चैतन्यका नाम ही क्रमशः विश्व और तैजस है। वास्तवमें ये समष्टि रूप ही हैं, इनमें व्यष्टिपना आविद्यक आभास है। अतः विश्व विराट् है तैजस हिरण्यगर्भ है।

७. आत्माका तीसरा पाद—प्राज्ञ : ईश्वर

सुषुप्ति अदर्शन-वृत्ति है : वहाँ जाग्रत्-स्वप्न-जैसा कुछ अनुभव नहीं होता। यहाँ तक कि सुषुप्तिमें कुछ भी प्रतीत न होनेके कारण 'वहाँ आत्मा भी नहीं रहता' ऐसा अज्ञानी जन मानते हैं। किन्तु वस्तुओं को अन्यथा-रूपसे देखना अथवा न देखना—दोनोंमें ही वस्तुका अज्ञान रहता है। इसी प्रकार जाग्रत् और स्वप्नमें आत्माका विषय-विषयी रूपमें ; अन्यथा ग्रहण होता है तथा सुषुप्तिमें आत्माका अग्रहण होता है। इन तीनों अवस्थाओंमें आत्माके यथार्थ स्वरूपका अज्ञान रहता है। ब्रह्म विदित और अविदित दोनोंसे परे है :

तद्विदितादथो अविदितादधि (केन० १. ३.)।

जाग्रत् और स्वप्न विदित हैं, सुषुप्ति अविदित है। दृश्य और दृश्याभाव दोनों दृश्य हैं और द्रष्टाके आश्रित हैं। अतः जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति प्राति-भासिक सत्तावाली हैं और द्रष्टाकी पारमार्थिक सत्ता है। यह एक जीववादकी प्रक्रिया है। आभासवादकी प्रक्रियासे जाग्रत् व्यावहारिक सत्तावाली है, स्वप्न और सुषुप्ति प्रातिभासिक हैं और तुरीय तत्त्व पारमार्थिक-सत्ताक है।

तत्त्वका अप्रबोध ही सुषुप्ति है। तत्त्वके अप्रबोधमें प्रतीत जाग्रत् और स्वप्न भी सुषुप्तिका ही विलास है। जागना है तत्त्वको समझना। अतः जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनोंमें जहाँ समानरूपसे तत्त्वका अप्रबोध है वहाँ सुषुप्तिकी विशेषता बतलानेके लिए जाग्रत् और स्वप्नसे उसका विभाग करते हैं :

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत् सुषुप्तम्। सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः॥ (माण्डूक्य० ५)

जिस अवस्थामें सोया हुआ पुरुष किसी भोगकी इच्छा नहीं करता और न कोई स्वप्न देखता है वह सुषुप्ति है। सुषुप्ति जिसका स्थान है,

जिसमें प्रज्ञा एकीभूत होकर घनीभावको प्राप्त हो गयी है, जो आनन्दमय ही है, आनन्दका जो भोक्ता है, मुख जिसका चेतन है, वह प्राज्ञ आत्माका तीसरा पाद है।

सुषुप्तिका स्थान एक शरीरमें हृदय माना जाता है; स्वप्नका स्थान कण्ठ (कण्ठस्थ हिता नामकी नाड़ी) और जाग्रत्का स्थान नेत्र माना जाता है। समिष्ट दृष्टिसे जिस कारण वस्तुमें, जिस कालमें सम्पूर्ण संसार अपनी बीजावस्था (प्रलयावस्था)को प्राप्त हो जाता है, जहाँ न कोई सूक्ष्म सृष्टिका भाव है और न स्थूल सृष्टिका भोग, वह कारणावस्था सुषुप्ति है।

यहाँ सुषुप्ति बीजावस्था-रूपसे निर्दिष्ट है।

'विश्व' ब्रह्मचारी है—सेवा-प्रधान। तैजस गृहस्थ है—आगे-पीछेका-बहुत विचार करता है। 'प्राज्ञ' वानप्रस्थ है—वहाँ भोग नहीं है, किन्तु द्वैतका बीज है। आत्मदेव संन्यासी हैं—परिव्राट्, स्वतन्त्र।

जाग्रत् और स्वप्न मनके स्पन्दन हैं; इनमें मन हिलता है। सारा द्वैत-प्रपंच मनका स्पन्दन है क्योंकि समाधिमें (जब मन प्रलीन रहता है) प्रपंच अनुभवमें नहीं आता। किन्तु सुषुप्तिमें मनकी स्फुरणाएँ एकीभूत हो जाती हैं, अलग-अलग विषय वहाँ स्फुरित नहीं होते, वैसे ही जैसे अन्धकार होनेपर सब वृक्ष-भवनादि यथास्थान रहते हुए भी अलग-अलग दिखाई नहीं पड़ते। सुषुप्तिमें अज्ञानावरणके कारण प्रपंचकी प्रतीति नहीं होती। किन्तु प्रपंच यथास्थान रहता है। इसीका नाम बीजावस्था है। सुषुप्तिमें मानों प्रज्ञानकी—जाग्रत्-स्वप्नकी स्फुरणाओंकी, घनता हो जाती है, इसीलिए वहाँ न विषय फूटता है और न इनका सापेक्ष विषयी। यह घोर अज्ञानकी दशा है। इसमें हेतु निद्रा (तमोगुण) है।

सुषुप्तिमें अज्ञान रहते हुए भी यह 'आनन्दमयता'की अवस्था है। आनन्दमयताका अर्थ है कि वहाँ दुःखका अभाव है। कौन-से दुःख ? जाग्रत् और स्वप्नमें मनको विषय-विषयी-भावमें बार-बार आकृति बदलनी पड़ती है, यही दुःख है। सुषुप्तिमें इस दुःखका अभाव है, दुःखके अभावका नाम सुख नहीं होता। इसीलिए श्रुति सुषुप्तिमें आनन्द नहीं आनन्दमयताका कथन करती है। 'आनन्दमयता' अर्थात् आनन्दप्राय, शुद्ध आनन्द नहीं, क्योंकि सुषुप्तिका आनन्द अविद्यासे ग्रस्त है। अविद्याके कारण ही हम

सुषुप्तिके आनन्दको आत्माका आनन्द नहीं मानते; तभी तो जागनेपर हम कहते हैं कि वह आनन्द अब नहीं रहा। यदि आत्माकी सुख-स्वरूपताका ज्ञान होता तो "मैं ही आनन्द था, हूँ और रहूँगा" यह निश्चय रहता।

जाग्रत् और स्वप्नके कर्म और भोगमें जो सुख होता है वह विनाशी, है, क्योंकि पदार्थ विनाशी हैं, इन्द्रियोंकी सामर्थ्य सीमित हैं और भोक्ता सदा उत्थित नहीं रहता।

सुषुप्तिका सुख पदार्थ और करण सापेक्ष न होनेपर भी अज्ञात है (क्योंकि सुखके अनुभव कालमें 'मैं सुखी हूँ' यह ज्ञान नहीं होता है)। साथ ही यह अवस्था-सापेक्ष होनेसे स्थायी नहीं है। आत्माका स्वरूप जो आनन्द है यह अवस्था, देश या काल परिच्छिन्न नहीं होता और अज्ञात भी नहीं होता। इसलिए सुषुप्ति 'आनन्दमय' है, आनन्द नहीं है।

जैसे लोकमें कोई आयास—श्रम किये बिना ही मजेमें रहता हो तो कहते हैं कि ये बड़े आनन्दमें हैं, इसी प्रकार सुषुप्तिमें कोई आयास—श्रम न होनेसे श्रुति सुषुप्तिस्थानीय प्राज्ञात्माको 'आनन्दभुक्' बताती है। वृहदारण्यक श्रुति भी है : **एषोऽस्य परम आनन्दः** (वृहदा० ४.३.३२)। अर्थात् सुषुप्ति प्राज्ञका अनायासस्थितिरूप परमानन्द है।

प्राज्ञ 'चेतोमुख' है। अर्थात् जाग्रत् और स्वप्नमें जिस चित्तसे कर्म और भोगकी शक्ति प्राप्त होती है उसका उद्गम यही सुषुप्तिस्थानीय प्राज्ञ है। इसलिए प्राज्ञ चेतोमुख है। यही जाग्रत्-स्वप्नकी सृष्टि और उनके अभिमानियों—विश्व-तैजसका बीज है।

'प्राज्ञ' नाम आत्माका क्यों पड़ा ? यह विचारणीय है। 'प्राज्ञ' शब्दका अर्थ है प्रकृष्ट ज्ञानवान्। स्वप्न और जाग्रत्को जाननेवाला ज्ञान जिसके पास (बीज रूपसे) है, वह है प्राज्ञ। भूत, भविष्य, वर्तमान तीनों कालोंके सम्पूर्ण विषयोंका ज्ञान इसीको है (क्योंकि प्राज्ञ ही जाग्रत्में विश्व और स्वप्नमें तैजसकी संज्ञावाला होता है) अतः इस सुषुप्तिस्थानीय आत्माका नाम प्राज्ञ है। माण्डूक्यके मन्त्र ६ में इसको स्पष्टतः **सर्वज्ञ** कहा है।

प्रश्न : सुखमहमस्वाप्सम् न किंचिदवेदिषम्—"मैं सुखसे सोया, मुझे कुछ पता नहीं था" यह सुषुप्तिका अनुभव है। इस सुषुप्तिके अभिमानीको सर्वज्ञ या प्राज्ञ कहना ठीक नहीं प्रतीत होता।

उत्तर—सुषुप्तिमें बुद्धि प्रलीन थी और केवल दुःखाभावसे उपलक्षित आत्मसुख ही भोक्ता-भोग-भोग्यकी त्रिपुटीसे रहित अवशिष्ट था। जागने पर आत्माकी संज्ञा प्राज्ञसे विश्व हो गयी और बुद्धि उदित हो गयी। अब विश्व जाग्रत्‌की बुद्धिके साथ तादात्म्य करके उसकी प्रलीनावस्थाके अज्ञानको अपने ऊपर आरोपित करके कहता है कि 'मुझे कुछ पता नहीं था'।' तथा सुषुप्तिके सुखका अनुभव वास्तवमें तो आत्मसुख ही है और आत्मा विश्वके रूपमें जाग्रत्‌में भी उपस्थित है अतः वह अपने प्राज्ञकालके अनुभवको स्मृतिरूपसे कथन करता है कि 'मैं सुखसे सोया'। इस प्रकार उक्त कथनमें अविद्याजन्य अध्यास है। प्राज्ञकी सर्वज्ञताका कथन अध्याससे दृष्टि हटाकर ही सम्भव है।

प्राज्ञको प्राज्ञ इसलिए भी कहते हैं क्योंकि वह सुषुप्ति-अवस्थामें ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयकी त्रिपुटीसे रहित प्रज्ञप्ति मात्र है, ज्ञानमात्र है।

८. प्राज्ञका सर्वकारणत्व

एक जीववादकी दृष्टिसे सुषुप्तिको देखें तो वहाँ अज्ञान नहीं है, वह भी मात्र द्रष्टाकी दृष्टि है तथा प्राज्ञ ईश्वर है। माण्डूक्यके छठे मन्त्रमें प्राज्ञको स्पष्ट सर्वेश्वर, सर्वज्ञ और सर्वभूतोंका कारण कहा है :

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञः एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् (माण्डूक्य० ६)

आभासवादमें प्राज्ञ जीवात्मा (त्वं-पद वाच्यार्थ) है, जबकि एक-जीववादमें प्राज्ञ ईश्वर है। व्यष्टि सुषुप्तिका अभिमानी प्राज्ञ और समष्टि सुषुप्तिका अभिमानी ईश्वर, यह भेद एक जीववादकी प्रक्रियामें नहीं है। (यही प्रक्रिया माण्डूक्योपनिषत्‌को इष्ट है)। समष्टिके अभिमानीकी सुषुप्तिका स्वरूप समझनेके लिए ज्ञानी पुरुषकी सुषुप्तिको समझो। ज्ञानके कारण उसकी अविद्या तो निवृत्त हो चुकी। अब सुषुप्तिमें उसकी बुद्धिका लय कहाँ होता है ? जो लोग सुषुप्तिमें बुद्धिका अज्ञानमें लय मानते हैं उनके लिए यह प्रश्न बन जाता है कि ब्रह्मज्ञानीकी बुद्धिका सुषुप्तिमें लय कहाँ होता है ? वास्तविकता यह है कि ब्रह्मज्ञानीकी सुषुप्ति समाधि है, तुरीयावस्था है। सुषुप्तिमें लय होनेके लिए अज्ञान नहीं है और वहाँ ज्ञेय कुछ है नहीं, अतः प्रज्ञप्तिमात्र है, सुषुप्तिमें। ज्ञानी पुरुषकी सुषुप्तिके समान ही प्राज्ञका स्वरूप प्रज्ञप्तिमात्र है। प्राज्ञसे जो भिन्न विश्व, तैजस हैं उनको तो

घट, पटादिका विशिष्ट विज्ञान होता है किन्तु प्राज्ञ तो अपने आनन्दमें मस्त है।

सुषुप्ति और अव्याकृतकी एकता सिद्ध ही है क्योंकि दोनों निर्विशेष बीजात्मक अवस्थाएँ हैं। भेद तो विशेषता होनेपर होता है। व्यष्टि-समष्टिका भेद जाग्रत्की बुद्धिका परिणाम है, सुषुप्तिका अनुभव नहीं। इसलिए सुषुप्ति और अव्याकृतकी उपाधिवाले क्रमशः जीव और ईश्वरका भेद भी अनुभवसिद्ध नहीं है, जाग्रत्-बुद्धिके संस्कारोंकी उपज है।

सुषुप्ति-स्थानीय जो प्राज्ञ है वह स्वरूपस्थ ही है; यही सर्वेश्वर है। एक जीववादकी दृष्टिसे सम्पूर्ण सृष्टिका महाप्रलय ही सुषुप्ति है और उसमें जो प्राज्ञ है (अव्याकृतोपाधिक चैतन्य) वही सर्वेश्वर है। एक ही प्राज्ञ है। वही सबका ईश्वर है। आधिदैविक (देवताओं) सहित जितना भेदसे उत्पन्न स्थूल-सूक्ष्म प्रपञ्च है सबका ईश्वर प्राज्ञ है।

प्राज्ञ सुषुप्तिका अभिमानी नहीं है क्योंकि अभिमानके लिए वहाँ कोई दूसरी वस्तु ही नहीं है। वास्तवमें तो विश्व और तैजस भी प्राज्ञ ही है और प्राज्ञ ही ईश्वर होनेसे तुरीय तत्त्व भी है। ब्रह्ममें बीजत्व नित्य-निवृत्त है अतः प्राज्ञमें कल्पित बीजत्वका निषेध कर देनेपर प्राज्ञ ही ब्रह्म है।

प्राज्ञ सर्वज्ञ है। अर्थात् जड़ नहीं, ज्ञाता है। जिस समय सृष्टि बीजरूपमें रहती है उस समय बीजको बनाये रखनेवाला भी यही है और जिस समय सृष्टि अपने विस्तारमें रहती है उस समय भी सम्पूर्ण भेदोंमें अन्तर्यामी रूपसे रहकर सबका संचालन, नियमन करनेवाला, सबका ज्ञाता यही है। अतः प्राज्ञ सर्वज्ञ है।

सृष्टिमें व्यवस्था है, नियमन है। यदि ऐसा न होता तो विज्ञानके आविष्कार न होते। जब क्रिया रहती है तो नियमन स्पष्ट रहता है और जब निष्क्रियता रहती है तब भी नियमन तो रहता ही है। क्रियाकी दृष्टिसे जो अन्तर्यामी है निष्क्रियताकी दृष्टिसे वही सर्वेश्वर है और दोनों प्राज्ञके ही नाम हैं। जड़ प्रकृतिको क्रियाका नियामक मानना ठीक नहीं है क्योंकि नियमनमें जो व्यवस्थित गणित है वह किसी उच्च बुद्धिको सूचित करती है।

हम ही प्राज्ञ हैं। हम जाग्रत् और स्वप्नमें कार्यशील वृत्तियोंके समस्त क्रिया-कलापोंको जानते हैं अतः हम अन्तर्यामी हैं और सुषुप्ति-अवस्थामें

उन वृत्तियोंके लयको, निष्क्रियताको हम ही जानते हैं, अतः हम सर्वेश्वर हैं। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनोंके ज्ञाता होनेके कारण हम सर्वज्ञ हैं।

सुषुप्तिमें बीजकी रक्षा तथा प्राणादिका नियमन सुषुप्ति-स्थानमें रहकर हम ही करते हैं। स्वप्नमें स्वप्न-पुरुषोंका नियमन उनमें 'अनुप्रविष्ट' रहकर उनके अन्तर्यामीरूपसे हम ही करते हैं। जाग्रत्में स्वप्नसे समानता है। व्यष्टि, अन्तःकरण और शरीर समष्टिसे पृथक् है, यह भ्रम है। रोटी थालीमें है तो 'इदं' है और पेटमें है तो 'अहं' है—यह अविचारित मान्यता है। यदि रोटी 'इदं' है तो रोटीसे बना यह शरीर भी 'इदं' ही है। और यदि रोटी 'अहं' है तो सर्वत्र 'अहं' ही है, अहंसे भिन्न कुछ नहीं। इस प्रकार, जब शरीरका अभिमान मिट जाता है तो सम्पूर्ण विश्व मैं हूँ, यह निश्चय सरलतासे हो जाता है। व्यष्टि और समष्टिका भेद सर्वथा कल्पित है। अतः जाग्रत्के अन्तर्यामी भी हम ही हैं। अन्तर्यामीको आत्मासे पृथक् जानना भ्रम है। इसलिए श्रुतिमें सर्वेश्वर, अन्तर्यामी, सर्वज्ञ जिस प्राज्ञको कहा गया है वह हम (आत्मा) ही हैं।

'पंचदशी' और 'विचारसागर'की प्रक्रिया यह है कि व्यष्टिका विवेक और समष्टिका विवेक अलग-अलग करो। व्यष्टिमें पंचकोष और समष्टिमें पंचभूतका विवेक करो। पंचभूतके कारणको उपाधिसे उपहित चेतन्य ईश्वर, और पंचकोष कार्यकी उपाधिसे उपहित चैतन्य जीव - इनका विवेक करो। अब अविद्यासे रहित जीव और मायासे रहित ईश्वरके एकत्वका बोध महावाक्यसे करो।

एक जीववादकी प्रक्रिया यह है कि अपने व्यष्टि देहको समष्टि देहसे एक कर दो। अर्थात् स्थूल समष्टि मेरा स्थूल शरीर है, मैं 'विश्व' हूँ—यह बोध करो। इस प्रक्रियाका आधार यह है कि जो वस्तु जिसके बिना न रहे वह वस्तु उससे अभिन्न होती है। घड़ा मिट्टीके बिना नहीं रह सकता अतः घड़ा मिट्टी ही है। वैसे ही हमारा देह समष्टि अन्न, समष्टि जल, समष्टि ऊष्मा, समष्टि वायु और समष्टि आकाशके बिना नहीं रह सकता अतः हमारा देह समष्टि देहसे अभिन्न है। व्यष्टिकी ज्ञानशक्ति समष्टिकी ज्ञानशक्तिसे अभिन्न है। भौतिक विज्ञानकी दृष्टिसे भी वस्तुओंका रूप-रंग, लम्बाई-चौड़ाई, हल्का-भारीपन सब सापेक्ष हैं। नेत्र न घने अन्धकारमें देख सकते हैं, न तीव्रतम प्रकाशमें। तब वस्तुका रूप-रंग प्रकाश-सापेक्ष

ही है। इसी प्रकार प्रत्येक इन्द्रियकी एक सीमा है और उसीके अन्तर्गत सब अनुभव हो रहा है। हमारा प्रातीतिक अहं भी सापेक्ष ही है। वस्तुतः तो वह पूर्णताके साथ एक है।

'सब गुण ही कर रहे हैं',[२] 'सब स्वभाव ही कर रहा है',[३] सब कर्मोंके पाँच ही हेतु हैं'[४] 'सब ईश्वर ही कर रहा है'[५]—गीताके इन वचनोंका तात्पर्य बस यही है कि यह सब भ्रम ही है कि हमारी पृथक् सत्ता है, हम पृथक् कर्ता-भोक्ता हैं, हमारा स्वतन्त्र आनन्द है।

इसी प्रकार मैं एक सूक्ष्म-शरीर नहीं हूँ, समष्टि सूक्ष्म शरीरोंका अभिमानी हिरण्यगर्भ (तैजस) हूँ। यह दूसरा विवेक है। फिर हमारा कारण-शरीर कारण-समष्टिसे भिन्न नहीं है—मैं प्राज्ञ-ईश्वर हूँ, यह विवेक है। अन्तमें 'अयमात्मा ब्रह्म' इस महावाक्यकी सिद्धि सर्व-विशेषोंके निषेधसे सम्पन्न होती है। यह एक जीववादकी प्रक्रिया है।

कारण समष्टिसे सुषुप्तिकी एकताके कारण प्राज्ञको ही सब भूतोंका कारण और योनि बताया गया है। जाग्रत्, स्वप्नकी सृष्टिके उदयका स्थान होनेसे इसको 'सर्वयोनि' कहते हैं और उत्पत्ति-लयस्थान होनेके कारण सब भूतोंका कारण। प्राज्ञ सब भूतोंका अभिन्न निमित्तोपादन कारण है।

घड़ेका उपादान कारण मिट्टी है और निमित्त कारण कुम्हार। संसारमें जितने उदाहरण हैं सबमें उपादान कारण जड़ होता है और निमित्त कारण चैतन्य। परन्तु स्वप्न एक ऐसा उदाहरण है जिसमें समस्त स्वप्न पुरुषों और स्वप्न-वस्तुओंका उपादान कारण और निमित्त कारण चैतन्य ही है। स्वप्नद्रष्टाके अतिरिक्त भला वहाँ क्या है?

यदि सर्वज्ञ-ज्ञानस्वरूप चैतन्य, सर्वेश्वर, सृष्टि बनायेगा तो वह अपनेमें आकृति बनानेके लिए दूसरेकी अपेक्षा नहीं करेगा। अपने आपमें स्वयं ही वह आकृतियोंकी कल्पना कर लेगा। अतः यह ईश्वर अपने आपको ही समस्त नामरूपात्मक प्रपंचके रूपमें अनुभव कर रहा है। सम्पूर्ण प्रपंच कल्पनामात्र है, स्फुरणमात्र है, ज्ञानमात्र है। चैतन्य अनेक नहीं हो सकता क्योंकि अनेकता तभी होती है जब भेद उत्पन्न करनेवाले देश, काल, वस्तु

---

२. गीता ३.२७; ३. गीता ५.१४ ४. गीता १८.१३-१६; ५. गीता १८.६१

वास्तविक हों, किन्तु ये तो ज्ञानसे ही प्रकाशित हैं, ज्ञानके होनेसे ही है और ज्ञान न हो तो इनका भान नहीं हो सकता। अतः देश, काल, वस्तु ज्ञानसे, भिन्न नहीं हैं। भेदमात्र ज्ञान द्वारा प्रकाश्य है, ज्ञानका प्रकाशक नहीं है। ज्ञानसे भेद प्रतीत होता है अतः ज्ञानसे भिन्न भेदकी सत्ता नहीं है। तव ज्ञान अखण्ड होगा, एक होगा।

ज्ञानका सत् होना अनिवार्य है क्योंकि अपने आपको असत् (नहीं है) —रूपमें अनुभव करना असम्भव है। यह सत्स्वरूप ज्ञान क्षणिक नहीं हो सकता क्योंकि ज्ञानमें काल नहीं है और जहाँ काल नहीं है वहाँ क्षणिकता भी नहीं है। ज्ञानमें देश नहीं है अतः वहाँ विषय-विषयी भाव, जड़-चेतनका भाव नहीं है। इस प्रकार देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न स्वयंसिद्ध ज्ञानमात्र वस्तु अपनेमें ही सम्पूर्ण आकृतियोंका अनुभव कर रही है।

'एकोऽहं बहुस्याम्' (मैं एक अनेक हो जाऊँ) इस श्रुति वचनसे सिद्ध होता है कि ईश्वर चेतन है। चेतन होनेसे ही उक्त संकल्प (ईक्षण) सम्भव है। यदि वह जड़ होता तो एकरूपसे अनेकरूपोंमें रूपान्तरित हो जाता; माने उसमें परिणाम होता। किन्तु वह चेतन है अतः ईश्वर निर्विकार है, उसमें सृष्टिका रूपान्तरण नहीं है, रूपान्तरणका भानमात्र है। इस प्रकार एक अखण्ड परम ब्रह्म ज्ञानस्वरूप परमात्मासे भिन्न दूसरी कोई वस्तु नहीं है।

जहाँ प्राज्ञ और सर्वेश्वरकी एकताका बोध हुआ, सम्पूर्ण सृष्टि अपनी संकल्पमात्र हो गयी। यह सम्पूर्ण प्रपंच शब्द,स्पर्श, रूप, रस, गन्ध रूप है। ये शब्दादि इन्द्रियोंकी वृत्तियाँ हैं। इन्द्रियोंकी सत्ता मनके अधीन है। अतः यह सम्पूर्ण नामरूपात्मक प्रपंच चाहे स्थूल सृष्टिके रूपमें हो या सूक्ष्म सृष्टिके रूपमें—संकल्पमात्र है, ज्ञानमात्र है। ज्ञानमात्रका नाम प्राज्ञ है। प्राज्ञ ब्रह्मका तृतीय पाद है।

९. अवस्थात्रयका समन्वय—आत्मा (साक्षी)में

ये विश्व, तैजस, प्राज्ञ पृथक्-पृथक् नहीं हैं। एक ही तत्त्व है जो तीन प्रकारसे कहा जाता है : **एक एव त्रिधा स्मृत** : (माण्डूक्य कारिका १)। जैसे एक ही व्यक्ति पुत्रके सामने पिता है, पिताके सामने पुत्र है और पत्नीके सामने पति है; इसी प्रकार एक ही तुरीय ब्रह्म तत्त्व बहिष्प्रज्ञताके कारण विश्व, अन्तःप्रज्ञताके कारण तैजस और प्रज्ञानघनताके कारण प्राज्ञ

होता है। जाग्रत्‌में जो वृत्तियोंका आश्रय करके बाह्य विषयोंका अनुभव करता है, वही स्वप्नमें अपनी ही स्फुरणाओंको मूर्त करके स्वप्नका अनुभव करता है और वही सुषुप्तिमें वृत्ति न रहनेसे सुषुप्तिके अभान और सुखके साक्षीके रूपमें स्थित रहता है।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति इन तीनों स्थानों वाला मैं (तुरीय आत्मतत्त्व) ही हूँ—इस प्रकारकी स्मृतिके द्वारा विचार-खोज करने पर मैं तीनों स्थानोंसे पृथक् हूँ, एक हूँ, शुद्ध हूँ, असंग हूँ—इस प्रकार आत्माका एकत्व, शुद्धत्व, असंगत्व सिद्ध होता है, यह अभिप्राय होता है।

अवस्थात्रयविवेककी प्रथम शिक्षा है कि हम देह नहीं हैं, देहसे भिन्न हैं और सम्पूर्ण विश्व हमारा स्वरूप है। अर्थात् हम विश्व हैं, एक देहके अभिमानी जीव नहीं हैं। दूसरी शिक्षा है कि हम एक देहमें सीमित मन नहीं हैं, विश्वकी सारी स्फुरणाएँ हमारी हैं। हम तैजस—हिरण्यगर्भ हैं, व्यापक हैं। तीसरी शिक्षा है कि हम एक देहमें आने जानेवाली सुषुप्तिके सुखके भोक्ता नहीं हैं, समष्टिमें जो आनन्द है, विश्राम है, समाधि है, सब मुझ प्राज्ञके द्वारा भास्य है।

मैं विश्व हूँ तो राग-द्वेष किससे ? मैं तैजस-हिरण्यगर्भ हूँ तो मतभेद किससे ? मैं प्राज्ञ हूँ तो अन्तःकरणके अवस्था-विशेषके सुख-दुःखका आग्रह कहाँ ?

अब आत्माको देखें तो यही जाग्रत्‌में है। देखने, सुनने, छूनेवाला आत्मा ही है और जिसको देखा, सुना, छुआ जा रहा है वह भी आत्मा ही है। स्वप्नमें जो स्वप्न देखनेवाला है सो आत्मा है और स्वप्नमें जो कुछ दिख रहा है वह भी आत्मा ही है। सुषुप्तिमें भी आत्मा सुख और अभानका साक्षी है और सुख तथा अभान भी आत्मा ही है। अवस्थाएँ बदलती रहती हैं, किन्तु आत्मा तीनों अवस्थाओंके साक्षीके रूपमें विद्यमान रहता है। यह आत्मा ही तुरीय तत्त्व है। यह तुरीय तत्त्व जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें, विश्व, तैजस, प्राज्ञमें, ध्याता, ध्यान, ध्येयमें, सत्-रज-तममें, प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयमें अर्थात् समग्र त्रिपुटियोंमें रहता है। इसीका नाम परमात्मा है। वह तीनोंमें है और तीनोंमें नहीं है।

श्रुतिमें एक दृष्टान्त दिया है महामत्स्यका।[६] एक बहुत बड़ी सरितामें

६. बृहदारण्यकोपनिषत् ४.३-४

एक महामत्स्य है। वह कभी धारामें रहता है तो कभी एक किनारे पर या कभी दूसरे किनारे पर। किनारे पृथक् हैं, धारा पृथक् है किन्तु मत्स्य एक है तथा उनसे पृथक् है। मत्स्य नदीमें पानीसे अलग है और दोनों किनारोंसे भी अलग है। अतः वह धारा और किनारोंसे असंग है। इसी प्रकार जब एक ही चेतन जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिमें रहता है तो वह तीनोंसे पृथक् है, तीनोंमें एक ही है और तीनोंसे असंग है।[७]

इस प्रकार अनुसन्धान करनेसे आत्माकी असङ्गताका अनुभव होता है। जाग्रत्में स्वप्न और सुषुप्तिका स्मरण होता है अतः यह स्पष्ट है कि मैं स्वप्न और सुषुप्तिसे पृथक् हूँ। जाग्रत्को छोड़कर मैं स्वप्न या सुषुप्तिमें चला जाता हूँ अतः मैं जाग्रत्से भी अलग हूँ। तीनों अवस्थाओंकी मुझे स्मृति होती है अतः मैं तीनों अवस्थाओंमें उनका साक्षी एक हूँ। यह अनुभवसिद्ध वस्तु हुई।

अवस्थात्रयके विवेकसे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि इन तीनों अवस्थाओंमें रहनेवाला द्रष्टा 'मैं', एक है, इन अवस्थाओंसे विलक्षण है, शुद्ध ज्ञान है, परिस्थितियोंसे असंस्पृष्ट और शुद्ध है अर्थात् असंग है। धर्माधर्मरूप क्रिया, इनके मूल राग-द्वेष, इनके फल सुख-दुःख और इनके कर्तापन-भोक्तापनका अभिमान—ये सब जाग्रत्में रहते हैं, स्वप्नमें विरूपित हो जाते हैं और सुषुप्तिमें नहीं रहते। अतः मुझ अवस्थात्रय-साक्षीके साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं है।

एक रहस्यकी बात! जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति तीनों अवस्थाएँ आत्मामें कल्पित हैं। इनका अध्यारोप तुरीय आत्माको समझानेके लिए किया गया है। क्या सुषुप्ति अनुभवसिद्ध है? 'मैं सुखसे सोया' यह ज्ञान किसको हुआ? जिसको अनुभव हुआ वह तो सोया नहीं था वर्ना अनुभव होता किसको? और यदि सो गया था तो सोनेके अनुभवकी बात मिथ्या है। जो सो गया था उसने अनुभव नहीं किया और जिसने अनुभव किया वह सोया नहीं था!

---

७. असङ्गता दो प्रकारकी होती है : एक तो दूसरी वस्तु हो और उससे असङ्ग हो; जैसे जलमें कमल। जल भी है, किन्तु जलसे कमल असङ्ग है। दूसरे स्वप्नमें द्रष्टा असङ्ग है। वहाँ दृश्य मिथ्या है। उस मिथ्या दृश्यका अधिष्ठान स्वप्नद्रष्टा स्वप्नके दृश्योंकी सत्ता न होनेसे असङ्ग है। इसी प्रकार आत्मा अद्वितीय होनेसे असङ्ग है क्योंकि उससे भिन्न कोई सत्ता ही नहीं है।

सच बात वह है कि जाग्रत्-बुद्धिके साथ तादात्म्य करके बुद्धिकी सुषुप्ति हम अपनेमें आरोपित कर लेते हैं। अब यदि बुद्धि और अनुभवको पृथक् कर दें तो बुद्धि सो गयी थी, उसे अपने सो जानेकी स्मृति नहीं हो सकती और अनुभव सोया नहीं था। अतः सुषुप्ति स्मृतिरूपा नहीं है, अपनेमें कल्पित आरोपित है। श्रुति कहती है कि द्रष्टाकी दृष्टिका कभी लोप नहीं होता :

नहि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यतेऽविनाशित्वात्।

(बृहदा० ४.३.२३)

सुषुप्तिकी तरह अपनी मृत्यु भी अनुभवसिद्ध नहीं है। 'मैं मर गया' ऐसा अनुभव या स्मरण कभी किसीको नहीं हो सकता। देहके साथ तादात्म्य करके 'मैं मरूँगा' इस भयकी वृत्ति जीवित व्यक्तिको होती है। दूसरोंके शरीरोंकी मृत्यु आप देखते हैं और उसीसे अपने शरीरकी मृत्युकी भी कल्पना होती है। आपने न अपनेको मरते देखा है, न दूसरोंको। बस; देहकी मृत्यु देखी है। किन्तु देह भी कहाँ मरता है? वह पहिले भी पञ्चभूत था, आगे भी पञ्चभूत ही रहता है। फिर किसकी मृत्यु होती है? किसीकी नहीं। आत्मामें अज्ञानसे ही हम मृत्युकी कल्पना करते हैं। तात्पर्य यह कि सुषुप्ति और मृत्यु दोनों आत्माके अग्रहणकी अवस्थाएँ हैं। जाग्रत् और स्वप्न दोनों आत्माके अन्यथा-ग्रहणकी अवस्थाएँ हैं। स्वप्नमें जाग्रत् बाधित (मिथ्या) हो जाता है और जाग्रत्में स्वप्न; तथा जाग्रन् और स्वप्न दोनों सुषुप्तिमें बाधित हो जाते हैं। सुषुप्ति स्वरूपमें कल्पित है। अतः सम्पूर्ण प्रपञ्च—चाहे दृश्यमान हो या अदृश्यमान आत्मामें बाधित है और साक्षी परमार्थ सत्य है।

अवस्थाएँ आत्मामें कल्पित हैं क्योंकि जाग्रत्-अवस्थामें ही विश्व, तैजस, प्राज्ञका अनुभव हो जाता है। जाग्रत्में 'विश्व'का स्थान दाहिना नेत्र माना गया है। असलमें नेत्र यहाँ सभी इन्द्रियोंका उपलक्षण है : **इन्धो ह वै नामैष योऽयं दक्षिणेऽक्षन् पुरुषः** (बृहदा० ४.२.२)। दाहिनी आँखमें जो पुरुष है वही वैश्वानर है। हम जब इन्द्रियोंके द्वारा सूर्य, चन्द्र, अग्नि आदि इन्द्रियोंके अधिदेवताओंके सहारे बाहरके विषयोंका अनुभव करते हैं तो हमारा ही नाम विश्व हो जाता है। जब बिना इन्द्रियोंके मनोराज्य करते हैं—मनमें दिल्ली, बम्बई, कलकत्ता, वृन्दावनके दृश्य

देखते हैं तो हम तैजस हो जाते हैं। और जब चुप हो जाते हैं, न बाहर देखते हैं न भीतर, समाधिस्थ होते हैं तब हम ही प्राज्ञ हो जाते हैं। विश्व, तैजस, प्राज्ञसे व्यतिरिक्त और इनमें जो अनुस्यूत हम हैं वह हम ही तुरीय तत्त्व हैं।

जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिके भोज्य और भोक्ता पृथक्-पृथक् जान पड़ते हैं। जाग्रत्में स्थूल भोग और भोक्ता विश्व; स्वप्नमें सूक्ष्म भोग और भोक्ता तैजस; सुषुप्तिमें आनन्द भोग और भोक्ता प्राज्ञ। किन्तु स्थूल, सूक्ष्म, आनन्द नामसे तीन भेदोंमें विभक्त जो भोज्य है वह एक ही है। इसी प्रकार विश्व, तैजस, प्राज्ञ नामके जो भोक्ता हैं वे तीन न होकर एक ही है और वह मैं हूँ। इस प्रकार भोज्य और भोक्तारूपसे अनेक प्रकारसे भिन्न हुए इन दोनोंको जो जानता है, वह भोगता हुआ भी लिप्त नहीं होता[८], क्योंकि समस्त भोज्य एक ही भोक्ताका भोग है। जैसे अग्नि अपने विषय काष्ठादिको जलाकर भी अपने स्वरूपमें सम बना रहता है, उसी प्रकार द्रष्टा भी जाग्रदादिके भोगोंको भोगकर अपने स्वरूपमें समान बना रहता है।

भोग्य क्या है? शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, बस यही हैं भोग। इन्द्रियोंमें भी यही पञ्चभूत हैं—सात्त्विक तन्मात्र, और वही इनके भोग्य हैं—तमोगुणी तन्मात्र। इन्द्रियोंसे अपने भोगोंका ज्ञानमात्र ही होता है। शब्दका ज्ञान शब्दका भोग है, रसका ज्ञान रसका भोग है। उपलब्ध होना ही भोक्तृत्व है।

सच्ची बात यह है कि इन्द्रियाँ द्रव्य नहीं देखतीं, केवल गुण देखती हैं। किसी भी द्रव्यका केवल शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध ही जाना जाता है, द्रव्यका तो इनके आधारपर अनुमान होता है। अब पाँच द्रव्य हैं, उनके पाँच तन्मात्र हैं, उनके पाँच प्रकारके परमाणु हैं, यह सब अनुमान है। तो यह भी तो अनुमान किया जा सकता है कि द्रव्य एक ही है और पाँच इन्द्रियोंके कारण हम उसे पाँच रूपोंमें उपलब्ध करते हैं।।

भौतिक विज्ञानके तत्त्व-निश्चयकी प्रणाली और अध्यात्म ज्ञानके तत्त्व निश्चयकी प्रणालीमें भेद है। विज्ञान यन्त्र-प्रत्यक्ष मानता है किन्तु इन्द्रियोंके

८. त्रिषु धामसु यद्भोज्यं भोक्ता यश्च प्रकीर्तितः।
वेदैतदुभयं यस्तु स भुंजानो न लिप्यते॥ (मां० का० १.५)

सदोष होनेपर यन्त्र-प्रत्यक्ष भी सदोष ही होगा। अतः इन्द्रियाँ यन्त्रकी अपेक्षा अधिक प्रामाणिक हैं। अध्यात्मविद्या इन्द्रियप्रत्यक्ष मानती है। ज्ञानेन्द्रियाँ हमें पाँच प्रकारका ज्ञान देती हैं अतः हमने पाँच तत्त्व माने हैं। इन तत्त्वोंमें इन्द्रियाँ प्रमाण हैं। हम स्वादकी आश्रय-सत्ताको जल कहते हैं, दो गैसों (हाइड्रोजन, ऑक्सीजन)से मिलकर जो जल बनता है उसे हम जल नहीं कहते। अर्थात् इन्द्रिय-प्रमाणसे गुणसिद्धि और गुणकी आश्रय-सत्ताके रूपमें द्रव्यकी सिद्धि करते हैं।

इन्द्रियोंका ज्ञान भी मनके द्वारा सिद्ध होता है। मन ही इन्द्रियोंकी वृत्तिके रूपमें परिणत होकर विषयोंको ग्रहण करनेवाला होता है। विषयको ग्रहण करनेवाली चेतनाका नाम मन है। सविषयक ज्ञानका नाम अन्तःकरण (मन) है और विषय निरपेक्ष ज्ञानका नाम चैतन्य आत्मा है।

चैतन्यका स्वभाव है उपलब्धि, ज्ञान। वह स्वयं प्रकाश है अतः प्रकाशित करना उसका स्वभाव है। जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्तिकी उपलब्धि करना उसके स्वभावके अन्तर्गत है। देश, काल, वस्तु, इनकी व्यवस्था, अव्यवस्था इनका भाव, अभाव, सबको प्रकाशित करना, इनकी प्रतीति करना, चैतन्यका स्वभाव है। प्रतीति करनेसे उसे पाप-पुण्य नहीं लगता, उस अग्निकी भाँति जिसको मल जलानेसे पाप नहीं लगता और हवनीय पदार्थ जलानेसे पुण्य नहीं होता। पाप-पुण्य वहाँ होता है जहाँ कर्म करने, न करनेमें स्वतन्त्रता होती है। सूर्यका स्वभाव प्रकाश देना है, चाहे उस प्रकाशमें कोई धर्म करे या अधर्म। सूर्यको उसका पुण्य-पाप नहीं होता। इसी प्रकार भोज्यमें शुद्धि-अशुद्धि है, भोक्तामें पाप-पुण्यका लेप है; किन्तु भोज्य और भोक्ता दोनोंका प्रकाशक, द्रष्टा, जो चेतन है वह भोज्य और भोक्ताके गुण-दोषोंसे निर्लिप्त है।

पाप-पुण्य, शुद्ध-अशुद्ध, हेय-उपादेय आदि ज्ञान भेद ज्ञानका विषय है। यह बुद्धिमें रहता है और इसीके अनुसार जीवनका निर्माण होता है। साधन और साध्यका ज्ञान व्यावहारिक है, इसका क्षेत्र भेदज्ञान है। किन्तु सम्पूर्ण भेदज्ञान कर्ताके अधीन होता है। लेकिन जो वस्तु-सत्य है वह कर्ताके अधीन नहीं है। सत्यका ज्ञान नित्य है, सर्वत्र समान है; अद्वितीय है। इस सत्य-ज्ञानसे जो वस्तु जैसी है उसे उसी रूपमें प्रकाशित करनेसे पाप-पुण्यकी उत्पत्ति नहीं होती।

कर्तापनेका भाव ही कर्ममें लिप्त करता है। संकल्पसे या कर्मसे वस्तुमें परिवर्तनकी चाह रखना या परिवर्तन करना सुख-दुःखका हेतु बनता है। लेकिन जिसमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व बाधित हो गये हैं, वह प्रकाशक लिप्त नहीं होता।

लिप्त होना क्या? जब 'इदं' और 'अहं'का सम्बन्ध होता है तभी लिप्त होना होता है। 'अहं ज्ञाता' यह लिप्त होना हो गया। बुद्धिके अभिमानीका नाम ज्ञाता है, उसे अहं (साक्षी)के साथ सम्बन्धित कर दिया तो 'अहं ज्ञाता' यह लेप हो गया। बुद्धि प्रतिशरीर भिन्न होती है अतः ज्ञाता भी अनेक होते हैं। ज्ञाता प्रतिशरीर भिन्न चिदाभास है। लेकिन द्रष्टा (अहं) सम्पूर्ण दृश्यका एक ही है। वह अपनी दृष्टिमात्रसे सम्पूर्ण विश्वको प्रकाशित कर रहा है। तो यह वस्तु मेरी, यह क्रिया मेरी, यह देह मेरा, मैं कर्ता, मैं भोक्ता, मैं ज्ञाता—यह सब लिप्त होना है। द्रष्टा निर्लिप्त है।

१०. आत्माका चतुर्थ पाद : साक्षी ब्रह्म

(आत्माका अवस्थात्रयसे व्यतिरेक)

जैसे रज्जुके ज्ञानके लिए उसमें प्रतिभासित विकल्पोंका निषेध आवश्यक है, उसी प्रकार आत्माके शुद्ध स्वरूपके बोधके लिए उसमें प्रतिभासित सभी विकल्पोंका निषेध आवश्यक है। स्थूल-सूक्ष्म-कारण देह, अन्नमयादि कोष, विश्वादि अभिमानी, जगत् और उसका कारण प्रकृति आदि अर्थात् कार्य-कारणरूप समस्त अध्यात्म, अधिभूत, अधिदेव सृष्टि आत्मामें विकल्प मात्र है। अतः मांडूक्य श्रुति आत्माके चतुर्थ (तुरीय) पादका वर्णन इन सबके निषेधसे उपलक्षित चिन्मात्र आत्म तत्त्वके रूपमें करती है। वही साक्षी है, वही आत्मा है और एकमात्र वही विज्ञेय है।

यहाँ यह स्मरणीय है कि रज्जुमें सर्पादिके विकल्पोंका निषेध कर देने पर भी प्रकाशकी अतिरिक्त आवश्यकता होती है रज्जुके ज्ञानके लिए। किन्तु आत्माके विषयमें ऐसा नहीं है। आत्मा स्वयं प्रकाश है। अपने प्रकाशके लिए उसे किसी अन्य प्रकाशककी आवश्कता नहीं है। अतः मात्र विकल्पोंके निषेधसे ही आत्माका स्वरूप अनुभूत हो जाता है।

यों भी निषेधके अतिरिक्त और मार्ग भी क्या हो सकता है आत्म-तत्त्वके निरूपणके लिए ? शास्त्रीय वर्णनकी पाँच पद्धतियाँ हैं । १. **सम्बन्ध-वृत्तिसे,** जैसे 'जलका घड़ा' । जलसे घड़ा नहीं बनता किन्तु घटको उसमें भरे हुए जलसे सम्बद्ध करके 'जलका घड़ा ले आओ' ऐसा बोल दिया । २. **रूढ़ि-वृत्तिसे,** जैसे पंकजका रूढ़ अर्थ कमल है भले वह पंक (कीचड़)से उत्पन्न हुआ हो या नहीं । ३. **जाति-सामान्यसे,** जैसे 'यह मनुष्य है', इस वाक्यमें 'यह' व्यक्तिका वर्णन उसकी मनुष्य जातिसे किया है । ४. **क्रिया-वृत्तिसे,** जैसे 'मोहन ड्राइवर है', 'सोहन कवि है'। जो आदमी जो कार्य करता है, उस कार्यसे वर्णन करते हैं । ५. **गुण-वृत्तिसे**– जैसे 'लाल फूल' अथवा 'अमुक बड़े विद्वान् हैं ।' अब आत्मा जो सन्मात्र, चिन्मात्र, आनन्दमात्र, अद्वितीय वस्तु है उसका वर्णन उपर्युक्त किस पद्धतिसे करोगे ? आत्मामें जगत्‌की प्रतीति मिथ्या है, आत्म-स्वरूपमें जगत् है हो नहीं, तब उसका सम्बन्ध किससे ? अदृश्य आत्मामें रूढ़ि-वृत्ति भी नहीं चलती । आत्मामें कोई उपाधि नहीं तो जातिके द्वारा भी उसका वर्णन कैसे हो ! अकर्ता आत्मामें क्रियावृत्तिकी भी गम नहीं और निर्गुण आत्मामें गुणवृत्ति भी कैसे ?

असलमें आत्मा तो विश्व, तैजस, प्राज्ञके रूपमें प्रकट ही है । किन्तु इनमें परिच्छिन्न भाव होनेसे इसकी ब्रह्मता अज्ञात है । इसलिए श्रुति इनमें आत्मताका निषेध करती है । इस निषेधसे एक तो इनसे विलक्षण तुरीय आत्मतत्त्वकी सिद्धि होती है और दूसरे आत्मामें अवस्थात्रयकी व्यवहार-दशामें जो विश्वादिके रूपमें परिच्छिन्नता अनुभव होती है उसका मिथ्यात्व सिद्ध होता है ।

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृष्टमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्म-प्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥

माण्डूक्य० ७

आत्मा 'अन्तःप्रज्ञ' नहीं है, अर्थात् तैजससे विलक्षण है । वह 'बहिष्प्रज्ञ' नहीं है, अर्थात् आत्मा 'विश्व' से विलक्षण है । वह 'उभयप्रज्ञ' भी नहीं है, माने आत्मा जाग्रत् और स्वप्नकी किसी मध्यावस्थाका अभिमानी भी नहीं है । वह 'प्रज्ञानघन' भी नहीं है, अर्थात् आत्मा प्राज्ञसे भी

विलक्षण है। आत्मा न तो 'प्रज्ञ' है और न 'अप्रज्ञ' है। अर्थात् आत्मा प्रामाता नहीं है, प्रमातासे विलक्षण है और अचेतन, जड़ या शून्य भी नहीं है। विश्व, तैजस, प्राज्ञ, प्रमाता, कर्त्ता, भोक्ता जो चैतन्यात्माके विलास हैं, वे चाहे व्यष्टिके हों या समष्टिके सबमें जो चैतन्य है, उसीका नाम आत्मा है। ये सब आत्मासे अभिन्न हैं किन्तु आत्मा इन सबसे विलक्षण है इनका परमार्थ शुद्ध स्वरूप है। उसीमें ये सब व्यवहारतः विकल्पित हैं।

आत्मा दृश्य नहीं हो सकता (**अदृश्यम्**); क्योंकि वह सर्वका द्रष्टा है और इसलिए दर्शन-अदर्शन, दोनों अवस्थाओंमें विद्यमान है। वह व्यष्टि या समष्टि व्यवहारकर्ता नहीं है परन्तु व्यवहारकी प्रत्येक अवस्थामें विद्यमान है (**अव्यवहार्यम्**)। वह कर्मेन्द्रियों-ज्ञानेन्द्रियों द्वारा ग्रहण नहीं किया जा सकता किन्तु उनके समस्त व्यापारोंके पीछे वही विद्यमान है (**अग्राह्यम्**)। वह सबसे विलक्षण है, बस यही उसका लक्षण है; कोई भी लक्षण उसका पूर्ण बोध नहीं करा सकता क्योंकि लक्षणसे तो परिच्छिन्न पदार्थका ही बोध हो सकता है। (**अलक्षणम्**)। आत्मा अवाङ्मनसगोचर है इसलिए वह **'अचिन्त्यम्'** है। किसी शब्द या वृत्तिसे उसका वर्णन नहीं हो सकता इसलिए वह **'अव्यपदेश्यम्'** है। शब्द या वृत्ति तो परिच्छिन्नका ही ज्ञान कराते हैं। आत्मा वृत्ति नहीं, वृत्तिका सार ज्ञान है अतः **'प्रत्ययसार'** है। जाग्रदादि अवस्थाओंमें जो एक अव्यभिचारी अहं-वृत्ति है, वही साक्षी आत्माके अनुसन्धानका स्थान है। इसीसे आत्माको **एकात्मप्रत्ययसार** कहा है। अथवा जगत्के कारणत्वके अनुसन्धानके रूपमें जो एक ईश्वराकारवृत्ति बनती है, वह वृत्ति ही जिसका सार है वह एकात्मप्रत्ययसार है। अथवा उपर्युक्त दोनों वृत्तियोंके विषयों (साक्षी और ईश्वर) की एकत्वबोधक जो महावाक्यजन्य ब्रह्माकार-वृत्ति है वह वृत्ति ही जिस आत्माके विषयमें सार अर्थात् प्रमाण है उस आत्माका नाम एकात्मप्रत्ययसार है।

पुनः आत्मामें प्रपंचका 'उपशम' है (**प्रपंचोपशमम्**)। अर्थात् जाग्रदादि अवस्थाएँ और उनके पदार्थोंका आत्मामें अभाव है। दूसरे शब्दोंमें आत्मा प्रपंचके अभावका अधिकरण है अतः आत्मामें प्रपंच मिथ्या प्रतीयमान है। आत्मा शान्त है अर्थात् वह निर्विकार कूटस्थ एवं निष्क्रिय

है। आत्मा ही परमप्रेमास्पद होनेसे शिव है। वह भेदादि विकल्पसे रहित अद्वैतरूप है। वह जाग्रदादिरूप पादत्रयसे विलक्षण होनेके कारण चतुर्थ (तुरीय) है। ऐसा जो सर्वनिषेधाधिष्ठान चिन्मात्र साक्षी है वही आत्मा है, वही जानने योग्य है, वही ब्रह्म है, वही यह सब है।

सर्वम् ह्येतद् ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म। सोयमात्मा चतुष्पात्।

(मां० २)

[अयमात्मा ब्रह्म; इसका विवेचन महावाक्योंके प्रकरणमें किया जायेगा]

•

अहमर्थ एवं शुद्ध साक्षी (त्वं-पदार्थ)का विवेक

१. अहमर्थ एवं संविदात्मा (साक्षी)

वेदान्तमें कर्तृ-कर्म-विरोध प्रसिद्ध है। जो कर्ता है वह कर्म नहीं हो सकता, जो कर्म है वह कर्ता नहीं हो सकता। जो नियम कर्मके क्षेत्रमें है, वही नियम ज्ञानके क्षेत्रमें भी है। जो ज्ञाता है वह ज्ञेय नहीं हो सकता और जो ज्ञेय है वह ज्ञाता नहीं हो सकता। ज्ञाता ज्ञेयसे न्यारा होता है।

ज्ञान-क्रियाका आश्रय ज्ञाता है, उसका करण 'ज्ञान' है और उसका विषय ज्ञेय है। ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयकी त्रिपुटीके द्वारा ही प्रत्येक ज्ञान होता है। प्रमाता, प्रमाण और प्रमेय—क्रमशः ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेयके ही नाम हैं। असलमें अपने ज्ञानके ही ये तीन विभाग हो जाते हैं; ज्ञेय विषय, ज्ञानाकार वृत्ति एवं ज्ञाता अहम्।

यह स्पष्ट मालूम पड़ता है कि प्रमाता 'मैं' प्रमेय और प्रमाण दोनोंसे विलक्षण हूँ। प्रमेय और प्रमाण दोनोंमें 'इदंता' भासती है और प्रमातामें 'अहंता' अथवा अनिदंता भासती है। 'मैं' विषय और वृत्ति दोनोंसे तो अलग भासता है किन्तु प्रमातासे अलग मैं नहीं भासता। तिसपर भी मैं अनेकरूप तो भासता ही है : कभी मैं पापी भासता है तो कभी पुण्यात्मा, कभी मैं रागी भासता है तो कभी विरागी, कभी सुखी तो कभी दुःखी। मैं-में जो यह अनेकरूपता भासती है वह बिना अहं और इदंके मिश्रण हुए नहीं भास सकती। अहं और इदं दोनोंके समाहारसे, मिश्रणसे यह ग्रन्थि भास रही है। यह भासमान 'अहं' न केवल अहं है और न केवल 'इदं'। सामान्य जनोंके लिए यही भासमान अहं उनके अहं-पदका अर्थ है अथवा **अहमर्थ** है। कर्ता, भोक्ता और ज्ञाता (कर्म, भोग और ज्ञानका अभिमानी)के रूपमें जो अपना अनुभूत अहं है, भासमान अहं है उसीको अहमर्थ कहते हैं।

विलक्षण बात यह है कि अनेकरूप होते हुए भी हमें अपने एकत्वका दृढ़ बोध रहता है। वही मैं जो प्रातः पुण्यात्मा, सुखी, विरागी था रातको पापी, दुःखी, रागी हो गया हूँ; पाप-पुण्यादिका परिवर्तन होने पर भी मैं एक ही रहता है। वह मैं कौन है ?

यह जो बदलनेवाला भासमान अहमर्थ है वह आप नहीं हैं। आप परिवर्तनके साक्षी हैं। विषय, वृत्ति और प्रमाता (अहमर्थ)में जो एक न बदलनेवाला ज्ञान है वह ज्ञान आप हैं। घटज्ञान, पटज्ञानमें घट और पटका भेद है परन्तु ज्ञानमें भेद नहीं है। घटाकार, पटाकार वृत्तियोंमें भेद है आकारका किन्तु ज्ञानमें भेद नहीं है। घटज्ञाता, पटज्ञातामें ज्ञानके विषयका भेद है, ज्ञाताका भेद नहीं है।

विषयमें, वृत्तिमें, अहमर्थमें सभीमें जाड्यांश है और जो उनमें शुद्ध ज्ञान है, संवित् है, वह एक है। संवित् स्वयंप्रकाश है, एक है; उसमें भेद नहीं होता। यदि कहें कि जो अहमर्थ है वही संवित् है तो यहाँ भी अहमर्थमें जो बदलनेवाला जाड्यांश है उसका और संवित्का विवेक अपेक्षित है। यदि आप बदलनेवाला जाड्यांश होते तो आपको अपने बदलनेका बोध भी कैसे होता ? सच्चाई यह है कि आप संवित् मात्र, अपरिवर्तनशील आत्मा हैं किन्तु अपनेमें अनात्मा और अनात्म-धर्मोंका अध्यास करके अपनेको परिवर्तनशील अहमर्थ मान रहे हैं।

अहमर्थ प्रति-शरीरमें भिन्न है और संवित्में शरीर और अन्तःकरणका भेद नहीं होता।

भासमान अहं और इदंका अधिष्ठान क्या है ? चार्वाक मतसे यह जड़ द्रव्य है, उसीसे अहं और इदंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते हैं। यह समूचा व्यवहार अचेतनमें अचेतनका व्यवहार है। किन्तु यह मत ठीक नहीं है। न तो अपना जड़त्व कभी किसीको अनुभवका विषय हो सकता है और नहीं यह युक्ति युक्त है क्योंकि तब तो अशेष जगत्की अन्धताकी ही प्राप्ति होगी; यदि अन्धा अन्धेके पीछे चलेगा तब तो उसे पग-पग पर गिरना ही होगा।[1] तब ? अहं और इदंका अधिष्ठान शुद्ध चेतन आत्मा ही है जो अहं और इदं दोनोंका प्रकाशक, दोनोंमें अन्वित तथा दोनोंसे व्यतिरिक्त और दोनोंका अधिष्ठान है।

१. अन्धस्येवान्धलग्नस्य विनिपातः पदे पदे (भामतीमें उद्धृत)।

यदि कहो कि अहं और इदंके अधिष्ठानकी कोई आवश्यकता नहीं तो कोई भी भेद निरधिष्ठान नहीं होता। यदि अधिष्ठान शून्य है तो अभावसे भावकी उत्पत्ति नहीं हो सकती।[2] यदि अधिष्ठान जड़ है तो जगदन्धत्वकी स्थिति प्राप्त होगी। यदि अहंका अधिष्ठान अहंको और इदंका अधिष्ठान इदंको मानें तो यह कथन **आत्माश्रय-दोषसे** दूषित है। यदि अहंको इदंका और इदंको अहंका अधिष्ठान मानें तो **अन्योन्याश्रय-दोष** होगा। यदि दोनोंका अधिष्ठान दोनोंसे नितान्त भिन्न कोई तीसरा (अहं या इदं) मानें तो फिर चौथा भी मानना पड़ेगा और अन्तमें **अनवस्था** होगी। इस प्रकार अहं और इदंका एक अधिष्ठान चेतन ही सिद्ध होता है और चेतन संवित् मैं-से भिन्न नहीं हो सकता। अतः अहमर्थसे विलक्षण संवित् जो अहमर्थ, वृत्ति और विषयका प्रकाशक है और इनसे अनवच्छिन्न है, वही इनका अधिष्ठान शेष रहता है।

यह संवित् कभी लीन और कभी प्रकट नहीं होती, क्योंकि ऐसा कहना **वदतो-व्याघात** दोष है। संवित् लीन और प्रकट नहीं होती, लय और प्राकट्य संवित्में होते हैं। ज्ञानके बिना इनका अनुभव कैसे होगा? लीन और प्रकट होनेवाले विषय, वृत्ति और अहमर्थ हैं, संवित् नहीं।

यह संवित् एक ऐसा अनन्त ज्ञान है जिसमें न आना है, न जाना है किन्तु जो वस्तुओंके आने-जानेका प्रकाशक है; जिसमें न फैलना है, न सिकुड़ना है किन्तु जिसके द्वारा फैलने-सिकुड़नका ज्ञान होता है; जिसमें न बाहर है, न भीतर है, न जन्म है, न मृत्यु है, न अब है, न तब है। यह एक ऐसा अनन्त ज्ञान है जो न विषय है, न विषयी और न वृत्ति, अर्थात् जो आपका परिच्छिन्न अहमर्थ नहीं है वह अनन्त ज्ञान और कोई नहीं स्वयं आप हैं। आप ऐसे सुन्दर हैं जिसमें सारी सुन्दरता कल्पित है। आप ऐसे मधुर हैं जिसमें सम्पूर्ण मिठाससमष्टि-कल्पित है। आप ऐसे सत्य हैं जिसमें संसारके सम्पूर्ण सत्य बिना हुए ही भासते हैं, जिसमें सारे सत्य मिथ्या हो जाते हैं, जिसमें जड़ता और चेतनताका कोई भेद नहीं है! ऐसा है आपका आत्मस्वरूप, संवित्स्वरूप।

विषय अनेक भासते हैं और उनका भेद भी भासता है। विषय अनिर्वचनीय हैं और उनका भेद भी अनिर्वचनीय हैं। वृत्तियाँ अनेक

---

२. कथमसतः सञ्जायते (छान्दोग्य० ६.२.२)

भासती हैं। उनके विषय अनेक होते हैं और उनका आश्रय भिन्न होता है। पहले वे नहीं होतीं, होकरके होती हैं और बादमें वे नहीं रहतीं। पारिभाषिक शब्दोंमें वृत्तियाँ साश्रया, सविषयिका, प्रागभाव-प्रतियोगिनी एवं प्रध्वंसाभाव-प्रतियोगिनी होती हैं तथा वे परस्पर भिन्न होती हैं। साथ ही अपनेको प्रकट करनेके लिए उन्हें एक अखण्ड संवित्‌की भी अपेक्षा होती है।

उधर अहमर्थ भी सविषयक ही प्रकाशित होता है। वस्तुतः अहमर्थमें वृत्तित्व और विषयत्व दोनों आरोपित हैं। कर्म, भोग और ज्ञानके विषयों और उनकी वृत्तियोंके धर्मोंका अपनेमें अध्यारोप किये बिना अपने शुद्ध अहंका कोई भी भासमान रूप (अहमर्थ) अनुभवमें नहीं आ सकता।

संवित् प्रकाश है, प्रकाशक है और अहमर्थ प्रकाश्य है। अहमर्थमें जिन-जिन उपाधियोंके धर्मका अध्यारोप होता है उन-उनके प्रकाश्य होनेपर ही अहमर्थ गृहीत होता है। इसलिए अहमर्थ, वृत्ति और विषय तीनों प्रकाश्य हैं और शुद्ध संवित् प्रकाशक है, स्वयं प्रकाश है। प्रकाश्य वस्तु कभी रहती है कभी नहीं रहती, किन्तु प्रकाशक भावाभाव दोनोंका प्रकाशक होता है। अतः प्रकाश्य बाधित है (मिथ्या है) और संवित् अबाधित।

ज्ञानके विभाग देखो : एक बननेवाला ज्ञान है, यह कर्मसे मिला हुआ है; दूसरा होनेवाला ज्ञान है, यह काल और द्रव्यसे मिला हुआ है; और तीसरा शुद्ध ज्ञान है, यह देश, काल, द्रव्यकी कल्पनासे विमुक्त है। यही शुद्ध ज्ञान आपका स्वरूप है, आपका आत्मा है।

देह, इन्द्रियाँ, अन्तःकरण; इनके विभाग—स्थूल, सूक्ष्म, कारण देह तथा अन्नमयादि पाँच कोष; इनके अनुभवकी जाग्रदादि अवस्थाएँ; इन सबके धर्म और धर्मी (अभिमानी); इन सबका सङ्घात तथा उस सङ्घातको मैं-मेरा माननेवाला परिच्छिन्न भासमान अहं—यह सब अहमर्थकी ही व्याख्या है। इसी अहमर्थको जीव भी कहा जाता है।

यह जो दृश्य नामकी वस्तु है, देश-काल-वस्तुवाली, अनेक आकारवाली, वृत्तिवाली, अभिमानवाली, वह कभी भासती है कभी नहीं भासती, वह बदलती रहती है, पूर्व-पूर्व संस्कारसे विचित्र-विचित्र रूप धारण करती रहती है, वर्तमान संस्कारसे उत्तर-रूप धारण करती है, एक संस्कारके

धक्केसे दूसरी वासनावाली प्रतीत होती है। दृश्य प्रतीत होते रहते हैं और संवित् एकरस बनी रहती है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि जो भी दृश्य है, वह इदं-वृत्तिका विषय है और जो भी इदमाकारताको ग्रहण करके ज्ञात होता है वह दृश्य है। जो अनिदं है वह संवित् है। अहमर्थ भी ज्ञात होता है, वह इदमंशके ज्ञानपूर्वक ही ज्ञात होता है।

'इदन्तानास्कन्दित', इदन्तासे अनाक्रान्त तथा इदन्तासे असंस्पृष्ट जो अनिदं है वह संवित् इदन्ताके सब दोषोंसे रहित है। इदन्तामें काल है, अनिदंमें काल नहीं है। इदन्तामें देश है, अनिदंमें देश नहीं है। इदन्तामें वस्तु है, अनिदंमें वस्तु नहीं है। इसी प्रकार इदन्तामें कर्म है, सुख है, दुःख है, परिवर्तन है, प्रमा है, भ्रम है और अनिदंमें यह सब कुछ नहीं है। इदं पर-प्रकाश्य है, विषय है, आश्रित है, पराधीन सत्तावाला है; अनिदं स्वयंप्रकाश, अविषय, सर्वाश्रय और स्वतन्त्र सत्तावाला है। इन विपरीत धर्मोंवाले पदार्थोंमें धर्मान्तरका अध्यास अविवेकसे ही सिद्ध है।

अन्यथा नहीं। और वह अविवेक भी क्यों है? तो वह भी अविवेकसे ही है। अविवेकका कोई कारण नहीं होता। इस प्रकार अविवेकसे जो अहमिदम्-रूप अहमर्थ है, वही विवेकके प्रकाशमें, इदन्ताका बाधकर देनेपर, शुद्ध संवित्-रूपमें उपलब्ध होता है। यही प्रत्येकका प्रत्यगात्मा है।

यह जो प्रत्यगात्मा है, शुद्ध संवित्-स्वरूप है, वह प्रकाश-स्वरूप है, स्वयंप्रकाश है। अपने ज्ञानके लिए उसे किसी अन्य ज्ञानकी आवश्यकता नहीं है। सूर्यकी भाँति वह सदैव प्रकाशित रहता है। देश, काल, वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, कार्य, कारण, कर्म, भोग, जीव, ईश्वर, सब उसीके प्रकाशमें प्रकाशित होते हैं।

घड़ीको देखनेके लिए आँखका सहारा अपेक्षित है। आँखको देखनेके लिए मनका सहारा अपेक्षित है। शत्रु-मित्रको देखनेके लिए बुद्धिका सहारा चाहिए। बुद्धिकी जाग्रदादि अवस्थाओंको देखनेके लिए उपर्युक्त किसी सहारेकी अपेक्षा नहीं है। उन्हें प्रत्यगात्मा सीधे ही प्रकाशित करता है। इसलिए इसको साक्षी कहते हैं : **साक्षात् पश्यति इति साक्षी।** जो बिना सूर्यादिके प्रकाशके, बिना चक्षु आदि इन्द्रियोंके, बिना बुद्धि-वृत्तिके, बिना अविद्या-वृत्तिके (बिना भासमान अहंके), बिना अपनेसे इतरकी अपेक्षा

किये, प्रत्यक्ष-परोक्ष-अपरोक्षसे[3] विलक्षण साक्षात् अपरोक्ष रूपमें प्रकाशमान हो, वह स्वयंप्रकाश चैतन्य आत्मा **साक्षी** है।

जिस समय यह आत्मा कालका प्रकाशन करता है, उस समय इसको नित्य कहते हैं और जब देशको प्रकाशता है, तब इसको **व्यापक** कहते हैं। इसी प्रकार जब यह सम्पूर्ण कार्य-कारणको प्रकाशता है तब इसको **सर्वात्मा** कहते हैं। परन्तु स्वयं तो यह आत्मा स्वयं प्रकाश ही है। यह देखता सबको है परन्तु स्वयं दृश्य नहीं होता और दृश्य न होनेपर भी इनके अस्तित्वमें कभी कहीं कोई संदेह नहीं होता।[4] आप अपनेको निःशंक अनुभव करो। दुनियामें कोई माईका लाल अपने 'मैं'-के अभावका अनुभव नहीं कर सकता, यह खुली चुनौती है।[5]

यह स्वयंप्रकाश आत्मा कूटस्थ है। 'कूट' शब्दका अर्थ है; पर्वतका शिखर, लोहार या सुनारका एरन तथा झूठ— जो कूटकी तरह स्थित रहे वह कूटस्थ है। जैसे पर्वतके शिखर पर सर्दी, गर्मी, वर्षा आते रहते हैं, जाते रहते हैं परन्तु यह शिखर अचल खड़ा रहता है; जैसे 'एरन' पर हथौड़े पड़ते रहते हैं, जेवर गढ़े और तोड़े जाते रहते हैं परन्तु 'एरन' अचल रहता है; वैसे ही इस प्रत्यगात्माके समक्ष अनन्त-अनन्त दृश्योंके उदय-विलय होते रहते हैं किन्तु यह अपने स्वयंप्रकाश स्वरूपमें एकरस स्थित रहता है। जैसे स्वप्नमें दृश्य-प्रपंच झूठा होता है और वह झूठा स्वप्न सत्य स्वप्नद्रष्टामें अध्यस्त होता है उसी प्रकार जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-समाधिकी दृश्य समष्टि-रूप झूठमें जो अधिष्ठान-रूपसे चेतन, प्रत्यगात्मा रहता है वह कूटस्थ है। **कूटस्थ** पदका व्यवहार एकरस चैतन्य अधिष्ठानके अर्थमें किया जाता है।

संवित् देशका प्रकाशक होनेसे व्यापक है और इसलिए निरंश है। कूटस्थ होनेसे वह काल-प्रवाहके परिच्छेदसे मुक्त है, स्वयंप्रकाश होनेसे वह विषय-प्रवाहके परिच्छेदसे मुक्त है और निरंश होनेसे वह देश-प्रवाहके परिच्छेदसे मुक्त है। इस प्रकार संवित्-रूप जो साक्षी है वह देश-काल

---

३. विषय प्रत्यक्ष हैं, स्वर्गादि परोक्ष हैं, बुद्धि-मन-इन्द्रियादि अपरोक्ष हैं और आत्मा (मैं) साक्षादपरोक्ष है। ब्रह्म भी साक्षादपरोक्ष है : यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म (वृहदा० ३. ४. १) अतः वह आत्मासे अभिन्न है।

४. अवेद्यत्वे सति अपरोक्षत्वं स्वयंप्रकाशलक्षणम् (भामती)।

५. नहि कश्चित्प्रतीयात् नाहमस्मीति (श्रीशंकाराचार्य)।

वस्तुके परिच्छेदसे विनिर्मुक्त ब्रह्म है। सब वस्तुओंमें सत्ता-सामान्यरूपसे अनुगत होनेसे वह **एक** सन्मात्र वस्तु है, सब ज्ञानोंमें अनुगत होनेसे वह एक चिन्मात्र वस्तु है और सब सुखोंमें अनुगत रहनेसे वह एक आनन्दमात्र वस्तु है। सब और एकका परस्पर विरोध उसमें नहीं है, स्वप्नसृष्टिकी भाँति; इसलिए वह **अद्वितीय** है। अतः वह संवित् ही सच्चिदानन्द-रूप अद्वितीय परब्रह्म है।

साक्षीके बारेमें निम्न बातें स्मरण रखनी चाहिए :—

(१) साक्षीमें देशगत लम्बाई-चौड़ाई नहीं होती। लम्बाई-चौड़ाईका प्रकाशक साक्षी होता है। किसी देश-विशेषमें साक्षी नहीं रहता, स्वयं देश साक्षीमें रहता है।

(२) साक्षीमें कालगत उम्र नहीं होती। सौ-पचास वर्षकी उम्रका ज्ञान साक्षीसे होता है। किसी काल-विशेषमें साक्षी नहीं रहता, स्वयं काल साक्षीमें रहता है।

(३) साक्षीमें द्रव्यगत वजन नहीं होता। साक्षी द्रव्यका साक्षी है। द्रव्य साक्षीकी सत्तामें कल्पित है।

(४) साक्षीमें सजातीय-विजातीय-स्वगत भेद नहीं होता। साक्षी भेदमात्रका साक्षी है, अतः साक्षी अभेद-स्वरूप है।

(५) साक्षी कभी दृश्य नहीं हो सकता किन्तु दृश्य साक्षीसे भिन्न भी नहीं रह सकता। इसलिए तीनों देह, पाँचों कोष, तीनों अवस्थाएँ समस्त अधिभूत, अधिदैव, अध्यात्म-सृष्टि कोई भी साक्षी नहीं हो सकते यद्यपि साक्षीके द्वारा ही ये प्रकाशित होते हैं। अहमर्थ भी प्रकाश्य होनेसे साक्षी नहीं है। ईश्वर भी बीजविशिष्ट होनेसे साक्षी नहीं है। अन्तःकरण-रूप अंकुर कल्पनासे विशिष्ट साक्षी जीव (अहमर्थ) है और मायारूप बीज-कल्पनासे विशिष्ट साक्षी ईश्वर है। स्वयं साक्षी निर्विशेष है—सन्मात्र, चिन्मात्र, आनन्दमात्र, अद्वितीय ब्रह्म।

(६) साक्षीका कोई कारण नहीं होता।

(७) साक्षीका कोई कार्य नहीं होता। साक्षी कार्य-कारणका साक्षी है।

(८) साक्षी अनेक नहीं हो सकता अन्यथा वे परस्पर दृश्य हो जायेंगे। इसलिए प्रतिशरीर साक्षी भिन्न नहीं हो सकते।

(९) साक्षी सुखी-दुःखी अथवा अभिमानी नहीं हो सकता। सम्पूर्ण अहमर्थका प्रकाशक है साक्षी।

(१०) साक्षी देहमें या किसी कोषमें या किसी अवस्थामें नहीं रहता। उल्टे सभी देह, कोष, अवस्थाएँ साक्षीमें साक्षी द्वारा भासमान होते हैं।

(११) सम्पूर्ण प्रपंचका प्रकाशक और अधिष्ठान साक्षी चेतन ही है क्योंकि साक्षीसे भिन्न कोई अनुभव सम्भव नहीं है।

(१२) अहमर्थमें इदन्ताका निषेध कर देनेपर साक्षी ही उपलब्ध होता है। अतः साक्षी अहमर्थसे विलक्षण है। किन्तु अहमर्थ साक्षीसे पृथक् नहीं है।

२. बीज और जीव

इस विश्व-प्रपंचमें ब्रह्मासे लेकर कीट-पतंगपर्यन्त ऐसा कोई प्राणी नहीं है जो दुःखसे परहेज न करता हो और उससे बचनेका यत्न न करता हो। बिना सीखे-सिखाये ही स्वाभाविक ही सबकी मृत्यु, अज्ञान और दुःखसे अरुचि होती है। विचार करके देखें तो जो दुःख बीत गया उससे छूटनेका कोई प्रश्न नहीं। जो प्रतीत हो रहा है, वह बीतता जा रहा है। जो आनेवाला है वह ज्ञात नहीं है; फिर दुःखसे छूटनेका क्या अर्थ हुआ ? जिन कारणोंसे दुःख होते हैं, उन कारणोंसे छुटकारा, सदाके लिए छुटकारा; सर्वत्र छुटकारा, सर्वरूपसे छुटकारा अर्थात् दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति। ऐसी स्थितिमें स्वाभाविक ही प्रश्न उठता है कि दुःखका कारण क्या है और उसके निवारणका उपाय क्या है ?

देहके साथ ही दुःखका उदय होता है। जन्म, मरण दोनोंमें ही दुःखका अनुभव होता है। रोग, वियोग, भोग, संयोग, अनुकूल-प्रतिकूल सब देहके सम्बन्धसे ही होता है। स्वाधीनता-पराधीनता भी इसीके साथ लगी हुई है। धर्म, कर्म, अवस्था, स्थिति, सब देहके ही बच्चे-कच्चे हैं। इस देहका सम्बन्ध ही दुःखका हेतु है। और सम्बन्ध क्या है—मैं-मेरेके रूपमें इसको स्वीकार करना। अपने स्वरूपका विवेक करें और अपने देहसे अलग समझ लें : 'नाहम् न मे' अर्थात् यह देह न मैं हूँ, न मेरा है। बस, देहके सम्बन्धमें जो कुछ कहा जाय कहा जाने दो, जो कुछ हो सो हो, जैसा रहे वैसा रहे, यह न मैं है, न मेरा है। मैं तो द्रष्टा, साक्षी, असङ्ग, उदासीन हूँ। अहं और ममके रूपमें देहको ग्रहण करना ही दुःखका उपादान है।

यह देह कहाँसे आया ? मैं–मेरा छोड़ देनेपर यह कहाँ चला जायेगा ? एक बार सम्बन्ध छोड़ देनेपर भी फिर वैसा सम्बन्ध नहीं हो जायेगा, इसका क्या आश्वासन है ? देह चाहे एक तत्त्वसे बनी हो या अनेकसे, जड़ धातुओंका घटन या गठन बिना धर्माधर्मके नहीं हो सकता और धर्माधर्म बनता है कर्मसे। कर्म होता है शरीरसे। फिर तो देहकी सन्तान-परम्परांका कभी उच्छेद नहीं होगा क्योंकि जैसे पहलेसे विहित और निषिद्ध कर्म होते आये हैं वैसे ही होते रहेंगे। देहसे कर्म और कर्मसे देह। ये दोनों बीज-वृक्षके समान अनादि परम्परासे चले आ रहे हैं। तब क्या जीवका जीवन एक बीजका जीवन है ? नहीं, दोनोंमें अन्तर है !

आपके हाथमें एक बीज है। यदि आप पहचानते हैं कि यह किस वृक्षका बीज है तो इसे देखते ही आप इसके पूर्व रूप और उत्तर रूपकी कल्पना कर सकते हैं। यह बीज कैसे मूल, तनों, डालियों, पल्लव एवं पुष्पोंको पार करता हुआ आया है और अब यह बोनेपर फिर उसीसे मिलता-जुलता रूप ग्रहण करेगा। किन्तु यह सब बीजमें नहीं दीखता यद्यपि सब उसमें समाया हुआ है। बीजको पृथिवी, जल, गर्मी, प्रकाश, वायु और आकाश सब कुछ चाहिए—खेत, खाद, सिंचाई। वह आर्द्र होगा, फूलेगा, फटेगा, अङ्कुरित होगा, बढ़ेगा। उसे देश चाहिए, काल चाहिए। यह सब होनेपर भी वह अपने स्वभावके अनुसार ही आकृति, रूप, स्वाद प्रकट करेगा। बीज अनादि परम्परासे चला आ रहा है। अन्तर्बहिः, ऊर्ध्व-अधः गति प्राप्त करता रहा है। यह तबतक चलता रहेगा जबतक इसका बीजत्व अग्नि आदिके द्वारा नष्ट न हो जाय।

अब आप एक जीवको अपनी कल्पनाके हाथपर लीजिये। उसमें एक विशेष प्रकारका जीवत्व है। उसको भी आविर्भाव-तिरोभावके लिए काल चाहिए, गमनागमनके लिए देश चाहिए, नाना प्रकारके रूप ग्रहण करनेके लिए द्रव्यकी आवश्यकता है; और इन सब क्रियाओंके लिए कर्म-सम्बन्धकी अपेक्षा है। बिना कर्मके उठना-गिरना, जीना-मरना अथवा आना-जाना नहीं हो सकता। एक ही वस्तु बिना कर्मके नाना आकारोंमें परिवर्तित नहीं हो सकती। यही कर्म प्राकृत जगत्में विकार या विक्रियाके नामसे कहे जाते हैं जो एक विशिष्ट प्रक्रियासे आकृतियोंकी एक धाराका निर्माण करते हैं। यही कर्म जीव-जगत्में कर्तृत्वपूर्वक किये जानेके कारण एक

विशिष्ट वासनाजन्य संस्कारका रूप ग्रहण करते हैं, जिससे उनकी संज्ञा धर्म या अधर्म हो जाती है।

चैतन्यकी प्रधानतासे जीव होता है और जड़त्वकी प्रधानतासे बीज। 'जीव' शब्दमें जो व-कार अक्षर है वह उसकी अन्तःस्थताका सूचक है और 'बीज' शब्दमें जो ब-कार अक्षर है बहिष्ठताका। बीज केवल निर्माणका हेतु है, परन्तु जीव निर्माण और प्रमाण दोनोंका। बीजकी शक्तियाँ केवल भौतिक द्रव्यमें रहती हैं और जीवकी भौतिक-अभौतिक दोनोंमें। जीवके बहिःकरण और अन्तःकरण दोनों जाग्रत् रहते हैं परन्तु बीजके करण मूर्च्छित रहते हैं। बीजमें धर्माधर्मकी उत्पत्ति नहीं होती, परन्तु जीव प्रमाण-वृत्तिका आधार होने एवं कर्ममें स्वतन्त्र होनेके कारण धर्माधर्मका आधार बनता है। बीज भोग्य-अंशप्रधान है तो जीव भोक्तृ-अंशप्रधान। इसलिए जीवका सुख-दुःख जाग्रत् है और बीजका सुषुप्त। जीव अपने धर्माधर्मके कारण ऊर्ध्व और अधोगति प्राप्त करता है, तो बीज प्रकृतिकी स्वाभाविक धारामें विवश होकर।

जीव भी प्रकृतिके राज्यमें ऊर्ध्वस्रोत, तिर्यक्स्रोत और अधःस्रोत, तीन प्रकारके होते हैं। प्रायः पहले दोनोंमें जड़त्वकी प्रधानता रहती है; धर्माधर्मका ज्ञान नहीं रहता। परन्तु अधःस्रोतमें (जो मनुष्य योनि है) उन्नतिकी पूर्णता हो जाती है। इसमें कर्म, ज्ञान और प्रेमके प्रकट होनेकी पूर्ण योग्यता है क्योंकि नवीन-नवीन कर्म करनेके लिए हस्तादि इन्द्रियोंका, नित्य-नूतन आविष्कार करनेके लिए बुद्धिका और आनन्दानुभूतिके लिए प्रेमका विकास स्पष्ट देखनेमें आता है। इस योनिमें सद्भाव, चिद्भाव और आनन्दभावके अनुभवकी पूर्ण योग्यता है। यह अपने अन्तःकरणमें विद्या और कर्मका संस्कार धारण करता है और पूर्व प्रज्ञाका उदय भी देखनेमें आता है। इसलिए धर्माधर्मका सम्पूर्ण दायित्व मनुष्यमें ही प्रकट होता है।

अधर्माचरण करनेसे देह, इन्द्रिय और मनपर जीवका नियन्त्रण शिथिल हो जाता है। इसलिए उन्हें फिर प्रकृतिके नियन्त्रणमें जाकर उद्भिज्ज, स्वेदज, अण्डज या मनुष्यसे इतर जरायुज होना पड़ता है। इसके विपरीत धर्माचरणसे देह, इन्द्रिय, मनकी शुद्धि और नियन्त्रणकी वृद्धि होने पर दैवी राज्यमें प्रवेशकी योग्यता मिलती है। दैवी राज्यमें भी पहले ऐन्द्रियक सुखका ही उत्कर्ष होता है; परन्तु एक इष्टकी अनन्य भावसे उपासना

करनेपर ऐन्द्रियक सुखसे विलक्षण इष्टदेव सम्बन्धी दैवी सुखका आविर्भाव होता है। धर्मसुखमें अनेक देवता, मन्त्र और विधि-विधानके कारण फलमें भी अनेकता होती है। उपासनामें एक इष्ट, मन्त्र, पद्धति और निष्ठा होनेके कारण भाव-प्रधान एकाग्र-वृत्तिमें भागवत-सुखका आविर्भाव होता है।

जीवका जो सांख्योक्त साक्षी-स्वरूप है वह अन्तःकरणका साक्षी है परन्तु प्रतिशरीर भिन्न-भिन्न है, असंग है और स्वयंप्रकाश चेतन है। अन्तःकरणके साक्षी स्वयंप्रकाश चेतनका देश, काल और द्रव्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। वृत्तियोंके निरोधसे यही द्रष्टा आत्मस्वरूपमें स्थित हो जाता है। तब यह देशकृत गमनागमन, कालकृत जन्म-मरण और द्रव्यगत योनि-परिवर्तनसे मुक्त हो जाता है। उपाधियोंसे असंग हो जानेके कारण उस समय यह द्रष्टा अपने स्वरूपमें अवस्थित होता है, परन्तु समाधि टूट जानेपर इसका फिर वृत्ति-सारूप्य हो जाता है। इसलिए वृत्तियोंके नियन्ता द्वारा इसका भी नियन्त्रण और जन्म-मरण आदि शक्य हो जाता है।

वेदान्तके अनुसार जीवका जो साक्षी स्वरूप है वह ब्रह्म ही है। अतः वेदान्तोक्त जीव और ब्रह्मके स्वरूपोंका अनुसन्धान करके जो वेदान्तके महावाक्यों द्वारा उन दोनोंकी सिद्ध एकताका आत्माके रूपमें अनुभव कर लेता है, उस जीवके लिए देश-कालादिका बाध अर्थात् मिथ्यात्व निश्चय हो जाता है। तब जन्म-मरणादिकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। जब तक वृत्तिमें सत्यता और उसके साथ तादात्म्य रहेगा, तबतक भेदकी सत्यता, द्रष्टाकी अनेकता और ईश्वरकी पृथक्ताको कोई मिटा नहीं सकता, और तबतक जन्म-मरणका प्रवाह बना रहेगा।

बीजत्व भौतिक होनेसे भौतिकाग्निसे नाश्य है यद्यपि वह अनादि है। परन्तु जीव चेतन होनेसे भौतिकाग्नि द्वारा नाश्य नहीं है। इसका वृत्तियोंके मूलभूत वासना बीज-संस्कारोंके साथ अविद्यामूलक तादात्म्य है; इसलिए ज्ञानाग्निके द्वारा अविद्याका दाह हुए बिना जीवका जीवत्व निवृत्त नहीं हो सकता।

जीव चेतन है; उसकी जीवन-सत्ता अनादि-अनन्त है। वह देश, काल और द्रव्यकी कल्पनाको अपनी दृष्टिमें धारण करता है। देश, काल और द्रव्यकी भासमानता बाधित है और चेतनका स्वरूप सर्वथा अबाधित।

अनुभवकी प्रणालीमें अपना नास्तित्व नहीं है। कोई भी यह अनुभव नहीं कर सकता कि मैं नहीं हूँ। इसलिए जीवका वास्तविक स्वरूप अनन्त और अद्वय है। वह अपनी कल्पनामें ही भासमान कालके साथ तादात्म्यापन्न होकर अपनेको नित्य, देशके साथ तादात्म्यापन्न होकर व्यापक और द्रव्यके साथ तादात्म्यापन्न होकर सर्वात्मा समझता है। वस्तुतः नित्यता, व्यापकता और सर्वात्मकता भी उसके यथार्थ-स्वरूप नहीं हैं, कल्पित दृश्यमें तादात्म्यके कारण ही हैं। अधिष्ठान चेतन ही वस्तुतः जीवका यथार्थ स्वरूप है और उसमें द्वैतकी किंचित् भी गन्ध नहीं है। बाधित भासमानताका कोई मूल्य नहीं है। वस्तुतः बीजत्व और जीवत्व आविद्यक है। बीजसत्ता और जीवसत्ता दोनों ही अखण्ड चिन्मात्र सत्तासे अभिन्न है।

अब एक बार फिर पहली बातपर लौट चलें। किसी भी वस्तुमें अनेकाकारताका क्या कारण है? विक्रिया अथवा क्रिया। विक्रिया प्राकृत अथवा स्वाभाविक है, परन्तु क्रिया कर्ताके द्वारा अनुष्ठित है। क्रिया धर्माधर्मसे अनुविद्ध रहती है क्योंकि उसके मूलमें प्राप्ति अथवा परिहारकी इच्छा रहती है। इसी इच्छाकी दृढ़ता-अदृढ़तासे विहित-प्रतिषिद्ध क्रियाका आचरण होता है। अध्यास अज्ञानमूलक है, इसलिए जबतक अज्ञान रहेगा तबतक अध्यास रहेगा और तबतक वासनाकी निवृत्ति न होनेके कारण जन्म-मृत्युका चक्र भी निवृत्त नहीं हो सकता। इस चक्रकी निवृत्तिके लिए ही वेदान्त-ज्ञानकी अपेक्षा है। यदि कालकी प्रधानतासे जन्म-मरण, देशकी प्रधानतासे गमनागमन, द्रव्यकी प्रधानतासे योनि-परिवर्तन, ईश्वर द्वारा नियन्त्रित कर्मफल न होता और अज्ञानी जीव इस फलको भोगनेके लिए बाध्य न होता तो तत्त्वमस्यादि-महावाक्यजन्य ज्ञानकी आवश्यकता ही न होती और सम्पूर्ण वेदान्तका श्रवण, मनन, निदिध्यासन व्यर्थ ही हो जाता। ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानकी आवश्यकता ही इसकी निवृत्तिके लिए है।

यावद्धेतुफलावेशः संसारस्तावदायतः।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते॥

(माण्डूक्य कारिका ४. ५६)

"जबतक हेतु और फलका आग्रह है तबतक संसार विस्तीर्ण है। हेतु और फलके आवेशके क्षीण होनेपर विद्वान् संसारको प्राप्त नहीं होता।"

जब आत्माको ब्रह्म (अर्थात् देश-काल-वस्तु परिच्छेद रहित, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद शून्य) न जानकर यह बात मानी जाती है कि मैं धर्म-अधर्मका कर्ता और उसके फल सुख-दुःखादिका भोक्ता हूँ, तब जन्ममरण-रूप संसारकी वृद्धि हो जाती है। जब ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानसे अज्ञानमूलक कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व, संसारित्व, परिच्छिन्नत्व आदि बाधित हो जाते हैं तब जन्म-मरण, गमनागमन आदि अनर्थमय संसारकी निवृत्ति हो जाती है। इसलिए तत्त्व-ज्ञानसे पूर्व पुनर्जन्म और परलोकको न मानना वेदान्त-विद्यासे विमुख करने वाला है और घोर अनर्थमें फँसानेवाला है।

यह बात सर्वथा वेदान्त-सम्मत और युक्तियुक्त है कि जीवका जीवन अखण्ड चिन्मात्र सत्ता ही है। अज्ञानके कारण ही भेद-भ्रम होता है। भेदमात्र प्रातिभासिक है। भेद वस्तु-सत्य नहीं है और तत्त्वतः अपने स्वयं प्रकाश अधिष्ठान आत्मासे भिन्न नहीं है।

३. जीवका शुद्धस्वरूप : अखण्ड सच्चिदानन्द अर्थात् स्वयंप्रकाश ब्रह्मसुख

जीवमात्र सुख चाहता है—सुख भी ऐसा जो सर्वदा मिले, सर्वत्र मिले और सबसे मिले, जिसके लिए परिश्रम न करना पड़े, जो पराधीन न हो एवं जिसका भान होता रहे।

इतनी उच्चकोटिकी महत्त्वाकांक्षा होनेपर भी यह एक विचित्र-सी बात है कि उसकी प्राप्तिके साधनके सम्बन्धमें सब एकमत नहीं हैं। कोई किसी देशमें पहुँचकर सुखी होनेमें विश्वास रखते हैं; तो कोई परिस्थिति-विशेष उत्पन्न करके सुखी होनेकी चेष्टा कर रहे हैं। कोई किसी वस्तुकी प्राप्तिके लिए क्रियाशील है, तो कोई लोकहितकारी श्रमकी प्रतिष्ठामें ही लगे हुए हैं। कोई हाथ जोड़कर किसी दूसरेसे सुखकी भिक्षा माँग रहे हैं, तो कोई चेतनाशून्य होनेका उपक्रम कर रहे हैं। जितने जीव, उतनी मति और उतने ही मत—जैसे कुएँमें ही भाँग पड़ गयी हो। सुखके लिए भोग करें कि संयम? त्याग करें कि संग्रह? कर्म करें कि संन्यास? नाचें-कूदें कि समाधि लगायें? किसीकी स्मृति करें अथवा सबका विस्मरण कर दें? होशमें रहें कि बेहोश हो जायँ? इतने मतभेदका एक ही कारण है कि जो सुख हम चाहते हैं उसका ठीक-ठीक स्वरूप हमने निश्चित नहीं किया है तभी तो तात्कालिक, अपूर्ण, श्रमसाध्य स्थिति और पराधीनता आदिमें ही अपना

इष्ट सुख मिलनेकी भ्रान्तिसे ग्रस्त हो रहे हैं और शान्तिके स्थान पर श्रान्ति और क्लान्तिका अनुभव कर रहे हैं !

सीमित देशकालमें सीमित वस्तु, व्यक्ति और श्रमसे सीमित चित्तवृत्तिमें सीमित भोक्ता अहंको असीम सुखकी प्राप्ति नहीं हो सकती। श्रम असीम नहीं हो सकता क्योंकि श्रमकी प्रतिक्रिया विश्राम है, वह चाहे सुषुप्ति हो या समाधि ! जिसे आप अपने इष्ट-सुखके रूपमें पहचान रहे हैं, उसे आप इस कसौटी पर परखिये : क्या वह अभी है ? क्या वह यहीं है ? क्या वह यही है ? क्या वह अनायास-सिद्ध है ? क्या वह अपराधीन है ? क्या वह नित्य भासमान है ? जो सुख अभी है, यहीं है, यही है, अनायास-सिद्ध है, अपराधीन है और नित्य भासमान है वह अपरोक्ष ही है किन्तु भूलसे उसे पहचानते नहीं हैं, और उसके लिए आयास, स्थिति अथवा कृपाकी अपेक्षा-प्रतीक्षा करते हैं। यह एक बौद्धिक असंगति, असमञ्जस विचार अथवा भ्रान्तिका विलास है। इष्टसुखकी प्राप्तिके लिए यही दूर होना चाहिए।

वस्तुतः हम भासमान सुख चाहते हैं क्योंकि सुखकी परोक्ष सत्ता नहीं होती। सुख जब होता है तब अपरोक्ष ही होता है—प्रमाण-प्रमेयके व्यवहारसे होनेवाली अपरोक्षता नहीं, साक्षिभास्य अपरोक्षता। साक्षी स्वयं सुखरूप है किन्तु अविद्यावृत्तिसे (अर्थात् अपनी ब्रह्मताका ज्ञान न होनेके कारण) सुखको अन्यरूपसे प्रकाशित करता है। इसीसे भास्यगत अवस्थाओंके परिवर्तनके कारण सुखका भी परिवर्तन मान बैठता है और जाग्रदादि वृत्तियोंसे तादात्म्यापन्न होकर अपनेको कभी सुखी, कभी दुःखी मानने लगता है।

यह विचार करने योग्य है कि हम चित्तवृत्तिके किसी सविषय, निर्विषय आकार-विशेषको ही तो सुख मानने नहीं लगते ! यदि ऐसा है तो वह आकार-विशेष औपाधिक होगा, कालिक होगा, दैशिक होगा। इसलिए आकार-विशेषसे सुखकी उपलब्धि भ्रान्ति सिद्ध होगी।

तत्त्वदृष्टिसे सुख भानमात्र ब्रह्म है। व्यावहारिक सुखकी क्षणिकतासे भानमात्र सुख अर्थात् ब्रह्म क्षणिक नहीं हो सकता क्योंकि क्षणिकता उपलब्धिका विषय है और सुख उपलब्धिस्वरूप, अकाल, अदेश और अविषय है। इसका तात्पर्य यह है कि उपलब्धि ही ब्रह्म है और ब्रह्म अविनाशी सत्, सर्वावभासक, परिपूर्ण, चित् तथा जीवमात्रका इष्ट और

सुखस्वरूप प्रज्ञान ही है। किस कालमें, किस देशमें, किस स्थितिमें, किस रूपमें, श्रमसे या बिना श्रमसे, किसीके दिये या बिना दिये, होशमें या बेहोशीमें, किस आकार या आकाराभावकी उपलब्धि हो रही है—इससे उस प्रज्ञान-स्वरूप सुखका कोई प्रयोजन नहीं है। वे सभी उपलब्धियाँ प्रज्ञानमात्रसे भिन्न तो हैं ही नहीं, परिणाम भी नहीं हैं। प्रज्ञानके तत्त्विक-रूपसे विपरीत वर्तनेके कारण उन्हें विवर्त तो कहा जा सकता है परन्तु परमार्थतः वे सब प्रज्ञान ब्रह्मस्वरूप ही हैं।

प्रज्ञान क्या ? प्रकृष्ट ज्ञान, शुद्ध ज्ञान। लोक व्यवहारमें ज्ञान शब्दका व्यवहार ज्ञाता और ज्ञेयसे युक्त अर्थमें ही होता है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयकी त्रिपुटी लोकव्यवहारमें सर्वत्र विद्यमान रहती है। लोकका ऐसा कोई ज्ञान नहीं जिसका कोई-न-कोई विषय न हो और कोई-न-कोई अभिमानी ज्ञाता न हो। वास्तवमें तो एक ज्ञान ही ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेय तीन रूपोंमें व्यवहृत होता है। फिर भी अद्वैत-ज्ञानके बिना द्वैतका मिथ्यात्व नहीं होता और ज्ञानकी केवलता आवृत रहती है। अज्ञान-दशामें भासमान यह त्रिपुटी ज्ञानमें आरोपित अशुद्धि है। इस अशुद्धिके निराकरणके लिए ज्ञानके शुद्ध स्वरूप 'प्रज्ञान'का निरूपण आवश्यक है। वस्तुतः ज्ञान ज्ञेय-सापेक्ष नहीं है क्योंकि ज्ञान ज्ञेयके अभावको भी प्रकाशित करता है। अभाव अधिष्ठानसे भिन्न कोई वस्तु नहीं है; अधिष्ठानके अज्ञान-पर्यन्त ही उसकी भिन्नता रहती है। ज्ञेय और ज्ञाता सापेक्ष हैं। ज्ञान ज्ञातृ-सापेक्ष भी नहीं है क्योंकि ज्ञान ज्ञातृत्वके अभावका भी प्रकाशक है। ज्ञान और ज्ञान भी सापेक्ष नहीं हैं क्योंकि ज्ञान तो एक ही है। इसलिए ज्ञेयत्व और उसके अभाव, ज्ञातृत्व और उसके अभाव— इन सबसे अपरिच्छिन्न, इनमें परिपूर्ण, इनका अधिष्ठान और इनका प्रकाशक जो स्वयंप्रकाश ज्ञान है, वह किसीके प्रति सापेक्ष नहीं है। वह भेदमात्रका प्रकाशक अधिष्ठान है। इसलिए ज्ञानका शुद्ध स्वरूप ज्ञाता और ज्ञेयके भेदसे रहित ही है। यहाँ 'ज्ञेय'का अर्थ दृश्यमात्र है और 'ज्ञाता'का अर्थ जीव और ईश्वर दोनों है। इसलिए जगत्, जीव और ईश्वरके विभागसे रहित, स्वयंप्रकाश और स्वयमेवाधिष्ठान, असत् द्वैतका प्रकाशक और प्रकाशकत्व रहित प्रकाश ही अद्वितीय ब्रह्म है। यह अज्ञान सापेक्ष भी नहीं है क्योंकि वह अज्ञानका भी प्रकाशक है। अज्ञान सदसद्विलक्षण अनिवर्चनीय है और अधिष्ठानमें आवरक रूपसे कल्पित है। कल्पित पदार्थसे स्वयंप्रकाश ज्ञानमें सापेक्षता नहीं आ सकती। सापेक्ष

पदार्थ मिथ्या होता है और निरपेक्ष सत्य। यही निरपेक्ष सत्य ब्रह्म है तथा यही ब्रह्म उपनिषदोंमें प्रज्ञान शब्दसे कहा गया है।

माला ज्ञेय है, नेत्र ज्ञान (ज्ञानका करण) है और नेत्रवाला 'मैं' ज्ञाता हूँ। सच्चाई यह है कि परिच्छिन्न ज्ञाताका जो अधिष्ठान चेतन है वही ज्ञेयका भी है और वही नेत्रका भी है। किन्तु उस अपरिच्छिन्न अधिष्ठानका ग्रहण न होनेके कारण वह ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय इन तीन रूपोंमें भास रहा है। अपरिच्छिन्नताका बोध होनेपर तीनोंकी आभासमात्रता नष्ट हो जाती है। इसलिए अधिष्ठान चेतन-रूप प्रज्ञान सत्य है और त्रिपुटी उसमें मिथ्या प्रतीति है। अनेक ज्ञेय, अनेक ज्ञान-करण और अनेक अभिमानी सब उसी एक अविच्छिन्न प्रज्ञानके विवर्तमात्र है। प्रज्ञानकी अखण्डताको न जानना अज्ञान है। अपनेको और विषयोंको खण्ड-खण्ड जानना भ्रान्ति है। इस भ्रान्तिके निवारणके लिए प्रज्ञान-पदार्थका शोधन उपयोगी है।

प्रज्ञान चेतनमें ये त्रिपुटियाँ क्या हैं ? निश्चित रूपसे ये चिदाभास हैं। प्रकाशक चेतन प्रकाशनके लिए भिन्न-प्रकाश्य न होनेके कारण, और अपनी अपरिच्छिन्नता और चेतनता प्रकाशनके योग्य न होनेके कारण, अपने आपको ही अपने स्वरूपसे विपरीत रूपमें प्रकाशित कर रहा है। जैसे आकाशकी अपरिमेयता जब नेत्र द्वारा प्रकाशित नहीं हो पाती, तब नीलिमाके रूपमें—निराकारताके विपरीत साकारताके रूपमें—भासने लगती है; इसी प्रकार अपना प्रत्यगात्मा ही अविषय होनेके कारण पराक् विषयके रूपमें भास रहा है। चेतन जड़के रूपमें, अविनाशी विनाशीके रूपमें, पूर्ण परिच्छिन्नके रूपमें, अद्वितीय द्वैत रूपमें स्व अन्यके रूपमें भास रहा है। जो भी प्रज्ञानको विषय बनानेका प्रयत्न करेगा वह प्रज्ञानको जड़ अथवा परिच्छिन्न रूपमें ही विषय करेगा। इसलिए वह प्रज्ञान न होकर प्रज्ञानका विवर्त ही होगा। अतः श्रुति प्रज्ञानका शोधन करके उसको अन्य रूपमें नहीं जिज्ञासुके स्वरूपके रूपमें ही उपदेश करती है कि तुम्हीं प्रज्ञान ब्रह्म हो। साक्षी ही प्रज्ञान है। इसीसे किसी भी धर्म, उपासना अथवा योगके फल रूपमें या किसी भी करणके विषय-रूपमें या स्वयं अपने ही भास्य रूपमें प्रज्ञानका साक्षात्कार नहीं हो सकता। सभी साधन अपने-अपने व्यावर्त्यकी व्यावृत्ति करके कृतार्थ हो जाते हैं। यहाँतक कि महावाक्यजन्य ज्ञान भी अज्ञानकी निवृत्तिके साथ-ही-साथ स्वयं निवृत्त अथवा बाधित हो जाता है और पूर्ववत् प्रज्ञान ही प्रज्ञान शेष रहता है।

ऐसा कह सकते हैं कि प्रज्ञान ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयकी त्रिपुटीमें व्यापक है। परन्तु प्रज्ञानमें व्याप्य-व्यापक भाव कल्पित रीतिसे ही है। तेजो (बिन्दु) उपनिषद् स्पष्ट रूपसे कहती है कि **'व्याप्यव्यापकता मिथ्या'**। जैसे भूत, भविष्य, वर्तमानमें काल व्यापक है किन्तु कालसे भिन्न भूत, भविष्य, वर्तमान नामका कोई पदार्थ नहीं है, तब कौन किसमें व्यापक होगा? वस्तुतः क्रमको स्वीकृति देकर कालमें त्रित्वकी कल्पना की गयी है। इस त्रित्वके अधिष्ठान कालको अथवा प्रकाशक चेतनको इस त्रित्वका कुछ भी पता नहीं है, वह तो मनुष्यकी बुद्धिका विलास है अथवा पारिभाषिक शब्दोंमें अध्यास है। इसी प्रकार ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयकी त्रिपुटी एक बुद्धि-विलास है, उसमें प्रज्ञानकी व्यापकता भी बुद्धि-विलास ही है। प्रज्ञानसे भिन्न त्रिपुटी कुछ है ही नहीं। तब कौन किसमें व्यापक होगा? विभाग-शून्य दिक्तत्त्वमें पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण, ऊपर-नीचेका विभाग सर्वथा कल्पित है। दिक्तत्त्वकी कल्पनासे उपहित चैतन्यमें अथवा उसके अधिष्ठानभूत सत्में दिक्विभाग ही अनुपपन्न है। फिर भी विषयनिष्ठ विभाग अर्थात् घट-पटादि पदार्थोंकी लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई, बाहर-भीतर आदिकी सारी कल्पनाएँ दिक्तत्त्वके सिर मढ़ी जाती हैं। यह अन्यका अन्यके ऊपर आरोप है। क्या दिक्तत्त्वका पूर्वपश्चिमादिके साथ व्याप्य-व्यापक सम्बन्ध है? राम कहो! अपने स्वरूपके साथ किसी वस्तुका कोई सम्बन्ध नहीं हुआ करता, तादात्म्य सम्बन्ध भी नहीं। पूर्णका किसीके साथ तादात्म्य सम्बन्ध हो सकता है क्या?

एक अद्वितीय अखण्ड सत्तामें आकाशादिका विभाग न कालमूलक है, क्योंकि परिणाम नहीं है; न गतिमूलक है, क्योंकि क्रिया और देश नहीं है; और न तो स्वभावमूलक है, क्योंकि किसी भिन्न-से-भिन्न स्वभावका निरूपण ही सम्भव नहीं है। नाम-रूपमूलक भी नहीं है, क्योंकि वे तो प्रमाण-प्रमेयके व्यवहार कालमें ही होते हैं। तब, असलमें कालमें वर्तमानादि विभागके समान, देशमें पूर्वादि विभागके समान ही मूलभूत ब्रह्मसत्तामें पञ्चभूत और उसमें कल्पित नाम-रूप सर्वथा मिथ्या हैं। इसी बातको समझानेके लिए श्रुति, शास्त्र एवं महात्मागण स्वप्न तथा रज्जु-सर्पादिका दृष्टान्त देते हैं। 'त्वं'-पदार्थके शोधनमें स्वप्नका और 'तत्'-पदार्थके शोधनमें रज्जुसर्पादिका दृष्टान्त है और तत्त्वतः ऐक्यके बोधनमें कोई दृष्टान्त नहीं है। इसलिए प्रज्ञान ब्रह्मकी व्यापकता समझानेके लिए प्रत्यक् चैतन्यकी

दृष्टिसे यह कहना उचित ही है कि स्वप्नके पदार्थ उस देश और कालमें भास रहे हैं जब और जहाँ वे सर्वथा असत् हैं। इसी प्रकार प्रज्ञान ब्रह्ममें सकल त्रिपुटियाँ अपने विषयों और भेदों सहित मिथ्या हैं; दूसरे शब्दोंमें दृश्यमान प्रपंच प्रज्ञानमें सर्वथा मिथ्या है। साथ ही जैसे रज्जु देशमें अपनी प्रतीतिके कालमें ही प्रतीयमान सर्प मिथ्या है, इसी प्रकार तत्-पदार्थरूप अखण्ड चेतनसत्तामें यह दृश्यमान प्रपंच प्रतीति समकाल ही मिथ्या है। दृश्यमान प्रपंचका मिथ्यात्व निश्चय हो जानेपर प्रत्यगात्मा और अधिष्ठान चैतन्य-रूप परमात्मामें भेद करनेवाली कोई भी वस्तु नहीं रहती। वस्तुतः भेद ही प्रपंच है और यह अपने स्वरूपभूत प्रज्ञान ब्रह्ममें बिना हुए ही भास रहा है। प्रज्ञान ब्रह्ममें व्यापकता और व्याप्यता दोनों व्यवहारकी दृष्टिसे कल्पित हैं, परमार्थतः व्याप्तिमात्र ही है।

वेदान्त-विचारमें अन्यमें अन्यकी व्याप्तिको व्यापकता नहीं कहते। लोहेमें अग्निकी व्यापकता अथवा दूधमें घीकी व्यापकता—ये सब दृष्टान्त वास्तविक व्यापकताके नहीं हैं। क्योंकि इनकी व्यापकता काल-परिच्छेद अथवा क्रिया-परिच्छेद है। वास्तविक व्यापकता तो उपादान कारण की अपने कार्यमें उपस्थिति है। कार्य नष्ट होकर जिसमें मिल जाता है अर्थात् कार्य जिस द्रव्य से बना है, कार्यका आकार जिसमें गढ़ा गया है, कार्यमें उसके वजनके रूपमें जो उपस्थिति है, उसीको उपादान कारण कहते हैं—जैसे घटमें मृत्तिका, तरंगमें जल, लपटमें अग्नि, प्राणमें वायु, घटाकाशमें महाकाश, स्वप्नमें स्वप्नद्रष्टाकी दृष्टि। घट-मृत्तिकाके उदाहरणमें भी केवल मृत्तिका ही उसका उपादान नहीं है, बल्कि पंचभूत ही उसके उपादान हैं। इसलिए घटके शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—सबमें पंचभूतोंकी उपस्थिति है। घट पंचभूतोंसे भिन्न नहीं है। घट फूट जाने पर भी पंचभूत रहता है। इसी तरह तरंग, लपट, प्राण आदिके सम्बन्धमें भी समझ लेना चाहिए। स्वप्नदृष्टिकी उपादानता और रज्जु-सर्प अधिष्ठानके अज्ञानसे होनेवाले कार्यके दृष्टान्त हैं। वे भी अपने उपादानसे भिन्न नहीं होते। प्रज्ञान ब्रह्मकी व्यापकता समझानेमें इन सभी दृष्टान्तोंके उपयोगी होनेपर भी वस्तुतः उसकी व्यापकता ठीक-ठीक समझायी नहीं जा सकती क्योंकि ये सब दृष्टान्त दृश्य अथवा जड़से सम्बद्ध हैं, और प्रज्ञान ब्रह्म चेतन है। जहाँ भी चेतन उपादान कारण होता है वहाँ वह वस्तुतः कार्य-कारणके

भेदसे रहित होता है। इसलिए चेतनकी व्यापकता चेतनसे भिन्न अन्य पदार्थका न होना है अर्थात् उसकी पूर्णता ही है।

कार्य-कारणरूप व्याप्य-व्यापकभाव दृश्यमें ही होता है, उसके प्रकाशक एवं अधिष्ठान चेतनमें नहीं। इसलिए दैशिक, कालिक और वैषयिक परिणममानताका सम्बन्ध प्रज्ञान ब्रह्मके साथ नहीं जोड़ा जा सकता। देश, काल और कार्य-कारणके अभावके अधिष्ठान और प्रकाशक प्रज्ञान-ब्रह्ममें उसीसे प्रकाशित देश, काल और विषय अपने अधिष्ठाननिष्ठ अत्यन्ताभावके प्रतियोगी होनेके कारण मिथ्या हैं। दृश्य, विकारी और परिच्छिन्न होनेके कारण भी वे स्वतन्त्र, अविनाशी और परिपूर्ण नहीं हैं। ऐसी स्थितिमें प्रज्ञान ब्रह्मकी उपलब्धिके लिए कब, कहाँ, किस रूपमें और किस रीतिसे अनुसन्धान करना चाहिए?

आश्चर्य है कि प्रज्ञान ब्रह्मको ढूँढनेके लिए किसी समय, अवस्था या परिस्थितिकी प्रतीक्षा या अपेक्षा करते हैं! कालकी कोई कला इस प्रज्ञानसे खाली नहीं है; अपनी मृत्यु, परिवर्तन अभाव एवं जन्मकी कल्पना भी यह नहीं कर सकता क्योंकि प्रज्ञान उनका साक्षी और प्रकाशक है। तब इसी क्षण, क्षणके अधिष्ठान और प्रकाशकके रूपमें इसकी उपलब्धि क्यों नहीं हो रही है?

आश्चर्य है कि प्रज्ञान देशकी कल्पना-जल्पनासे अल्पमात्रामें भी संस्पृष्ट न होने पर भी; अन्तर्देश, बहिर्देश, अन्तराल देशके त्रित्वसे सर्वथा विनिर्मुक्त होनेपर भी; उस त्रित्वकी कल्पनाका अधिष्ठान एवं प्रकाशक होने पर भी; अन्तर्मुखता, बहिर्मुखता आदि दैशिक अवस्थाओं, परिस्थितियोंसे तथा गमनागमन, अणुत्व, विभुत्व, मध्यमपरिमाणत्व आदिसे सर्वथा रहित होनेपर भी; इसी समय, इसी देशमें समय और देशकी परिच्छिन्नताके अधिष्ठान एवं प्रकाशकरूपसे क्यों नहीं उपलब्ध हो रहा है, जबकि वह अपनेमें कभी अपूर्णता, परिच्छिन्नता आदिरूप परिमाणको आरोपित नहीं कर सकता? प्रज्ञान तो देशकी भावाभावकी कल्पनाका साक्षी चिन्मात्र वस्तु है। उस उपलब्धिस्वरूप परिपूर्णकी उपलब्धिके लिए अन्तर्देशके निभृततम प्रदेशमें प्रवेशकी प्रतीक्षा और अपेक्षा क्यों है? इसी देशमें उसका समीक्षण एवं निरीक्षण क्यों नहीं होता?

आश्चर्य है कि इसी देशमें जो भी आकार, विकार, प्रकार, संस्कार अनुभवके विषय हो रहे हैं, वे सबके सब अपने विवर्ती उपादान चेतनमें उसीके द्वारा प्रकाशित होनेपर भी और तत्त्वतः उससे अभिन्न होनेपर भी क्यों उससे भिन्नरूपसे बुद्धिके विषय हो रहे हैं, जबकि वह अविनाशी, परिपूर्ण, अद्वितीय चेतन-सत्ता देश-कालसे रहित सर्वके रूपमें भास रही है ?

जिसने कभी अपनेको विषय-विषयीके भेदसे युक्त अनुभव नहीं किया, उस प्रज्ञानकी उपलब्धिके लिए प्रमाण-प्रमेयरूप व्यवहारकी क्या आवश्यकता है ? यदि प्रज्ञान घटादिके समान प्रत्यक्ष होता तो प्रत्यक्ष प्रमाणकी आवश्यकता होती; यदि वह जगत्कर्ता ईश्वरके समान परोक्ष होता तो अनुमानकी आवश्यकता होती; और यदि उसके समान कोई और होता तो उपमानकी तथा अज्ञातरूपसे अन्य होता तो आप्तवचन (शब्द)की आवश्यकता होती। सुख-दुःखादि मानस-आभासोंके समान यदि प्रज्ञान होता तो उसमें साक्षिभास्यता होती। परन्तु इस सर्वाधिष्ठान, सर्वावभासक, स्वयंप्रकाश, प्रज्ञान ब्रह्मकी उपलब्धिके लिए किस करणकी अपेक्षा है या कौन-सा नवीन करण उत्पन्न करना है जबकि वह कभी किसी वस्तुको अपनेसे भिन्न अनुभव करता ही नहीं और किसीके अनुभवका विषय होता ही नहीं ?

सब आश्चर्योंमें बड़ा आश्चर्य तो यह है कि हम प्रज्ञान ब्रह्मको समाधि आदि किसी कालविशेषमें, ब्रह्मलोक आदि किसी देशविशेषमें और बुद्धिके विषय किसी-न-किसी आकार-विशेषमें प्राप्त करना चाहते हैं! उत्क्रान्ति और गतिमें देशका, चित्तके प्रतिलोम परिणाममें कालका और तदाकारवृत्तिमें विषय-विशेषका अतिक्रमण, उल्लङ्घन अथवा बाध नहीं हो पाता। इसलिए प्रज्ञान ब्रह्मकी उपलब्धिमें ये सारी प्रणालियाँ साक्षात् साधन नहीं बन सकतीं। उसके लिए तो शोधित अहमर्थकी उपलब्धि-प्रणाली ही सर्वोत्तम है। इस प्रणालीमें कालधर्म (मृत्यु, परिवर्तन आदि)से, देशधर्म (आन्तर-बाह्य आदि)से और विषयधर्म (दृश्यता आदि)से विलक्षणता आत्मामें स्पष्ट प्रतिभासित होती है। कोई भी अपने अभाव, जड़ता और अप्रियताका अनुभव नहीं कर सकता। इसलिए सुखस्वरूप प्रज्ञान ब्रह्मकी उपलब्धिके लिए दैशिक, कालिक एवं वैषयिक आकारोंमें

सुख-कल्पना एवं सुख-भावना करनेकी अपेक्षा प्रज्ञान-स्वरूप आत्माका अनुसन्धान ही कर्त्तव्य है।

यह शोधित अहमर्थ आत्मा (अर्थात् साक्षी चेतन, प्रज्ञान) क्या है ? इस अनुसन्धानके लिए अपने 'अहं' पदके लौकिक प्रयोग और उपयोग पर ध्यान देना चाहिए। अर्थात् जिस वस्तुके लिए हम 'मैं' शब्दका व्यवहार करते हैं, वह वस्तु क्या है ? जहाँ हम हैं, जब हम हैं और जो हम हैं, वहींसे हमारी खोज प्रारम्भ होगी; तब हम लक्ष्यको प्राप्त कर सकेंगे। इसलिए स्थूल, सूक्ष्म एवं कारण शरीरमें, जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओंमें, तत्तद् दृश्य परिस्थितियोंके अभिमानीके रूपमें, जिस-जिसमें हम मैं-मैंका व्यवहार करते हैं, उस-उस वस्तुकी परीक्षा करनी चाहिए कि वह 'मैं' है या नहीं। यदि 'मैं' शब्दका प्रयोग अशोधित अर्थमें होगा तो वह अवश्य ही प्रत्यक्ष 'यह'के लिए अथवा परोक्ष 'वह'के लिए होगा। निश्चय रूपसे 'मैं' पदका यह प्रयोग अशोधित अर्थमें होगा। और तब तो हम अपनी जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति अवस्थाओंको भी नहीं पहचान सकेंगे; उनसे विलक्षण जो आत्मस्वरूप है उसकी तो कथा ही न्यारी है। इससे पहिले पंचकोषका विवेक करना पड़ता है। तब एक शरीरकी जाग्रत्-अवस्था अपनी जाग्रत्-अवस्था नहीं रह जाती, बल्कि एक पग पीछे हटकर हम अपनेको जाग्रत्-अवस्थाके अभिमानीके रूपमें प्राप्त करते हैं। इसी अवस्था-विवेकसे वेदान्तका विचार प्रारम्भ होता है और हम अपने तुरीय-स्वरूप प्रज्ञान ब्रह्मको अपने स्वरूपके रूपमें जानकर अविद्या और उसके कार्यसे मुक्त हो जाते हैं।

इस समय जब हम मनुष्यरूपमें बैठकर 'मैं' पदके अर्थका शोधन, अनुसन्धान अथवा खोज करने जा रहे हैं, स्थूल शरीरमें स्थित अन्तरिन्द्रिय और बहिरिन्द्रियोंके द्वारा व्यवहार कर रहे हैं, यह स्पष्ट प्रतीत हो रहा है कि यह जाग्रत्-अवस्था है। इस अवस्थामें मनुष्य, व्यक्ति मैं-मैं पदका प्रयोग इस शरीरके लिए करता रहता है। मोटा-दुबला, काला-गोरा, लम्बा-नाटा इत्यादि शरीरके अनेक गुण-धर्मोंको अपनेमें आरोपित करता है और अपनेको स्थूल शरीर मानता है। यही पुरुष शरीरमें स्थित **कर्मेन्द्रियों द्वारा** किये हुए कर्मको अपना किया हुआ मानकर "मैं पाप-पुण्यका कर्ता हूँ" ऐसा अभिमान कर लेता है। करनेवाला, चलनेवाला, बोलनेवाला मैं हूँ, यही इस अभिमानका स्वरूप है। जब यह अपनेको

ज्ञानेन्द्रियों वाला मानता है तब "मैं देखता हूँ, सुनता हूँ, स्वाद लेता हूँ" इत्यादि अभिमान कर बैठता है और अपनेको ज्ञाता, भोक्ता मान बैठता है। आन्तर और बाह्य इन्द्रियोंके द्वारा सम्पन्न कर्म और ज्ञानको अपने आपमें थोपकर और उसके फल अथवा प्रतिफलके साथ अपनेको एक करके स्वतः सिद्ध होनेपर भी यह अपनेको फलरूपमें सुखी या दुःखी समझने लगता है। कर्म और ज्ञानके अनुसार संकल्प उठते हैं और फिर संकल्पके अनुसार कर्म होते हैं। यह चक्र जीवनभर चलता है; जन्म-पर-जन्म और मृत्यु-पर-मृत्युका कारण बनता है। यदि यह स्थिति वास्तविक हो तो यह कर्ता-भोक्ता जीव सर्वदा संसारी बना रहेगा और इस जन्म-मरणके चक्रसे कभी मुक्त नहीं हो सकेगा। इसी जन्म-मरणके चक्रको संसार कहते हैं और इसमें पड़े हुए 'मैं'को संसारी जीव।

विचार यह करना है कि कर्मेन्द्रियोंकी उपाधिसे कर्ता, फलवृत्तिकी उपाधिसे भोक्ता और जन्म-मरणरूप उपाधिकी कल्पनासे संसारी यह जीव वस्तुतः है क्या ? यदि यह तत्त्वतः परिच्छिन्न ही होता तब तो कर्म, विशेष ज्ञान, सुख-दुःख आदि संसारके प्रवाहमें इसका रच-पच जाना एक सहज बात होती और मुक्त होनेके लिए प्रत्यत्न करना भी व्यर्थ होता। परन्तु यह परिच्छिन्नता तो बिना खोज-बीनके, बिना किसी अनुभवके अविचारित ही मान ली गयी है। इसलिए इस अन्ध-परम्परासे प्राप्त मान्यता अथवा अविचारित अज्ञानमूलक स्वीकृतिको तत्त्व-ज्ञानके द्वारा निवृत्त करना आवश्यक है। तत्त्व-ज्ञानका अर्थ है ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान। ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानके अतिरिक्त इसकी निवृत्ति नहीं हो सकती। इसलिए उसके सम्पादनका प्रयत्न करना चाहिए। ●

पंचम खण्ड

तत्-पदार्थका शोधन

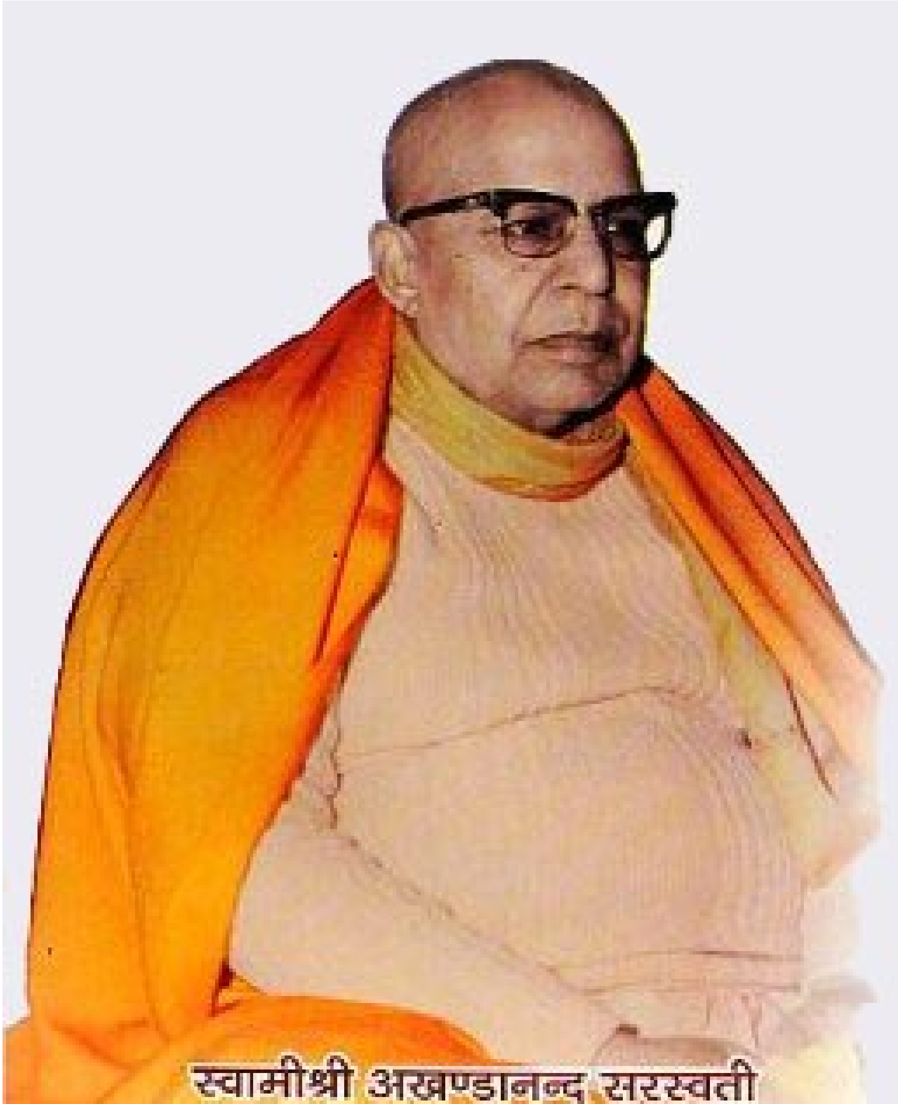
स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वती

ईश्वरतत्त्वका विचार

: १ :

१. ब्रह्मका तटस्थ लक्षण : जगत्कारणत्व

वेदान्त-दर्शनका प्रथम सूत्र है : अथातो ब्रह्मजिज्ञासा। अर्थात् साधन-चतुष्टय सम्पन्न मुमुक्षुको दुःखोंकी आत्यन्तिक निवृत्ति एवं परमानन्दकी प्राप्तिके लिए ब्रह्म-विचार करना चाहिए। प्रश्न यह है कि जिस ब्रह्मका विचार करना चाहिए उसका लक्षण क्या है ?

निर्विशेष ब्रह्मका लक्षण नहीं बन सकता, यह सामान्य विचार है। उसका तो अलक्षण ही लक्षण है। किन्तु श्रुति उसका लक्षण बताती है : **यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत्प्रयन्ति अभिसंविशन्ति। तद्विजिज्ञासस्व तद्ब्रह्म॥** (तैत्तिरीय० ३.१)। अर्थात् ये समस्त भूत-प्राणी जिससे उत्पन्न होते हैं, जिसके द्वारा उत्पन्न होकर जीवित रहते हैं, जिसकी ओर ये सब जा रहे हैं, अन्तमें जिसमें ये सब समा जाते हैं, वह ब्रह्म है, उसकी जिज्ञासा करो। ब्रह्मका यह लक्षण उपनिषदोंमें प्रचुरतासे प्राप्त होता है। वेदान्त-दर्शनमें भगवान् व्यासने इसीको यों सूत्रबद्ध किया है : **जन्माद्यस्य यतः** (ब्रह्मसूत्र १.१.२) अर्थात् इस जगत्के जन्म आदि जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है।

जगत्कारणत्वको ब्रह्मका लक्षण माननेमें आपत्ति यह हो सकती है कि कार्य और कारण दोनों सदोष होते हैं। कार्यमें दोष है विनाशी होना और कारणमें दोष है परिणामी होना। बीज गीला होता है, फटता है, फूटता है, तब उसमें-से अंकुर निकलता है और अंकुर बढ़ता है, फलता है, फूलता है और नष्ट हो जाता है। तब अविनाशी और कूटस्थ (अपरिणामी) ब्रह्मका जगत्कारणत्व लक्षण कैसे बनेगा ? इस आपत्तिका निराकरण यह है कि यदि ब्रह्मको जगत्कारण सिद्ध करनेके लिए उसका उक्त लक्षण बनाया जाता तब तो दोष होता, परन्तु ऐसा तो है नहीं। जगत्कारणत्वको ब्रह्मका लक्षण ब्रह्मकी अद्वितीयता (जीव, जगत्, ईश्वरका नित्य अभेद) सिद्ध करनेके लिए बताया जा रहा है।

लक्षण वह है जिससे वस्तु लखी जाय, देखी जाय, जानी जाय। **लक्षणप्रमाणाभ्यां वस्तुसिद्धिः**—यह दर्शनशास्त्रका प्रसिद्ध वचन है। लक्षण और प्रमाण दोनोंसे वस्तुकी पहचान होती है। लक्षण तीन दोषोंसे मुक्त होना चाहिए : **अव्याप्ति, अतिव्याप्ति** और **असम्भव**। जो लक्षण लक्ष्यमें व्यापे ही नहीं वह अव्याप्ति दोषवाला लक्षण है। जैसे कोई कहे कि जिसके खुर फटे न हों वह गाय है, तो यह लक्षण तो गायमें घटता ही नहीं क्योंकि गायके खुर फटे होते हैं। पुनः जो लक्षण लक्ष्यके अतिरिक्त अन्यमें भी व्यापे वह अतिव्याप्ति दोषवाला है। जैसे कोई कहे कि 'शृङ्गवत्वम् गोत्वम्' अर्थात् जिसके सींग हों सो गाय है। तो गायके सींग तो होते हैं परन्तु वे तो बकरी, भैंस, हरिणमें भी होते हैं। अतः 'सींग होना' गायका अतिव्याप्ति दोषवाला लक्षण है। अन्तमें, जो लक्षण कभी किसीमें घटित हो ही न सके वह असंभव लक्षण है। जैसे कोई कहे एक खुरवाला पशु गाय है तो यह असंभव लक्षण है क्योंकि किसी भी गायके एक खुर नहीं होता।

लक्षणके बारेमें एक सामान्य बात यह भी देखनेमें आती है कि लक्षण लक्ष्यमें ही रहता है। किन्तु यह अनिवार्य नहीं है; साथ ही लक्षणका सत्य होना भी अनिवार्य नहीं है। उदाहरणके लिए मान लो एक मनुष्यको साँप दीख रहा है और एक दूसरा मनुष्य है जिसको यह ज्ञान है कि यहाँ साँप नहीं रज्जु है। अब दूसरा आदमी पहलेसे कहता है : भाई जरा वह रस्सी ले आना ! पहला व्यक्ति कहता है : यहाँ तो साँप है, रस्सी कहाँ है ? अब दूसरा व्यक्ति क्या कहेगा ? यही न कि "भलेमानुस, वह रस्सी ही साँप बनी हुई है; जिससे साँपकी उत्पत्ति हुई, जिससे साँपकी स्थिति है और जिसमें साँपका विलय हो जाता है तथा जिसमें साँप तीन कालोंमें नहीं है, वही रस्सी है। वह जो सर्पाभावोपलक्षित वस्तु है, वही रज्जु है।" इस प्रकार सत्य रज्जुका मिथ्या-सर्प लक्षण बन गया जिसका अपने लक्ष्य (रज्जु)में प्रवेश तो है किन्तु वह रज्जुमें है नहीं।

इसी प्रकार 'जगत्के जन्मादि जिससे होते हैं वह ब्रह्म है' यह जो ब्रह्मका लक्षण है वह निर्विशेष एवं सत्य ब्रह्मको लखानेके लिए विशिष्ट एवं मिथ्या लक्षण है। ब्रह्मके स्वरूपमें जगज्जन्मादिकी स्थिति नहीं है और उससे लक्षित जो ब्रह्मका ईश्वर-स्वरूप (कारणस्वरूप) है वह भी ब्रह्मके निर्विशेष स्वरूपको ही लक्षित करानेके लिए है।

प्रश्न : यदि जन्मादि लक्षण ब्रह्ममें निष्ठित नहीं हैं तब तो अव्याप्ति दोष हुआ, क्योंकि वेदान्त-सिद्धान्तके अनुसार जन्मादि जगत्के होते हैं, ब्रह्मके नहीं।

उत्तर : यह दोष नहीं है। लक्षण दो प्रकारका होता है : **स्वरूप-लक्षण** और **तटस्थ-लक्षण**। शाखाचन्द्र न्यायसे 'पेड़की डालीसे दो हाथ ऊपर चन्द्रमा है' यह द्वितीयाके चन्द्रमाको लखानेकी विधि है। तो क्या चन्द्रमा वास्तवमें दो हाथ ऊपर होता है? नहीं, किन्तु इस कल्पित लक्षणसे चन्द्रदर्शन तो हो ही जाता है। इस प्रकार चन्द्रमाके स्वरूपमें न रहने पर भी दो हाथ ऊँचाई चन्द्रमाका तटस्थ लक्षण बनता है। और यदि यह कहा जाय कि 'आकाशमें सबसे अधिक प्रकाशमान हँसुआकी शक्लका जो नक्षत्र है वह चन्द्रमा है' तो यह द्वितीयाके चन्द्रमाका स्वरूप-लक्षण है। इसी प्रकार सर्प, माला आदिका भावाभाव रज्जुका तटस्थ लक्षण है।

जो लक्षण वस्तुके स्वरूपमें रहे और वस्तुको लखाये उसे **स्वरूप-लक्षण** कहते हैं; और जो लक्षण वस्तुके स्वरूपसे अलग रहे और फिर भी वस्तुको लखाये उसे **तटस्थ-लक्षण** कहते हैं।

तद्‌भिन्ने सति तद्‌बोधकत्वम् तटस्थलक्षणम्।
तदभिन्ने सति तद्‌बोधकत्वम् स्वरूपलक्षणम्।

यह जो 'जगज्जन्मादिका कारण' ब्रह्मका लक्षण बताया जा रहा है वह ब्रह्मका तटस्थ लक्षण है स्वरूप-लक्षण नहीं। इसलिए अन्यनिष्ठ होने पर भी जिज्ञास्य ब्रह्मका बोध करानेमें यह लक्षण समर्थ है।

भ्रान्तिसे सिद्ध जो विषय हैं वे मिथ्या विषय भी अपने अधिष्ठानके बोधक हो सकते हैं क्योंकि कोई भी भ्रम निरधिष्ठान नहीं होता। मिथ्या वस्तु बिना अधिष्ठानके नहीं होती। यही कारण है कि श्रुति जगज्जन्मादिके कारणत्वको ब्रह्मका लक्षण (तटस्थ) बताती है।

कार्यकी उत्पत्तिके लिए उसके अव्यवहित पूर्व क्षणमें जिसकी उपस्थिति अनिवार्य हो उसको **कारण** बोलते हैं। यह न्यायकी परिभाषा है। जैसे घड़ा बननेसे पूर्व मिट्टी, कुम्हार, चाक, डण्डा, सूत आदिका होना अनिवार्य है, अतः ये सब घड़ाके कारण हैं। अब इन कारणोंके दो विभाग कर लो : **समवायी** कारण और **असमवायी** कारण। समवायीका अर्थ है जो कार्यमें सदैव अनुगत रहे; कार्य बननेके बाद भी कार्यमें रहे। असमवायी कारण

वह है जो कार्य बन जानेके बाद कार्यमें न रहे। इस प्रकार घड़ेका समवायी कारण मिट्टी है और असमवायी कारण कुम्हार, चाक, डण्डा, सूत आदि हैं। वेदान्ती लोग समवायी कारणको **उपादान कारण** बोलते हैं : यत् उपादाय कार्यं प्रवर्तते। असमवायी कारणके पुनः दो विभाग कर लो : **निमित्त कारण और सहकारी कारण**। निमित्त कारण चैतन्य होता है, वह कर्ता होता है, जैसे कुम्हार। और जिनके सहयोगसे कर्ता कार्यको बनाता है वे सहकारी कारण हैं जैसे डण्डा, चाक, सूत आदि। प्रत्येक कार्यमें उपादान-कारण और निमित्त कारण दोनों होना अनिवार्य है।

श्रुतिका कहना है कि जिससे जगत्की उत्पत्ति होती है, स्थिति है और जिसमें इसका लय होता है वह कारण ब्रह्म है। उत्पत्तिका हेतु होनेसे ब्रह्म जगत्का निमित्त कारण है और प्रलयका अधिष्ठान होनेसे उपादान कारण है। घड़ा सदैव अपने उपादान मिट्टीमें ही फूटता है, निमित्त कुम्हारमें नहीं। अतः ब्रह्म जगत्का **अभिन्न निमित्तोपादान कारण** है। जो जगत्का केवल निमित्त कारण है या केवल उपादान कारण है वह ब्रह्म नहीं हो सकता। ब्रह्मको निमित्त कारण तो सब दार्शनिक मानते हैं, उपादान कारण सब नहीं मानते। किन्तु उपनिषदोंमें एकके विज्ञानसे सर्वके विज्ञानकी प्रतिज्ञा है और उदाहरण दिये हैं मिट्टीसे बने घड़ा, सकोरा इत्यादिके[1]। यह तभी सम्भव है जब जगत्का उपादान कारण भी ब्रह्म ही हो। इसीलिए वेदान्त-सूत्रोंने यह निर्णय दिया कि प्रकृति भी ब्रह्मका ही एक नाम है।[2]

लक्षण सदैव ज्ञात चीजसे बनता है और उससे पहचानी जाती है अज्ञात चीज। यह जगत् ज्ञात है, इसीसे इसके कारण अज्ञात ब्रह्मको पहचानना है। अर्थात् कार्यसे कारणकी पहचान करनी है।

नैयायिक कार्यसे निमित्त कारणका अनुमान करते हैं। उनके मतमें उपादान कारण तो प्रत्यक्ष ही रहता है, वह सदा कार्यमें अनुगत रहता है। जैसे घड़ाको देखकर मिट्टीका अनुमान नहीं होता क्योंकि मिट्टी तो प्रत्यक्ष है, बल्कि यह अनुमान होता है कि इसके बनानेवाला कोई कुम्हार अवश्य है; इसी प्रकार इस अति विचित्र एवं व्यवस्थित जगत्का रचयिता कोई-न-कोई अवश्य है और वह निमित्त कारण ईश्वर है, ऐसा अनुमान किया जाता है।

---

१. देखिए छान्दोग्य० अध्याय ६।

२. प्रकृतिश्च प्रतिज्ञादृष्टान्तानुपरोधात् (ब्र० सू० १.४.२३)।

सांख्योंके मतमें कार्यको देखकर उपादान कारण (प्रकृति)का अनुमान किया जाता है। सांख्योक्त प्रकृतिका प्रत्यक्ष नहीं हो सकता। वस्तुको देखकर पंचभूत, अहंकार, महत्तत्त्व, प्रकृतिके क्रमसे मूल उपादान कारण प्रकृतिका अनुमान करते हैं।

निमित्त कारण और उपादान कारण जब दोनों अलग-अलग हैं तब तो यह स्थिति हुई किन्तु जब अभिन्न निमित्तोपादान कारणता हो, जंसे ब्रह्मकी, तब ? जगत्‌में ऐसा कोई दृष्टान्त देखनेमें नहीं आता जहाँ निमित्त और उपादान कारण दोनों एक हों। मकड़ीके जालेका दृष्टान्त ठीक नहीं है क्योंकि वहाँ भी मकड़ीका चेतनांश ही निमित्त कारण है और उसका जाड्यांश उपादान कारण है। फिर जगत्‌के अभिन्न निमित्तोपादान कारण ब्रह्मका लक्षण कैसे बनेगा ?

असलमें, ब्रह्ममें कारणत्व नहीं है, मायाके द्वारा उसमें कारणत्व प्रतीत होता है। किस देशमें बैठकर, किस काल और किस द्रव्यमें बैंठकर ब्रह्म जगत्‌का कारण बन रहा है ? जगत्‌के कारणत्वको समझना पड़ेगा कि वह कैसा है ? अन्यथा किसीकी भी बुद्धि अनादि भूत और अनन्त भविष्यमें प्रविष्ट करके जगत्‌के जन्म और प्रलयका दर्शन करनेके लिए जिन्दा नहीं रह सकती। किसने सृष्टिको ब्रह्मसे निकलते या उसमें लीन होते देखा है ? इसलिए जब उपनिषद् जगत्‌के जन्मादिको ब्रह्मका लक्षण बताते हैं तब उसके रहस्यको गुरूपदिष्ट बुद्धिसे समझना पड़ेगा।

यह दिक्‌तत्त्व—पूरब, पश्चिम, उत्तर, दक्षिण दिशाओंका प्रारम्भ कहाँसे हुआ ? मुझसे, मेरे शरीर से। मेरे शरीरका सामना, मेरे शरीरका पीछा, इसका दायाँ, इसका बायाँ—यही तो दिक्‌तत्त्व है।

कालका प्रारम्भ कहाँसे होता है ?—इसी सेकेण्डसे। वर्तमान सेकेण्डका आदि और अन्त ही कालका आदि, अन्त है। जिस मुझमें यह वर्तमान सेकेण्ड भास रहा है वही 'मैं' कालकी आदि और अन्तका अधिष्ठान हूँ। कालका अनादितत्व और अनन्तत्व मैं ही हूँ।

यह फूल (वस्तु) है। यह कहाँ पैदा हुआ ? पेड़में पैदा हुआ, यह साधारण विचार है। दूसरा विचार यह है कि फूलका दर्शन नेत्रोंसे हो रहा है, नेत्राकार वृत्ति हृदयमें है, उस नेत्राकार वृत्तिका जो अधिष्ठान और प्रकाशक है वहीं वह फूल पैदा हुआ। जिसके बिना फूलकी

सिद्धि नहीं होती और जिसके होनेसे ही फूलकी सिद्धि होती है, वही फूलका कारण है।

कारणकी खोजमें विचारको फैलाओ मत। विचारको लाखों बरस पीछे क्यों फेंकते हो? एकदम पिछड़े हुए बुर्जुआ हो! विचारको लाखों बरस आगे क्यों फेंकते हो? एकदम अव्यावहारिक हो! विचारकी पद्धति यह है कि वस्तु इस समय क्या है, इसका विचार करो। तो सबसे पहिले तुम्हारा 'मैं' सामने आता है। इसका विचार करो कि 'मैं क्या है?' जब जाँच-पड़ताल करोगे तो मालूम पड़ेगा कि यही 'मैं' 'हृदयगह्वर-मध्ये अहं-अहं इति साक्षात् ब्रह्मरूपेण भाति'—हृदय गुफामें स्थित स्फुरित मैं-मैं साक्षात् ब्रह्म है और वास्तवमें वही समस्त जगत्का अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है। वही 'मैं' अज्ञानके कारण 'मैं-तू-वह-यह'के रूपमें स्फुरित हो रहा है, जैसे एक ही रज्जु अज्ञानके कारण माला, भुजङ्ग, दण्ड, भूछिद्र आदि विकल्पोंके रूपमें स्फुरित होती हैं।

जैसे रज्जुमें सर्प देखनेवालेको रज्जुका ज्ञान करानेके लिए रज्जुका यह लक्षण बनाना पड़ता है कि 'इदं सर्पतया कल्पितं वस्तु यस्मिन् अधिष्ठाने भासते तदेव रज्जुः' (यह सर्पके रूपमें कल्पित वस्तु जिस अधिष्ठानमें भासती है, वही रज्जु है), उसी प्रकार 'यह नामरूपात्मक निखिल प्रपंच अपनी उत्पत्ति, स्थिति, लय आदिके विकल्प सहित जिस नामरूप-आकार आदिसे विनिर्मुक्त अधिष्ठानमें भासता हैं वह ब्रह्म है'—ऐसा ब्रह्मका लक्षण बनाना पड़ता है।

रज्जुमें परमार्थतः सर्प नहीं है परन्तु उसीमें भासता है रज्जुके अज्ञानके कारण। अतः रज्जुका अज्ञान ही सर्पसत्ताका निमित्त कारण और उपादान कारग दोनों बनता है। उस अज्ञानदशामें रज्जुको लक्ष्य करानेके लिए रज्जुको सर्पका कारण बताया जा सकता है। रज्जुका ज्ञान होते ही रज्जुमें सर्पको कारणताके अध्यारोपका भी अपवाद हो जाता है। ऐसा ही अध्यारोपित जगत्कारणतारूप ब्रह्मका लक्षण श्रुतिने बताया है। यथा—

जगत् नामरूपात्मक है, अनेक कर्ता-भोक्ताओंसे संयुक्त है, देश-काल-निमित्तसे होनेवाली क्रिया और क्रियाफलका आश्रय है और इसकी रचना और स्वरूप मनसे अचिन्त्य है। ऐसे इस जगत्की जन्म, स्थिति और भंग जिस सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान् कारणसे होते हैं वह ब्रह्म है।

जो भी इदं-वाच्य है वह जगत् है। उसका लक्षण है जन्म, स्थिति और भंग। इदं-वाच्यताका अर्थ है कि जगत् प्रतीतिका विषय है। अतः श्रुति और सूत्रका अर्थ है कि यह जो इदं-प्रतीतिका विषय दृश्य-प्रपंच है और उसकी जो उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय होते प्रतीत होते हैं, वे प्रतीयमान जन्मादि जिस कारणसे होते हैं वह ब्रह्म है।

सम्पूर्ण सृष्टिकी उत्पत्ति-प्रलय अनुभवका विषय नहीं हो सकता। अतः श्रुतिका तात्पर्य तुमको अनादि भूत और अनन्त भविष्यमें ले जानेका नहीं है अपितु इसी क्षण प्रत्येक देशमें, प्रत्येक वस्तुमें जो तुम्हें निरन्तर जन्म, स्थिति और भंगका भान हो रहा है, वह भान जिससे हो रहा है वह ब्रह्म है—ऐसा बोध करानेमें है।

मतलब यह है कि इदं-रूपसे जन्मादिवाला जो कुछ भासमान है वह जिसमें है और जिससे प्रतीत हो रहा है वह प्रत्यगात्मासे अभिन्न ब्रह्म है।

जिससे इदंके जन्म, स्थिति और प्रलय मालूम पड़ते हैं वह ब्रह्म स्वयं जन्म-स्थिति-प्रलयसे रहित है और इदन्तासे रहित है। अतः ब्रह्म चैतन्य है, प्रत्यगात्मासे अभिन्न है और अनन्त वस्तु है। इससे ब्रह्मका यह लक्षण भी निकल आता है।

श्रुतिका लक्ष्य यह है कि दृश्यसे विलक्षणमें ही जिसमें दृश्य नहीं है उसमें—दृश्य भास रहा है। अतः अपने अभावके अधिकरणमें भासमान होनेके कारण दृश्य मिथ्या है।[3] इदं अपने जन्मादि विकारोंके साथ मिथ्या है।

इदं अनेक है, अनिदं एक है। उसी एकमें अनेक भास रहे हैं। अतः अनेकता मिथ्या है। जो इदं है वह जड़ है, जो अहं है वह इदंका प्रकाशक होनेसे चेतन है। चेतनमें जड़ नहीं है किन्तु उसीमें भासता है, अतः चेतनमें जड़ मिथ्या है। इसी प्रकार अनन्ततामें सान्तताकी प्रतीति होनेसे सान्तता (परिच्छिन्नता) मिथ्या है। आत्मामें अनात्माकी प्रतीति होनेसे अनात्मा (दृश्य, इदं) मिथ्या है।

यतो वा इमानि०—इस श्रुतिमें 'प्रयन्ति' क्रिया पदका अर्थ 'तृप्ति पाते हैं' यह भी होता है। 'प्रीञ् तर्पणे' धातुसे भी 'प्रयन्ति' शब्द निष्पन्न

---

३. स्वाभावाधिकरणे भासमानत्वं मिथ्यात्वम्।

होता है अतः 'तृप्त होते हैं' यह अर्थ भी समीचीन है। अतः भूतोंकी उत्पत्ति, स्थिति, तृप्ति और प्रलय जिससे होते प्रतीत होते हैं, किन्तु ये जिसमें नहीं हैं अर्थात् ये जिसमें मिथ्या भासमान हैं वह ब्रह्म है। उसीकी जिज्ञासा करनी चाहिए।

ब्रह्म वह है जिससे इदंतया प्रतीत होनेवाले जगत्के जन्मादि होते हैं। अतः ब्रह्म सत् है। ब्रह्म वह है जिससे इदं वाच्य सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच अपने जन्मादिके सहित भासते हैं, अतः ब्रह्म चित् है। ब्रह्म वह है जिससे समस्त भूत तृप्त होते हैं अतः ब्रह्म आनन्द है। ब्रह्म वह है जिससे जगत्की उत्पत्ति-स्थिति-भङ्ग होते हैं अतः ब्रह्म जगत्का रज्जुसर्पवत् अभिन्न निमित्तोपादान कारण है और इसलिए अपरिच्छिन्न अद्वितीय है। ब्रह्ममें जगत् सदा ही लीन है अर्थात् बाधित है क्योंकि जगत्के लीन होने पर भी ब्रह्म अवशेष रहता है। अतः ब्रह्मका स्वरूप 'सच्चिदानन्द अद्वय' है।

तैत्तिरीय उपनिषद्की आगेकी श्रुति बताती है कि "आनन्द ही ब्रह्म है, यह जाना। सचमुच आनन्दसे ही ये समस्त भूत उत्पन्न होते हैं, आनन्दसे ही जीते हैं, आनन्दसे ही तृप्त होते हैं और आनन्दमें ही समा जाते हैं।"[४] अतः 'यतो वा इमानि०' नामक श्रुतिमें जिस ब्रह्मकी जिज्ञासाकी चर्चा है वह यही आनन्द-ब्रह्म है। आनन्द कैसा भी हो, सदैव आत्मनिष्ठ ही होता है। अतः ब्रह्म प्रत्यगात्मासे अभिन्न ही है।

जो अजन्मा, अपरिवर्तनशील, इदन्तासे विलक्षण, प्रत्यक् चैतन्य (अहम्) आत्मासे अभिन्न, सद्रूप, आनन्दरूप अखण्ड अद्वय सत्ता है, जिसमें यह जगत् भास रहा है और भासते हुए भी सच्चा नहीं है, वह ब्रह्म है।

२. जगत्कारणत्वके सम्बन्धमें विभिन्न मत

जगत् और उसके कारणके सम्बन्धमें बहुत-से विद्वानोंके बहुत-से और अलग-अलग मत हैं।

---

४. आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्। आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते, आनन्देन जातानि जीवन्ति, आनन्दं प्रयन्त्यभिसंविशन्ति इति।

(तैत्तिरीय० ३.६)

१. एक मत है कि जगत् हमेशा ज्यों-का-त्यों रहता है और इसकी उत्पत्ति, स्थिति-प्रलय नहीं है। हमेशासे दुनियाँ ऐसी ही चल रही है और ऐसी ही चलती रहेगी। ऐसी ही धरती, ऐसा ही सूरज, ऐसा ही चन्द्रमा, ऐसे ही स्त्री-पुरुष और ऐसी ही उनकी उत्पत्ति की प्रक्रिया। उनके लिए तो जगत्के जन्मादिके विचारका प्रश्न ही नहीं उठता। जिज्ञासा ही समाप्त हो गयी। क्या करना है विचार करके जब सृष्टि ऐसी ही सदैव रहती है? उपनिषद्को स्पष्टतः यह सिद्धान्त मान्य नहीं है क्योंकि वह तो कारणकी जिज्ञासा करना बताता है। **तद् विजिज्ञासस्व**।

२. एक मत है कि जगत्के उपादान कारणके रूपमें चार भूत हैं—पृथिवी, जल, अग्नि, और वायु। इनके यहाँ जगत्का निमित्त कारण कोई नहीं है। मैटर या जड़ द्रव्य है, ज्ञान नहीं है। ज्ञान द्रव्यसे ही उत्पन्न होता है। यह चार्वाक सिद्धान्त है। किन्तु यह सिद्धान्त भी औपनिषद नहीं है। ब्रह्म चार नहीं हो सकता। जो चार कारण होंगे वे सब अपूर्ण और परिच्छिन्न होंगे जब कि औपनिषद ब्रह्म अपरिछिन्न परिपूर्ण है। (यदि जड़ द्रव्यकी परिकल्पना अपरिच्छिन्न तत्त्वके रूपमें की जाय तो भी स्वसत्ता-प्रमाणके रूपमें उसे स्वयंप्रकाश चेतन ही होना चाहिए, यह उसके जड़-स्वरूपके विपरीत होगा। और फिर यदि जड़ द्रव्यसे ज्ञानके विकासको एक स्वयं सिद्धि मान लिया जाय तो ज्ञानको ही स्वतन्त्रसत्ताक माननेमें क्या आपत्ति हो सकती है। उस दशामें या तो सांख्योक्त द्वैतकी प्राप्ति होगी या औपनिषद ब्रह्मवादकी।)

७. सांख्यवादी परिणामी प्रकृतिसे सृष्टि मानते हैं, अतः वे भी औपनिषद नहीं हैं।

८. इस्लाम ईश्वरको तो सृष्टिकर्ता मानता है परन्तु वह जगत्का प्रलय नहीं मानता। कयामतके बाद भी बहिश्त और दोजख तो रहते ही हैं जहाँ जीव रहते हैं। ईसाई धर्ममें भी यही स्थिति है। अतः इस्लाम और ईसाई मत भी वेदान्तके विपरीत हैं। उपनिषद्में जगत्का प्रलय स्वीकार किया गया है।

इस प्रकार उपर्युक्त सभी मत जो या तो सृष्टिकी उत्पत्ति नहीं मानते या प्रलय नहीं मानते या स्थिति नहीं मानते या एक ईश्वर या ब्रह्मसे सृष्टि उत्पत्ति-स्थिति-प्रलय नहीं मानते; वे सब औपनिषद-सिद्धान्तसे दूर हैं।

इसको अब दूसरे ढंगसे सोचें।

शून्यवादी जगत्का निमित्तकारण और उपादानकारण दोनों नहीं मानते। निरधिष्ठान निरुपाख्य निर्निमित्त ही सृष्टिकी प्रतीति हो रही है, ऐसा वे लोग मानते हैं।

विज्ञानवादियोंका कहना है कि चित्त जो खण्ड-खण्ड प्रवाहरूप है वह संस्कारधाराके कारण है। इस जगत्का न तो कोई निमित्तकारण चैतन्य है और न इस जगत्से अलग कोई जड़ या चेतन इसका उपादान कारण है। जो कुछ है सो चित्तसंस्कारधारा ही है। ये लोग **चित्तोपादानवादी** हैं।

उपादानवादी दो प्रकारके हैं: अन्तरंग उपादानवादी और बहिरंग उपादानवादी। चार्वाक बहिरंग उपादानवादी हैं क्योंकि वे बाहरी चार भूतोंको उपादान मानते हैं। ये निमित्तकारणवादी नहीं हैं क्योंकि वे ईश्वरको नहीं मानते। नैयायिक भी बहिरंग उपादानवादी हैं क्योंकि वे परमाणुको उपादान मानते हैं; साथ ही वे निमित्तकारणवादी भी हैं क्योंकि वे ईश्वरको जगत्का निमित्तकारण मानते हैं। प्रकृतिवादी सांख्य अन्तरंग उपादानवादी हैं क्योंकि प्रकृति बुद्धिमें है सो अन्तरंग है और द्रष्टासे बहिरंग है। कर्म-संस्कारवादी (पूर्वमीमांसक) भी अन्तरंग उपादानवादी हैं क्योंकि कर्मका संस्कार अन्तःकरणमें बैठा रहता है। विज्ञानवादी भी चित्तोपादानवादी होनेके कारण अन्तरंग उपादानवादी हैं। ईश्वरवादी भी अन्तरंग उपादानवादी हैं।

वेदान्तका सिद्धान्त यह है कि जगत्का निमित्तकारण और उपादान-कारण यदि कोई है तो वह ब्रह्म ही है और वह भी ब्रह्ममें मायासे मालूम पड़ते हैं। जबतक हम ब्रह्मको नहीं पहचानते तबतक वह (परोक्षतया) निमित्त कारण और उपादान कारण दोनों है। परन्तु ब्रह्मको प्रत्यक् चैतन्याभिन्न पहचाननेके बाद ब्रह्म न निमित्त कारण है और न उपादान कारण। कारणमात्रका बाध हो जाता है क्योंकि ब्रह्मातिरिक्त कोई सत्ता है ही नहीं।

सृष्टि बनीबनायी सामने दीख रही है। अब शास्त्र इसकी संगति लगाता है कि यह कैसे बनी ? सृष्टि किसीने (निमित्त कारणने) बनायी— इस मतको आरम्भवाद बोलते हैं। सृष्टि 'बन गयी'—यह परिणामवाद है। "न बनी, न बनायी और न है, केवल ब्रह्म ही सृष्टिके रूपमें भासित हो रहा है" - यह विवर्तवाद है। नैयायिक और वैशेषिक आरम्भवादी हैं, सांख्य प्रकृति-परिणामवादी हैं बौद्ध चित्त-परिणामवादी और शून्य-परिणामवादी हैं। विशिष्टाद्वैती ब्रह्म-परिणामवादी हैं। वेदान्ती विवर्तवादी हैं।

इस प्रकार जगत्कारणत्वके सम्बन्धमें अनेक दार्शनिक मत हैं। किन्तु श्रुति अपनेको एक पक्षमें निक्षिप्त नहीं करना चाहती। यहाँ जगत्के जन्मादिको ब्रह्मसे **'होना'** बताना श्रुतिको इष्ट नहीं है अपितु जगज्जन्मादि जो प्रत्यय हैं वे सब जिस स्वयंप्रकाश आत्मासे प्रकाशित होते हैं, रहते हैं और जिसमें अन्ततः विलीन हो जाते हैं, वह ब्रह्म है—यह बताना इष्ट है। 'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते०' इस श्रुतिमें भाववाचक शब्द नहीं हैं। जायन्ते, जीवन्ति, प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति सब क्रियावाचक पद हैं। अतः इस श्रुतिका सार-अर्थ यह है कि "ये सब भूत जिससे पैदा होते हुए भासते हैं, जिससे जीवित रहते हुए भासते हैं, जिसकी ओर जाते हुए प्रतीत होते हैं और जिसमें ये समाते हुए प्रतीत होते हैं; ये प्रत्यय, देश-प्रत्यय, काल-प्रत्यय, वस्तु-प्रत्यय, वस्त्वन्तर-प्रत्यय, जन्मस्थितिप्रलय-प्रत्यय, जिससे हो रहे हैं वह ब्रह्म है।" इस अर्थसे जो प्रत्यगात्मा साक्षी है (त्वं-पद लक्ष्यार्थ) वही जगत्कारणतासे उपलक्षित ब्रह्म (ईश्वर) है।

जगत्, जगत्के देश-काल-वस्तु, जगत्का कारण ईश्वर और प्रकाशक जीव और इनके पाँचों भेद[५]—ये सब मालूम पड़ते हैं। वेदान्तकी भाषामें

५. जीव-जीवका भेद, जीव-जगत्का भेद, जीव-ईश्वरका भेद, ईश्वर-जगत्का भेद और जगत्-जगत्का भेद।

भेदमात्र भान-व्याप्य है।[१] जहाँ-जहाँ भेद होता है वहाँ-वहाँ भान होता है। जहाँ भान नहीं होता वहाँ भेद भी नहीं होता। बिना भानका भेद नहीं होता परन्तु बिना भेदका भान होता है। भेदाभावका भान होता है। इसलिए भान ब्रह्म है और भेद प्रातिभासिक है। इसका अर्थ है कि भेद होगा ही तब जब मालूम पड़ेगा। भेदका मालूम पड़ना ही भेद है। परन्तु भेद सच्चा है कि झूठा? तो भेद झूठा है क्योंकि अधिष्ठान-ज्ञानसे भेद बाधित हो जाता है।

सुषुप्तिमें पदार्थोंका रहना भले ही माना जाय परन्तु सुषुप्तिमें भेद नहीं रह सकता। पदार्थोंका भेद बिलकुल मानस है, बौद्ध प्रत्ययमात्र है, भानमात्र है, प्रतीतिमात्र है। भेद कोई वस्तु नहीं है, प्रत्यय है, वृत्ति है; यह न जड़ है न चेतन। जगत्की वस्तुओंके जन्म, स्थिति, भंगके जो प्रत्यय हैं वे जिससे भासते हैं वह ब्रह्म है। किससे भासते हैं? साक्षीसे, मुझसे। तो ब्रह्म कौन? तुम (साक्षी) ब्रह्म हो (अर्थात् शोधित अहं ब्रह्म है)।

३. कार्यकारणातीत ब्रह्म : सच्चिदानन्दकी दृष्टिसे विचार

वेदान्त-सिद्धान्तकी यह बात बतायी गयी कि यद्यपि कार्य-कारण भाव मिथ्या है तथापि वह कार्यकारणातीत् वस्तु अर्थात् ब्रह्मका लक्षण हो सकता है। इसपर यह शङ्का होती है कि जब कार्य कारण भाव मिथ्या ही है तो वेदान्ती लोग इस मिथ्या जगज्जन्मादिका वर्णन ही क्यों करते हैं? असलमें यह मृदु उपचार है। जैसे व्रणका उपचार ऑपरेशन भी है और औषध-प्रयोग भी; औषध-प्रयोग मृदु उपचार है। इसी प्रकार यदि कार्य-कारण भावसे ही ब्रह्म समझमें आ जाता हो तो यह मृदु उपचार होगा।

वेदान्त हेतु-प्रत्यनीक चिकित्सा है/व्याधि-प्रत्यनीक नहीं। अर्थात् वेदान्त रोगके हेतु, कारणका नाश करता है, रोगको दबाता नहीं। धर्म-उपासना वृत्त्यन्तर उत्पन्न करके संसारके रोगको दबा देते हैं जबकि वेदान्त संसार-रोगके मूल द्वैत-भ्रमको निवृत्त करके उसका इलाज करता है। इस इलाजमें ब्रह्ममें जगत्-कारणताका आरोप एक प्रमुख भूमिका निभाता है।

एक ओर तो वह ब्रह्मको जगत्से व्यावृत्त करके बताता है जिससे उसके स्वरूपका (विचारके लिए) शोधन होता है; दूसरी ओर ब्रह्मकी अद्वितीयताका बोध कराता है।

---

६. भेदो भानव्याप्यः।

जगत् जन्मवाला, स्थिति-भङ्गवाला जड़ तथा कारणवाला है अर्थात् स्वयं कार्य है। वह अपूर्ण है क्योंकि लक्ष्यकी ओर गतिशील है। वह इदं प्रत्ययका विषय है, परिच्छिन्न है, भेदमूलक है; पर प्रकाश्य है और प्रत्यय रूप है। **इसके विपरीत ब्रह्म** अजन्मा, कूटस्थ चेतन, कारण रहित और स्वयं कार्य कारणातीत है। ब्रह्म परिपूर्ण है, लक्ष्य रहित है। ब्रह्म अहं प्रत्ययका साक्षी है, अपरिच्छिन्न और अभेद स्वरूप हैं; स्वयं प्रकाश है और सम्पूर्ण प्रत्ययोंका प्रकाशक है।

ब्रह्म सच्चिदानन्द अद्वय तत्त्व है। अविनाशी अबाधित सत्ताको सत् कहते हैं। जो सम्पूर्ण ज्ञानोंके, समस्त वृत्तियोंके मूलमें अद्वितीय ज्ञानस्वरूप सत्ता है वह चित् है। और जो सम्पूर्ण सुखोंका स्रोत है, सुख-बिन्दुओंका समुद्र है वह आनन्द है। ये तीन सत्ताएँ तीन नहीं एक हैं—यह अद्वयका अर्थ है। अर्थात् जो सत् है वह चित् है, जो चित् है वह सत् है और जो सत्-चित् है वही आनन्द है और जो आनन्द है वही सत् और चित्के रूपमें है।

अब संसारमें क्या दीखता है? कार्य, दृश्य और भोग। विचार करके देखो कि कार्यकी सिद्धि सत्से है। दृश्यकी सिद्धि चित्से है और भोग्यकी सिद्धि आनन्दसे है, भोक्तासे है। कर्ता ही कार्यको सिद्ध करेगा, द्रष्टा ही दृश्यको देखेगा, भोक्ता ही भोग्यको भोगेगा। इस प्रकार कर्ता-कर्मका एक द्वैत है, द्रष्टा-दृश्यका एक द्वैत है, भोक्ता-भोग्यका एक द्वैत है। और इन्हीं के साथ कार्य-कारणका एक द्वैत है, ईश्वर-जगत्का एक द्वैत है। सम्पूर्ण द्वैत-प्रपंचके विधूननके लिए इन सब द्वैतोंमें ओतप्रोत तथा इनसे विनिर्मुक्त अद्वैत ब्रह्मतत्त्वका ज्ञान अपेक्षित है।

कर्ता और कर्मका विवेक करनेपर पाप-पुण्य और देहसे पृथक् धर्मी जीवात्माकी और ईश्वरकी सिद्धि हो जायेगी, परन्तु जो यथार्थ परमात्मा है वह कर्ता-कर्मके भेदसे अछूता है। कर्ता दो सिद्ध होंगे: अल्प कर्ता जीव और सर्वज्ञ सर्वशक्तिरूप ईश्वर। इस विवेकसे यह भी सिद्ध होगा कि कर्ता नित्य होता है और कर्म अपने करण और फलके सहित अनित्य है। इस विवेकसे महान् कर्ता ईश्वरकी ओर रुचि और भक्ति बढ़ती है।

कार्य-कारणका विवेक करोगे तो मालूम पड़ेगा कि कार्य अनित्य होता है और कारण नित्य होता है: **यज्जन्यं तदनित्यम्**। किन्तु कारणका

नाम ब्रह्म नहीं है। कारणता ब्रह्ममें अध्यारोपित है। कार्य और कारण दोनों ब्रह्मके उपलक्षण हैं। सत्ताकी अनन्ततामें कार्य और कारण आकाशमें दो चन्द्रमाओंकी तरह विवर्त रूपमें दीख रहे हैं। सत्तामें तो चेतन भी है और आनन्द भी है, परन्तु यदि केवल सत्ता-दृष्टिसे ही विचार करें तो कार्य और कारण दोनों एक ही सत्के विवर्त अनुभव हो जायेंगे और देह और उसकी धातु दोनों ब्रह्मसत्ताके विवर्त हैं—यह अनुभव हो जायेगा।

कार्य-कारणका विवेक सत्ताकी प्रधानतासे होता है और **द्रष्टा-दृश्यका विवेक** चित्की प्रधानतासे होता है। करणविशिष्ट चेतन कर्ता होता है और वृत्तिविशिष्ट चेतन ज्ञाता होता है। वृत्तिसहित विषय-विषयीका विवेक ज्ञाता-ज्ञेयका विवेक है और वृत्तिरहित ज्ञाता-ज्ञेयका विवेक द्रष्टा-दृश्य विवेक हो जाता है। इसमें जाग्रत्-अवस्थाका जो द्रष्टा है वही स्वप्नावस्थाका भी द्रष्टा है और वही सुषुप्ति-अवस्थाका द्रष्टा है। सुषुप्तिमें वृत्ति नहीं रहती, अतः साक्षी निर्वृत्तिक सुषुप्तिका द्रष्टा है। जो सुषुप्तिका साक्षी है वही कूटस्थ साक्षी है, वही जीव-साक्षी है और वही ईश्वर-साक्षी है। महावाक्योंसे इसी साक्षीकी ब्रह्मरूपता अनुभवकी जाती है।

कार्य-कारण-भावमें कारणमें परिणाम मालूम पड़ता है अर्थात् ईश्वर कार्यरूप परिणामको प्राप्त हो रहा है, यह मालूम पड़ता है। किन्तु द्रष्टा-दृश्य विवेकमें द्रष्टा असंग है, यह बोध होता है। कार्य-कारण-विवेकमें जीव कर्ता है और ईश्वर कर्मफल दाता है, यह सिद्ध होता है, जबकि द्रष्टा अकर्ता, असंग है—ऐसा अनुभव होता है।

भोक्ता-भोग्य-विवेक आनन्दकी प्रधानतासे होता है। यह प्रियताका विवेक है। वास्तवमें प्रिय आत्मा है, अपना आपा है, परन्तु अपनी प्रियताको अन्यमें संचारित करना और फिर उसे देखकर प्रसन्न होना, यह भोक्तापन है। इसमें विवेक यह है कि कोई भी वस्तु स्वयं अपने लिए प्रिय नहीं होती, आत्माके लिए ही प्रिय होती है। यह बृहदारण्यक उपनिषद्में याज्ञवल्क्यका वचन है।[७] भोक्ता-भोग्य-विवेकका फल है रागशैथिल्य और वैराग्यका जागरण।

---

७. न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति।
आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति॥ (बृहदा० २.४.५)।

जैसे कार्य और कारण ब्रह्मके सदंशके विवर्त हैं, द्रष्टा और दृश्य उसके चिदंशके विवर्त हैं, वैसे ही भोक्ता-भोग्य उसके आनन्दांशके विवर्त हैं।

अब इन अलग-अलग विवेकों का समन्वय करो। कारण और द्रष्टाको मिला दो तथा कार्य और दृश्यको मिला दो। माने यदि द्रष्टा चेतन ही कारणसत्ता हो तो कारणमें परिणाम होकर कार्य दृश्य नहीं बनेगा, अपितु द्रष्टा विवर्तित होकर ही दृश्य रूपमें अनुभवमें आयेगा, साथ ही द्रष्टाकी असंगता और अपरिच्छिन्नता बनी रहेगी। दूसरे शब्दोंमें द्रष्टा तत्त्व बना रहेगा और दृश्यकी अतात्त्विक अन्यथा प्रतीति हो जायेगी, अतएव दृश्यमें परिच्छिन्नता और विनाशिता बाधित (मिथ्या) हो जायेगी। यह सत् और चित्की एकताका फल है।

भोक्ता-भोग्यका सम्बन्ध तो प्रत्यक्ष तादात्म्यमूलक है, एकदम अध्यास है। **तदन्यत्वे सति एकत्वम् अपि तादात्म्यम्,** अर्थात् अन्य होनेपर भी एक हो जाना तादात्म्य है। भोक्ता-भोग्यके विवेकसे अन्यमें मानी हुई प्रियता अपने वास्तविक आश्रय प्रत्यगात्मामें लौट आती है। तब जो सत्-चित् द्रष्टा था वही अब आनन्दरूप भी सिद्ध हो जाता है। न तो आनन्द बिना ज्ञानके होता है (आनन्दकी सत्ता के लिए उसका भासना आवश्यक है), न ज्ञान विना सत्ताके होता है और न सत्ता बिना ज्ञानके होती है। इसलिए सत्, चित् और आनन्दका पृथक्त्व संभव नहीं है। अतः सच्चिदानन्द एक ही पदार्थ है।

चेतनको अपनेसे अलग करके कोई विधा नहीं हो सकती। तुम स्वयं चेतन हो। सब तुम्हारे मैं-से ही प्रकाशित होते हैं। इसीलिए उपनिषद्का कहना है कि परमात्मा तुम्हारे मैं की गुफ़ामें छिपा हुआ है : **गुहाहितं गह्वरेष्ठं** (कठ० १.२.१२); **निहितं गुहायां परमे व्योमन्** (तैत्तिरीय० २.१.१)। तुम्हारे सिवा अन्य कोई चेतन, अन्य कोई प्रतीति नहीं है। कुछ भासेगा तो तुमको ही तो भासेगा! देश, काल, वस्तु, ईश्वर, वेद, गुरु, शास्त्र ये सब किसको भासेंगे? तुमको ही। यह सर्वज्ञाननिधान कौन है? तुम ही हो। तुम कोई मामूली सत्ता नहीं हो। अपनेको स्त्री, पुरुष मान करके हीनभाव नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार अपनेको विद्वान्, मूर्ख मानकर विपर्यय नहीं करना चाहिए। स्त्री-पुरुष कार्यमें होते हैं कारणमें नहीं; वैदुष्य, मूर्खता वृत्तिमें होते हैं द्रष्टा में नहीं। इसी प्रकार

भोक्ता-भोग्य भी दृश्य ही होते हैं, द्रष्टा भोक्ता या भोग्य नहीं होता। वह तो एक ही आनन्द है, वह न भोक्तामें है, न भोग्यमें।

यह जो विषयी नित्य, चेतन द्रष्टा आत्मा है वही अधिष्ठान ब्रह्म है, सर्वकारण-कारण है (कार्यकारणातीत है)। और जो विषय हैं वे अनित्य और जड़ हैं अतः ये मिथ्या हैं। तो अब क्या रहा ? सब ब्रह्म ही हो गया। न सृष्टि बनी और न जीव उत्पन्न हुआ। अजात ब्रह्मको समझनेके लिए विवर्तरूप जगत्‌की प्रक्रिया वेदान्तमें रखी गयी है।

प्रक्रिया माने तरकीब। ब्रह्मको समझानेके लिए उसमें कारणत्वका आरोप एक तरकीब है। कारणत्व युक्ति है इस बातकी कि सृष्टिके बननेके सम्बन्धमें जितने मतवाद हैं (कुछका वर्णन पहले हो चुका है) इन सबका खंडन इकट्ठा इस स्थापनासे हो गया कि सृष्टि ब्रह्मसे हुई है। और साथ ही ब्रह्मके चेतन और अद्वय होनेके कारण यह भी ज्ञात करा दिया कि सृष्टि और ब्रह्मका कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है; यह तो केवल ब्रह्मके अज्ञानसे ब्रह्मातिरिक्त भास रही है। सारे कार्य-कारण मिथ्या हैं और ब्रह्म अद्वितीय है। ब्रह्ममें फिर जगत्कारणता जोड़ते ही क्यों हो ? तो कहा कि ब्रह्मको कारण बतानेके लिए नहीं, ब्रह्मकी अद्वितीयता बतानेके लिए जोड़ते हैं। मिथ्या कार्यका कारणत्व भी मिथ्या ही होगा। क्या मिथ्या सर्पके आधार रज्जुमें आधारता सच्ची है ? नहीं। इसी प्रकार मिथ्या कारणत्वका आधार जो पृथक् अधिष्ठान है उससे पृथक् न कारण है, न कार्य।

कार्यके मिथ्या सिद्ध हो जाने पर जिस अधिष्ठानमें कारणत्व आरोपित किया गया; उस अधिष्ठानकी अद्वितीयता सिद्ध हो जाती है। **न तस्य कार्यं विद्यते**—उस ब्रह्मका कोई कार्य नहीं है यह श्वेताश्वतरकी श्रुति है। जगत् मालूम पड़ता है, व्यवहारमें कार्य-कारणता भी मालूम पड़ती है। इसलिए ही परमात्मामें जगत्कारणत्वका आरोप किया जाता है। कारणत्व ब्रह्मकी अद्वितीयताका लक्षणमात्र है। अद्वितीयत्वका बोध हो जानेपर कारणत्व-रूप लक्षण भी वापस ले लिया जाता है: **एतस्मिन् अदृश्येऽनात्म्येऽनिरुक्तेऽनिलयनेऽभयं प्रतिष्ठां विन्दते।** (तैत्तिरीय० २.७)।

४. ब्रह्मकी सर्वज्ञता-सर्वशक्तिमत्ता सर्वान्तर्यामिताका अर्थ

वेदान्तकी रीति यह है कि वह पहले अल्प उपाधिवाले जीवको सिद्ध करता है, फिर सर्व उपाधिवाले ईश्वरको सिद्ध करता है और फिर निर्विशेष

चिन्मात्रमें अभेद सिद्ध करता है। इसका अन्तिम नतीजा यह निकलता है कि चिन्मात्र ब्रह्म है और वही जगत्‌की उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयका अधिष्ठान है। वह ब्रह्म जगत्‌के जन्मादिका निमित्त ही नहीं, उपादान कारण भी है। इसके अतिरिक्त शास्त्रयोनि होनेके कारण और संसारमें पूर्ण व्यवस्था और नियमबद्धता देखनेमें आनेके कारण ब्रह्म सर्वज्ञ एवं सर्वशक्ति भी होना चाहिए। शास्त्रमें जगत्‌के जन्मादिके कारणसे उपलक्षित ब्रह्मतत्त्वको ईश्वर-संज्ञा प्रदान की है जो सर्वज्ञ, सर्वशक्ति एवं सर्वव्यापक भी है। श्रुतिने 'तत्' पदके द्वारा उसी समष्टि उपाधिगत चैतन्यको सूचित किया है। तत्पदका वाच्यार्थ ईश्वर है और लक्ष्यार्थ निरुपाधिक ब्रह्म है। इसी प्रकार त्वं-पदका वाच्यार्थ जीव है और लक्ष्यार्थ शुद्ध साक्षी या प्रत्यगात्मा है। 'तत्त्वमसि' वाक्यसे श्रुति इन लक्ष्यार्थोंकी सिद्ध एकताका बोध कराती है। इस अभेदकी दृष्टिसे जीव और ईश्वरकी उपाधियोंका ही मिथ्यात्व सूचित होता है।

प्रश्न : यास्क मुनिके अनुसार जगत्‌में प्रत्येक वस्तुमें जन्मना, होना, बढ़ना, बदलना, क्षय होना और मरना—ये छः भाव-विकार लगे रहते हैं। अतः जगज्जन्मादिके स्थानपर यदि छः भाव-विकारोंके कारणत्वको ब्रह्मका लक्षण मानें तो ?

उत्तर : इसमें अतिव्याप्ति दोष है। वस्तुओंके भाव-विकारोंका आश्रय तो पंचभूत या प्रकृति भी हो सकते हैं। अतः ब्रह्मको जड़ पंचभूत या जड़ प्रकृति मानना पड़ेगा जो वेदान्तको इष्ट नहीं है। दूसरे वेदान्तमें श्रुति ही परम प्रमाण है अतः श्रुतिमें वर्णित जगज्जन्मादिके कारणत्वको ही ब्रह्मका लक्षण बताना ठीक है। पंचभूत और प्रकृति तो जगत् ही हैं। उनके जन्मादिकी प्रतीति भी जिस चेतन सत्तासे होती है वह ब्रह्म है।

प्रश्न : श्रौत न होनेपर भी यदि प्रकृति आदिको ही जगत्‌का कारण माना जाय तो ?

उत्तर : ये सब कारण युक्ति-विरुद्ध हैं और परस्पर भी विरुद्ध हैं। चार भूतोंसे सृष्टि हुई (चार्वाक); सतत गतिशील अविनाशी जड़ द्रव्यसे सृष्टि हुई (मार्क्सका मत); शून्यसे या विज्ञानसे सृष्टि हुई (बौद्धमत); पुद्‌गलसे सृष्टि हुई (जैनमत); कर्मसे सृष्टि हुई (पूर्वमीमांसा); परमाणुसे सृष्टि हुई (न्याय-वैशेषिक); अचेतन प्रधानसे सृष्टि हुई (सांख्यमत); किसी

देवी-देवता, जोव या हिरण्यगर्भसे सृष्टि हुई (उपासक-मत)—इन सब मतोंमें अनुमान प्रमाण है और मतिका सापेक्ष उत्कर्ष है। इनमें-से किसी भी कारणका प्रत्यक्ष होना सम्भव नहीं है क्योंकि जो उस प्रत्यक्षका द्रष्टा होगा वह उस जगत्से पृथक् ही होगा जिसकी रचना या विघटनके प्रत्यक्षीकरण-का प्रसंग है। मूल कारण चार नहीं हो सकते, उन चारका भी कोई एक कारण होना चाहिए। सृष्टि यदि जड़से हुई तो हमें भी जड़ ही होने चाहिए, किन्तु 'मैं जड़ हूँ' यह अनुभवकी कक्षामें नहीं आ सकता। शून्यसे उत्पत्ति मानते हैं तो यह व्यवहार्य नहीं है; शून्यसे उत्पत्तिमें कोई दृष्टान्त भी नहीं है। विज्ञान क्षणिक है, अतः जगत्को अनुभवमें आनेवाली स्थिति संभव नहीं हो सकती। कर्म स्वयं जड़ है उसकी व्यवस्था बिना चेतनका आश्रय लिये सम्भव नहीं है। परमाणु निरवयव हैं फिर उनका संयोग सम्भव कैसे होगा ? प्रधानको स्वयं कर्ता मानने पर भी नियमोंमें व्यतिक्रम क्यों देखनेमें आता है ? प्राकृतिक नियम इतने व्यवस्थित और दृढ़ क्यों हैं ? जीव परिच्छिन्न, अल्पज्ञ और पराधीन है, अतः कितना भी उत्कृष्ट जीव हो वह सम्पूर्ण सृष्टिका कर्ता नहीं हो सकता। जीव औपाधिक होनेसे स्वयंभू भी नहीं है और उपाधि तो स्वयं जगत् ही है जिसकी कारणताकी खोज है। हिरण्यगर्भ भी जीव ही है क्योंकि श्रुतिमें उसकी उत्पत्ति बतायी गयी है : **यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वम्** (श्वेता० ६.१८)।

परस्पर विरुद्ध होनेसे इनमें कोई भी सिद्धान्त नहीं हो सकता। वही सत्ता कारणके रूपमें निर्दिष्ट हो सकती है जो इन सब कारणोंका भी कारण हो। तुलसीने उसीको **'अशेष कारणपरम्'** कहकर उसको 'ईशम्' (ईश्वर) कहा है। वेदान्तका यही सिद्धान्त है कि यह जगत् सर्वज्ञ, सर्व-शक्ति परमेश्वरका ही कार्य है। और ईश्वर क्या है ? तो जगत्की कारणतासे उपलक्षित ब्रह्मका नाम ही ईश्वर है।

सर्वज्ञमें जो 'सर्व' है वह उपादानका सूचक है और 'ज्ञ' निमित्तका। अतः जो 'सर्वज्ञ' है वही इस जगत्की माटी और कुम्हार दोनों है अर्थात् अभिन्ननिमित्तोपादान कारण ब्रह्म है। बननेवाला और बनानेवाला दोनों एक है।

'ज्ञ' 'सर्व'को जानता है। अतः सर्वज्ञमें 'ज्ञ' अंश अपरिवर्तनशील है और 'सर्व' अंश परिवर्तनशील है, फिर भी सर्वज्ञमें दोनों एक है। अब 'ज्ञ'का कार्य 'सर्व' है या 'ज्ञ'का विवर्त 'सर्व' है ? अर्थात् 'ज्ञ'का परिणाम सर्व

है या 'ज्ञ' ज्यों-का-त्यों रहते हुए ही सर्व प्रतीत होता है ? ज्ञानमें परिणाम संभव नहीं है अन्यथा परिणामका भी ज्ञान नहीं होगा। इसलिए जो व्यावहारिक दृष्टिसे सर्वरूप है और सर्वका ज्ञाता भी है, वह वस्तुतः अद्वय ब्रह्म ही है। यही 'सर्वज्ञ' शब्दका अर्थ है अर्थात् सर्वका विवर्ती अभिन्न निमित्तोपादान कारण ब्रह्म। वेदान्तमें इसी अर्थमें 'सर्वज्ञ' शब्द स्वीकार्य है।

'न्यायनिर्णयकार'का कहना है कि 'सर्वज्ञ'के दो अर्थ हैं : अद्वितीय सत्ता और सच्चिदात्मक सत्ता। विवर्ती अधिष्ठान होनेसे सर्वज्ञका अर्थ अद्वितीय है और स्वयं सर्वका मूल 'सत्' तथा 'ज्ञ'का मूल 'चित्' होनेसे सर्वज्ञ सच्चिदात्मक है। अपरिणामी अबाध्य सत्ता सत् है और स्वयंप्रकाश सर्वावभासकता ज्ञान है। अतः सर्वज्ञका अर्थ है : अबाधित अद्वितीय अपरिणामी चिदात्मक सत्ता।

आत्मसत्ता और ईश्वरसत्तामें क्या भेद है ? 'तत्' (ईश्वर) उस देशमें है, उस कालमें है; और-त्वम्' (आत्मा) इस देश और इस कालमें है। दोनों सच्चिदानन्दरूप है परन्तु दोनोंकी एकतामें व्यवधान देश, काल और द्रव्यका है। 'तत्त्वमसि' महावाक्य उस व्यवधानका निषेध करके दोनोंकी सिद्ध एकताका प्रतिपादन करता है। देश-काल-द्रव्यके अभावसे उपलक्षित जो चिन्मात्र वस्तु है, उसका ऐक्य वेदान्त-प्रतिपादित है। इसी दिशामें ब्रह्ममें कारणताका अध्यारोप और अपवाद है।

अब सर्वशक्ति शब्द पर थोड़ा विचार करते हैं। सर्वशक्तिका अर्थ है सर्व-भवन-योग्यता (सब हो सकनेकी योग्यता)। जैसे बिजली एक शक्ति है, उसमें गर्म करनेकी, ठंढा करनेकी, रोशनी करनेकी, जलानेकी, चुम्बकीय प्रभाव उत्पन्न करनेकी, इत्यादि बहुत-सी शक्तियाँ हैं! शक्ति कार्यानुमेय होती है अर्थात् कार्यको देखकर शक्तिका अनुमान किया जाता है। परन्तु जड़में शक्ति और चेतनमें शक्ति, इन दोनोंमें अन्तर होता है। जड़में शक्ति परतन्त्र होती है और चेतनमें स्वतन्त्र; और स्वतन्त्रताका अर्थ है : 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्'का सामर्थ्य, अर्थात् करने, न करने या उल्टा करनेकी शक्ति। जड़में जो शक्ति होती है वह एक बँधे नियमके अनुसार होती है और चेतनमें नियमभंग भी हो सकता है। अतः जब चेतन ब्रह्मको, ईश्वरको, परमात्माको सर्वशक्ति कहते हैं तो इसका मतलब होता है कि परमात्मा बिलकुल स्वतन्त्र है, उसमें कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्की शक्ति है। यही जगत्की विचित्रताका रहस्य भी है।

सर्वोपादान होनेसे ब्रह्म सर्वरूप है, सर्वज्ञ (ज्ञानस्वरूप) होनेसे वह अपरिणामी विवर्त्त अधिष्ठान है और सर्वशक्ति होनेसे वह स्वतन्त्र, परमानन्द-स्वरूप है। सर्वज्ञ और सर्वशक्ति कहनेका अभिप्राय ईश्वरको सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्म बताना है। श्रुतिका कथन है : **कृत्स्नस्तु प्रज्ञानघन एव** (बृहदा० ४.५.१३) यह सब-का-सब प्रज्ञानघन ही है। ब्रह्मसूत्रका भी इसी अर्थमें सूत्र है : **आह च तन्मात्रम्** (ब्र०सू० ३.२.१६)। ऐसे ब्रह्म आप स्वयं हैं।

५. ब्रह्मकी सर्वव्यापकताका अर्थ

ब्रह्मकी सर्वव्यापकताका अर्थ भी समझना चाहिए। एक व्यापकता होती है लोहेके गोलेमें अग्निके समान। लोहेके गोलेको अग्निमें डाल दिया और वह लाल हो गया; लोहेमें अग्नि व्याप्त हो गयी। यह अन्यमें अन्यकी व्यापकता हुई; स्थूल वस्तुमें सूक्ष्म वस्तुकी व्यापकता। इसको **मूर्तसंयोगित्वरूप व्यापकता** कहते हैं। साधारण लोग परमात्माकी व्यापकताका यही अर्थ समझते हैं कि जगत् स्थूल है और इसमें सूक्ष्म वस्तु ब्रह्म व्यापक है। उपनिषद्में भी इस व्यापकताका वर्णन है :

अग्निर्यथैको भुवनं प्रविष्टो रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव

(कठ० २.२.९)।

दूसरी व्यापकता है कार्यमें उपादान कारणकी व्यापकताके समान। जैसे कार्य घड़ामें उपादान कारण मिट्टी व्यापक है। यहाँ कार्य घड़ा और कारण मिट्टी अलग-अलग वस्तु नहीं हैं। घड़ा मिट्टीरूप ही है, बस मिट्टीमें कुछ आकार-विशिष्ट बन गये—घड़ा, सकोरा आदि। नामोंका भेद व्यावहारिक है, वास्तविक नहीं है। उपनिषद्में ब्रह्मकी ऐसी व्यापकताका वर्णन है : **वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्** (छा० ६.१.४)। इसी प्रकार तरंगमें जल, चिन्गारीमें अग्नि, प्राणवायुमें वायु और घटाकाशमें महाकाशकी व्यापकताके दृष्टान्त हैं।

एक तीसरी व्यापकता है वृक्षमें बीजकी व्यापकताके समान। यहाँ बीजस्थ संस्कारोंकी वृक्षमें व्यापकता है, पंचभूत तो बीज और वृक्षमें समान ही हैं। स्वप्नके पदार्थोंमें जाग्रत्के संस्कारोंका बीज व्यापक है। इसी प्रकार व्यक्तिमें जीवके प्राक्संस्कार व्याप्त रहते हैं। ईश्वरका मूल संकल्प 'बहुस्यां प्रजायेय' इस प्रतिक्षण वर्द्धमान सृष्टिमें व्याप्त है।

स्वप्नके दृश्यमें मन व्याप्त है। जाग्रत् और स्वप्नके दृश्योंका बीज सुषुप्तिमें होता है। अतः सुषुप्ति ही जाग्रत्-स्वप्नमें व्याप्त है। माण्डूक्योपनिषद्में यह स्पष्ट ही है।

एक चौथी व्यापकता है सूर्यकी रश्मियोंकी पृथिवी-मण्डलमें व्यापकताके समान। सूर्य पृथक् स्थित है, परिच्छिन्न है, परन्तु उसकी ऊष्मा और प्रकाश अपने मण्डलके प्रदेशमें व्यापक हैं। इसी प्रकार ईश्वर किसी लोकमें स्थित रहता हुआ ही अपने मण्डल इस जगत्में अपनी शक्तिसे व्यापक है। यह उन उपासकोंका मत है जो ईश्वरको तटस्थ मानते हैं। वेदान्तमें यह मत स्वीकार्य नहीं है किन्तु सर्व प्रदेशोंमें सत्-रूपसे विद्यमान ब्रह्ममें उपासनाके लिए एक विशिष्ट लोक आदिकी कल्पना अध्यारोप कक्षामें वेदान्तको भी स्वीकार्य है।

पाँचवी व्यापकता है जैसे भ्रमजन्य पदार्थमें अधिष्ठानकी। जैसे सर्पमें रज्जु व्यापक है, नीलिमामें आकाश व्यापक है, पुरुषमें स्थाणु व्यापक है। वेदान्त-सिद्धान्तमें यही व्यापकता स्वीकार्य है। ब्रह्ममें जगत् और आत्मामें जीवत्व (अहमर्थ) तीन कालमें नहीं है। किन्तु ब्रह्मके अज्ञानसे जगत् और आत्माके अज्ञानसे जीवत्व भास रहा है अतः ज्ञान-दृष्टिसे न जगत् है और न अहमर्थ। केवल ब्रह्म ही है। फिर कौन किसमें व्यापक होगा। इसीलिए तेजोबिन्दूपनिषद्की श्रुतिका कहना है कि **'व्याप्य-व्यापकता मिथ्या'**। इसी अर्थमें ब्रह्मकी व्यापकताका अन्तिम तात्पर्य है।

६. ईश्वर एवं प्राज्ञ

माण्डूक्य उपनिषद्में ब्रह्मको चतुष्पाद[८] बताया है। प्रथम पाद विश्व-विराट् है, द्वितीय पाद तैजस-हिरण्यगर्भ है, तृतीय पाद प्राज्ञ है और उसीको सर्वेश्वर, सर्वज्ञ, अन्तर्यामी और सब भूतोंकी उत्पत्तिकी योनि बताया है, तथा चतुर्थ पाद स्वयं आत्मा है जो पहले तीन पादोंमें अनुस्यूत तथापि तीनोंसे विलक्षण है। तृतीय पादसे सम्बन्धित श्रुति ये हैं :

सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक् चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः। एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञः एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम्॥ (माण्डूक्य० ५-६)

---

८. अयमात्मा ब्रह्म। सोयमात्मा चतुष्पात् (माण्डूक्य० २)।

जगत्‌की बीजावस्था ही यहाँ सुषुप्तिरूपसे निर्दिष्ट है। जैसे वृक्षकी तीन अवस्थाएँ होती हैं : बीज, अंकुर और वृक्ष। उसी प्रकार जगत्‌रूप वृक्षकी बीजावस्थासे उपलक्षित ब्रह्मतत्त्वका नाम प्राज्ञ या ईश्वर है, अंकुरित (सूक्ष्म) अवस्थासे उपलक्षित ब्रह्मका नाम तैजस-हिरण्यगर्भ है और स्थूल अवस्थासे उपलक्षित ब्रह्मका नाम विश्व-विराट् है।

जिस प्रकार बीजमें वृक्षके अवयवोंके भेद विद्यमान रहने पर भी प्रतीत नहीं होते; जैसे रात्रिके अन्धकारके कारण सब पदार्थ पृथक्-पृथक् रहने पर भी एकाकार जान पड़ते हैं; उसी प्रकार सुषुप्तिमें भी सब कुछ एकाकार हो गया हो, ऐसा विचार करने पर प्रतीत होता है। ईश्वरमें भी जगत् एकीभूत-सा रहता है। कारण एक होता ही है।

जाग्रत्-स्वप्न मनकी स्फुरणाएँ हैं। ये प्रज्ञान है, प्रकृष्ट ज्ञान हैं। सुषुप्तिमें ये स्फुरणाएँ एकाकार हो जाती हैं—घनीभूत हो जाती हैं। इसलिए ईश्वर प्रज्ञानघन है और प्रज्ञानघन ही है माने उसमें प्रज्ञानके अतिरिक्त अन्य कोई विजातीय जड़ वस्तु नहीं है।

जगत्‌की उत्पत्ति-स्थितिरूप श्रम (अथवा जाग्रत्-स्वप्नके विषय-विषयी भावका मानसिक श्रम) सुषुप्ति स्थानीय ईश्वरमें नहीं है, अतः वहाँ अनायास सुखकी स्थिति है। वहाँ अनन्त नाम-रूप आकारोंके भेदसे विनिर्मुक्त सत्ता है और उसका ज्ञान भी है। गही सुख है। अनायास सुख है ईश्वरका या प्राज्ञका। अतः वह आनन्दमय है। व्यावहारिक भाषामें ईश्वर इस आनन्दका भोक्ता है, ऐसा कहा जाता है। लेकिन वास्तवमें तो वह आनन्द ही है।

जाग्रत् और स्वप्नकी चेतनाका द्वार यही ईश्वर है अर्थात् उनका बीज ईश्वर ही है। ईश्वरमें-से विश्व-चेतना और तैजस चेतना निकलती है। अतः ईश्वर चेतोमुख है।

ईश्वरको प्राज्ञ कहते हैं क्योंकि ज्ञाता-ज्ञेयसे रहित केवल ज्ञानमात्र वहाँ हैं। ज्ञाता-ज्ञेयसे रहित अवस्था व्यष्टिमें सुषुप्ति है और समष्टिमें महाप्रलयकी होगी। अतः सुषुप्तिमें जो चेतन शेष रहता है, जो सुषुप्तिका साक्षी है, वही महाप्रलयमें भी शेष रहेगा और वही महाप्रलयका साक्षी होगा। तदनन्तर सुषुप्ति टूटनेपर या महाप्रलय समाप्त होनेपर और कल्पका प्रारम्भ होनेपर उसीमें सम्पूर्ण भूत-प्राणी उत्पन्न होंगे। अतः ईश्वर ही सबकी

उत्पत्तिका द्वार अथवा योनि है। इसलिए सृष्टिमें सब भूतप्राणियोंकी जाति वही है जो ईश्वरकी है अर्थात् सच्चिदानन्द और ईश्वर ही सबका उपादान है। चेतन होनेसे वही निमित्त कारण भी है और सर्वरूप होनेसे वही सहकारी कारण और साधारण कारण भी है।

ईश्वर सर्वज्ञ है, इसलिए वह जड़ ज्ञेय नहीं, चेतन ज्ञाता है। जिस समय सृष्टि बीज रूपमें रहती है, उस समय बीजको बनाये रखनेवाला भी यही है और जिस समय विस्तारमें रहती है उस समय अन्तर्यामीरूपसे उसका संचालक, ज्ञाता भी यही है।

सुषुप्ति, स्वप्न और जाग्रत् तीनों अवस्थाओंके ज्ञाता होनेके कारण तुम सर्वज्ञ हो। सुषुप्तिमें प्राणादिकी क्रियाओंका तथा जाग्रत्-स्वप्नकी क्रियाओंका नियन्ता होनेके कारण तुम सर्वान्तर्यामी हो।

कुछ दार्शनिक ईश्वरको जगत्से तटस्थ मानते हैं किन्तु वेदोक्त ईश्वर तटस्थ नहीं है, वह तो सर्वका अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है, माने मिट्टी भी वही और कुम्हार भी वही। क्या घड़ेसे मिट्टी तटस्थ हो सकती है? नहीं। उसी प्रकार ईश्वर भी जगत्से तटस्थ नहीं हो सकता। तब ईश्वर कहाँ रहता है? यह प्रश्न ही गलत है क्योंकि यहाँ, वहाँ, सर्वत्र ईश्वर ही है।

तैत्तिरीय श्रुतिका कथन है कि "उस ईश्वरने कामना की कि मैं बहुत हो जाऊँ, अतः उसने तप किया और तप करके यह जो कुछ है उस सबकी रचना की। इसे रचकर वह इसीमें अनुप्रविष्ट हो गया" :

सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेयेति। स तपोऽतप्यत। स तपस्तप्त्वा इदं सर्वमसृजत यदिदं किंच। तत्सृष्ट्वा तदेवानुप्राविशत्।

(तैत्तिरीय० २.६.१)।

ऐतरेय उपनिषद्में भी **'स ईक्षत लोकान्नु सृजा इति'** (१.१.१) अर्थात् जगत्के नामरूपके व्यक्त होनेसे पूर्व एकमात्र आत्मा ही था और अन्य कुछ नहीं था। उसी आत्माने संकल्प किया कि मैं लोकोंकी रचना करूँ। तदनन्तर उसने लोकोंकी रचना की। इससे आत्मा या ईश्वर या ब्रह्मकी चेतनता तो स्पष्ट ही है। यह भी स्पष्ट है कि सृष्टि ईश्वरके संकल्पमें है, अतः इसकी स्थिति स्वाप्निक ढंगकी है : प्रतीत तो होती है, व्यवहार्य भी है, किन्तु ब्रह्मके स्वरूपमें यह त्रिकालमें मिथ्या ही है।

मुंडकोपनिषद्की श्रुति कहती है जो सर्वज्ञ और सर्ववित् अक्षर ब्रह्म है जिसका ज्ञानमय तप है उसीसे यह नाम, रूप और स्थूल भूत उत्पन्न होते

है : **यस्य ज्ञानमयं तपः** (१.१.९) । इस प्रकार सर्वज्ञ, सर्वशक्ति ब्रह्म या ईश्वरमें नामरूपादिकी ज्ञाततारूप ज्ञानमय तपसे यह सृष्टि उत्पन्न होती है अर्थात् उत्पन्न-सी होती है।

सृष्टिकी उत्पत्तिकी प्रक्रिया क्या है ? तो उपनिषदोंमें सर्वत्र एक-सी प्रक्रिया नहीं पायी जाती। मुंडकोपनिषद् (२.१.३)में पृथिव्यादि भूतोंकी एक साथ उत्पत्तिका वर्णन है तो तैत्तिरीयमें पाँचों भूतोंकी क्रमिक उत्पत्तिका वर्णन है : ब्रह्मसे आकाश, आकाशसे वायु, वायुसे अग्नि, अग्निसे जल, जलसे पृथिवी (२.१) । छान्दोग्यमें तीन भूतोंकी—आकाश, तेज और जलकी उत्पत्ति है। श्वेताश्वतरमें मायाके द्वारा मायावी ईश्वरसे सृष्टिका वर्णन है (४.१०) और यह भी कह दिया है कि **'न तस्य कार्यं करणं च विद्यते'** (६.८) अर्थात् ब्रह्मका कोई कार्य नहीं है। तो क्या श्रुतिका यह उन्मत्त प्रलाप है ? नहीं। इसका रहस्य यही है कि श्रुतिका तात्पर्य सृष्टि-रचनाकी प्रक्रियाके वर्णनमें नहीं है, अपितु ब्रह्ममें जगत्कारणताका अध्यारोप करके तदनन्तर उसके अपवादके द्वारा आत्माकी अद्वितीयता सिद्ध करनेमें है। इसका गणित यह है कि जगत् ब्रह्मसे अभिन्न है, जैसे स्वप्न स्वप्न-द्रष्टासे अभिन्न है, जैसे सर्पादि विकल्प अपने अधिष्ठानसे अभिन्न है, जैसे मिट्टीसे बने पदार्थ मिट्टीसे अभिन्न हैं इत्यादि; तथा आत्मा ब्रह्मसे अभिन्न है क्योंकि जीव-चेतन और ईश्वर-चेतनका भेदक जो प्रपंच है वह पहिले ही ब्रह्माभिन्न है। अतः अद्वितीय ब्रह्म ही है, यह सिद्धान्त प्राप्त होता है।

सब उपनिषदोंमें ईश्वरके बारेमें निम्न बातें सर्वमान्य हैं :

१. ईश्वर जगत्का विवर्ती अभिन्ननिमित्तोपादान कारण है।
२. ईश्वर सच्चिदानन्दस्वरूप, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वनियन्ता, सर्वान्तर्यामी और सर्वव्यापक है।
३. ईश्वर ही उपास्य है और वह जीवकी बुद्धिरूपी गुहामें स्थित है।
४. ईश्वरसे जुड़ना ही उसकी उपासना है। यह जुड़ना भाव और विचारसे निष्पन्न होता है।
५. ईश्वर स्वस्वरूपसे निर्बीज ब्रह्म है और जगत्-दृष्टिसे (उपासनाके लिए या अध्यारोपकी कक्षामें) सबका मूल कारण है अर्थात् वह सबीज ब्रह्म है।

●

अध्याय–१६

ईश्वरतत्त्वका विचार–२

१. ब्रह्मका दूसरा लक्षण–शास्त्रयोनित्व

श्वेताश्वतर उपनिषद्में मन्त्र है :

यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै ।
तं ह देवमात्मबुद्धिप्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ।।

(६.१८)

"जो सृष्टिके आरम्भमें ब्रह्मा (हिरण्यगर्भ)को उत्पन्न करता है और जो उसके लिए वेदोंको प्रवृत्त करता है, अपनी बुद्धिको प्रकाशित करनेवाले उस देवकी मैं मुमुक्षु शरण ग्रहण करता हूँ।"

बृहदारण्यक उपनिषद्की श्रुति है : **अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः** (२.४.१०)। अर्थात् ऋग्वेदादि वेदोंकी पुरुष-निःश्वासकी भाँति सहज ही इस महान् सद्रूप कारण ब्रह्मसे उत्पत्ति होती है।

इन श्रुतियोंका अर्थ है कि सृष्टिमें जितना भी ज्ञान है उस सबका मूल ईश्वर है। अर्थात् ईश्वर सर्वज्ञ है। अतः यदि हम अपने ज्ञानकी ही खोज करें कि 'अहम्' यह जो ज्ञान है वह कहाँसे उदित हो रहा है तो अहम्के मूलमें हम ईश्वरको ही पायेंगे। ईश्वरकी उपासनाके लिए हम कुछ भी करें, किन्तु ईश्वरकी प्राप्तिके लिए हमें 'अहं'के मूलमें ही लौटना पड़ेगा। जाग्रत् और स्वप्न अवस्थाओंका ज्ञान उदित अहंके आश्रित है और वह उदित अहं सुषुप्तिमें लीन हो जाता है। इस लयका जो आश्रय है वही प्राज्ञ, ईश्वर है। उसमें अहंके बीज—अविद्या, कामना और कर्मका अपवाद कर देनेपर श्रुति उसी ईश्वरको, प्राज्ञको, तुरीय ब्रह्म बताती है।

ब्रह्मका स्वरूप सच्चिदानन्द है : **सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म।** जब हम उसके साथ कर्मकी उपाधि जोड़ते हैं तो सत्ता (सत्) सर्वशक्ति महाकर्ताके रूपमें प्रतीत होती है, चित्ता (चित्) सर्वज्ञके रूपमें प्रतीत होती है। और आनन्द महाभोक्ताके रूपमें प्रतीत होता है। उपाधि जोड़ते हैं हम,

चन्दन-टीका लगाते हैं हम और वह उतर आता है फोटोमें। यही महान् कर्ता, सर्वज्ञ और महाभोक्ता ईश्वरके रूपमें विख्यात है।

इसके विपरीत इस शरीरमें जीव भी औपाधिक है। कर्मकी अल्प उपाधिके कारण सच्चिदानन्द ब्रह्म ही अल्पकर्ता, अल्पज्ञ और अल्प भोक्ता जीवके रूपमें इस शरीरमें प्रतीत और विख्यात है।

अधिष्ठानता, प्रेरकता, सर्वज्ञता—ये चेतनके औपाधिक उपद्रव हैं; और अध्यस्तता, नियम्यता और अल्पज्ञता—ये भी चेतनके औपाधिक उपद्रव हैं। ईश्वर और जीवमें इन्हीं उपद्रवोंका भेद है, तत्त्वतः नहीं है।

यह ईश्वर अपने शरीरमें रहता है या नहीं ? रहता है। कार्यमें कारण अनुगत होता है जहाँ जीवमें देह-मन-इन्द्रियों आदिकी कार्य उपाधि है वहाँ इनके कारण प्रकृतिकी, जो ईश्वरकी उपाधि है, विद्यमानता तो है ही। बल्कि कारणमें कार्य कल्पित होता है। इसलिए ईश्वरमें जीव कल्पित ही है। हम जीवको तो जानते हैं परन्तु उसकी ईश्वरताको नहीं जानते। इसीसे अभी, यहीं, इसी शरीरमें ईश्वर रहता हुआ हमसे अज्ञात है।

दुनियामें इतना ज्ञान-विज्ञान निकलता है, इतना अनुशासन है, इतनी बुद्धियाँ निकलती हैं, उनका उद्गम कहाँ है ? जैसे ईश्वर सर्वबीजात्मक कारण है वैसे ईश्वर सर्वज्ञानोंका भी बीजात्मक कारण है। सारे शास्त्र उसीके ज्ञानकी परछाइं हैं। उसीके ज्ञानके आभास अन्तःकरणमें पड़कर सब जीव अल्पज्ञ हो रहे हैं और ईश्वर सर्वज्ञ हो रहा है।

इसी बातको वेदान्त-दर्शनका **शास्त्रयोनित्वात्** (ब्र०सू० १.१.३) नामक सूत्र बताता है। **'जन्माद्यस्य यतः'** सूत्रके साथ मिलाकर यह निष्कर्ष निकलता है कि जगत्‌की खण्ड-खण्ड सत्ता और उसके समस्त खण्ड-खण्ड ज्ञान, सबका कारण एक अखण्ड सत्ता ब्रह्म है जो अखण्ड ज्ञानस्वरूप है।

जैसे जगत्कारणत्व ब्रह्मका लक्षण ब्रह्मके सदंशमें अद्वितीयताकी सिद्धिका साधन है उसी प्रकार सर्वज्ञता या शास्त्रयोनित्व ब्रह्मका लक्षण ब्रह्मके चिदंशमें अद्वितीयताकी सिद्धिका साधन है। नाम-रूप-आकारवाले दृश्य प्रपंचका जो अधिष्ठान है वह सबीज ब्रह्म अर्थात् ईश्वर है और वह अद्वितीय है, अतः नाम-रूप आकार मिथ्या हैं। इन मिथ्या नाम-रूप-आकारों और उनके भेदको जो जानता है वह वृत्तिमान जीव है। वह भी अद्वितीय

है क्योंकि वे सभी ज्ञान इसी जीवसे प्रकाशित होते हैं। अब दो अद्वितीय पदार्थ नहीं हो सकते अतः जो प्रपंचका अधिष्ठान है वही उनका साक्षी भी है। बीचमें मिथ्या दृश्य जीव और ईश्वरका सच्चा भेदक नहीं हो सकता।

आत्मा ब्रह्म है, यह बात महावाक्य बताते हैं। परन्तु प्रपंच उसी ब्रह्मसे उत्पन्न, जीवित और उसीमें लीन होनेके कारण तथा उसीके द्वारा प्रकाशित होनेके कारण प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म तत्त्वमें कोई वस्तु नहीं है।

ईश्वरके अनुसंधानकी विधि यह है कि हम अपने इसी देह और अपनी बुद्धिके बीजको, मूलको, ढूँढें। दोनोंका एक ही मूल है ब्रह्म, किन्तु दोनोंके बीज पृथक्-पृथक् हैं। जैसे सब बीजोंके उपादान (अधिष्ठान) पंचभूत होते हैं किन्तु सबमें संस्कार पृथक्-पृथक् होते हैं, ठीक उसी प्रकार देहका बीज कर्म और भोगकी वासना है और बुद्धिका बीज प्राज्ञ है किन्तु दोनोंका उपादान (अधिष्ठान) ब्रह्म है।

जैसे जड़ सृष्टिमें दो अवस्थाएँ होती हैं—उत्पत्ति और लय; जैसे व्यष्टि जीवनमें दो अवस्थाएँ होती हैं—जाग्रत् और सुषुप्ति; उसी प्रकार किसीकी बुद्धि सोयी है तो किसीकी जाग रही है। व्यष्टि जीवनमें जगी और सोयी, दोनों बुद्धियोंका उपादान ज्ञाता (प्राज्ञ) है। समष्टि जीवनमें भी बुद्धिका उपादान ज्ञाता (ईश्वर) है। प्राज्ञ और ईश्वर एक हैं।

विवेक करते समय दो प्रणालियाँ अपनायी जाती है: वासना और वासनायुक्त बुद्धि तथा उसका लय-स्थान। बीज न सत् है, न चित् है, न आनन्द है। अज्ञानके कारण अपने अस्तित्वमें, अपने बोधमें और अपनी प्रियतामें जो अहंगत परिच्छिन्नता है, उसके आश्रयसे ही व्यष्टि-बुद्धि, व्यष्टि-वासना और व्यष्टि-आकृति टिकती है। यह परिच्छिन्न अहं अज्ञानका प्रथम कार्य है। यही विपर्यय है और यही आवरण है। इसीसे मुक्त होनेके लिए वेदान्तका विचार है।

प्राज्ञ वासना और बुद्धिका लय-स्थान है और ईश्वर आकृतियोंका लय-स्थान है। किन्तु जिसमें बुद्धिका बीज है उसीमें आकृतियोंका बीज है क्योंकि सुषुप्तिमें बुद्धि और आकृति दोनों एक हो जाती हैं और साक्षी शेष रहता है। इसी प्रकार समष्टिमें भी एक अवस्था ऐसी होती है जिसमें रूप-आकृति एवं बुद्धि दोनों एक चैतन्यमें लीन रहती हैं तदनन्तर उसीमें-से,

उसी सर्वज्ञ ईश्वरसे, जैसे आकृतियोंका आविर्भाव होता है उसी प्रकार बुद्धिका भी होता है। इस सम्बन्ध-बुद्धिका भी आविर्भाव होता है कि 'इस रूपका यह नाम है'। **नामरूपे व्याकरवाणी**—यह श्रुति है।

नाम-रूपका विभाजन करनेबाली जो बुद्धि है वह शब्दारूढ़ होकर ही नाम, रूपका विभाजन करती है। इसी बुद्धिके परिणाम हैं सम्पूर्ण लौकिक, पारलौकिक एवं पारमार्थिक शास्त्र और उन सब शास्त्रोंके मूलरूप हैं ऋग्वेदादि। इसीलिए वेदान्त-दर्शन ब्रह्मको सब शास्त्रोंकी योनि बताता है : **शास्त्रयोनित्वात्।**

जगत् और शास्त्रके बीजसे उपहित चैतन्यका नाम ईश्वर है। जब यह वेद प्रकट हुआ तो किस बुद्धिमें हुआ ? ईश्वरकी जो समष्टि बुद्धि (हिरण्यगर्भ) है उसमें वेद लीन था। सृष्टिकी रचनाके समय उसीमें-से जहाँ अनेक ब्रह्माण्डोंका जन्म हुआ उसी समय वेदका भी जन्म हुआ। जैसे ईश्वरने लीन आकृतियोंके बीजको अंकुरित किया उसी प्रकार उसने अर्थद्योतन करनेवाली लीन ध्वनियोंको भी अंकुरित किया। अर्थात् ध्वनिकी अर्थद्योतन-आनुपूर्वीको ईश्वरने सृष्टिकालमें प्रकट किया। अर्थ प्रकट करनेवाली ध्वनिका नाम शब्द है : **अर्थद्योतनात् ध्वनयः।**

शब्द मूल जो सर्वज्ञ ईश्वर है और यह जो जाग्रत्-स्वप्नको प्रकट करनेवाला और सुषुप्तिको जाननेवाला प्राज्ञ जीवात्मा है वे दोनों चैतन्य होनेसे एक ही हैं। सोते समय जैसे शब्द और आकृति, इनका सम्बन्ध ज्ञान और इनकी आनुपूर्वी—सब बीजावस्थाको प्राप्त होकर सुषुप्ति रूपमें साक्षी-भास्य बनते हैं और जाग्रत् होने पर वे सब पुनः ज्यों-के-त्यों उदित हो जाते हैं। उसी प्रकार प्रलयावस्थामें भी सब आकृतियाँ, ध्वनियाँ और उनकी आनुपूर्वी बीजरूपमें लीन होकर ईश्वर-भास्य रहती हैं और सृष्टिके समय ज्यों-की-त्यों पुनः उदित हो जाती हैं। ये दोनों अवस्थाएँ बिलकुल एक-जैसी हैं। इसलिए इनमें जो सर्वज्ञ चैतन्य है वह भी एक ही है। वही आत्मचैतन्य है और वही ईश्वर-चैतन्य है।

सत्य और मिथ्याकी तथा कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यकी बोधक जो विशेष ध्वनियाँ हैं उनकी आनुपूर्वीका नाम वेद है। यह वेद चित्त और प्राणकी विशेष-दशामें देखनेमें आता है। चित्तको वैखरीसे मध्यमामें, मध्यमासे पश्यन्ती, और पश्यन्तीसे परामें ले जानेपर, माने परावाक्‌से तादात्म्यापन्न होते ही

वेदमन्त्रोंका साक्षात्कार होता है—वे दिखायी भी पड़ते हैं और सुनायी भी पड़ते हैं। वेदमन्त्रोंमें केवल भारतवर्षका वर्णन नहीं है, समग्र सृष्टिका वर्णन है। किसी कालिक सृष्टिका वर्णन नहीं है, भूत-भविष्य-वर्तमान सब सृष्टियोंका वर्णन है। किसी पंथाई ईश्वरका वर्णन नहीं है, समग्र ईश्वरका वर्णन है। वेदका कहना है कि प्रत्येक नाम परमेश्वर है, प्रत्येक रूप परमेश्वर है, प्रत्येक आकृति परमेश्वर है और प्रत्येक बुद्धि परमेश्वर है, क्योंकि सब अधिष्ठान ब्रह्म-सत्तासे सत्तावान् हैं। सबका अधिष्ठान एक है और अध्यस्त कुछ होता नहीं। ऐसे अखण्ड परब्रह्म परमात्माका वर्णन वेदमें है। ऐसी अनादि, अविच्छिन्न सम्प्रदायसे प्राप्त, अस्मर्यमाणकर्तृक[1], जो नियत आनुपूर्वीका ज्ञान है उसका नाम वेद है। उस ज्ञानके अनन्तर कालका भेद है, पूर्व नहीं। उस ज्ञानके अनन्तर कर्तृत्व और कर्ता उत्पन्न होते हैं, पूर्व नहीं। इसलिए ज्ञान किसी कर्ताका बनाया नहीं है, वह कर्ताका प्रकाशक है। ज्ञान कालमें नहीं बना, वह कालका प्रकाशक है। ज्ञानका कभी नाश नहीं हो सकता क्योंकि वह 'सम्प्रदायाविच्छेदेन' प्राप्त है, सम्प्रदाय उसमें पैदा होते हैं और मर जाते हैं। ऐसी जो ज्ञानराशि है उसका नाम वेद है।

यदि वेद शब्दका अर्थ ठीक-ठीक समझ लें तो हमें आत्म-ज्ञान हो जायेगा। वेदकी सफलता ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञानमें होती है और यह ज्ञान भी वेदसे ही उदित होता है। वेद दो रूपोंमें रहता है: शब्द-राशिके रूपमें और अर्थ-राशिके रूपमें। शब्द-राशिके रूपमें वेद कल्पित ज्ञान है और अर्थ-राशिके रूपमें वेद अकल्पित ज्ञान है। कल्पित ज्ञानके द्वारा अकल्पित ज्ञानको प्राप्त कराना वेदका उद्देश्य है।

वेद कल्पित अनादि है और आत्मा अकल्पित अनादि है। वेद अस्मर्यमाणकर्तृक है और आत्मा अकर्तृक ज्ञानस्वरूप है। वेद अपौरुषेयका भी प्रकाशक है अर्थात् किसी पुरुषकी रचना नहीं है और वृत्ति-विशेष नहीं है जबकि आत्मा उस अपौरुषेयताका भी प्रकाशक है। वेद अविच्छिन्न सम्प्रदायसे प्राप्त है और आत्मा प्रत्येक बोधमें अनुगत है।[2] अतः वेद ज्ञानस्वरूप आत्माका उपलक्षण (तटस्थ लक्षण) है।

---

१. जिसकी रचना अनुभूत ज्ञानको याद कर-करके न की गयी हो।

२. प्रतिबोधविदितं मतम् (केन० २.४)।

प्रश्न यह है कि वेदकी रचना क्या ईश्वरने की ? यदि ईश्वरने नहीं की तो फिर किसने की ? यदि ईश्वरने की तो क्या ईश्वर संस्कृत भाषामें ही रचना करता था ? इस प्रकारके और भी अनेक प्रश्न संशयवादी अवैदिक जिज्ञासुओंके मनमें उभरते हैं। इस विषयमें पहले हम विभिन्न मतोंका उल्लेख करते हैं।

१. **चार्वाकने** गाली देकर कहा कि वेदोंकी रचना धूर्त लोगोंने की : **त्रयो वेदस्य कर्तारो भण्डधूर्तनिशाचराः।** असलमें वेद कहता था कि आत्मा है, पुनर्जन्म है, परलोक है, कर्ता है, साक्षी है, ईश्वर है, ब्रह्म है, यज्ञ है, ब्राह्मण हैं इत्यादि। ये बातें चार्वाकके विरुद्ध पड़ती थीं, अतः उसका गाली देना स्वाभाविक था।

२. **बौद्ध और जैन** वेदोंको मनुष्यकी ही रचना मानते हैं। परन्तु उनके मतमें मनुष्यमें चार दोष सम्भव हैं : भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा (ठगनेकी इच्छा) और करणापाटव (बुद्धिकी अकुशलता)। अतः वेदको पूर्णतः प्रमाण मानना ठीक नहीं है। बल्कि उनके जो वीतराग शुद्ध अन्तःकरण महापुरुष हैं उनके वचन और अनुभूतिको ही प्रमाण मानना उचित है।

३. **न्याय-वैशेषिकोंकी** मान्यता है कि वेदकी रचना मनुष्योंने नहीं, बल्कि ईश्वरने की है। उनके यहाँ ईश्वर सृष्टिका निमित्तकारण मात्र है, उपादान कारण नहीं है (वे उपादान परमाणुको मानते हैं)। इसलिए ईश्वर जब परमाणुओंसे सृष्टि बनाता है तब वह वेदोंको भी बनाता है। वेद अर्थात् सृष्टिका ईश्वरकृत संविधान। अब चूँकि ईश्वर सर्वज्ञ है अतः उसकी रचना वेद भी भ्रम, प्रमाद, विप्रलिप्सा और करणापाटव दोषोंसे मुक्त है।

४. **निराकार ईश्वरवादियोंके** सामने बड़ी समस्या आयी कि आखिर ईश्वरने शास्त्र बनाया तो कैसे ? किसीको वे आसमानमें लिखे दिखायी पड़े तो किसीको कागजपर लिखे दिखायी पड़े। आर्य समाजियोंने कहा कि वेद आसमानमें नहीं ऋषियोंके हृदयमें प्रकट हुआ जहाँ भाषा और अर्थका ज्ञान मौजूद था। जैसे ऋषि विश्वामित्रके हृदयमें ईश्वरने गायत्री मन्त्र प्रकट कर दिया।

५. **साकार ईश्वरवादियों**ने कहा कि नारायणको वेद याद रहता है; वे सृष्टिके आदिमें ब्रह्माजीको वेद सुना देते हैं और गुरु-शिष्य परम्परासे वेद चलता रहता है।

६. भगवान् श्रीशंकराचार्यका कहना है कि सर्वज्ञ ईश्वरके सिवा वेदका कर्ता कोई हो नहीं सकता क्योंकि जितने भी ऋषि और दार्शनिक हैं वे सब वेदको मानकर ही उसका उपबृंहण करते हैं और अपनी बात कहते हैं। जगत्की भाँति वेदका प्रकाशक भी ईश्वर ही है। जगत्के उदय-अस्तके साथ ही वेदका भी ईश्वरमें उदय-अस्त होता है। जगत्-मूल और वेदमूल दोनों एक ही ईश्वर है।

७. **पतञ्जलि** (जो योगदर्शनकार हैं) ईश्वरको तो पञ्च क्लेश, कर्मविपाक (सुख-दुःख) और कर्म विपाकका आशय (वासना)से विनिर्मुक्त एवं निरतिशय सर्वज्ञ, कालसे अपरिच्छिन्न तथा सब जीवोंका गुरु मानते हैं किन्तु वे वेदकी स्थिति ईश्वरकी बुद्धिमें मानते हैं। अतः विवेकख्यातिके द्वारा जब जीवकी बुद्धिमें परा वाणीसे एक होनेकी योग्यता आजाती है तो द्रष्टाकी बुद्धि सर्वज्ञ ईश्वरकी बुद्धिके साथ तादात्म्यापन्न हो जाती है और सर्वज्ञकी बुद्धिमें जो विराजमान वेद हैं उस वेदका दर्शन होता है।

८. **सांख्य दर्शन** भी योगकी भाँति ही स्वीकार करता है। **तान्त्रिकों**की भी यही स्थिति है।

९. पूर्वमीमांसाका अभिप्राय यह है कि वेद वाक्यके रूपमें नित्य रहते हैं। उनके मतमें सृष्टि नित्य है, वह न बनी है, न नष्ट होगी। उस नित्य सृष्टिमें वेद भी नित्य हैं और उसके अक्षर, पद, वाक्य, आनुपूर्वी सब नित्य हैं। इसलिए वेदकी रचना किसने की, यह प्रश्न ही नहीं है। वे ईश्वरको नहीं मानते। सृष्टि अनादि-अनन्त है और उसमें वेद भी अनादि-अनन्त है।

वेदान्त सृष्टिकी उत्पत्ति और प्रलय मानता है भले वह अध्यारोपकी कक्षामें ही सही। अतः वह वेदका ईश्वरमें लीन होना भी मानता है और उससे उदित होना भी मानता है। यह बात भी वेदसे ही सिद्ध होती है।

पूर्वमीमांसा और वेदान्त इस बातसे एकमत हैं कि वेद ईश्वरने बनाये नहीं। पूर्वमीमांसा ईश्वरको मानता ही नहीं इसलिए वेद ईश्वरने नहीं बनाये। और वेदान्तमें लीन वेद ही ईश्वरसे पुनः प्रकट होते हैं, अतः वेद ईश्वरने नहीं बनाये।

बृहदारण्यककी श्रुतिका कहना है कि वेद परमेश्वरकी श्वास है (२.४.१०)। श्वास जीवित प्राणीका लक्षण है। इसीप्रकार जबतक वैदिक विज्ञान जिन्दा है तबतक ईश्वर भी जिन्दा है। ईश्वर श्वासी है और वेद श्वास है। यदि श्वासका ही तिरस्कार कर देंगे तो ईश्वर क्या मिलेगा? यों ईश्वर अविनाशी है, इसलिए उसका श्वास भी अविनाशी ही है।

२. ईश्वरके सम्बन्धमें प्रमाण—शास्त्र

ईश्वरके लक्षणकी बात तो हो गयी। ईश्वरके सम्बन्धमें प्रमाण क्या है? सृष्टि ब्रह्मसे होती है, यह लौकिक कार्य-कारणको देखकर और उसी बुद्धि द्वारा जिज्ञासुको ब्रह्मकी अद्वितीयताका बोध करानेके उद्देश्यसे, शास्त्रका अध्यारोप है। ब्रह्मकी यह कारणता प्रत्यक्ष नहीं हो सकती क्योंकि ब्रह्म प्रत्यक्ष नहीं है। अनुमान भी नहीं हो सकती क्योंकि इसमें धुंएँ-अग्निके समान व्याप्ति-ग्रह या लिंग-परामर्श नहीं है। व्याप्ति ग्रहके बिना अनुमान नहीं होता। तब अनुमानके ही जो कच्चे-बच्चे हैं—उपमान, अर्थापत्ति और अनुपलब्धि, उनकी ही इस विषयमें क्या गम होगी? वेद या शब्द-प्रमाण भी ईश्वरमें प्रमाण कैसे होगा क्योंकि ईश्वर तो वेदसे पूर्व ही है। ऋषि, मुनि, इन्द्रिय सब बादमें पैदा हुए, उससे पहले ईश्वर था। वे भला ईश्वरका और उसके साथ जगत्की कार्य-कारणताका क्या अनुमान करेंगे!

अनुमान तीन तरहसे होता है: १. कार्यको देखकर कारणका अनुमान २. कारणको देखकर कार्यका अनुमान ३. सामन्यतोदृष्ट। बच्चेको देखकर बापका अनुमान, और बापको देखकर बेटेका अनुमान—ये पहले दो अनुमान हैं। और विना कार्य-कारण सम्बन्ध भी अनुमान कर लेना जैसे देशान्तर-प्राप्तिको देखकर गतिका अनुमान करना, सामान्यतो-दृष्ट अनुमान है।

दीखनेवाली सृष्टिको देखकर उसके किसी कारणके होनेका सामान्य अनुमान होता है। परन्तु वह कारण ब्रह्म है यह अनुमान नहीं होता। नैयायिक इसको परमाणु कहता है तो सांख्यवादी प्रकृति; बौद्ध चित्त कहता है तो मायावादी माया। परन्तु माया मायावीके आश्रित होती है, इसलिए यह जगत् किसी चेतन मायावीको मायाका खेल है, ऐसा अनुमान होता है। वह मायावी ब्रह्म है, यह श्रुति-प्रमाण है: **मायां तु प्रकृतिं विद्यात् मायिनं तु परमेश्वरम्** (श्वेता० ४.१०)। श्रुतिकी यह स्थापना अध्यारोप-

अपवादकी दृष्टिसे ही है क्योंकि श्रुति उसका अपवाद भी करती है: 'न तस्य कार्यम्', 'न तस्य कश्चित् जनिता' इत्यादि।

वार्तिककार श्री सुरेश्वराचार्यका कहना है कि यह जो इन्द्रजालरूप द्वैत दिखाई पड़ता है इसका उपादान कारण अज्ञान है।[3] जब जादूगर खेलमें पशु, पक्षी, मनुष्य दिखाता है तो क्या वे सब वहाँ होते हैं? नहीं, परन्तु दीखता सब कुछ है। क्यों दीखता है? क्योंकि तुम जादूगरको नहीं देख पाते हो, जादूको देखते हो। यह माया नहीं दीख रही, मायाका विलास दीख रहा है। अपना अज्ञान ही इसमें हेतु है। जब हम असली चीजको नहीं देख पाते हैं तो नक़ली चीजपर विश्वास हो जाता है। जगत्का जो असली स्वरूप है प्रत्यक् चैतन्याभिन्न ब्रह्म, वह तो मालूम नहीं पड़ता है इसलिए यह जगत् मालूम पड़ता है। उस असली स्वरूपका अज्ञान ही दुनियाका उपादान है। ब्रह्म जगत्का वास्तविक कारण नहीं हो सकता क्योंकि ब्रह्म चेतन है; चेतन परिणामी नहीं हो सकता, चेतन तो परिणामका साक्षी होता है। असलमें हम ब्रह्मको नहीं जानते इसीलिए उसमें कार्य-कारणका अध्यारोप करते हैं। उसका निषेध होता है अपनेको ब्रह्म जाननेसे। रस्सीको जान गये तो उसमें न साँप, न माला। जो साँप कह रहा था वह भी रस्सीको ही कह रहा था और जो माला कह रहा था वह भी रस्सीको ही कह रहा था। है तो रस्सी ही। इसी प्रकार स्त्री, पुरुष, परमाणु, प्रकृति, माया, सब ब्रह्म को ही कह रहे हैं। चीज तो एक ही है किन्तु उसको न पहिचाननेके कारण जिसको जैसा मालूम पड़ रहा है, बोल रहा है। जब ब्रह्म-ज्ञानके द्वारा अज्ञानकी निवृत्ति होती है तो सब भेदोंका अपवाद हो जाता है।

प्रश्न : नैयायिक लोग जगत्को देखकरके, अर्थात् कार्यको देखकरके, उसकी विचित्रता, विविधता देखकरके, और प्रत्यक्ष वस्तुओंमें कार्य-कारणका व्यवहार देखकरके, इस जगत्के निमित्त कारण एक सर्वज्ञ, सर्वशक्ति ईश्वरका अनुमान करते हैं जो चेतन होनेपर भी अल्पज्ञ, अल्पशक्ति, परिच्छिन्न, संसारी, परतंत्र जीवसे नितान्त भिन्न है। तो क्या जगज्जन्मादिके कारणके रूपमें ब्रह्म भी अनुमानसे ही सिद्ध है?

---

३. अस्य द्वैतेन्द्रजालस्य यद् उपादानकारणम्।
अज्ञानं तदुपादाय ब्रह्मकारणमुच्यते॥

उत्तर : नहीं। वेदान्त ईश्वरको अनुमान-सिद्ध नहीं मानता वरन् 'प्रत्यक्ष' मानता है। किन्तु ईश्वरकी प्रत्यक्षता ऐसी नहीं है जैसे आँखसे घड़ीकी है, बल्कि ऐसी है जैसी 'मैं'को 'मैं'की है बिना आँखके। ऐसे ही बिना इन्द्रियोंके ईश्वरका प्रत्यक्ष होता है। वेदान्तमें ब्रह्म, परमात्मा, आत्मा, ईश्वर इसी अर्थमें प्रत्यक्ष-सिद्ध वस्तु हैं। इस बातको और समझो।

घड़ी एक शब्द है जो मुखमें है, उसका अर्थ लौह-निर्मित घड़ी है। अब मान लो किसीने घड़ी शब्द भी सुना है और घड़ी वस्तु भी देखी है किन्तु उसे पद-पदार्थका सम्बन्ध-ज्ञान नहीं है। उस दशामें घड़ी प्रत्यक्ष होते हुए भी उसे यह ज्ञान नहीं होगा कि 'घड़ी पदका यही पदार्थ अर्थ है।' अब किसीने बताया कि 'यह घड़ी है' तो उस समय उस घड़ीका उसे प्रत्यक्ष होगा या अनुमान? प्रत्यक्ष ही होगा, अनुमान नहीं होगा।

इसी प्रकार यह जो ब्रह्मात्मैक्य-बोधक वाक्य हैं (तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि इत्यादि) वे ब्रह्मके बारेमें विश्वास दिलानेके लिए नहीं हैं। विश्वास तो असत्त्वापादक आवरण[४]का भी भंग नहीं करता! आप विश्वास करो कि ईश्वर है तो क्या उस विश्वाससे 'ईश्वर नहीं है' बुद्धिका यह आवरण हट जायेगा? वेदान्त-सिद्धान्त है कि बिना परोक्षज्ञान[५]के असत्त्वापादक आवरणका भंग नहीं होता और बिना अपरोक्षज्ञानके[६] अभानापादक-आवरण[७] भंग नहीं होता। महावाक्यके द्वारा ही अभानापादक आवरण मिटता है और तब अपरोक्ष ईश्वर ही साक्षात् अपरोक्ष या 'प्रत्यक्ष' होता है।

ईश्वरके बारेमें केवल अनुमानको या परोक्षता-बोधक वेदान्त-वचनोंको ही प्रमाण नहीं मानते। मात्र विश्वास और श्रद्धासे संशय दब जाता है। केवल परोक्ष-ज्ञानसे असत्त्वापादक आवरण भंग होता है। अपरोक्ष-ज्ञानसे अभानापादक आवरण भंग होता है। वेदान्त जो चर्चा करता है वह ईश्वरका अनुमान करनेवाला ही नहीं होता। आत्मा तो पहलेसे ही प्रत्यक्ष है, परन्तु यही आत्मा देश-काल-वस्तुसे अपरिच्छिन्न ब्रह्म है, यह ज्ञान

४–५. 'ईश्वर नहीं है' यह असत्त्वापादक आवरण है। 'ईश्वर है' यह परोक्ष ज्ञान है।

६–७. 'ईश्वर है पर दिखता नहीं' यह अभानापादक आवरण है। 'वह ईश्वर तुम हो' यह अपरोक्षज्ञान है।

वाक्यसे ही होता है। वाक्य आत्माके प्रत्यक्षके लिए नहीं होता, आत्माकी अखण्डताके प्रत्यक्षके लिए होता है। श्रुति (वेदान्त) युक्ति नहीं है, अनुमान नहीं है, बल्कि एक अंशमें जो प्रत्यक्ष आत्म-वस्तु है, उसे सर्वांशमें प्रत्यक्ष करानेके लिए श्रुतिवाक्योंकी सार्थकता है।

इसपर श्रुत्यर्थमें सहायक सभी युक्ति, तर्क, अनुमान वेदान्तको भी स्वीकार्य हैं। वेदान्तमें इनका निषेध नहीं है। किन्तु अतीन्द्रिय वस्तु जो ब्रह्मतत्त्व है उसमें न युक्तिकी गम है न तर्ककी और न प्रमाणकी। प्रत्यक्ष प्रमाण हो नहीं सकता, फिर लिंगके अभावमें अनुमानादिकी भी पहुँच कहाँ होगी ?

ब्रह्मानुभूति असलमें है क्या कि अनात्माकारितासे वर्जित और शान्त अन्तःकरण स्वयंको अपने अधिष्ठान और प्रकाशकसे जुदा नहीं दिखाता! यह त्वं-पदार्थ है। यह ठीक है कि उस समय सारी वृत्तियाँ शान्त हैं और अपने अधिष्ठानसे अन्यता भी नहीं दिखा रही हैं। फिर भी यही जो शान्त, स्वयंप्रकाश, अधिष्ठान-स्वरूप त्वं-पदार्थ है वही अद्वितीय ब्रह्म है, इस ज्ञानकी आवश्यकता रहती है और इसके लिए प्रमाणजन्य प्रमावृत्तिकी आवश्यकता है। वह प्रमाण प्रत्यक्ष, अनुमान आदि नहीं हो सकते क्योंकि वहाँ प्रमाण तो वह वाक्य होगा जो शान्त अन्तःकरणके स्वयंप्रकाश अधिष्ठानको अद्वितीय ब्रह्म बतावे। अतएव महावाक्यजन्य प्रमाकी उत्पत्ति ही वहाँ एकमात्र उपाय है, दूसरी कोई युक्ति नहीं है, नहीं तो वह केवल आत्मस्थिति होगी, ब्रह्मानुभूति नहीं। ब्रह्मावगति लक्ष्य है आत्मावगति नहीं; क्योंकि आत्मावगति तो अहमर्थके रूपमें प्राप्त ही है, उसकी ब्रह्मांशमें ही अज्ञातता है।

महावाक्यजन्य अखण्डार्थ-धी ही तत्त्वज्ञानमें वास्तविक प्रमाण है। इसमें त्वं-पदार्थ और तत्पदार्थके शोधन और ऐक्य-विचारमें जो भी युक्ति, तर्क, अनुमान उपयोगी हों वे सब वेदान्तमें भी स्वीकृत हैं। किन्तु नैयायिकोंके अनुमानसे विलक्षण है यह वेदान्तियोंका वाक्यजन्य ज्ञान।

प्रश्न : वेदान्तमें श्रुतिको ही परम प्रमाण मानते हैं किन्तु श्रुति तो पूर्वमीमांसकोंकी धर्मजिज्ञासामें भी प्रमाण है। फिर वेदान्तकी ब्रह्मजिज्ञासा और धर्मजिज्ञासाके श्रुति-प्रमाणमें क्या अन्तर है? और दोनोंमें समानता क्यों नहीं है ?

उत्तर : धर्म कोई साक्षात्कारका विषय नहीं है। धर्मका प्रयोजन है कि सुखरूप फल मिले, यहाँ भी और मरनेके बाद भी। धर्म करनेकी चीज है, अनुष्ठेय है। अतः धर्मका कर्ता स्वतंत्र है; वह धर्म करे, न करे या उल्टा करे। यह बात कर्ताकी बुद्धिके अधीन है कि वह अनुष्ठानमें द्रव्य, कर्म और भोगका विनियोग कैसे करता है, विधिके अनुकूल करता है या प्रतिकूल। यही कारण है कि धर्माधर्मका फल कर्ताको लगता है। कर्ता कर्म करनेके उपरान्त पापी या पुण्यात्मा होता है। इन सब बातोंको कहनेके लिए एक वाक्यका प्रयोग किया जा सकता है कि धर्मजिज्ञासाका विषय पुरुष-बुद्धि-तन्त्र है।

इसके विपरीत ब्रह्मजिज्ञासामें ब्रह्म साक्षात्कारका विषय है। वस्तुका ज्ञान पुरुष (ज्ञाता)की बुद्धिकी अपेक्षा नहीं रखता कि उसे जानें, न जानें या उल्टा जानें; वह तो ज्ञेय वस्तुके अधीन ही होता है अर्थात् वस्तु जो है, जैसी है, वैसी ही ज्ञात होती है। वैसी ही ज्ञात होना ज्ञान है और उससे भिन्नरूपमें ज्ञात होना ज्ञान नहीं, भ्रम है। ज्ञाताको यह स्वतंत्रता नहीं है कि वह स्थाणुको पुरुष जाने, स्थाणुको स्थाणु जानना ही ज्ञान है और पुरुष जानना भ्रम है। और यह स्थाणु-ज्ञान स्थाणुके ही अधीन है, ज्ञाताकी बुद्धिके अधीन नहीं है। इसी बातको यों कहेंगे कि ज्ञान वस्तु-तन्त्र है, कर्तृ-तन्त्र नहीं है।

धर्म करना, उपासना-योग करना, सब कर्ताकी नींव पर खड़े हैं, किन्तु आत्माकी ब्रह्मताका ज्ञान कर्ताके अधीन नहीं है। कर्ता धर्म-उपासना-योग करे, न करे या उनका उल्टा करे किन्तु वह तत्त्वज्ञानमें हेर-फेर नहीं कर सकता। इसलिए तत्त्वज्ञान पाप-पुण्यके अन्तर्गत नहीं है।

ऐसा भी नहीं है कि ज्ञाता ब्रह्मको निर्गुण मानले या सगुण मानले या उसे 'यह' मानले या 'वह' मान ले। ब्रह्म-वस्तु जैसी है वैसी ही उसे जान लेना तत्त्वज्ञान है। इसलिए तत्त्वज्ञान न धर्मका विषय है, न उपासनाका और न योगका। वह न तर्कका विषय है, न अनुमानका। उसके यथार्थ अपरिच्छिन्न प्रत्यक्चैतन्याभिन्न स्वरूपको श्रुति वाक्य-प्रमाणवृत्ति द्वारा लखाती है।

श्रुति तत्त्वका प्रकाश करती है और धर्मका आदेश देती है। दूसरे शब्दोंमें श्रुति तत्त्वका शंसन करती है और धर्मका शासन करती है। अतः श्रुति दोनों दशाओंमें शास्त्र है : शंसनात् शास्त्रम्, शासनात् शास्त्रं वा।

धर्म विश्वास-प्रधान है और ब्रह्मज्ञान अपरोक्ष अनुभव-प्रधान है। ब्रह्मज्ञान है आत्मानुभूति और धर्म है कर्तृत्व और विश्वाससे भविष्यमें फल देनेवाली एक क्रिया! धर्म कर्मसापेक्ष है। धर्म करनेसे पहले और धर्म करते समय धर्मका अनुभव (प्रत्यक्ष) नहीं होता। परन्तु धर्मके उत्तरकालमें धर्मके फलके रूपमें सुखका, शान्तिका अनुभव होगा। इसके विपरीत ब्रह्मका प्रत्यक्ष होता है, अनुभव होता है। इतना ही नहीं ब्रह्म धर्मकी तरह कर्मसाध्य नहीं, सिद्ध वस्तु है। आत्माके रूपमें वह नित्य प्राप्त है।

स्वर्ग है, जन्मान्तर है इसमें सन्देह हो सकता है किन्तु 'मैं हूँ' यह निःसंदेह वस्तु-ज्ञान है। मैं क्या हूँ ?—यह ज्ञान संदिग्ध है क्योंकि मत-वादियोंके आग्रहोंसे बुद्धि आक्रान्त है। किन्तु बुद्धि जब मतिके विषयको न देखकर मतिके साक्षीको देखती है और श्रुति-प्रमाण द्वारा उसे ही ब्रह्म निश्चय कर लेती है तब बुद्धि बाधित हो जाती है। तब तुम जो हो जैसे हो उसका प्रकाश हो जाता है। यही तत्त्वज्ञान है।

वेदान्तमें धर्मजिज्ञासा और ब्रह्मजिज्ञासाका क्रम-समुच्चय स्वीकृत है। अर्थात् पहले धर्मविषयक जिज्ञासा द्वारा अपनेको देहसे पृथक् कर्ता-भोक्ता-परिच्छिन्न संसारी जीवके रूपमें अनुभव कर लो। तत्पश्चात् ब्रह्मजिज्ञासाका उदय होनेपर उसमें धर्मानुष्ठानकी निरर्थकताका निश्चय करो। सकामताके स्थानपर निष्कामता, रागके स्थानपर वैराग्य और कर्मानुष्ठानके स्थानपर श्रवण, मनन, निदिध्यासन स्वीकार करो। इसीसे ब्रह्मात्मैक्य बोध होगा।

प्रश्न : ब्रह्म सिद्ध वस्तु नहीं हो सकती। यदि ब्रह्म होता तो उसका 'यह घड़ा है' इस रूपमें प्रत्यक्ष क्यों न होता ? सिद्ध वस्तु तो प्रत्यक्षादि प्रमाणोंसे भी सिद्ध होती है। उसमें मात्र श्रुति-प्रमाणको स्वीकार करना ठीक नहीं है।

उत्तर : ब्रह्म सिद्ध वस्तु है और रातदिन हम उसीसे व्यवहार कर रहे हैं किन्तु उसे पहचानते नहीं। आत्मा, 'मैं' ही वह वस्तु है। कौन है जिसको अपने 'मैं'का ज्ञान न हो ? किन्तु उसके ब्रह्मत्वका ज्ञान सबको नहीं है। ब्रह्म है और ब्रह्म 'सत्यं ज्ञानमनन्तम्' है—यह परोक्ष ज्ञान भी बहुत-सोंको है, किन्तु 'वह सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म' 'मैं आत्मा ही हूँ' यह

अपरोक्ष ज्ञान हुए बिना मैं-में ब्रह्मताकी ज्ञातता उत्पन्न नहीं हो सकती। इस रहस्यको बतानेका कार्य श्रुतिके महावाक्य करते हैं।

ब्रह्म प्रमाणान्तरका विषय नहीं हो सकता क्योंकि वह इन्द्रियोंका अविषय है। इसलिए उसमें प्रत्यक्षादि अन्य प्रमाणोंकी गति नहीं है। अनन्तताका संवेदन न किसी इन्द्रियसे और न किसी बुद्धि-वृत्तिसे सम्भव है। किस्म-किस्मके परिच्छेदोंके अभावका जो स्वयंप्रकाश अधिकरण है, केवल वही अनन्त-सत्, अनन्त-चित्, ब्रह्म हो सकता है। वही श्रुतिके महावाक्योंका विषय है।

वेदान्तका कहना यह है कि केवल अधर्मसे या केवल वासना, विस्मृति या विक्षेपसे परमात्माका लोप नहीं हुआ है। यदि ऐसा होता तो धर्म, उपासना और योगसे परमात्माका साक्षात्कार हो जाता है। परन्तु नहीं होता। अतः असलियत यह है कि जो वस्तु अद्वितीय, अविनाशी, परिपूर्ण, स्वयंप्रकाश, सर्वाधिष्ठान होती है वह केवल अज्ञानके कारण ही, माने न पहिचाननेके कारण ही साक्षादपरोक्ष नहीं भासती है। अतः परमात्मा केवल ज्ञानगम्य है, ज्ञान भी ऐसा जो स्वयंप्रकाश सर्वाधिष्ठानके अज्ञानका विरोधी हो।

केनोपनिषद्की श्रुति कहती है: **यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः** (केन० २.३)। जिसने कहा कि मैंने बुद्धिसे परमात्माको जान लिया उसने नहीं जाना। प्रमाता प्रमाणसे प्रमेयको ही जान सकता है, स्वयं अपनेको नहीं। प्रमाण सदैव प्रमेय-पक्षपाती होता है, वह प्रमेयको प्रमातासे भिन्न रूपमें ही दिखाता है। अतः बुद्धिके द्वारा जो ब्रह्म अनुभवमें आयेगा वह प्रमातासे भिन्न परिच्छिन्न, चेतनाभासरूप (जड़ रूप) और आगमापायी होगा।

ब्रह्म अद्वितीय वस्तु है। वह सर्वाधिष्ठान होनेसे परिपूर्ण कहा जाता है, स्वरूपसे नहीं। पूर्व-पश्चिम आदि दिशाओंमें व्यापक दिक्-तत्त्वका आश्रय होनेसे वह परिपूर्ण (व्यापक) कहलाता है। युग, कल्प, मन्वन्तर, वर्ष, मास आदिमें व्याप्य जो काल है, उस कालका भी आश्रय होनेसे वह अविनाशी कहलाता है। यह जो द्रव्यरूप इन्द्रजाल है—अलग-अलग वस्तुओंमें जो एक सत्ता-सामान्य व्याप्त है, उसका अधिष्ठान होनेसे ब्रह्मको सत् कहते हैं, स्वरूपसे नहीं। ब्रह्मको चित् कहते हैं क्योंकि विशेष ज्ञानोंमें, जैसे घटज्ञान, पटज्ञान,

मठज्ञानमें जो एक सामान्य बुद्धि-ज्ञान है उसका अधिष्ठान ब्रह्म है। ऐसा अनन्त ब्रह्म किसी भी मतिका विषय नहीं हो सकता : 'मतं यस्य न वेद सः'। किन्तु जो उसको मतिका साक्षी, मतिका आश्रय जानता है, उसीने जाना है। यह ज्ञान वेदान्तके महावाक्योंकी अवधारणासे ही होता है।

ब्रह्म-चेतन अद्वितीय होनेसे अपना स्वरूप ही है अतः यदि उसकी उपलब्धि नहीं हो रही है तो केवल अज्ञान ही उसमें हेतु है। भक्त लोग अन्तर्यामी रूपसे परमेश्वरको नित्य प्राप्त मानते हैं, परन्तु विस्मृति और विमुखतासे अप्राप्त मानते हैं। अतएव वे स्मरण और सम्मुखतासे परमेश्वरका साक्षात्कार मानते हैं। कर्मवादी चाहे वे आस्तिक पूर्वमीमांसक हों या नास्तिक जैन-बौद्ध हों, वे तो कर्मजन्य सुख और कर्मजन्य आवरणमें भटकते ही रहेंगे। उनका परमार्थ सत्यके साथ कोई सम्बन्ध नहीं है। अन्ततोगत्वा उन्हें कर्म छोड़ना पड़ेगा और परमार्थ-सत्यके साक्षात्कारके लिए वीतरागी होना पड़ेगा। बिना वेदान्त शास्त्रके स्वाभाविक संस्कार धानमें अज्ञान-निवारक ज्ञानका उदय नहीं हो सकता।

सृष्टिका स्वाभाविक प्रवाह इन्द्रिय-भोगमें और वासनाके विस्तारमें है जो अधर्मकी सीमातक भी जा रहा है। इसलिए उसमें तो रोग, जड़ता, दुःख और भेद है। ऐसी दशामें शास्त्र धर्मका उपदेश करता है, रागद्वेष-मूलक कर्त्तव्याभासको रोकनेके लिए, उपासनाका उपदेश करता है, वृत्तियोंके परिष्कार और उन्नयनके लिए तथा योगका उपदेश करता है, चित्तके समाधान एवं वासनाओंकी शान्तिके लिए। वही शास्त्र महावाक्योंके द्वारा आत्मा और ब्रह्मकी सिद्ध एकताका अधिकारीके लिए प्रकाश भी करता है।

तन्त्वौपनिषदं **पुरुषं पृच्छामि** (बृहद० ३.९.२६)—हम उस औपनिषद पुरुषके बारेमें पूछते हैं। और इसका उत्तर भी श्रुति ही देती है : **नावेदविन्मनुते तं बृहन्तम्** अर्थात् अवेदवित् पुरुष उस ब्रह्मको नहीं जानता।

प्रमाणके द्वारा प्रमेयका ज्ञान किस प्रकार होता है ? इसके बारेमें तीन प्रक्रियाएँ हैं :—

१. **विषयोत्पन्न अपरोक्ष ज्ञान-प्रक्रिया** : विषय इतना तीक्ष्ण हो कि वह स्वयं प्रमाणमें घुसकर अपना ज्ञान करा दे। जैसे हम शान्त बैठे हैं और

सामनेसे कोई मैलेकी गाड़ी निकल जाय, तो दुर्गन्ध इतनी तीक्ष्ण होती है कि वह स्वयं नाकमें आकर घुस जाती है और हमको (प्रमाताको) दुर्गन्धका अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है।

२. **संविदैक्य प्रक्रियोत्पन्न अपरोक्ष ज्ञान-प्रक्रिया** : सामने प्रमेय वस्तु पड़ी है, वह सोना भी हो सकती है और पीतल भी। अब निकटसे गौरसे देखेंगे तो वस्तुसे अवच्छिन्न चेतन और प्रमाण (नेत्र आदि)से अवच्छिन्न चेतनकी एकता सम्पन्न होनेपर उस वस्तुका यथार्थ ज्ञान हो जायेगा। इस प्रक्रियामें प्रमाणवृत्तिपर आरूढ़ चैतन्य (सम्वित्) प्रमेयके साथ तादात्म्यापन्न होकर प्रमेयका बोध कराता है।

असलमें 'घट' और घटाकार वृत्ति दोनों एक ही ज्ञानसे प्रकाशित हो रहे हैं। वहाँ संवित्‌का ऐक्य है। अन्तःकरण है हमारे शरीरके भीतर। जब उसमें घट वस्तु बिलकुल ठीक-ठीक आगयी तो जो वृत्त्यवच्छिन्न चैतन्य है (प्रमाता), वही घटावच्छिन्न चैतन्य है (प्रमेय)। इसका अर्थ है कि वृत्ति (प्रमाण)के द्वारा हमारी (प्रमाताकी) घटसे (प्रमेयसे) एकता हो गयी। यह हुई **'वृत्ति-व्याप्ति'**। इस एकताका स्वरूप है यह ज्ञान कि 'यह घट है'। तदनन्तर घटज्ञान-विषयक यह अभिमान उदय होता है कि 'मैं घटको जानता हूँ'। इसको **फल-व्याप्ति** कहते हैं।

इस प्रकार जो वस्तु अन्य है, दृश्य है, जड़ है, उसके अपरोक्ष ज्ञानके विषयमें उपर्युक्त दो प्रक्रिया हैं। या तो विषय स्वयं संविद्‌में प्रतिष्ठित होकर अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करता है और या संविद् ही विषयमें प्रतिष्ठित होकर अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करती है।

३. चेतन-वस्तुके ज्ञानके विषयमें ये दोनों प्रक्रियाएँ सम्भव नहीं हैं। एक तो चैतन्य अन्य नहीं है 'स्व' है, दृश्य नहीं है द्रष्टा ही है। दूसरे 'स्व' होनेसे वह नितान्त अज्ञात नहीं है। सामान्यतः ज्ञात अहम्‌को विशेषेन (ब्रह्मत्वेन) जानना है। यही चेतनका अपरोक्ष ज्ञान है। आत्मा ब्रह्म ही है, ब्रह्मत्व उसमें उधार लेकर चिपकाना नहीं है। आत्माके ब्रह्म न होने और जीवादि स्वरूप होनेकी जो भ्रान्ति है वह निवृत्त होनी है। भ्रान्तिकी निवृत्ति-समकाल ही ब्रह्मत्वका अपरोक्ष ज्ञान है क्योंकि ब्रह्मत्वके अज्ञानसे ही सारी भ्रान्तियाँ हैं। अतः चेतन वस्तुके अपरोक्ष ज्ञानकी प्रक्रियाको **अज्ञान-हानकी** प्रक्रिया कहते हैं। जो स्वतः सिद्ध वस्तु है उसका

अपरोक्ष ज्ञान तो शब्द प्रमाणसे ही होता है।[८] शब्दमें भी वेदान्त-वाक्योंसे, वेदान्त-वाक्योंमें भी महावाक्योंसे और महावाक्योंमें भी तत्-पदार्थ और त्वं-पदार्थके शोधनपूर्वक उनकी सिद्ध एकताके अखण्डार्थमें परिणत बुद्धिसे। यही ब्रह्माकार-वृत्ति है। इसीमें आत्माका ब्रह्मत्वेन अपरोक्ष अनुभव होता है। बुद्धिमें ही भ्रान्ति है अतः उसी सत्ताकी भ्रान्ति और अज्ञान विरोधिनी ज्ञानवृत्तिसे ही अज्ञानकी निवृत्ति शक्य है, अन्यथा नहीं। वेदान्तमें ईश्वरके विषयमें यही प्रमाण है अर्थात् ईश्वर-वस्तुका अपरोक्ष ज्ञान उत्पन्न करनेवाला करण। ईश्वरमें श्रद्धा करना उसकी उपासना आदि करनेमें शास्त्रके शब्द प्रमाण (लिखन्त, दस्तावेज) हैं परन्तु यदि उसका साक्षात् अनुभव करना है तो महावाक्यजन्य अखण्डार्थ-धी ही प्रमाण (करण) है।

लोग शास्त्रार्थ करते हैं कि अज्ञान कब हुआ, कहाँ हुआ, किसको हुआ, किसके बारेमें हैं, क्यों है ? माने वह पूछना चाहते हैं कि अज्ञानका काल क्या है, देश क्या है, आश्रय क्या है, विषय क्या है, हेतु क्या है और स्वयं अज्ञान क्या है ? आत्मा जैसा है उसको वैसा न जानना अज्ञान है और अन्यथा जानना भ्रान्ति है। अज्ञानका हेतु अज्ञान ही है वरन् अनवस्था दोष होगा। अब आत्माको इस अन्यथा प्रतीति (जीवत्व)को स्वीकार करके ही देश, काल और अभिमानी आदिकी सिद्धि होती है, इसके बिना नहीं। जब एक अनन्त अपरिच्छिन्न स्वयंप्रकाश अधिष्ठानको नहीं जानते हैं तब उसमें पूर्वापर रूप काल होता है, दैर्घ्यविस्ताररूप देश होता है, विषयी-विषय रूप आश्रय-विषयकी कल्पना होती है और उसमें अज्ञान है यह कल्पना होती है। अर्थात् अनन्तका अज्ञान ही देश, काल, आश्रय, विषयके रूपमें प्रतीत होता है। अज्ञानमें रहकर ही अज्ञान है।

वेदान्त आत्मामें अज्ञान या मायाको सिद्ध नहीं करता, अपितु निवृत्त करता है, किन्तु यह तो नित्य-निवृत्तकी ही निवृत्ति है। अन्यथा यदि अज्ञान था और अब निवृत्त हो गया तो काल रूप भ्रान्तिकी निवृत्ति कहाँ हुई ? यदि अज्ञान यहाँ (जीवमें) था और माया वहाँ (ईश्वरमें) थी तो देशरूप भ्रान्तिकी निवृत्ति कहाँ हुई ? यदि 'मैं अज्ञानी हूँ और मुझे ब्रह्मके विषयमें

---

८. विषयोत्पन्नतः संविदैक्याद् अज्ञानहानतः।
स्वतः सिद्धेः अतः शब्दात् अपरोक्षं प्रजायते॥ (विवरणाचार्य)

अज्ञान है' तो आश्रय-विषयकी भेदरूप मिथ्या कल्पना कहाँ निवृत्त हुई? और यदि 'अज्ञान कोई वस्तु है' ऐसा मान लिया तो अज्ञान कभी निवृत्त नहीं हो सकता।

इस अज्ञानकी निवृत्तिके लिए जो चेतन-प्रकृतिक शब्द और वाक्य है उनकी आवश्यकता है। जैसे कोई गहरी नींदमें सो रहा है और कोई पुकार-कर कहता है: देवदत्त, उठो! और वह सोता हुआ व्यक्ति उठ जाता है। प्रश्न यह है कि सोते हुए व्यक्तिने शब्द सुना कैसे? शब्द सुनकर वह जगा या जगकर शब्द सुना? यदि जागता न होता तो सुनता कैसे? और सुनता न होता तो जागता कैसे? निद्रा-भंग और शब्द-श्रवणके बीचमें कुछ और है क्या? श्रीसुरेश्वराचार्य वार्तिकमें इसका समाधान करते हैं कि शब्दमें अचिन्त्य शक्ति है।[१] शब्दने ज्योंही वृत्तिमें ब्रह्मकी अपरोक्षताका ज्ञान डाला कि 'अरे भाई! तू जो यह वृत्तिका साक्षी है, वृत्तियोंके अभावका साक्षी है, वृत्तियोंकी शान्तिका साक्षी है, वृत्तिकी घटाकारिता-पटाकारिता माने तदाकारताका साक्षी है, दो वृत्तियोंकी सन्धिका साक्षी है, वह तू ब्रह्म है और ये सब तेरे एक कल्पित अंशमें कल्पित सरीखे ही हैं। तू तो साक्षात्-अपरोक्ष ब्रह्म है, वैसे ही आत्माकी ब्रह्म-विषयक भ्रान्ति दूर हो जाती है। यह शब्दकी शक्तिका चमत्कार है।

ब्रह्मका साक्षात्कार कैसे होता है? तो सुनिये—

फलव्याप्यत्वमेवास्य शास्त्रकृद्भिर्निवारितम्॥ ९०॥
ब्रह्मण्यज्ञाननाशाय वृत्तिव्याप्तिरपेक्षिता।
स्वयं स्फुरणरूपत्वात् नाभास उपयुज्यते॥ ९२॥

(पञ्चदशी अ० ७)

घड़ेको देखना हो तो नेत्र भी चाहिए और प्रकाश भी। प्रकाशकी सहायतासे घटका अँधेरा मिटा और चक्षुर्वृत्ति घड़ेमें व्याप्त हुई अर्थात् वृत्ति घटाकारताको प्राप्त हुई। यह 'वृत्तिव्याप्ति' हुई। तदनन्तर ज्ञानका एक अभिमान उत्पन्न हुआ कि 'मैं घटको जान गया'। यह 'फलव्याप्ति' हुई। विषय-ज्ञानमें वृत्तिव्याप्ति और फलव्याप्ति पूर्वक ही ज्ञान होता है। अब यदि प्रकाशको ही देखना हो तो वृत्तिव्याप्तिके लिए अलगसे प्रकाशकी

१. शब्दशक्तेरचिन्त्यत्वात् विद्मस्तन्मोहहानतः।
निवृत्तिरात्मा मोहस्य ज्ञातत्वेनोपलक्षितः॥ (सुरेश्वरवार्तिक)

आवश्यकता नहीं है। फिर यदि नेत्रको ही देखना हो तो केवल 'मन' के द्वारा ही वृत्तिव्याप्ति हो जायेगी और यदि अन्तःकरणको ही देखना हो तो साक्षी-भास्य होनेसे वह सीधा ही ज्ञेय बन जायेगा। किन्तु यदि साक्षीको ही देखना हो तो साक्षी कभी दृश्य तो बन नहीं सकता अतः यही कहना पड़ेगा कि साक्षीको देखनेका प्रयत्न करना अज्ञान-सिद्ध है। इसपर भी कोई अवस्था, स्थिति, परिस्थिति ऐसी नहीं हो सकती जो साक्षीके बिना सिद्ध हो जाय। अतः जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति, समाधि, उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आदि सब अवस्थाओंमें जो दृश्य और दृश्याभावका साक्षी है, वह मैं हूँ—ऐसा अपने बारेमें निश्चय यही साक्षीको 'देखना' है। इसमें भी वृत्ति-व्याप्ति तोहै,फलव्याप्तिनहीं है क्योंकि अपने बारेमें ही यह निश्चय है।

ब्रह्म यदि अन्य है तो दृश्य होगा और दृश्य है तो जड़ होगा। किन्तु ब्रह्म तो चैतन्य ही है। अतः वह दृश्य नहीं हो सकता और 'स्व'से अभिन्न ही होगा। अब श्रुति उसी ब्रह्मको सर्वाधिष्ठान एवं स्वयं-प्रकाश बताती है अतः 'मैं साक्षी आत्मा ही जाग्रदादि अवस्थाओं एवं उनमें प्रतीयमान जगत्का अधिष्ठान ब्रह्म हूँ' यह निश्चय होता है। वृत्तिके इस निश्चयमें तदाकार होनेपर अन्तःकरणमें जो जीवत्व आदिकी मिथ्या स्वीकृतियाँ हैं वे सब नष्ट हो जाती हैं। यही ब्रह्मात्मैक्य-बोध है। इस अनुभवमें भी वृत्ति-व्याप्ति ब्रह्माकारता (वास्तवमें अध्यारोपित ब्रह्मभावाकारता)के रूपमें तो होती है किन्तु फल-व्याप्ति नहीं हो सकती क्योंकि इसमें अपने ही बारेमें यथार्थका अनुभव है। जब इस अनुभवमें आभास अर्थात् जीव ही मिथ्या हो गया तब उसके अभिमानकी क्या सत्ता ?

ब्रह्मज्ञानमें फल व्याप्ति नहीं होती। माने ब्रह्मज्ञानीको यह अभिमान उदय नहीं होता कि मैंने ब्रह्मको जान लिया क्योंकि यहाँ प्रमाताका मुख्यार्थ ही ब्रह्म है, उसमें प्रमेयत्वकी कल्पना अनर्थ है। प्रमाता स्वयंसे अज्ञात कब था ? प्रमाताकी ब्रह्मरूपता अज्ञात है, यह भ्रम था; सो वाक्य-प्रमाणजन्य अखण्डार्थ-धीके द्वारा वह निवृत्त हो गया। अज्ञान निवृत्त होनेपर 'स्वयंप्रकाश ब्रह्म मैं अपने स्वरूपमें ज्यों-का-त्यों नित्य प्रतिष्ठित हूँ' इस ज्ञानकी स्वतः स्फूर्ति हो जाती है।

सम्पूर्ण प्रपंचका जो अधिष्ठान चेतन है और इस अन्तःकरणका जो अधिष्ठान चेतन है वह एक ही है। जो अन्तःकरणका साक्षी चेतन है वही

सम्पूर्ण प्रपंचका साक्षी चेतन है और जो अन्तःकरणका अधिष्ठान चेतन है वही सम्पूर्ण प्रपंचका अधिष्ठान चेतन है। अल्प उपाधिसे (अन्तःकरणसे) और विस्तृत उपाधि (कारण उपाधि) मायासे उपहित चैतन्यके स्वरूपमें कोई अन्तर नहीं है। एक ही महाकाश अल्प उपाधि घटके कारण घटाकाश कहलाता है और सापेक्षतया महान् मठ-उपाधिके कारण मठाकाश कहलाता है। स्वयं भी इन्हीं अल्प उपाधियोंकी अपेक्षा महाकाश कहलाता है अन्यथा आकाश तो स्वरूपतः सर्वत्र भेद रहित और एक है।

तत्-पदार्थ और त्वं-पदार्थका विवेक करके महावाक्य द्वारा वाच्यार्थमें भेद और लक्ष्यार्थमें एकता ज्ञापित होती है। यदि दुनियामें कोई जानता है तो इसीको अद्वैत ब्रह्मकी अनुभूति बोलते हैं कि ब्रह्मातिरिक्त कुछ और नहीं है—न जीव, न जगत्, न ईश्वर, प्रतीयमान भेद ब्रह्मातिरिक्त कुछ नहीं है। इसको किसी भी भाषामें, किसी भी आचार्यके द्वारा, किसी भी देशका वासी, किसी भी कालमें यदि प्राप्तकर लेता है तो वह वैदिक संविधानसे ही है।

●

षष्ठ खण्ड

विरोध-परिहार

अध्याय १७

वेदान्तार्थका समन्वय

१. वेदकी अपौरुषेयताका अभिप्राय

'वेद' शब्दका अर्थ ज्ञान है। वेद-पुरुषके शिरोभागको उपनिषद् कहते हैं। उप (व्यवधानरहित) नि (सम्पूर्ण) षद् (ज्ञान) ही उसके अवयवार्थ हैं। अर्थात् वह सर्वोत्तम ज्ञान जो ज्ञेयसे अभिन्न एवं देश, काल, वस्तुके परिच्छेदसे रहित परिपूर्ण ब्रह्म है, 'उपनिषद्' पदका अभिप्रेत अर्थ है। इसलिए जबतक ज्ञानके स्वरूपका ठीक-ठीक विचार न कर लिया जायेगा, तबतक उपनिषद् क्या हैं, यह बात स्पष्ट नहीं हो सकेगी।

पहली बात : ज्ञान स्वतः प्रमाण है, परतः प्रमाण नहीं। इसका अभिप्राय यह है कि किसी भी पदार्थका निश्चय करनेमें ज्ञान ही अन्तिम निर्णायक होगा। सम्पूर्ण व्यवहार अपने ज्ञानके आधार पर ही चलता है। किसी भी विषयके होने, न होनेका निर्णय ज्ञानसे ही होता है। उदाहरणार्थ-विषयकी सत्ता इन्द्रियोंसे, इन्द्रियोंकी मनसे, मनकी बुद्धिसे और बुद्धिकी ज्ञानस्वरूप आत्मासे निश्चित होती है। अज्ञानका अनुभव भी ज्ञान ही है। परन्तु ज्ञानको प्रमाणित करनेके लिए क्या ज्ञानसे भिन्न पदार्थकी आवश्यकता होगी? कदापि नहीं।

प्रमाता, प्रमाण, प्रमेयकी त्रिपुटी भी ज्ञानके द्वारा ही प्रकाशित होती है। इसलिए ज्ञानकी सिद्धिके लिए उनकी कोई अपेक्षा नहीं हैं। इस त्रिपुटीके भावाभावका प्रकाशक ज्ञान ही है। वे रहें तब भी ज्ञान है और न रहें तब भी ज्ञान है। ज्ञानके बिना उन्हें अनुभव ही कौन करेगा? त्रिपुटीमें ज्ञानका अन्वय है, ज्ञान त्रिपुटीसे व्यतिरिक्त है। इसलिए ज्ञानकी सत्ता अखण्ड है। प्रमाणोंके द्वारा ज्ञानकी सिद्धि नहीं होता, ज्ञानसे ही समस्त प्रमाण-प्रमेयके व्यवहार सिद्ध होते हैं। तात्पर्य यह कि ज्ञानका प्रामाण्य स्वतः है, परतः नहीं।

दूसरी बात : ज्ञान स्वयं-प्रकाश है। यह कर्ता, करण, क्रिया एवं फलके अधीन नहीं है। कर्ता करोड़ प्रयत्न करके भी स्थाणु-ज्ञानको पुरुष-ज्ञान नहीं बना सकता। मान्यता कर्ताके अधीन होती है, वह अपनी बनायी हुई वस्तुको गणेश माने, सूर्य माने, बादमें फेर-फार कर दे या बिलकुल छोड़ दे—इन सब बातोंमें कर्ता स्वतंत्र होता है। परन्तु यह ज्ञान नहीं है, यह तो कर्ताकी कृति है जिसको वह स्वयं गढ़ता है और बादमें स्वतंत्र मान लेता है। ये मान्यताएँ प्रत्येक कर्ताकी, सम्प्रदायकी, जातिकी और राष्ट्रकी अलग-अलग हो सकती हैं और होती हैं, परन्तु ज्ञान सबका एक होता है। स्थाणुको भिन्न-भिन्न मनुष्य चोर, सिपाही या भूतके रूपमें मान सकते हैं परन्तु जब होगा तब ज्ञान सबका एक ही होगा कि यह स्थाणु है। पुरुष-भेदसे ज्ञानमें भेद नहीं होता। क्योंकि किसी भी पुरुषके द्वारा ज्ञानका निर्माण नहीं हो सकता। यहाँ तक कि ईश्वर भी ज्ञानका कर्ता नहीं होता, वह तो स्वयं ज्ञानस्वरूप है। यदि ईश्वर ज्ञानका कर्ता हो तो ज्ञानकी रचनाके पूर्व ईश्वरमें ज्ञानका अभाव स्वीकार करना पड़ेगा, परन्तु ज्ञानका अभाव किसी भी प्रमाण या अनुभवसे सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि वह प्रमाण या अनुभव भी तो ज्ञानरूप ही होगा। अभिप्राय यह कि ज्ञान साधन-साध्य नहीं है, सिद्ध है। उसके कारण रूपमें अज्ञानकी अथवा ज्ञानान्तरकी कल्पना नितान्त असंगत है। इसलिए ज्ञान स्वयं-प्रकाश है।

तीसरी बात : ज्ञान काल-परिच्छिन्न नहीं है। जब हम यह सोचने लगते हैं कि यह ज्ञान भूत है और यह ज्ञान भविष्य है, तो हम मानो यह स्वीकार कर लेते हैं कि कालकी धारामें ज्ञानका उदय-विलय हुआ करता है, अर्थात् ज्ञान क्षणिक है। परन्तु यह क्षण क्या है जिसकी पृथक्ताका आरोप ज्ञान पर किया जाता है? प्रश्न यह है कि काल निरवयव है या सावयव? यदि निरवयव है तो उसमें भूत-भविष्य एवं कला-काष्ठादिका भेद ही संभव नहीं है, वह ब्रह्म ही है। यदि सावयव है तो ज्ञान उसके अवयवोंका प्रकाशकमात्र होगा और प्रकाश्यगत भेद प्रकाशक पर आरोपित नहीं किया जा सकेगा। जैसे घट-पटादिके भिन्न-भिन्न होनेपर भी उनको प्रकाशित करनेवाले प्रकाशमें भेद-कल्पनाका कोई प्रसंग नहीं है, उसी प्रकार कला-काष्ठादिरूप कालके अवयवोंमें भेद होनेपर भी उनके प्रकाशक ज्ञानमें भेद-कल्पनाका अवसर

नहीं है। सच्ची बात यह है कि कालभेदकी कल्पना ही निर्मूल है। कल्पना करें—क्या कभी कालका अभाव था या होगा? जिस कालमें हम कालके अभावकी कल्पना करेंगे वह भी काल ही होगा और कालके अभावको निवृत्त कर देगा। अभावरहित वस्तु निरंश होती है। गुणन अथवा विभाजन केवल अंशसहित वस्तुमें हो सकता है, निरंशमें नहीं। इसलिए अभाव-रहित कालमें कला-काष्ठादिरूप अवयवके आधार पर भूत-भविष्यकी कल्पना करना निःसार है। तब ये जो भूत-भविष्य मालूम पड़ते हैं, वे क्या हैं? संविन्मात्र हैं। कोई भी संविन्मात्र वस्तु संवित्को परिच्छिन्न नहीं बना सकती। अतः ज्ञान काल-परिच्छिन्न नहीं है।

चौथी बात—ज्ञान देश-परिच्छिन्न भी नहीं है। जैसे संविन्मात्र भूतभविष्यादि संवित् (ज्ञान)को परिच्छिन्न नहीं कर सकते, वैसे ही दैर्घ्य-विस्तारकी जो देश-कल्पना हो रही है वह भी संविन्मात्र होनेसे ज्ञानको परिच्छिन्न नहीं बना सकती।

पूर्व, पश्चिम आदिके रूपमें प्रतीयमान देश-भेद देशनिष्ठ नहीं है, ध्रुवादि ग्रह-नक्षत्र निष्ठ है। तब क्या अन्यगत भेद अन्यपर आरोपित करना न्यायोचित है? कदापि नहीं। कालके समान ही कहीं भी देशका अभाव नहीं है। जिस देशमें देशके अभावकी कल्पना की जायेगी वह भी देश ही होगा। अभावरहित देश ब्रह्म है। पूर्वपश्चिमादि तथा दैर्घ्य-विस्तारकी कल्पना वस्तुनिष्ठ नहीं, संविन्मात्र है, ठीक वैसी ही जैसी स्वप्नदेशकी लम्बाई-चौड़ाई। स्वयं-प्रकाश ज्ञानके द्वारा प्रकाशित देशभेद ज्ञानका भेदक नहीं हो सकता। इसलिए ज्ञान देश-परिच्छन्न नहीं है।

पाँचवीं बात—ज्ञानमें विषय-परिच्छेद भी नहीं है। विषय कोई भी हो अपनेको किसी कालमें और किसी देशमें ही प्रकट करेगा। देश और कालभेदकी कल्पनाके बिना विषयकी प्रतीति नहीं हो सकती। इसी प्रकार विषय-भेदके बिना देश और काल भी प्रतीत नहीं हो सकता। जब देश और कालके भेद ही कल्पित हैं, तब उनके आश्रयसे प्रतीत होनेवाले विषय अकल्पित कैसे हो सकते हैं?

ये पृथक्-पृथक् प्रतीयमान विषय सन्मात्र ही हैं या और कुछ? यदि सन्मात्र ही हैं तो इनमें भेद-कल्पनाका क्या आधार है, अर्थात् इन्हें त्रिकालाबाध्य सत्तासे भिन्न समझा ही नहीं जा सकता। और यदि ये

सन्मात्रसे भिन्न हैं तो इन्हें नितान्त असत् कहनेमें क्या आपत्ति है? सत् और असत्, भाव और अभावका मिश्रण तो कभी हो ही नहीं सकता। अच्छा, यह मान लें कि भिन्न-भिन्न विषय सत्ताके विशेष-विशेष रूप हैं; परन्तु यह बात भी निराधार है। बिना देश-कालका भेद सिद्ध हुए सत्तामें भेद सिद्ध करनेकी कोई युक्ति नहीं है। सत्ताका परिणाम स्वीकार करने पर भी परिणामकी पूर्वावस्था, उत्तरावस्थाके क्रम अपेक्षित होंगे। इस प्रकार तो सत्ताका त्रिकालाबाध्यत्व ही कट जायेगा और शून्यवाद, क्षणिक विज्ञान-वाद अथवा सर्वोच्छेदवादका प्रसंग होगा। यदि यह कल्पना करें कि सत्ताका एक अंश स्थिर है और दूसरे अंशमें वह विषयोंका आरम्भ कर रही है या उनके रूपमें परिणत हो रही है, तो यह (अर्धजरतीय न्यायसे) अंशभेदकी कल्पना सर्वथा उपहासास्पद होगी। जो वस्तु एक अंशमें विदीर्ण हो रही है वह दूसरे अंशमें नित्य नहीं हो सकती, अंश-भेद तो असिद्ध है ही। इसलिए सत्तामें विषय भी उत्पन्न नहीं होता। विषयोंकी उत्पत्ति सत्से, असत्से, सदसत्से अथवा उनसे भिन्नसे किसी भी प्रकार संगत नहीं है। जिनकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय ही असिद्ध हैं, जिनका स्वयं अपने अधिष्ठानमें अत्यन्ताभाव है, ज्ञानके बिना जिनकी कल्पना ही नहीं हो सकती, ऐसे विषयोंके द्वारा ज्ञान परिच्छिन्न नहीं हो सकता।

छठी बात—ज्ञानमें ज्ञातृत्व और ज्ञेयत्वका भेद औपाधिक ही है, वास्तविक नहीं। देश-काल-वस्तुका निषेध हो जानेपर ज्ञानसे पृथक् किसी भी ज्ञेयकी उपस्थिति अपने आप ही कट जाती है। ज्ञेयके बिना ज्ञातृत्वके व्यवहारकी सिद्धि हो नहीं सकती। ज्ञाता और ज्ञेय दोनों एक-दूसरेकी अपेक्षा रखते हैं परन्तु ज्ञान दोनोंकी, दोनोंमें-से किसी एककी अथवा किसी अन्यकी अपेक्षा रखे बिना स्वतः सिद्ध है। यदि ऐसा माना जाय कि ज्ञेयरूप विषय अपने ज्ञानके पूर्व भी रहता है तो अननुभूत होनेके कारण वह केवल कल्पना ही होगी। अनुभवके बिना पदार्थकी सिद्धि नहीं हो सकती। अच्छा, यह जो भिन्न-भिन्न विषय और इनकी समष्टि ज्ञेयरूपसे पृथक् प्रतीत होती है वह ज्ञानके बहिर्देशमें है या अन्तर्देशमें? पहली बात तो यह है कि ज्ञानमें बाहर-भीतरकी कल्पना नितान्त असंगत है। दूसरी यह कि ज्ञेयविषयको बहिर्देशमें माननेपर उसके साथ ज्ञानका कोई सम्बन्ध नहीं हो सकता। तीसरी यह कि यदि उसे ज्ञानके अन्तर्देशमें ही मान लिया जाय तो ज्ञानके साथ उसका व्याप्य-व्यापक-भाव-सम्बन्ध स्वीकार

करना पड़ेगा और यह सम्बन्ध तभी सम्भव है जब ज्ञानको विषयका उपादान कारण माना जाय। किन्तु क्या उपादान कारण ज्ञान परिणामको प्राप्त होकर विषयका रूप धारण करता है? ऐसी स्थितिमें परिणामकी एक धारा अथवा क्रम स्वीकार करना पड़ेगा; लेकिन यह बात तभी स्वीकार की जा सकती है जब कालकी क्षणिकताका आरोप उसके प्रकाशक ज्ञान पर किया जाय। परन्तु अध्यस्तके गुण-दोष अधिष्ठानका स्पर्श भी नहीं कर सकते। आदिरहित, अन्तरहित ज्ञानमें विषयकी उपस्थितिके लिए एक क्षण अथवा भिन्न-भिन्न क्षण हैं ही नहीं। पुनः यह भी एक प्रश्न है कि विषय सम्पूर्ण ज्ञानमें हैं अथवा ज्ञानके एक अंशमें हैं? ज्ञानमें अंशता, पूर्णता आदि तो कल्पित हैं। फिर यदि ज्ञानका परिणाम मानें भी तो क्या उसका कोई आकार है जो दूधसे दहीके समान रूपान्तरित होगा और क्या वह रूपान्तर भी ज्ञानस्वरूप नहीं होगा? ऐसी स्थितिमें प्रथमरूप, द्वितीयरूपका भेद विचारहीनोंके द्वारा कल्पित एवं विवर्तमात्र होगा। ज्ञेयका निराकरण हो जानेपर ज्ञातृत्वकी कल्पनाका कोई कारण ही नहीं है।

सातवीं बात—ज्ञान हेतुफलात्मक नहीं है। ज्ञानकी उत्पत्ति स्वीकार करनेपर उसके प्रागभावकी अर्थात् उत्पत्तिसे पहलेकी स्थिति बतानी पड़ेगी; परन्तु ज्ञानके बिना उसकी स्थिति भी नहीं बतलायी जा सकती। अभिप्राय यह है कि ज्ञानका जन्म नहीं होता। अन्तःकरणकी शुद्ध स्थिति अथवा निर्विषयता भी ज्ञानकी जननी नहीं है, विचारकी जननी है। विचारके द्वारा वृत्त्यात्मक ज्ञान पुष्ट होता है और दृढ़ होनेपर वह अज्ञानका नहीं, अज्ञान-भ्रान्तिका निवर्तक होता है। प्रक्रियाग्रन्थोंके अनुसार यह वृत्त्यात्मक ज्ञान भी दूसरे क्षणमें नहीं रहता है! यह क्षणसहित वृत्तिको और अपने व्यक्तित्वको भी बाधित कर देता है। जब वह स्वयं बाधित होता है तब यदि वह कोई अपना कार्य या फल छोड़कर बाधित हो अथवा अज्ञान-निवृत्तिके अनन्तर बना रहे तो फिर द्वैत तो बना ही रहा। इसलिए हेतु और फलकी कल्पना ही मिटती है। हेतु और फल तो कुछ हैं ही नहीं जिनकी ज्ञानसे निवृत्ति हो जाती है। अज्ञान घट-मृत्तिकाके समान जगत्का उपादान कारण नहीं है, वह तो जगत्की व्यवस्थाकी सिद्धिके लिए कल्पित है। अज्ञान है—यह कल्पना भी ज्ञानका विवर्त है। इसलिए

ज्ञानवृत्तिसे अज्ञानका ध्वंस नहीं होता, प्रत्युत कल्पना ही बाधित होती है। यह निवर्त्य-निवर्तक भावकी कल्पना अविचार-दशामें ही है। ज्ञान-दृष्टिसे हेतुफलात्मक भेद सर्वथा ही असिद्ध है।

आठवीं बात—ज्ञानमें यथार्थ-अयथार्थ और परोक्ष-अपरोक्षका भेद नहीं है। व्यवहारमें जो इस प्रकारके भेद ज्ञानमें किये जाते हैं वे विचार करनेपर कल्पित विषयगत भेद ही हैं जिनका आरोप ज्ञानपर कर दिया जाता है। स्वप्नका हाथी (जाग्रत्‌में) झूठा है किन्तु स्वप्नमें हाथीका देखना झूठा नहीं है। 'हाथी नहीं था'—हमारी जाग्रत् कालीन स्मृतिका यही स्वरूप है, किन्तु 'हाथी देखा ही नहीं था' यह नहीं। हाथीकी असत्ता ज्ञानकी असत्ताका प्रयोजक नहीं हो सकती। अविचार-दशामें हाथीकी अयथार्थताका आरोप ज्ञानपर कर दिया जाता है। इसी प्रकार ज्ञानकी परोक्षता भी विचारणीय है। परोक्ष-अपरोक्षका भेद घटादि पदार्थोंमें होता है न कि उनके ज्ञानमें। क्या ज्ञान भी कभी अपनेसे दूर होता है? नहीं। यदि ऐसा मान लें कि पृथिवीपर घट है और अन्तःकरणमें ज्ञान है, तब भी घटज्ञान तो अपने अन्तःकरणमें ही रहा। उसकी परोक्षता कहाँ हुई? यह तो छोटी बात है। आश्रयत्व-विषयत्व आदि विभागसे रहित अद्वितीय चित्स्वरूप ज्ञानमें अयथार्थता और परोक्षताकी कथाका कोई प्रसंग ही नहीं है।

नवीं बात—ज्ञान सर्वथा अबाध्य है। ज्ञानका कोई भी प्रतियोगी या विरोधी नहीं है। स्वयं अज्ञान भी ज्ञानद्वारा ही प्रकाशित होता है। 'मैं अज्ञानी हूँ' यह भाव भी एक प्रकारका ज्ञान ही है। ज्ञानमें यह प्रकार-भेद भी विचार न करनेसे जान पड़ता है। तात्पर्य यह कि सन्धिहीन होनेके कारण ज्ञान और अज्ञानका भेद कल्पित है। इसलिए अज्ञान ज्ञानका बाध नहीं कर सकता। ज्ञानके बाधकी कल्पना करनेपर यह प्रश्न होता है कि ज्ञानका बाध ज्ञात होगा या अज्ञात? उस बाधका कोई साक्षी होगा या नहीं? अज्ञात रहनेपर और कोई साक्षी न रहनेपर बाध होनेमें ही कोई प्रमाण नहीं रहता। और ज्ञात रहनेपर तथा उसका साक्षी रहनेपर ज्ञानकी सत्ता अक्षुण्ण एवं अखण्ड सिद्ध हो जाती है।

दसवीं बात—ज्ञानका स्वरूप अनिर्वचनीय है। जब हम किसी पदार्थका निर्वचन करने लगते हैं तो उसमें दृश्यता, अन्यता आदिका अपरोक्ष

ज्ञान अवश्य करते हैं। कोई भी निर्वचनके योग्य वस्तु इदन्तासे आक्रान्त ही होगी, इसलिए मन-वाणीका विषय भी अवश्य होगी। ऐसी स्थितिमें विषय-विषयी-भाव भी अनिवार्य होगा। यही कारण है कि ज्ञानको उत्पाद्य अथवा आत्माका समवायी माननेवालोंने उसके जो-जो निर्वचन किये हैं, उन्हींकी रीतिसे वेदान्ती लोग उनका निषेध भी करते हैं। अतः अनिर्वचनीयता परमत रीतिसे है। वेदान्तमें अनिर्वचनीयताका अभिप्राय केवल इतना ही है कि यह ज्ञान स्वरूपसे भिन्न नहीं है। अबाध्यता, स्वयंप्रकाशता, अपरिच्छिन्नता आदि जो लक्षण हैं, वे अन्य पदार्थमें, चाहे उसका नाम कुछ भी क्यों न रखें, पूरे नहीं उतर सकते। एक पर-रूप अपरिच्छिन्न स्वप्रकाश एवं अबाध्य हो और दूसरा स्व-रूप भी ऐसा ही हो, वह भी हो और मैं भी होऊँ, यह बात अनुभूतिका विश्लेषण करनेपर सिद्ध नहीं होती। अनिर्वचनीयका अर्थ अज्ञेय नहीं होता। विदित और अविदितसे विलक्षण[1] अन्य नहीं हो सकता। इसलिए अनिर्वचनीय पद-ज्ञानके समस्त निर्वचनोंका निषेध करके अनिरुक्त स्वात्मामें[2] विश्रान्ति लाभ कराता है।

ग्यारहवीं बात—सत्य, अहिंसा, ध्यान, उपासना, परत्व, कारणत्व आदि सब ज्ञानके ही उपलक्षण हैं। मुमुक्षु और मुक्तके व्यावहारिक भेदको सामने रखकर यदि सत्य, अहिंसा आदि सद्‌गुणोंके स्वरूपपर विचार किया जाय तो किसी भी गुणमें सत् होनेका निर्देश सच्चित्-स्वरूप आत्माके सामीप्यके कारण ही करते हैं। जितना-जितना आत्म-सामीप्य जिस-जिस वृत्तिमें है, वह-वह वृत्ति उतना ही उतना अधिक शोधन द्वारा आत्म-साक्षात्कारका अथवा अज्ञान-निवृत्तिका उपाय है। उदाहरणार्थ—सत्य, अहिंसा आदि सद्‌गुणरूप वृत्तियोंको ही लें। असत्यरूप दुर्गुण अनेक होगा, उसके आचरण-भाषणकी वृत्तियाँ भिन्न-भिन्न विषयोंके एवं चिन्ताके भारसे ग्रस्त होंगी; इसके विपरीत सत्य-वृत्तिके लिए किसी चिन्ता—बनावट या विषय-चिन्तनकी आवश्यकता नहीं होगी। मुमुक्षु पुरुष सरल स्वभावसे विषय-रहित सत्यवृत्तिमें स्थित रह सकेगा और वास्तवमें वह आत्मस्थिति ही होगी। अज्ञान-निवृत्ति होनेपर उसे किसी प्रयासकी आवश्यकता नहीं

१. अन्यदेव तद्विदितादथोऽविदितादधि (केन० १.३)।

२. अदृश्ये अनात्म्ये अनिरुक्ते अनिलयने अभयं प्रतिष्ठां विन्दते (तैत्ति० २.७)।

पड़ेगी। इसी प्रकार काम, क्रोध, लोभ आदि दुर्गुणकी वृत्तियाँ भी सगर्भ एवं सविषय ही होती हैं। किसके प्रति काम है, किसपर क्रोध है, क्या चाहिए—यह निश्चय करके तदाकार हुए बिना इन दुर्गुणोंकी स्थिति नहीं हो सकती। इसके विपरीत निष्कामता, अक्रोध एवं निर्लोभता आदि वृत्तियाँ यह अपेक्षा नहीं रखतीं कि हम किसके प्रति हैं। विषयहीन वृत्ति अपने आश्रयभूत प्रत्यगात्मासे अपनेको पृथक् नहीं दिखाती है, इसलिए आत्मविषयक अज्ञाननिवृत्तिकी प्रतिबन्धकतासे रहित होती है। सविषय स्थिति ही मुमुक्षुको सत्से भिन्न प्रतीत होती है। निर्विषय वृत्ति तो सद्रूप ही प्रतीत होती है - यह आत्मसामीप्य ज्ञानस्वरूप आत्माका उपलक्षण है। मतलब यह है कि ये वृत्तियाँ भी असत्य, हिंसा आदिके अभावरूप होनेके कारण भावरूप नहीं, ज्ञानरूप हैं; अनेक नहीं अद्वितीय हैं। ध्यान, उपासना आदि भी अनेक विषयक वृत्तियोंको व्यावृत्त करनेके लिए ही हैं, क्योंकि एक वस्तुमें एकतानता ही उनका स्वरूप है।[3]

ज्ञानस्वरूप परमात्मामें कार्य-कारणकी कल्पना अथवा भोक्तृ-भोग्यकी कल्पना असंगत है। श्रुतिने **'न तस्य कश्चिज्जनिता' 'न तस्य कार्यम्' 'न तदश्नाति कश्चन' 'न तदश्नाति किञ्चन'** आदि वाक्योंके द्वारा इसी अर्थका प्रतिपादन किया है। इस बातको ध्यानमें रखकर जब कार्य-कारण-भाव वर्णन करनेवाली श्रुतियोंको पढ़ते हैं, तब स्पष्ट रूपसे उनका अन्य अभिप्राय ज्ञात होता है। यथा—

१. दृश्य-प्रपंचमें नित्यताकी भ्रान्ति निवारण करनेके लिए इसकी उत्पत्ति-प्रलयका वर्णन है।

२. परमाणु, प्रकृति आदि अन्य कारणोंका निषेध करनेके लिए ज्ञान-स्वरूप परमात्मामें कारणताका अध्यारोप किया गया है।

३. निमित्तकारण और उपादानकारणका भेद मिटानेके लिए ऊर्णनाभि[4], विस्फुलिंग[5] आदिके दृष्टान्त हैं एवं एक-विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी उपपत्ति दिखायी गयी है। 'वही सब हो गया' 'मैं एकसे बहुत हो जाऊँ' इत्यादि

---

३. तत्र प्रत्ययैकतानता ध्यानम् (यो० विभूति० २)।

४. मुण्डक० १.१.७।

५. कठ० १.३.१०-११।

वचनोंका अभिप्राय उपादान और निमित्त कारणके भेदकी निवृत्तिमात्र ही है, परिणाम नहीं।

४. परिणामका निषेध करनेके लिए ही परमात्माके अद्वितीय अज स्वरूपका वर्णन करते हुए **'स बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः'** (अर्थात् जो कुछ बाह्यत्वेन अथवा आभ्यन्तरत्वेन प्रतीत हो रहा है वह अज ही है) कहा गया है। दृश्य-प्रपंचकी उपपत्तिके लिए परमात्मामें मायाका अध्यारोप किया गया है।

५. **'न तु तद् द्वितीयमस्ति'** **'विकल्पो नहि वस्तु'** इन श्रुतियोंसे अध्यारोपित मायाका भी अपवाद कर देते हैं। **'सद्धीदं सर्वम्' 'चिद्धीदम् सर्वम्' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'** इत्यादि श्रुतियाँ 'परमात्मासे भिन्न और कुछ नहीं है—यह प्रतिपादन करती हैं। यह सब कारणत्व आदिका आरोप मुमुक्षुओंके हितार्थ अज्ञान-निवृत्तिके लिए ही किया गया है। अतः इन सबका पर्यवसान ज्ञानमें ही है।

परत्व, आन्तरतमत्व आदिका अभिप्राय भी ज्ञानस्वरूप आत्मामें ही पर्यवसित होता है। इन्द्रियोंसे परे पञ्चतन्मात्र, तन्मात्रसे परे मन, मनसे परे बुद्धि इस प्रकार एककी अपेक्षा दूसरा आन्तर है। बाह्य-बाह्यका परित्याग करते-करते आन्तर-आन्तरके ज्ञानकी ओर अग्रसर होना ही इसका लक्ष्य है। बुद्धिसे परे महत्तत्त्व, महत्तत्त्वसे परे अव्यक्त और अव्यक्तसे परे पुरुष—यही परत्व या आन्तरतमको विश्रान्ति है, यही पराकाष्ठा और परागति है। इस पुरुषसे परे कुछ भी नहीं है[५], यह आत्माके एकत्वका उज्ज्वल उदाहरण है। उपनिषद्गत लय-प्रक्रिया[६] भी शान्त आत्माको ही लयकी अवधि बताती है।

बारहवीं बात—अपरिच्छेद रूप लक्षणके एकरूप होनेसे ज्ञान, आत्मा, ब्रह्म, विश्व आदि शब्द पर्यायवाची हैं और एक ही अर्थके बोधक हैं। यथा—

१. **'प्रज्ञानं ब्रह्म'** प्रज्ञान अपरिच्छिन्न ब्रह्म है।

२. **'अयमात्मा ब्रह्म'** यह आत्मा अपरिच्छिन्न ब्रह्म है।

३. **ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्'** यह सम्पूर्ण विश्व अपरिच्छिन्न ब्रह्म ही है।

---

६. कठ० १.३.१३

४. **'सर्वं यदयमात्मा'** यह सब जो कुछ है आत्मा ही है।

५. **'अहमेवेदं सर्वम्'** मैं ही यह सब हूँ।

६. **'प्रतिबोधविदितं मतम्'** प्रत्येक ज्ञान ही उसका ज्ञान है।

७. **'कृत्स्नः प्रज्ञानघन एव'** सम्पूर्ण प्रज्ञानघन ही है।

८. **'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म'** विज्ञान और आनन्द ब्रह्म ही है।

गीतामें **'ज्ञानं ज्ञेयम्'**; श्रीमद्भागवतमें **'विज्ञानमेकमुरुधेव विभाति'**; विष्णु-पुराणमें **'ज्ञानस्वरूपमेवाहुर्जगदेतत्'** इत्यादि वचनोंसे उपर्युक्त अर्थकी पुष्टि होती है।

इस प्रकार उपनिषद्का प्रतिपाद्य अर्थ 'अहम्' 'इदम्' 'प्रत्यगात्मा' एवं **'विश्वम्'**की ब्रह्मरूपता है। अब यह ब्रह्म क्या है, इसको उपनिषद्के मुखसे ही सुनिये—

तदेतद् ब्रह्मापूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्।
अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूरित्यनुशासनम्।[७]

इसका अभिप्राय है कि जो देश, काल, वस्तुके परिच्छेदसे रहित सर्वानुभव-स्वरूप अपना आत्मा है वही ब्रह्म है।

'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म',[८] **'तत्त्वमसि',**[९] **अहं ब्रह्मास्मि'**[१०]

—इत्यादि अवान्तर वाक्य और महावाक्य दृश्य-द्रष्टा, तुम-मैं-वह आदिके रूपसे प्रतीयमान समस्त पद-पदार्थ एवं पदार्थ-ज्ञानको अपरिच्छिन्न ब्रह्म ही निरूपण करते हैं। परिच्छेद-सामान्याभावोपलक्षित ब्रह्मतत्त्वमें दृश्यता, अनेकता परिणामिता, अन्यता आदिका कथा-प्रसंग स्वयं ही अनुत्थान-पराहत है। यह तत्त्वका ज्ञान नहीं है, तत्त्वरूप ज्ञान है। इसका वेत्ता ब्रह्मका वेत्ता नहीं है, ब्रह्मरूप वेत्ता है।

ज्ञानके इस स्वरूपके निरूपणसे वेद अथवा उपनिषद्की अपौरुषेयताका अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। ज्ञान ज्ञान ही है, वह किसी पुरुषकी अनुभूति, भावना, स्मृति, अथवा कल्पना नहीं है। ज्ञान स्वयं प्रकाश, सर्वानुभव-

---

७. बृहदा० २.५.१९

८. बृहदा० ३.४.१

९. छां० ६.८.७

१०. बृहदा० १.४.१०

स्वरूप, सृष्टि-प्रलय, समाधि-विक्षेप आदि समस्त प्रतीयमान व्यवहारोंका प्रकाशक, अखण्ड, अजन्मा एवं स्वतः प्रमाण है। इसका सम्बन्ध भूत, भविष्य, वर्तमान, देश, वस्तु आदि किसीके साथ नहीं है और सब कुछ यही है। यह ज्ञान है, यह जानना है, कुछ भी जानना यही है, कुछ भी यही है।

ऐसे ज्ञानका प्रतिपादक, अस्मर्यमाणकर्तृक, अनादि सम्प्रदायाविच्छेदसे प्राप्त नियतानुपूर्वक जो ग्रन्थ विशेष है उसे भी अपौरुषेय कहते हैं। वह एकार्थक है, एकात्मक है, एक वाक्य है, भले उसके अवान्तर तात्पर्य[11] में भेद जान पड़ते हों, परन्तु परम तात्पर्यमें[12] कोई भेद नहीं है। वेद-पुरुषका शिरोभाग अर्थात् मस्तिष्क उपनिषद् है। वह शाखा-भेदसे पृथक्-पृथक् प्रतीयमान होने पर भी एक ही है। ज्ञान अद्वितीय है—यही अपौरुषेयताका अभिप्राय है।

२. छान्दोग्योपनिषद् (सामवेद)

(क) सद्विद्या : तत्त्वमसि महावाक्यका बोध

छान्दोग्योपनिषद्की श्रुति है—

सदेव सोम्येदमग्र आसीत्। एकमेवाद्वितीयम्। (छां० ६.२.१)

'हे सोम्य! सृष्टिकी उत्पत्तिसे पहले केवल सत् ही था और वह सत् एक तथा अद्वितीय था।'

उपनिषद्में इसको सद्-विद्या बोलते हैं। यह सत्का साधन नहीं है, सत्की विद्या है, सत्यको जाननेकी कला है, सत्यके अधिगमकी एक शैली है।

छान्दोग्य उपनिषद्के छठे अध्यायसे पूर्वके अध्यायमें यह कहा जा चुका है कि यह सब प्रतीयमान प्रपंच ब्रह्म ही है—उसीसे उत्पन्न, उसीमें स्थित,

११. अधिकारी-भेदसे एवं प्रयोजन-भेद होनेके कारण कर्म, उपासना, योग सम्बन्धी वेद-वाक्योंके तात्पर्यमें भेद है।

१२. परम तात्पर्य ब्रह्म-वस्तुके शंसनमें है। वस्तुका ज्ञान वस्तुके अधीन होता है, ज्ञाताके अधीन नहीं। ब्रह्म-वस्तु है ही अभेद-स्वरूप। अतः वेदके परम तात्पर्यमें भेद नहीं है।

उसीमें प्रलीन भी होता है।[13] यह कैसे? समझना आवश्यक है। साथ ही यह भी कहा गया है कि आत्मज्ञानी पुरुषके भोजन कर लेनेपर सम्पूर्ण जगत् तृप्त हो जाता है।[14] यह तभी हो सकता है जब सबकी आत्मा एक ही हो। आत्मामें भेद होनेपर एकता सम्भव ही नहीं है। तत्त्वज्ञ पुरुष स्वराट् सम्राट् हो जाता है। उसे अपने सुखके लिए किसीकी अपेक्षा नहीं होती और वह किसीके अधीन नहीं होता। इन विषयोंका स्पष्टीकरण आवश्यक है। इसके लिए सद्विद्या आदिके प्रसंग छठे अध्यायसे प्रारम्भ किये जाते हैं।

अरुणके पुत्र थे आरुणि। उनका पुत्र था श्वेतकेतु। श्वेतकेतुने बारह वर्ष गुरुके पास रहकर वेदोंका अध्ययन किया। वेद-विद्याकी प्राप्तिसे उसमें गम्भीरता आगयी, अपनेको बहुत बड़ा विद्वान् मानने लगा और प्रणाम करनेका भी स्वभाव नहीं रहा। पिताने इस अविनयका कारण पूछा और स्वयं ही समझ गये कि वेद-विद्या सार्थक नहीं हुई क्योंकि वह ब्रह्मविद्यासे पूर्ण नहीं हुई। अतः उसने श्वेतकेतुसे पूछा—'बेटा, क्या तुमने आचार्यसे वह विद्या प्राप्त की जिस आदेशके श्रवणसे अश्रुत भी श्रुत हो जाता है, अमत भी मत हो जाता है, अविज्ञात भी विज्ञात हो जाता है?'[15] श्वेतकेतुने कहा—'ऐसा कैसे हो सकता है पिताजी कि हम एकका विज्ञान प्राप्त करें और दूसरेका विज्ञान हो जाय? घटके ज्ञानसे पटका ज्ञान अप्रसिद्ध है!'

आरुणिने कहा—'अच्छा, सौम्य! सुनो। एकके विज्ञानसे दूसरेका विज्ञान कैसे हो जाता है। लोक-व्यवहारमें यह देखा जाता है कि यदि मृत्पिण्डका ज्ञान प्राप्त कर लिया जाय तो उससे बने हुए सभी विकारोंका ज्ञान हो जाता है कि यह मृन्मय है। कारणके विज्ञानसे कार्यका विज्ञान होता देखा जाता है क्योंकि कार्यमें कारण अनुगत रहता है। कारणके बिना कार्यका अस्तित्व ही नहीं होता और कारणसे कार्य अन्य नहीं होता। यदि कहो कि भिन्नता न होनेपर तो कार्य और कारणकी पहचान ही नहीं होगी, तो यह कहना ठीक नहीं है क्योंकि दोनोंका भेद केवल वाणीमें ही

---

१३. सर्वं खल्विदं ब्रह्म तज्जलान् (३.१४.१)।

१४. छां० ५.२४.५।

१५. येनाश्रुतं श्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति (छां० ६.१.३)।

रहता है। विकार केवल नाम है। नाम ही है विकार नहीं, केवल मृत्तिका ही सत्य है, घट, करक, रुचक सब मृत्तिकासे अतिरिक्त होनेपर तत्त्व शून्य हैं।[१७] मृत्तिकाके अलगकर देनेपर आकार, विकार, प्रकार और संस्कार क्या कुछ अपना गुरुत्व रखते हैं? आकार-विकार आरोपित हैं, मूल तत्त्व सत्य है। इसी प्रकार सुवर्ण और लौहसे बनी कटक-कुण्डलादि तथा शस्त्र-नहरना आदिके उदाहरण हैं। इस प्रकार एकके श्रुत मत विज्ञात होनेपर उस एकसे बने सब आकार-विकारोंका ज्ञान हो जाता है।

श्वेतकेतुकी समझमें बात आगयी। अब उसने पिताजीसे ही तत्त्व ज्ञानकी प्राप्तिकी जिज्ञासा की। उसके फलस्वरूप यह सद्-विद्याका आदेश अर्थात् उपदेश उसे प्राप्त हुआ। छान्दोग्य उपनिषद्में ब्रह्मविद्याकी तीन प्रक्रियाएँ स्पष्ट हैं: छठे अध्यायमें सद्-विद्याकी सत्प्रधान-प्रक्रिया; सातवें अध्यायमें भूम-विद्याकी आनन्द-प्रधान प्रक्रिया, और आठवें अध्यायमें चित्-प्रधान प्रक्रिया। सद्-विद्याका पात्र है श्वेतकेतु जो विद्याभिमानी है। भूम-विद्याके पात्र हैं नारद जिनमें अभिमानका दोष तो नहीं है किन्तु वे शोककी निवृत्तिके लिए सविनय जिज्ञासा करते हैं। चित्-विद्याके पात्र हैं इन्द्र जो भोगी होनेपर भी धैर्यशील हैं, उनका विचार जाग्रत् है और वे एक सौ वर्ष तक ब्रह्मचर्यका पालन करके भी तत्त्वकी जिज्ञासा बनाये रखते हैं। सद्-विद्याके प्रकाशक हैं श्वेतकेतुके पिता आरुणि। भूम-विद्या श्री सनत्कुमार नारदजीको प्रदान करते हैं तथा चिद्-विद्या श्री ब्रह्माजी स्वयं इन्द्रको प्रदान करते हैं। इन तीनों विद्याओंको मिलाकर ही छान्दोग्य उपनिषद्की ब्रह्मविद्या पूर्ण होती है।

सद्-विद्याका उपदेश है कि इस समय जो नामरूपवाले पदार्थ अनुभवमें आते हैं ये सब सृष्टिके पूर्व सन्मात्र ही थे। सदेव सौम्येदमग्र आसीत् एकमेवाद्वितीयम्।

यहाँ **'इदम्'** पद जैसा दिख रहा है वैसे प्रतीयमान प्रपंचका वाचक है। इन्द्रियोंके रूपमें और उनके द्वारा गृहीत रूपमें और मनोवृत्तिके द्वारा गृहीत रूपमें प्रपंच जैसा भी मालूम पड़ रहा है, उसका अनुवाद है 'इदम्'

---

१७. यथा सोम्यैकेन मृत्पिण्डेन सर्वं मृन्मयं विज्ञातं स्याद् वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम् (छां० ६.१.४)।

शब्द। **अग्रे** अर्थात् इस इदं-वाच्य प्रपंचकी उत्पत्तिसे पूर्व। 'अग्रे' कालवाची है। बात यह है कि शिष्यके मनमें तो यह प्रपंच बिलकुल सच्चा होकर बैठा है। उस सच्चाईको ढीला करते हुए कहते हैं कि जब यह प्रपंच नहीं था तब माने प्रपंचकी उत्पत्तिसे पूर्व क्या था? यह विचार करो। क्या तब प्रपंच ही था? नहीं, सत् ही था और वह सत् **एक** और **अद्वितीय** था। अर्थात् जगत्का नानात्व उस समय नहीं था, एक था। माने जगत्के नानात्वका कारण एक सत् ही था। इस समय जो नानात्व दीख रहा है वह हम मान लेते हैं किन्तु वह उसी एक सत्में-से ही हुआ है। सत् **एक** ही था—यह कहनेका तात्पर्य है कि उसका कोई अन्य सजातीय सत् नहीं था। वह सत् **अद्वितीय** था—यह कहनेका तात्पर्य है कि उसका कोई अन्य विजातीय सत् नहीं था। यदि सत्में स्वगतभेद हो फिर तो नाम-रूप-विकार आदि सृष्टिसे पूर्व कैसे? अतः सृष्टिसे पूर्व सत् ही था, एक और अद्वितीय, इसका अर्थ है कि सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद-शून्य सत् ही था। इससे यह भी ध्वनि निकलती है कि सृष्टिकी प्रलयके पश्चात् भी वही सत् रहेगा और इसलिए बीचमें भी जो नानारूपोंमें यह सृष्टि दीख रही है वह वही सत् ही है।

सत्का द्वितीय तो असत् होता है जिसका अर्थ है न होना। अतः सत् सद्वितीय कभी नहीं हो सकता, वह सदैव अद्वितीय ही होता है।

अच्छा, उस समय सत् था और अब क्या सत् नहीं है? है। तब 'उस समय' सत् ही था, यह कहनेका क्या प्रयोजन है? यह तो सही है कि अब भी सत् ही है, परन्तु इस समय उसके साथ नामरूपके विशेषण लग गये हैं। उसके लिए 'इदं' शब्द और बुद्धिकी विषयता आरोपित हो गयी है। नामरूपकी उत्पत्तिके पूर्व वह केवल 'सत्' शब्द और 'सद् बुद्धि'के द्वारा जाना जा सकता था, किन्तु उस समय शब्द और बुद्धि तो थी नहीं, अतः जैसे सुषुप्तिसे उठकर पुरुष यह अनुभव करता है कि सुषुप्तिमें केवल सन्मात्र ही था, इसी प्रकार उत्पत्तिसे पूर्वकी सत्ताका (सुषुप्तिवत्) वर्णन करते हैं। ऐसा समझिये जैसे कोई कुम्हार प्रातःकाल मृत्पिण्डका विस्तार कर दे, दूसरे गाँवमें जाकर लौट आवे और देखे कि उससे कितनी वस्तुएँ बनी हैं। वह कहेगा कि यह वही मिट्टी है। इसी प्रकार सत्के सम्बन्धमें भी बोलते हैं।

एकका अर्थ है जो सबमें अन्वित हो—एति। सत् एक है—इसका क्या अर्थ है ? जैसे दो, तीन, चारमें एक रहता है वैसे सबमें एक रहना ? नहीं। वह केवल एक ही है। तब क्या कड़ा, कंगन, कुंडल, हार आदि विविध आकार-प्रकार होनेपर भी अर्थात् स्वगत-भेद होनेपर भी एक होना ? **एव** माने ज्यों-का-त्यों। अपने स्वरूपको छोड़कर रूपान्तरित नहीं हुआ। सोना एक अविकृत ज्यों-का-त्यों रहता हुआ भी अनेक रूप हो जाता है। सत् ऐसा नहीं है। ठीक है, परन्तु दूसरा कुछ है ? नहीं, **अद्वितीयम्**। सत्से दूसरा क्या होगा ? असत्-नास्ति ; फिर होना क्या ? अद्वितीय शब्दका अर्थ एकका परिष्कार है। वह क्या ? एक-एक दो हो जाता है, एकके अनेक विभाग भी हो जाते हैं, जैसे एक बटे दो। सत् ऐसा नहीं है। सत्में न गुणन है न विभाग है। सत् वह मूल धातु है जिसका पृथक् विवेक कर लेनेपर नामरूप मिथ्या हो जाता है। मिट्टी अलग कर लेनेपर घड़ेका नामरूप क्या है ? नामरूपकी उपाधिसे ही मृत्तिका अनेक जान पड़ती है। यह मानस एवं ऐन्द्रियक व्यवहारमात्र है। वस्तुतः संवृत्तिसे भी सत्को बीजात्मक मानना संगत नहीं है, क्योंकि अभाव या भावरूप संवृत्तिकी सिद्धि नहीं होती। जैसे मृत्तिका आदिमें संस्थानमात्र हैं घटादि, इसीप्रकार सत्में संस्थानमात्र है नामरूपात्मक सृष्टि। ये सारे संस्थान केवल शब्दमात्र हैं, वस्तु नहीं। जैसे अज्ञानसे रज्जु-सर्पादिकी कल्पना होती है, वैसे ही प्रपंचके सर्वसंस्थान हैं।

अब इसी सत्से प्रपंचकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयकी संगति लगानेके लिए अध्यारोप-अपवाद न्यायसे निरूपण किया जाता है। इसका अभिप्राय यह है कि सत् सांख्य-शास्त्रमें परिकल्पित प्रधानके समान जगत्कारण नहीं है। प्रधान अर्थात् प्रकृतिको सांख्यने अचेतन माना है, परन्तु यह सत् तो चेतन है क्योंकि यह 'ईक्षण' करके सृष्टि बना लेता है।

तदैक्षत बहुस्यां प्रजायेयेति तत्तेजोऽसृजत (छां० ६.२.३)

'उसने ईक्षण किया कि मैं बहुत हो जाऊँ। उसने तेजको रचा।'

वस्तुतः सब सत् ही है, अन्यथा ग्रहण होनेपर भी असत् कुछ नहीं है। जैसे किसी वस्तुको दूसरे रूपमें ग्रहण कर लेनेपर भी वस्तु कुछ दूसरी नहीं हो जाती। इसी प्रकार नाम चाहे जो रख लो, उसको चाहे जो समझ लो, है सत् ही। उसका साक्षात्कार हो जाय तो अन्य शब्द

और अन्य बुद्धि दोनों निवृत्त हो जायेंगे। श्रुति ऐसा ही कहती है। वाणी लौट आती है। मन सोच नहीं सकता। वह वाङ्मनसातीत है। वह न लीन होता है न लयका स्थान है। वह विदित-अविदित, दृश्य-अदृश्य सबसे विलक्षण है।

उस सत्ने तेजका ईक्षण किया। तेजने जलका, जलने अन्नका। अतः इस सृष्टिके तीन ही बीज हैं—तेज, जल और अन्न। इन्हींसे सारी सृष्टि हुई। जैसे पंचभूतका पंचीकरण होता है वैसे हो इन तीनका त्रिवृत्करण होता है। भोजन करनेपर अन्नका स्थूल अंश मल बन जाता है, मध्यम अंश मांस हो जाता है और सूक्ष्मतम अंश मन बन जाता है। जल पीनेपर तीन प्रकारका हो जाता है—स्थूलसे मूत्र, मध्यमसे रक्त और सूक्ष्मतमसे प्राण। तैजस पदार्थ भोजन करनेपर स्थूलांशसे अस्थि, मध्यमांशसे मज्जा और सूक्ष्मतमांशसे वाक् बन जाता है। अभिप्राय यह है कि अन्नमय मन है, जलमय प्राण है और तेजोमय वाक् है।

अन्नमय मन है—यह सिद्ध करनेके लिए पिता-पुत्रका सम्वाद है। अच्छा, तुम पन्द्रह दिन तक अन्न मत खाओ, भले जल पीवो। प्राण जलमय हैं उन्हें पीते रहनेसे प्राणोंका विच्छेद नहीं होगा। पन्द्रह दिन उपवास करके वह पिताके पास आया, किन्तु चाहनेपर भी अधीत वेदविद्याका प्रतिभान उसे नहीं हो सका। तब पिताकी आज्ञासे उसने भोजन किया और पुनः उसे वेद और उसके अर्थका भान होने लगा। एक अङ्गार भी शेष हो तो वह पुनः प्रज्वलित हो जाता है। मनकी एक कला शेष थी, भोजनसे वह पुनः जीवित हो गयी। समझ गये ना! मन, प्राण एवं वाक् अन्न, जल और तेजसे बने हुए हैं। यह जितना भी अध्यात्म और अधिभूत है सब इन्हीं तीनोंका खेल है। इन्हींसे अनुग्राहक अधिदैवकी उत्पत्ति होती है। इन तीनोंमें एक सत्का प्रकाश है। इनमें-से सत्को अलग कर लिया जाय तो ये कुछ नहीं रहते हैं। जैसे मृत्तिका ही सत्य है, विकार नहीं, ऐसे ही ये तीन ही सत्य हैं इनके विकार नहीं।[१८]

उस एक अद्वितीय सत्ने पुनः ईक्षण किया—'मैं जीवात्मारूपसे इन तीनों देवताओंमें अनुप्रवेश करके नाम और रूपको प्रकट करूँ।'[१९] और

१८. वाचारम्भणं विकारो नामधेयं त्रीणि रूपाणीत्येव सत्यम्। (छां० ६.४.३)

१९. अनेन जीवेनात्मनानुप्रविश्य नामरूपे व्याकरवाणीति। (छां० ६.३.२)

उसने ऐसा ही किया। तदनन्तर उसने प्रत्येक देवताको त्रिवृत्-त्रिवृत् किया।[20] सत्का जीवरूपसे यह अनुप्रवेश कैसा है? अविकृतरूपमें यह प्रवेश सम्भव नहीं है और न यह प्रवेश साक्षात् ही सम्भव है। जैसे शीशेमें या जलमें मनुष्यका प्रतिविम्ब प्रवेश करता है वैसे हो मन-बुद्धिमें सत्-रूप परमात्माका प्रतिबिम्ब प्रवेश करता है।[21]

छायामात्र जीवरूपसे अनुप्रविष्ट होनेके कारण वह सत् स्वयं देहके सुख-दुःखादिसे सम्बद्ध नहीं होता। यदि कहो कि छाया मात्र होनेसे जीव मिथ्या ही है फिर उसके इहलोक-परलोक भी मिथ्या ही होंगे, तो यह दोष नहीं है क्योंकि सत्वस्वरूपसे उसका सत्यत्व स्वीकार किया गया है। सब-का-सब नामरूपादि विकारजात सत्यत्वरूपसे ही सत्य है, स्वयं तो वह मिथ्या ही है, क्योंकि विकार तो नामधेय है' ऐसा कहा जा चुका है। ऐसा ही जीव भी है।

मन-बुद्धिके उपराम होने पर सत्का प्रतिबिम्ब जो जीवात्मा है वह कहाँ चला जाता है? वह अपने प्रकाशस्वरूप सत्-देवतामें ही मिल जाता है। मनकी उपशान्तिमें आत्मा परमात्मासे एक हो जाता है। यही बात समझानेके लिए आरुणिने कहा—तुम स्वप्नान्त अर्थात् सुषुप्तिको मुझसे समझो। आत्माको 'स्वपिति' कहते हैं। यह क्रियापद नहीं है, आत्माका एक नाम है। वह अपने स्वरूपमें अपीत अर्थात् स्थित हो जाता है। यह अवस्था स्वप्नसे विलक्षण है। क्योंकि जाग्रत्, स्वप्नमें वस्तुएँ दीखती हैं, थोड़ी या घनी, क्षण-भर या देर तक, वहाँ पाप-पुण्यका कार्य सुख-दुःख भी होता है। अतः जाग्रत्के समान स्वप्न भी पाप-पुण्य, अविद्या, कामना आदिसे युक्त होता है अन्यथा सुख-दुःख कहाँसे होते? अतः स्वप्नमें स्वरूप-स्थिति नहीं होती। सुषुप्तिमें न पुण्य-पाप रहते हैं न उनका फल। वह मनके सभी शोकोंसे ऊपर उठ जाता है। वहाँ जीवत्व भी नहीं रहता क्योंकि कर्ता-भोक्ता, संसारी, परिच्छिन्न ही जीव है और सुषुप्तिमें यह सब कुछ नहीं रहता। जो सुषुप्तिमें अपने साथ नहीं है वह अपना स्वरूप नहीं

---

२०. छां० ६.३.३–४.

२१. जोवो हि नाम देवताया आभासमात्रम्। बुद्धयादिभूतमात्रासंसर्गजनित आदर्श इव प्रविष्टः पुरुष प्रतिविम्बो जलादिष्विव च सूर्यादीनाम्

(शां० भा० छां० ६.३.२)

है। सुषुप्तिके समय सत्‌से एक हो जाता है। जाग्रदवस्थामें बहुत-से आयास-प्रयास करने पड़ते हैं, पाप-पुण्यके कारण सुख-दुःख भी होते हैं किन्तु सुषुप्तिमें यह सब छूट जाता है। मन, इन्द्रियाँ, प्राण श्रान्त-क्लान्त होकर शान्त हो जाते हैं। लोक-दृष्टिसे यही स्वरूप-स्थिति है। रोगीको भी सुषुप्ति हो जाय तो विश्राम मिलता है। परन्तु मृत्युकी भ्रान्ति नहीं होती। इन्द्रियाँ सो जाती हैं, प्राण जागता रहता है।

एक दृष्टान्त सुनो। एक पक्षी है, वह पतली रस्सीसे बँधा हुआ है। वह कहीं जानेके लिए उड़ता है, फड़फड़ाता है, परन्तु उसे क्षण भरके लिए भी दूसरी जगह नहीं मिलती तो जहाँ बँधा है वहीं लौटकर आजाता है। उसी प्रकार यह मन-जीवात्मा उसी सत्‌के साथ बँधा हुआ है। वह विषयोंकी ओर दौड़ता है, उनके लिए तड़फड़ाता है, परन्तु कहीं भी विश्राम करनेकी ठौर नहीं मिलती, लौटकर सत्-देवतामें आजाता है। यह जीवात्मा परमात्मारूप सत्‌के साथ बँधा हुआ है।

अच्छा, तुम्हें भूख लगती है, प्यास लगती है? भूख-प्यास कहाँसे आती है? यह अन्नपान कहाँ जाता है। इस अंकुरका बीज ढूँढो। यह निर्मूल नहीं हो सकता। सच पूछो तो भूख-प्यासरूप अंकुरका मूल अन्न है, अन्नका मूल जल है, जलका तेज, तेजका सत् है—इस बातको जानो। यह सारा जायमान, दृश्यमान, भुज्यमान प्रपंचका मूल सत् है। सारी प्रजा सत्‌में ही रह रही है और अन्तमें सत्‌में ही लीन हो जाती है।[२२] वह सत् ही एकमात्र एकमेवाद्वितीयम् परमार्थ सत्य है। सत्‌से भिन्न जो कुछ ज्ञाताज्ञात है; वह सब नाममात्र है, सत्‌के अज्ञानसे रज्जु-सर्पके समान उसमें अध्यस्त है। यह अन्न, तेज, मन, प्राण, वाक् उससे पृथक् नहीं हैं। प्रतीति दोष नहीं है, पृथक्ताकी भ्रान्ति दोष है। यही जो सबसे सूक्ष्म सत्-तत्त्व है वही है यह सब; वही है सत्य; वही है आत्मा। श्वेतकेतु! तुम वही हो। **तत्त्वमसि**।[२३]

श्वेतकेतुने कहा—पिताजी, आपने कहा सो ठीक है, परन्तु सुषुप्तिसे उठनेपर उस सत्-देवतासे एक होकर व्यवहारमें आनेपर ज्ञान नहीं होता

---

२२. सन्मूलाः सोम्येमाः सर्वाः प्रजाः सदायतनाः सत्प्रतिष्ठा (छां० ६.८.६)

२३. स य एषोऽणिमैतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो (छां० ६.८.७)।

कि हम सत्से मिलकर आये हैं। यह तो प्रतिदिनका अनुभव है फिर यह क्यों ज्ञात नहीं होता ? यदि ज्ञात रहता कि हम सत्से मिलकर आये हैं तो पूर्ववत् प्रपंचके सत्यत्वकी भ्रान्ति न रहती, देहमें अहंता-ममता न होती, सुखी-दुःखीपना नहीं होता ! ठीक सत्से एक होनेके समय भी (माने सुषुप्ति-अवस्थामें भी) यह बुद्धि नहीं होती कि मैं सत्से एक हो गया हूँ। ऐसा क्यों ?

आरुणिने उत्तर दिया—वत्स, मधुमक्षिकाएँ मधु बनाती हैं। अनेक गुणधर्मवाले दिशा-विदिशाके वृक्षोंका रस इकट्ठा करके एकमें मिला देती हैं। वे फल, फूल, पत्रके रस मधुरूपसे एक होनेपर यह विवेक, यह पृथक्ताका अनुभव नहीं कर पाते कि हम इस या उस वृक्षके रस हैं। ठीक इसी प्रकार सारी प्रजा सत्से एक होकर भी नहीं जानती कि हम सत्से मिल रहे हैं या मिल गये हैं। भले कोई बाघ, सिंह, भेड़िया, सुअर, कीट-पतंग, डंस या मंस हो, वह सुषुप्तिके समय सत्से एक हो जाता है और वहाँसे उठनेके बाद पहलेकी तरह जो रहता है वही हो जाता है। भले सहस्र-सहस्र युगके व्यवधान पड़ जाँय परन्तु अपने स्वरूपके ज्ञानके बिना वासनाओंका नाश नहीं होता। वासना-वासित प्रज्ञाके अनुसार जन्म होता ही रहता है। यही जो सबमें सबसे सूक्ष्म अणिमा है, अणुसे अणु है, उसीका स्वरूप है यह सब कुछ। वही सत्य है, वही आत्मा है। श्वेतकेतु, तुम वही हो। **तत्त्वमसि**।

'पिताजी, लोक-व्यवहारमें देखा जाता है कि जब कोई सोया हुआ पुरुष उठकर एक गाँवसे दूसरे गाँवको जाता है तो उसे ज्ञान रहता है कि मैं अपने घरसे यहाँ आया हूँ। उसी प्रकार सुषुप्तिसे सोकर उठनेवाले पुरुषको यह ज्ञान क्यों नहीं होता कि मैं सत्से एक होकर आया हूँ ?' आरुणिने कहा—बेटा, सुनो। यह जो नदियाँ बहती हैं, पूर्वसे पूर्व चली जाती हैं, पश्चिमसे पश्चिम जाती हैं, उनकी क्या दशा है ? मेघ समुद्रसे जल उठाकर ले जाते हैं और वर्षाके रूपमें पृथिवीपर गिरा देते हैं; बस गंगा, यमुना बन गयीं, समुद्रकी ओर ही दौड़कर जाती हैं, समुद्र ही हो जाती हैं। वे समुद्रसे एक होकर यह नहीं पहचान सकतीं कि मैं गंगा हूँ, मैं यमुना हूँ। ठीक यही दशा इस प्रजाकी है। ये सत्से आती हैं परन्तु नहीं जानतीं कि हम सत्से आ रही हैं। चाहे सिंह, व्याघ्र आदि कोई भी हो फिर उसी

रूपमें हो जाता है। इनमें एक अणोरणीयान् अणिमा है, सब उसीका स्वरूप है। वही सत्य है। वही आत्मा है। वही तुम हो श्वेतकेतो! **तत्त्वमसि।**

श्वेतकेतुने कहा—अब दूसरा प्रश्न है। लोक-व्यवहारमें देखा जाता है कि जलमें बड़ी-बड़ी लहरियाँ, तरंग, फेन, बुदबुदे उठते हैं और फिर जल ही हो जाते हैं, उनका विनाश हो जाता है। किन्तु जीव सुषुप्तिमें प्रतिदिन, मृत्यु और प्रलयमें अपने परमकारण सत्से एक हो जाते हैं परन्तु इनका विनाश नहीं होता है, क्यों?

आरुणिने कहा—वत्स, तुम्हारा प्रश्न ठीक है। जीव नश्वर नहीं है। वह नित्य सत्यसे एक होकर भी नष्ट नहीं होता, क्योंकि अज्ञानके साथ ही पूर्वप्रज्ञा और वासनाके बीज विद्यमान रहते हैं। यदि ऐसा न हो तो वर्तमान सुख-दुःखकी संगति नहीं लगायी जा सकती। यदि बिना पाप कर्म किये उसके परिणाम दुःखको जीव भोग रहा है तो यह **अकृताभ्यागम** दोष होगा। और यदि जीवका जीवन एक देह-पर्यन्त ही हो तो उसने जो इस जीवनमें शास्त्रोक्त कर्म किये हैं उनका क्या होगा? क्या वे बिना फल दिये ही नष्ट हो जायेंगे? यह **कृतप्रणाश**-दोष होगा। ईश्वर भी यदि कर्म-निरपेक्ष सुख-दुःख दे तो उसमें पक्षपात और निर्दयताका दोष प्राप्त होगा। अतः जीवकी मृत्यु माननेका कोई कारण नहीं है। वासना, पूर्वप्रज्ञा और अज्ञानसे विविक्त यह जो अपरोक्ष अणुसे भी अणु चेतन आत्मा है वही सब कुछ है। वही सत्य है। वही सबकी स्वयंता सत्य है। वही तुम हो, श्वेतकेतु! **तत्त्वमसि।**

श्वेतकेतुने प्रश्न किया—पिताजी, सद्वस्तु तो अत्यन्त सूक्ष्म है, उसमें न नाम है, न रूप। उसीसे यह अत्यन्त स्थूल नामरूपात्मक प्रपंच भला कैसे उत्पन्न हो सकता है?

आरुणिने श्वेतकेतुसे एक वट-वृक्षका फल मँगाया। उसको तोड़कर उसमें बीजके दाने निकलवाये और एक बीजके दानेको तोड़कर पूछा—'इसमें क्या दिखता है?' श्वेतकेतुने कहा—'इसमें कुछ नहीं दिखता।' पिताने पुत्रसे कहा कि जिसमें तुम्हें कुछ नहीं दिखता उसीमें इतना बड़ा वट-वृक्ष विद्यमान है। यदि मान लें कि इससे एक वट-वृक्ष पैदा होगा तो उसमें प्रतिवर्ष सहस्रों फल लगेंगे और उनमें करोड़ों दाने होंगे। अगणित

वट-वृक्षोंका मूल इस कुछ न दीखनेवाले पदार्थमें विद्यमान हैं यद्यपि वे दीखते नहीं हैं। स्थूल कार्यका कारण अत्यन्त सूक्ष्म होता है। श्रद्धा करो, बेटा श्रद्धा करो। इसी प्रकार इस सत्‌रूप अणिमासे यह स्थूल नाम-रूपात्मक प्रपंच उत्पन्न हुआ है। यह शास्त्र एवं युक्तिसे सिद्ध है। परन्तु सूक्ष्म पदार्थमें बाह्य विषयोंमें आसक्त मनका प्रवेश नहीं होता। अतः श्रद्धाकी आवश्यकता होती है। श्रद्धा मनको श्रद्धेयमें समाहित कर देती है, तब उसका अनुभव हो जाता है। यदि मन किसी वस्तुके सूक्ष्मतम अन्तर्देशमें प्रवेश न करे तो उसके अशेष-विशेषका ज्ञान नहीं होता। यही अणिमा सत् है। सम्पूर्ण प्रपंच वही है। वही सत्य है। वही आत्मा है। वही तुम हो श्वेतकेतु! **तत्त्वमसि**!

श्वेतकेतुने पूछा—'पिताजो, सम्पूर्ण जगत्‌का मूल सत् है। आयतन और प्रलय-स्थान भी है। फिर भी उसकी उपलब्धि क्यों नहीं होती?

आरुणिने एक नमकका टुकड़ा जलमें डालनेको कहा। अगले दिन वह टुकड़ा गल चुका था। ढूँढने पर भी श्वेतकेतुको उसका पता नहीं चला। तब पिताजीकी आज्ञासे उसने जलको चखा। उसमें तो सर्वत्र नमक भरपूर था। आरुणिने कहा—इसी प्रकार सृष्टिसे पूर्व जो सत् था वह सृष्टिमें आज भी भरपूर है परन्तु जिस वस्तुको देखनेका जो प्रकार होता है उसी प्रकारसे वह अनुभवमें आती है जैसे नमकके लिए जीभ। ऐसे ही इस दृश्यमान जगत्‌में व्याप्त सत्‌को ठीक-ठीक युक्तिसे देखा जा सकता है। यह जो अणिमा है इसीका स्वरूप है सब, केवल अणिमा ही सत्य है। वही आत्मा है। वही अद्वितीय सद्स्वरूप चेतन तुम हो! **तत्त्वमसि**!

श्वेतकेतुने पूछा—इन्द्रियोंसे तो जगत्‌का मूल कारण जो सत् है उसकी उपलब्धि नहीं होती। क्या वह किसी दूसरे उपायसे उपलब्ध हो सकता है?

आरुणिने कहा—'पुत्र! एक डाकूने गांधार देशमें किसी व्यक्तिका अपहरण किया। उसके नेत्र कसकर बाँध दिये। सब कुछ छीनकर उसे घोर जंगलमें डालकर छोड़ दिया। उसे दिग्भ्रम हो गया और अब वह चारों ओर चीखता-पुकारता है। उसकी यह पुकार कोई दयालु पुरुष सुनता है, आकर बन्धन खोल देता है और कहता है—इस दिशामें गान्धार है, तुम

सीधे चले जाओ। वह मार्ग समझ जाता है, प्रतिभाशाली भी है, एक गाँवसे दूसरे गाँवमें पूछता—परखता अपने देश गांधारमें पहुँच जाता है।

भगवान् शंकराचार्य अपने भाष्यमें कहते हैं कि इस दृष्टान्तके अनुरूप ही यह जीव अपने आयतन सत्-देशसे बाहर ला दिया गया है। अविवेकी है, दिङ्मूढ है, भूख-प्याससे ग्रस्त है, अनेक अनर्थोंसे युक्त संसारारण्यमें भटक रहा है। जब यह दुःखार्त होकर बन्धनसे मुक्त होनेके लिए व्याकुल होकर पुकारता है तब किसी करुणाशाली महापुरुषके द्वारा मुक्त कर दिया जाता है और वह अपने देशमें जाकर सुखी हो जाता है।

सत् ही इसका मूल देश है। वह आत्मस्वरूप ही है। तेज, जल-अन्नादिसे बना हुआ यह देह घोर जंगल है। इसमें बात, पित्त, कफ, रक्त, मेद, मांस, अस्थि, मज्जा, शुक्र, कृमि, मूत्र, पूरीष भरे हुए हैं। गर्मी, सर्दी आदि अनेक द्वन्द्व और दुःख हैं। पाप-पुण्यादि डाकू मोहके वस्त्रसे जीवकी आँख बाँध देते हैं। वह पत्नी, पुत्र, मित्र, पशु, बन्धु आदि लौकिक पारलौकिक अनेक विषयोंकी तृष्णासे भूखा-प्यासा हो जाता है। इस घोर जंगलमें ऐसा सोचने लगता है—'मैं इसका पुत्र हूँ, ये सब मेरे भाई बन्धु हैं, मैं सुखी-दुःखी, मूढ-पंडित, धार्मिक, भाई-बन्धुसे युक्त जन्मने-मरनेवाला बूढ़ा पापी हूँ इत्यादि।' वह कहता है—हाय, हाय, मेरा बेटा मर गया, मेरा धन नष्ट हो गया, मैं मर गया, इसके बिना मैं कैसे जीवित रहूँगा, मेरी क्या गति होगी, मेरी रक्षा कौन करेगा? इस प्रकार लाखों अनर्थके जालमें फँसकर यह जीव चिल्लाता रहता है। पुण्यके अतिशय प्रकर्षसे ऐसे परम कारुणीक गुरुदेवकी प्राप्ति होती है जो सद्ब्रह्मको आत्माके रूपमें जानते हैं, बन्धन-मुक्त और ब्रह्मनिष्ठ होते हैं। उनके द्वारा जब संसारके विषयोंका दोषदर्शन स्पष्ट कर दिया जाता है तो वैराग्यका उदय होता है। वे समझा देते हैं कि तुम संसारी नहीं हो, पुत्र-पौत्रादिवाले नहीं हो, तुम तो वही सद्ब्रह्म हो। इस प्रकार मोह वस्त्रका नेत्रबन्धन टूट जाता है और वह आत्मरूपसे सद्वस्तुको प्राप्त करके परमानन्दमें मग्न हो जाता है। इसी अभिप्रायसे श्रुतिने कहा है कि जबतक आचार्यकी प्राप्ति नहीं होती तभीतक सदात्म-ज्ञानकी प्राप्ति और उसके द्वारा अविद्याकी निवृत्तिमें विलम्ब है।[२४] इसमें

---

२४. आचार्यवान् पुरुषो वेद तस्य तावदेव चिरं यावन्न विमोक्ष्येऽथ सम्पत्स्य इति।
(छां० ६.१४.२)।

कितना समय लगता है, यह मत पूछो। तत्त्वज्ञान, सत्-सम्पत्ति अथवा मोक्षमें काल-भेद नहीं है।

यह वही अणिमा है श्वेतकेतु, जिसका स्वरूप है यह सब। वही सत्य है, वही आत्मा है और वही तुम हो। **तत्त्वमसि** !

श्वेतकेतुने प्रश्न किया—पिताजी यह तो ठीक है कि ज्ञानसे अज्ञान और उसके कार्यकी निवृत्ति होनेपर सत्-सम्पत्ति हो जाती है और यह कि मुक्ति स्वरूप ही है। परन्तु मैं जानना यह चाहता हूँ कि अविद्या-निवृत्ति मात्रसे ही मोक्ष हो जाता है अथवा किसी मार्गसे चलकर मुक्तिको प्राप्त करना होता है।

आरुणिने कहा—पुत्र, मरणासन्न रोगी तबतक ही सबको पहचानता है जबतक कि उसकी वाणी मनमें लीन नहीं हो जाती, मन प्राणमें लीन नहीं हो जाता, प्राण तेजमें और परदेवता सत्में लीन नहीं हो जाता। इस लयके अनन्तर वह किसीको नहीं पहचानता। कहनेका अभिप्राय यह है कि मृत्यु तो ज्ञानी और अज्ञानी दोनोंकी एक-सी होती है; किन्तु ज्ञानी पुरुष सत्-पुरुषमें लीन होनेके बाद फिर उठता नहीं क्योंकि वह उसको आत्मरूपसे जान गया है। इसके विपरीत अज्ञानी उससे उठकर अपने पुराने भावको फिर प्राप्त कर लेता है; वह फिर देवता, मनुष्य, व्याघ्रादि हो जाता है। जन्मान्तर, लोकान्तर, भावान्तर आदिमें गमनागमनके कारण हैं—अविद्या, कामना और कर्म। ये सदात्माके विज्ञानकी अग्निसे भस्म हो जाते हैं। अतः तत्त्वज्ञानीका गमनागमन नहीं होता। मुण्डक श्रुतिने स्पष्ट कहा है : **इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः** अर्थात् उसकी यहीं सारी कामनाएँ समाप्त हो जाती हैं।

वह जो यह अणिमा है एतदात्मक है सब, वही सत्य है, वही आत्मा है। श्वेतकेतु, तुम वही हो। **तत्त्वमसि** !

श्वेतकेतुने जिज्ञासा की—पिताजी, जब संसारी और मुमुक्षु दोनों ही मृत्युके समय सत्से एक हो जाते हैं तो अज्ञानीका पुनरागमन होता है और ज्ञानीका नहीं होता, इसका क्या कारण है ?

आरुणिने उत्तर दिया—सुनो पुत्र, जैसे एक चोर अपनी ईमानदारीका (चोरी न करनेका) प्रमाण तप्त लौह परशुको छूकर देता है—यदि चोरी

नहीं की तो वह छूनेपर जलता नहीं, अन्यथा जल जाता है। अभिप्राय यह कि उसकी सत्यनिष्ठा ही जैसे उसे जलनेसे बचा लेती है वैसे ही सत्य-निष्ठ ज्ञानी पुरुषकी मुक्ति भी उस सत्यनिष्ठाके बलपर ही हो जाती है और अज्ञानीकी मुक्ति नहीं होती। सत्यके ग्रहण, अग्रहणसे ही एक ही स्थितिके दो फल हो जाते हैं।

वही है यह सब, वह सत्य है, वह महात्मा है। वही हो तुम श्वेतकेतु! **तत्त्वमसि** !

श्वेतकेतुने कहा—जान लिया, अनुभव हो गया।[२५] क्या अनुभव हो गया? यही कि 'मैं वही सत् हूँ।'[२६]

इस प्रकार सद्विद्याका प्रसंग यहाँ समाप्त हो जाता है। अब इस प्रसंगपर थोड़ा और विचार किया जाता है क्योंकि इसमें 'तत्त्वमसि' महावाक्यका प्रयोग है।

इस प्रसंगमें सत्यके ग्रहणसे मुक्ति और असत्यके ग्रहणसे दुःख और बन्धन दिखाया गया है। अज्ञानी असत्यको पकड़कर रखता है। आप सुन चुके हैं केवल मृत्तिका ही सत्य है, विकार नहीं। अज्ञानी पुरुष असत्य विकारको ही आत्मा मानकर देवता, मनुष्यादि होनेका अभिमान करता है। उसको अपने कर्म और उपासनाके अनुसार गति मिलती है। जगत्का मूल है सत्। सारी प्रजा, सब कुछ वही है। वह अज, अमृत, अभय, शिव, अद्वितीय है। वही सत्य है, आत्मा है और मनुष्यका वही परमार्थ स्वरूप है। 'वही तुम हो' यह बात नौ-बार कही गयी है। आरुणिका पुत्र श्वेतकेतु अधिकारी श्रोता है। उसने तुरन्त अभिमान छोड़कर असम्भावनाका निवारण करके सच्ची जिज्ञासा की थी। पिताजीने उसे तत्त्वज्ञान करा दिया। पिताने बताया कि तेज, अन्न और जलसे बने हुए कार्य-कारण संघातरूप शरीरमें प्रविष्ट होकर देवता सत् ही श्रोता, मन्ता, विज्ञाता बनकर बैठा हुआ है। वही शीशेमें बैठकर प्रतिबिम्बके समान, जलादिमें बैठे सूर्यके समान उपदेशके पूर्व अपने आपको नहीं जानता था। महा-वाक्यके श्रवणके अनन्तर उसको विशुद्ध विज्ञानकी प्राप्ति हो गयी।

---

२५. तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति (छां० ६.१६.३)।

२६. सदेवाहस्मीति विजज्ञौ विज्ञातवान् (शांकर भाष्य)।

प्रमाणका फल है अज्ञात वस्तुको प्रकाशित करना। स्वयंप्रकाश ब्रह्ममें प्रमाण-प्रवृत्तिकी कोई संगति या औचित्य नहीं दीखता। यह प्रश्न ठीक है, परन्तु हम स्वप्रकाशमें अतिशय प्रकाशरूप प्रमाणफलकी कल्पना नहीं करते। हम केवल इतना ही कहना चाहते हैं कि उसके वास्तविक स्वरूपके अज्ञानसे जो कर्तृत्व-भोक्तृत्वका अध्यास अर्थात् भ्रम हो गया है, उसकी निवृत्ति ही प्रमाणका फल है। इस विज्ञानके पूर्व 'मैं कर्ता हूँ, अग्निहोत्र आदि कर्म करूँगा, क्योंकि मैं उनका अधिकारी हूँ, उन कर्मोंका फल इस लोकमें या परलोकमें भोगूंगा, यह कर्म करके मैं कृतकृत्य हो जाऊँगा'—श्वेतकेतु अपनेको ऐसा समझता था। अब पिताने उसे ऐसा विज्ञान कराया कि जो सम्पूर्ण जगत्का मूल सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद-शून्य देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे रहित सद्वस्तु है, वह तुम हो। इससे प्रबोध हो गया और पहलेका आध्यासिक भ्रम-विज्ञान निवृत्त हो गया। अपने आपको अद्वितीय आत्मा, ब्रह्म साक्षात् अपरोक्षरूपसे जान लेने पर 'यह मैं परिच्छिन्न हूँ, यह मुझसे अन्य है, यह करनेका फल मुझे यह मिलेगा, मैं भोगूँगा' इत्यादि भेद-भ्रम सर्वथा निवृत्त हो जाता है। अद्वितीय सदात्माका विज्ञान होनेपर असत्य विकारके जीवात्मा होनेका भ्रम सर्वथा निवृत्त हो जाता है।

पूर्वपक्षी: 'तत्त्वमसि' इस वाक्यके द्वारा त्वं-शब्दके वाच्यार्थं कर्ता भोक्ता संसारी परिच्छिन्न जीवरूप (श्वेतकेतु)में 'सत्'की बुद्धिका उपासनाके लिए विधान किया जाता है; जैसे श्रुतिमें आदित्य, मन आदिमें ब्रह्मबुद्धि करायी जाती है अथवा लोक-व्यवहारमें मूर्तिको विष्णु बताया जाता है। अभिप्राय यह है कि यह भी एक कर्त्तव्य ही है, इसका अर्थ यह नहीं है कि तुम्हीं सत् हो। यदि श्वेतकेतु सत् ही होता तो अपने आपको क्यों नहीं जानता? उपदेशकी आवश्यकता क्यों पड़ती?

सिद्धान्ती: यह कथन ठीक नहीं है क्योंकि **'मनो ब्रह्म इत्युपासीत'** इस श्रुतिवाक्यमें और 'तत्त्वमसि'में उपदेश एक-सा नहीं है। मन या आदित्यमें ब्रह्मबुद्धि करे, इसमें बीचमें 'इति' पदसे विलक्षणता आजाती है। इससे निश्चय होता है कि मन, आदित्य आदि साक्षात् ब्रह्म नहीं हैं, इसलिए उपासनाके लिए प्रतीकमें ब्रह्मबुद्धि करायी जाती है। किन्तु 'तत्त्वमसि' वाक्यमें तो साक्षात् सत्की ही पूर्णता दिखाकर 'तत्त्वमसि'से

निरंकुश सदात्मभावका उपदेश है। यह जो 'है', उसका दिग्दर्शन है। यदि श्वेतकेतु सत् ही न होता तो 'तत्त्वमसि'के तुरन्त बाद श्रुति 'श्वेतकेतु जान गया' यह वाक्य न कहती। उपदेशकी आवश्यकता इसलिए थी कि वह अपनेको त्वं-पदका वाच्य कर्ता, भोक्ता, संसारी, परिच्छिन्न श्वेतकेतुनामी जीव जानता था, इस भ्रमकी निवृत्ति आवश्यक थी।

पूर्वपक्षी : यदि ऐसा मानें कि 'तत्त्वमसि' गुणवाद है या स्तुतिवाक्य है तो ?

सिद्धान्ती : यह भी ठीक नहीं है। यहाँ मृत्तिका, सुवर्ण, लौहके दृष्टान्त देकर एक अद्वितीय सन्मात्र ही सत्य है, यह उपदेश किया गया है। गौणरूपसे भी वैसा कहना सम्भव नहीं है क्योंकि गौण विज्ञान मिथ्या होता है। श्वेतकेतु कोई उपास्य देवता नहीं है जो उसकी स्तुति की जाती। उल्टे सत्को श्वेतकेतुका वाच्यार्थ बताकर सत्का ही अवमूल्यन करना है। सर्वात्मा सत्को एकदेश श्वेतकेतुके शरीरमें लाकर बाँध देना किसी भी प्रकार उचित नहीं है। अतः 'तत्त्वमसि'का अर्थ यही है कि जो त्वं-पदका लक्ष्यार्थ आत्मा है वही तत्-पदका लक्ष्यार्थ सत् है और जो सत् है वही त्वं-पदार्थ आत्मा है।

पूर्वपक्षी : अच्छा तो 'मैं सत् हूँ' यह कर्त्तव्यबुद्धिका उपदेश है, ऐसा मानें तो ?

सिद्धान्ती : ऐसा कहना भी असंगत है। आचार्यवान्को ही ज्ञान होता है, यह स्पष्ट कहा गया है। इसका फल भी मुक्तिबोध है। जैसे अग्निहोत्रादि अन्य विषयोंमें आचार्यवान् कहनेकी आवश्यकता नहीं पड़ती, क्योंकि वहाँ तो आचार्य अर्थतः प्राप्त ही है। परन्तु यहाँ उसका स्पष्ट वर्णन है। यह ज्ञान एकबार होकर फिर मिट नहीं सकता, क्योंकि सम्पूर्ण उपनिषदोंका तात्पर्य इसीमें है। ज्ञान मान्यता नहीं है, वस्तुका यथार्थ ज्ञान है।

यह कहना भी असंगत है कि यदि श्वेतकेतु सदात्मा था तो वह अपने आत्माको क्यों नहीं जानता था ? संसारके प्राणी अपनेको कार्य विकाररूप शरीर और हाथ-पाँव इन्द्रियोंवाला मानकर इतना दुःख भोग रहे हैं परन्तु उन्हें 'मैं इनसे अलग कर्ता, भोक्ता जीव हूँ' यह विज्ञान भी शास्त्राचार्यके बिना नहीं होता। फिर 'मैं अद्वितीय सत् हूँ'—यह विज्ञान तो स्वयं होगा

कैसे ? जबतक देह, देहिक पदार्थोंमें अहंता-ममता रहती है तबतक सद्-ब्रह्मका विज्ञान नहीं होता। इसलिए मिथ्या देहमें अपनेको फँसाकर जीवात्मा बनकर पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी, जात-मृत एवं स्वर्ग-नरकमें आने-जानेवाले भ्रममूलक विज्ञानोंकी निवृत्तिके लिए यह ब्रह्मात्म-विज्ञान अपेक्षित है।

किसी-किसी पंथके अनुयायियोंने आत्मा तककी व्याख्या तो ठीक की है, उसके बाद तत्के पूर्व आकारका प्रश्लेष कर दिया है और व्याख्या की है : **अतत् त्वमसि** अर्थात् 'वह तुम नहीं हो।' पता नहीं कि 'तुम वह नहीं हो' यह वर्णन करनेके लिए इतने विस्तारका क्या उपयोग हुआ जबकि यही कहना था कि वह तुम नहीं हो। यह तो पामर पशु-साधारणका ही ज्ञान है कि मैं ब्रह्म नहीं हूँ। इससे उपदेशका फल क्या निकलेगा ? यह एक उपहासास्पद व्याख्या है।

किसी-किसीने तत्का अर्थ 'तस्य' (उसका) या 'तस्मै' (उसके लिए) किया है। उनका भाव यह है कि यह जीवात्मा परमात्माका अंश या विशेषण है, परमात्माके अधीन है या उसका शेष है, उसकी सेवा करनेके लिए है। परन्तु यह व्याख्या उपयुक्त नहीं है। यथाश्रुत अर्थका परित्याग कर देनेपर एक विज्ञानसे सर्वविज्ञानकी प्रतिज्ञा गौण हो जायगी। मुख्यार्थ सम्भव होने पर गौणार्थका ग्रहण नहीं करना चाहिए।

'तत्त्वमसि'में 'तत्' और 'त्वं' पदोंका समान अधिकरणमें प्रयोग है। दोनों प्रथमान्त एकवचन हैं। 'असि' पद दोनोंकी एकताका सूचक है। कार्य-कारणभाव, विशेषण-विशेष्यभाव आदिसे एकता मानने पर आध्यासिक एकता हो जायेगी। शुद्ध लक्ष्यार्थमें एकता होती है अथवा मुख्यार्थमें। तत् और त्वम्को सिद्ध एकताके बोधमें ही सम्पूर्ण श्रुति-स्मृतियोंका तात्पर्य है। आत्मा ही सद्ब्रह्म है।

(ख) भूम-विद्या (आनन्द-विद्या)

आत्मा ही सद्-ब्रह्म है, यह निर्णय छांदोग्यके छठे अध्यायमें किया गया है। सत्तत्त्वके पश्चात् विकाररूप जिन पदार्थोंका निर्देश किया गया है उनका वर्णन नहीं किया गया। अब नामसे प्रारम्भ करके प्राणपर्यन्त तत्त्वोंका निर्देश करके उनके द्वारा भी तत्त्वका निर्देश किया जाता है। दूसरेके द्वारा दूसरेको दिखाना, इसको 'शाखा-चन्द्र न्याय' कहते हैं, वृक्षको

शाखाके द्वारा चन्द्रमाको दिखानेके समान। इससे यह आशंका भी समाप्त हो जाती है कि सद्वस्तुका विज्ञान होनेपर भी कहीं कुछ जानना शेष न रह जाय। यह भी जान पड़ता है कि जैसे क्रमशः सोपानपर आरोहण करते हैं वैसे ही सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर विषयोंका बोध कराकर उससे भी विलक्षण स्वाराज्य पदपर अभिषेक करनेके लिए नामादिके क्रमसे निर्देश है। नाम, वाक्, मन आदि एकसे एक विशिष्ट तत्त्व हैं, परन्तु सबसे निरुत्तर विशिष्ट तो भूमा-तत्त्व ही है। अतएव सद्विद्याके बाद भूमविद्या प्रस्तुत है।

जैसे श्वेतकेतु-आरुणि-संवाद मनुष्यलोकमें है उसी प्रकार नारद-सनत्कुमार-संवाद ऋषिलोकमें है। ब्रह्मविद्याकी आवश्यकता सर्वत्र है। इसके बिना मनुष्यके अज्ञान, अभिमान, शोक, मोह और परतन्त्रताकी निवृत्ति नहीं हो सकती। यही कारण है कि ब्रह्माके मानसपुत्र नारदके जीवनमें भी शोक विद्यमान है। वे देवर्षि हैं, सारी विद्याएँ प्राप्त कर ली हैं और कर्त्तव्योंका अनुष्ठान कर लिया है। परन्तु कर्म और विद्याके बलपर उनका शोक दूर नहीं हुआ, क्योंकि वे आत्मस्वरूपके ज्ञानसे वंचित थे। जब आत्मज्ञानके बिना ऐसे ऋषिको भी शोक हो सकता है तब एक अल्पज्ञ, अल्पपुण्य मनुष्य शोकग्रस्त हो जाय तो आश्चर्य ही क्या है? अतः मनुष्यको यह परमानन्दज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिए। यह ज्ञान ही आत्माके निरतिशय श्रेयका साधन है। नारदके पास क्या नहीं था? वे साक्षात् ब्रह्माके पुत्र हैं; सम्पूर्ण वेदशास्त्र नारदको कण्ठस्थ थे, सदाचार, साधन-शक्ति-सम्पत्तिकी बहुलता थी, इनके निमित्तसे होनेवाला अभिमान भी उनमें नहीं था। वे एक साधारण मनुष्यके समान सनत्कुमारकी शरणमें गये और शोकनिवृत्तिपूर्वक श्रेयप्राप्तिके लिए उनके शरणागत हुए। इस आख्यायिकाका तात्पर्य आत्मविद्याकी प्रशंसामें है।

सनत्कुमारने पूछा—नारद, अबतक तुमने क्या अध्ययन किया है? क्या प्रज्ञा प्राप्त की है? पहले वह सब मुझे बतलाओ, तब मैं उसके बादकी बात बतलाऊँगा। नारदने सभी शास्त्रोंका नाम लेकर बताया कि मैं इन्हें भलीभाँति जानता हूँ, इनका मुझे स्मरण है। परन्तु भगवन्! मैं शब्दमात्रका ज्ञाता हूँ, सारे शब्द नाममात्र होते हैं। इन्हींसे कर्मोंका सम्पादन होता है। परन्तु यह सब जानने पर भी मैं अपने आत्माको नहीं जानता। यदि आप यह कहें कि जिन शास्त्रोंका नाम तुमने लिया है उनमें

तो आत्मज्ञान भी है, तुमने उसे क्यों नहीं जाना ? तो मैं यह कहूँगा कि अभिधान और अभिधेय, शब्द और उसका अर्थ, ये तो विकार हैं, विकार आत्मा नहीं होता। आत्मा नाम भी मैंने पढ़ा-सुना है, परन्तु जैसे सेनाके विस्तार छत्र-ध्वज आदिके ऐश्वर्य एवं सजधजकी चमक-दमकमें राजा छिप जाय, वैसे ही मेरेलिए आत्मा विकारोंसे ढँक गया है। बिना आचार्यके ज्ञान नहीं होता। ज्ञान होनेपर ही शोकका पार मिलता है। आप आत्मज्ञानकी नौकापर बैठाकर मुझे शोकसागरसे पार कर दीजिये, कृतार्थ कर दीजिये, अभयपद दीजिये।[२७]

सनत्कुमारने कहा—नारद ! तुमने अबतक जो कुछ जाना है वह सब नाम ही है, व्यवहारमें विकार ही प्रधान हो रहा है। बस, नामके बदले नाम। घट क्या है कलश, कलश क्या है कुम्भ, कुम्भ क्या है घड़ा। बस, इसी चक्करमें सारी सृष्टि पड़ी हुई है। इसी असत्यके मायाजालमें लोग फँस जाते हैं। पढ़ने-लिखनेके पहले ताप-त्रयके कारण शोक होता है, और बादमें अभ्यासका बोझ, विस्मरण; गर्व और उसके भंग होनेका भय सब आजाते हैं। अतः तुम शास्त्रका विस्तार छोड़कर एक नामका आश्रय लो। तुम्हारे हृदयमें बहुत-बड़ी शब्द-वासना है, उसका संक्षेप करना आवश्यक है। नाम ही ब्रह्म है।[२८] यह शुद्ध-अशुद्ध, रात-दिन, घर-बाहर, अधिकारी-अनधिकारीको देखे बिना अपने साथ रहता है। तुम दूसरे नामोंको छोड़कर केवल एक नाम-ब्रह्मकी उपासना करो। इससे जिस-जिस वस्तुका नाम होता है उस-उस वस्तुको तुम प्राप्त कर लोगे।

नारदने कहा—भगवन् ! नामका उच्चारण तो करनेसे होता है। नामसे भी कुछ बड़ा हो, ब्रह्म-दृष्टिसे उसकी उपासना करनेके लिए उपदेश कीजिये; क्योंकि नामको ब्रह्म मानकर उपासना करनेपर भी शोक दूर होता नहीं दीखता।

सनत्कुमारने नारदको एकके बाद एक बताना प्रारम्भ किया। एकसे दूसरा बड़ा है। उनमें ब्रह्म-दृष्टि करनेका क्या फल होता है यह भी उपदेश

---

२७. सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मवित्। श्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यः तरति शोकमात्मविदिति। सोऽहं भगवः शोचामि। तं मा भगवान् शोकस्य पारं तारयतु। (छां० ७.१.३)

२८. नामोपास्व ब्रह्मेति ब्रह्मबुद्ध्या। (शां० भा० छां० ७.१.४)

किया। परन्तु नारदमें विवेक और वैराग्य दोनों जाग्रत हो गये हैं, इसलिए वे साधन और उसके फल दोनोंमें अल्पताका दर्शन करते हैं। अतएव वे दूसरा साधन पूछते हैं और फलमें अपनी रुचि प्रकट नहीं करते। सनत्कुमारने क्रमशः वाक्, मन, संकल्प, चित्त, ध्यान, विज्ञान, बल, अन्न, जल, तेज, आकाश, स्मर (=स्मृति) और आशा, इनमें ब्रह्मदृष्टिका उपदेश किया। इनमें एकसे एकको बड़ा बताया और आशामें ब्रह्मदृष्टि करनेसे तो सारी कामनाएँ पूरी हो जाती हैं। साथ ही जहाँ तक आशाकी गति है वहाँतक स्वच्छन्द गति हो जाती है, यह फल भी बताया। परन्तु नारदको ये सब साधन कार्य-कारणभावसे युक्त और विनश्वर फलवाले ज्ञात हुए। उन्होंने कहा—भगवन्! इससे भी कुछ बड़ा हो तो उसका उपदेश कीजिये।

वास्तवमें सनत्कुमार और नारद दोनों ही ब्रह्माके पुत्र हैं। दोनोंमें ज्ञान-वैराग्य और संयमकी पूर्णता है। सनत्कुमार निवृत्ति-परायण हैं तो नारद सर्वशास्त्र-संचारसे खिन्न। निवृत्ति-परायण गुरु और जिज्ञासु शिष्यका यह समागम अलौकिक है।

सनत्कुमारने प्राणमें ब्रह्म-दृष्टिका उपदेश किया। प्राण ही सब कुछ है, यह प्रत्यक्ष ही है। जो प्राणमें ब्रह्मदृष्टि रखता है वह सम्पूर्ण वादोंसे ऊपर उठकर नामसे आशापर्यन्त सब पदार्थोंसे अतीत होकर बोलता है—'मैं प्राण हूँ।' यदि लोग उसको अतिवादी कहें तो उसे स्वीकार कर लेना चाहिए और खुलकर कहना चाहिए कि 'सर्वेश्वरमय प्राण मैं हूँ।'

नारदकी समझमें यह बात बैठ गयी कि सर्वातिशायी सर्वात्मा प्राण ही मैं हूँ। अतः नारदने यह नहीं पूछा कि प्राणसे बड़ा क्या है? उनका सन्तोष देखकर सनत्कुमारका हृदय करुणासे भर गया। उन्होंने सोचा कि नारद तो मिथ्याग्रहणसे ही संतुष्ट प्रतीत होते हैं, क्योंकि प्राण तो विकार है, अनृत है, अज्ञान है, इसमें कोई आनन्द नहीं है। अतः सनत्कुमारने नारदसे कहा—नारद! वस्तुतः अतिवादी वह होता है जो सत्यसे अतिवादी होता है। नारदने कहा—भगवन्! मैं तो सत्यसे ही अतिवादी होना चाहता हूँ, अतः आपसे मैं सत्यकी ही जिज्ञासा करता हूँ।

सनत्कुमारने कहा— जो परमार्थतः सत्यका विज्ञान प्राप्त कर लेता है वह वाचारम्भण अनृत-विकारोंका परित्याग कर देता है और सर्व विकारोंमें स्थित एक सत्यको जान लेता है। वही सत्यके द्वारा अतिवादी हो सकता

है। यहाँ प्रश्न यह उठता है कि यह विकार भी तो सत्य ही हैं, क्योंकि श्रुतिमें यह कहा गया है कि 'नामरूप सत्य हैं और उनके द्वारा यह प्राण ढक गया है।'[२९] श्रुतिमें यह भी प्रमाण है कि 'प्राण ही सत्य है।'[३०] अतः यह ठीक ही है कि श्रुतियोंमें विकारको सत्य कहा गया है, परन्तु इन्द्रियोंके विषयोंकी अपेक्षा विकारको सत्य कहा गया है, परमार्थकी अपेक्षासे नहीं। इन्द्रियोंके द्वारा बाहरसे कुछ समेटकर बुद्धिमें सत्य अनुभव करना और बात है और बुद्धिके स्वप्रकाश अधिष्ठानका अनुभव करके सत्य कहना दूसरी बात है। परमार्थ-सत्यकी उपलब्धिके जो द्वार हैं उन्हें भी सत्य कहा जाता है। यहाँ सनत्कुमार स्पष्टरूपसे नारदको प्राणमें जो परमार्थ सत्य होनेका मिथ्या ज्ञान है उससे ऊपर उठाकर सत्य भूमाका विज्ञान कराना चाहते हैं। जिसको सद्-वस्तुका विज्ञान नहीं होता वह तेज, जल और अन्नको भी सद्रूप मानता है। परन्तु इन तीनों रूपोंसे परे परमार्थ सत्य है, उसीका विज्ञान अपेक्षित है।

नारदने प्रश्न किया—भगवन्! वही विज्ञान बतलाइये। सनत्कुमारने कहा—जो मनन करता है उसे विज्ञान होता है। मतिका भाव है—मनन, अर्थात् मन्तव्य विषयका आदरपूर्वक चिन्तन करना। वस्तुके सम्बन्धमें तर्क-वितर्कका नाम मनन नहीं है, आदरपूर्वक अनुकूल चिन्तनका नाम मनन है। मनन कब होता है? जब श्रद्धा होती है। श्रत् अर्थात् आस्तिक्य; 'ध' अर्थात् धारण। श्रद्धासे ही मनन सम्पन्न होता है। श्रद्धा कब होती है? जब निष्ठा होती है। निष्ठा माने क्या? ब्रह्म-विज्ञानकी प्राप्तिके लिए गुरुदेवकी सेवा-शुश्रूषा ही निष्ठा है। निष्ठामें तत्परताकी प्रधानता रहती है। निष्ठा कब होती है? जब कुछ किया जाता है। क्या किया जाता है? इन्द्रियोंका संयम और चित्तकी एकाग्रता। अर्थात् साधनका क्रमशः रूप यह है—वृत्ति, निष्ठा, श्रद्धा, मनन और विज्ञान। यह विज्ञान ही सत्यको प्रकाशित करता है।

ये सब साधन कब होते हैं? इसकी प्रक्रिया साधारण है। जैसे इस लोकमें लौकिक फलका सुख प्राप्त करना हो तो उसके लिए कर्ममें प्रवृत्ति होती है, दुःखके लिए कोई कर्ममें प्रवृत्त नहीं होता। इसी प्रकार जिसको

---

२९. नामरूपे सत्यं ताभ्यामयं प्राणश्छन्नः (बृहदा० १.६.३)।

३०. प्राणा वै सत्यं तेषामेव सत्यम् (बृहदा० २.१.२०)।

परमार्थ-सुख प्राप्त करनेकी इच्छा होती है, जिससे सभी दु:खोंका अत्यन्ताभाव हो जाता है, वह परमार्थ-सुखके पूर्वोक्त साधन (वृत्ति, निष्ठा, श्रद्धा, मनन और विज्ञान)में प्रवृत्त होता है।

नारदने कहा—भगवन्! मैं परमार्थ-सुखकी विजिज्ञासा करता हूँ। अब सनत्कुमारने वर्णन किया—जो भूमा है, महान् है, जिससे बड़ा और कोई नहीं है, जिसमें देश-काल-वस्तु, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेदका कोई बन्धन नहीं है, वही सुख है।[31] उससे छोटी कक्षाके जो विकार हैं उनसे कुछ-न-कुछ बड़ा होता है। अतः वे अल्प हैं। अल्पमें सुख नहीं होता, क्योंकि अल्प-सुख तृष्णाकी वृद्धि करता है। तृष्णा दु:खका बीज है। अतः जिससे बड़ा कोई नहीं हो, वह भूमा ही सच्चा सुख है। भूमामें तृष्णादि दु:खके बीजोंकी संभावना ही नहीं है।

यह भूमा क्या है? लोक-व्यवहारमें अनुभवकी पद्धति यह है कि द्रष्टा दृश्यसे अलग होता है। वह (द्रष्टा) किसी और करणसे किसी और दृश्यको देखता है, सुनता है मनन करता है और जानता है। परन्तु भूमातत्त्वमें ऐसा नहीं होता। वहाँ कोई दूसरा दूसरे करणसे दूसरेको न देखता है, न मनन करता है, न जानता है:

यत्र नान्यत्पश्यति नान्यच्छृणोति नान्यद्विजानाति स भूमा।

(छां० ७.२४.१)

जहाँ कोई दूसरा दूसरे करणसे दूसरेको देखता है, सुनता है, जानता है वह अल्प है:

यत्र अन्यत्पश्यति अन्यच्छृणोति अन्यद्विजानाति तदल्पम्। (वही)

भूमा अमृत है, अल्प मरनेवाला है: **यो वै भूमा तदमृतम् अथ यदल्पं तन्मर्त्यम्।** यदि उसकी प्रतिष्ठा ढूँढो तो अपनी ही महिमामें है, उसको प्रतिष्ठित होनेके लिए भी किसीकी आवश्यकता नहीं है, वह प्रतिष्ठा-रहित आश्रयरहित है।[32]

अन्य अन्यमें प्रतिष्ठित होता है, परन्तु भूमाके अतिरिक्त तो कुछ और है ही नहीं। भूमा ही नीचे है, भूमा ही ऊपर है, वही पीछे है, वही सामने

३१. यो वै भूमा तत्सुखं नाल्पे सुखमस्ति। भूमैव सुखम्। भूमा त्वेव विजिज्ञासितव्य इति। (छां० ७.२३.१)

३२. स्वे महिम्नि यदि वा न महिम्नीति (छां० ७.२४.१)

है, वही बाँये है। 'इदम्'के रूपमें जो कुछ प्रतीत हो रहा है वह सब भूमा ही है : **स एवाधस्तात् स पश्चात् स उपरिष्ठात् स पुरस्तात् स दक्षिणतः स उत्तरतः स एवेदं सर्वमिति** (छां० ७.२५.१)

अच्छा तो 'वह' शब्दसे कहा जानेवाला भूमा जीवसे कुछ भिन्न है ? नहीं ; अतः अब अहंकारके द्वारा उसका आदेश, निर्देश, उपदेश किया जाता है : मैं ही नीचे हूँ, मैं ही ऊपर हूँ, मैं ही आगे, मैं ही पीछे ; मैं ही दाहिने, मैं ही बाँयें; मैं ही यह सब हूँ।

अथातोऽहंकारादेश एवं 'अहमेवाधस्तात् अहमुपरिष्ठात् अहं पश्चात् अहं पुरस्तात् अहं दक्षिणतः अहमुत्तरतः अहमेवेदं सर्वमिति। (छां० ७.२५.१)।

ठीक है, परन्तु अविवेकी जन इस हस्तपादादिमान् शरीरको ही 'मैं' कहते हैं। तो कोई वैसा ही न समझ ले, इसके लिए आत्मादेश किया जाता है। आत्मा ही नीचे, आत्मा ही ऊपर, आत्मा ही पीछे, आत्मा ही सामने, आत्मा दाहिने, आत्मा बाँये, आत्मा ही यह सब है :—

अथात आत्मादेश एव आत्मैवाधस्तात् आत्मोपरिष्ठात् आत्मा पश्चात् आत्मा पुरस्तात् आत्मा दक्षिणत आत्मोत्तरत आत्मैवेदं सर्वमिति (छां० ७.२५.२)।

वह एक अजन्मा आकाशवत् सर्वत्र परिपूर्ण, अन्यसे सर्वदा मुक्त है-- जो ऐसा अनुभव कर लेता है वह आत्मरति, आत्मक्रीड, आत्ममिथुन और आत्मानन्द हो जाता है। वह जीवनकालमें ही स्वराज्यपदपर अभिषिक्त हो जाता है। देह न रहनेपर भी स्वराट् हो जाता है।[33] जो लोग इस अनुभवसे वंचित हैं वे पराधीन और दुःखी हैं, वे अन्यराट् होते हैं।

सद्विद्यामें इस प्रकार प्रतिपादन किया गया था कि सद्वस्तुसे ही यह सृष्टि हुई थी और उपदेश किया गया था कि वह सद्वस्तु तुम हो। परन्तु जब आत्माकी ब्रह्मरूपताका साक्षात् अपरोक्ष अनुभव हो जाता है तब प्राण, आशा, स्मर, आकाश, तेज, जल, आविर्भाव, तिरोभाव, अन्न, बल, विज्ञान, ध्यान, चित्त, संकल्प, मन, वाक्, नाम, मंत्र, कर्म—ये सब अपने

---

३३. स वा एष एवं पश्यन्नेवं मन्वान एवं विजानन् आत्मरतिरात्मक्रीड आत्ममिथुन आत्मानन्दः, स स्वराड्भवति (छां० ७.२५.२)।

आत्मासे ही होते हैं। आत्मज्ञके लिए सारा व्यवहार आत्मरूप ही है। उसकी दृष्टिमें मृत्यु, रोग, दुःख नहीं हैं। द्रष्टा-दृश्यका विभाग भी नहीं है। वही एक, तीन, पाँच, सात, नौ, ग्यारह, सौ, हजार सब कुछ है।[34]

जिज्ञासुके जीवनमें देखना यह है कि वह अपनी इन्द्रिय एवं मनके द्वारा बाहरकी वस्तुओंसे क्या अपहरण करके अपने भवनमें स्थापित करता है; यही आहार है। यदि आहार शुद्ध है तो अन्तःकरण शुद्ध हो जाता है। शुद्ध अन्तःकरणमें ही आत्माका प्रकाश, स्फुरणा और प्रतिबिम्बन होता है। उसे देखकर हम पहचान लेते हैं कि हम क्या हैं। तब दृश्य वस्तुके साथ अपनी कोई ग्रंथि नहीं रहती।[35] देश, काल एवं वस्तुके बन्धन छूट जाते हैं। भौगोलिक, ऐतिहासिक आग्रह नहीं रहता। वस्तु एवं व्यक्तियोंमें ममता-मोह छूट जाता है। जब कोई दूसरी वस्तु ही नहीं है तो अपनेको बाँधना किससे, बन्धन क्या? इस प्रकार भगवान् सनत्कुमारने शुद्धान्तःकरण नारदको अज्ञानान्धकारसे पार कर दिया : **तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः** (छां० ७.२६.२)। वस्तुतः शोक अज्ञानका ही कार्य है। कारणके मिट जानेपर कार्यका क्या काम? सनत्कुमार ही साक्षात् भगवान् हैं।

(ग) चिद्-विद्या (दक्षिणाक्षिपुरुष-विद्या)

सद्विद्या और भूमविद्यामें इस सिद्धान्तका स्पष्टतः प्रतिपादन किया गया कि सत्तत्त्व, आत्मतत्त्व अथवा ब्रह्मतत्त्वमें किसी प्रकारका भेद-परिच्छेद नहीं है। विविध रीतिके परिच्छेदकी जो जातियाँ हैं उनके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित है ब्रह्मतत्त्व। ठीक है, परन्तु साधारण बुद्धिवाला मनुष्य भेदयुक्त वस्तुको ही ग्रहण करता है, वह परमार्थ ब्रह्मको ग्रहण करनेमें असमर्थ है। ऐसी स्थितिमें उसको परम पुरुषार्थ मोक्षकी प्राप्ति नहीं हो सकती। उसपर कृपा करनेके लिए वेद भगवान् हृदयकमलमें परमात्माके अन्वेषणका उपदेश करते हैं। यद्यपि आत्मतत्त्व सद्विषयक सम्यक् प्रत्ययसे ही जाना जाता है, क्योंकि वह निर्गुण है; तथापि मन्दबुद्धि पुरुष गुणवत्ताको ही अभीष्ट

---

३४. स एकधा भवति त्रिधा भवति पञ्चधा सप्तधा नवधा चैव (छां० ७.२६.२)।

३५. आहारशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः, स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः (छां० ७.२६.२)।

मानते हैं। अतः उपासनाके लिए उसमें सत्यकाम आदि गुणोंका प्रवचन भी अभीष्ट है। पुनः यद्यपि ब्रह्मवित् पुरुषोंकी मनोवृत्ति स्वयमेव विषयोंसे उपरत रहती है; तथापि अनादिकालीन जन्म-जन्मान्तरके विषय सेवनके अभ्याम-संस्कारोंके कारण विषय-तृष्णाको एकाएक निवृत्त नहीं किया जा सकता। अतः ब्रह्मचर्यादिरूप साधन-विशेषका भी विधान करना है। अन्तमें, आत्मवस्तुमें गमनागमन, गन्तव्यका अभाव ही है, तथापि जिनकी बुद्धिमें उनका संस्कार बैठा हुआ है उनकी गतिका वर्णन करके परमार्थ-सत्यको भी लखाना है। इन्हीं सब उद्देश्योंसे इस चिद्विद्याका आरम्भ किया गया है।

इस शरीरमें एक छोटा-सा कमल है। उसको हृदय-पुण्डरीक कहते हैं। यह ब्रह्मकी उपलब्धिका स्थान है, जैसे शालग्राम-शिला विष्णुका स्थान है। इस कमलमें जो आकाश है और उस आकाशके भीतर जो छिपा हुआ है उसका अन्वेषण करना चाहिए और उसकी जिज्ञासा करनी चाहिए।

भला इस नन्हें-से आन्तर आकाशमें ऐसी क्या वस्तु छिपी है? अच्छा तो सुनिये। यह बाहर जितना बड़ा आकाश है, उतना ही बड़ा आन्तर हृदयमें द्युलोक, पृथिवी, अग्नि, वायु, सूर्य, चन्द्रमा, विद्युत्, नक्षत्र सब समाये हुए हैं। मनुष्य इस लोकमें जिस वस्तुको आत्मीय रूपसे जानता है अथवा नहीं जानता है, जो उसके पास है अथवा नहीं है, वह सब इसी हृदय-पुण्डरीकसे अवच्छिन्न आकाशमें समाहित है।[३६] शरीरके नष्ट होनेपर भी यह छोटा-सा हृदयकमलाकाश नष्ट नहीं होता। इसमें जरा-मृत्युका प्रवेश नहीं है। इसमें सभी कामनाएँ भरपूर हैं। यह आत्मा है। इसमें पाप-पुण्यका प्रवेश नहीं है, जरा-मृत्यु, शोक, भूख-प्यास इसका स्पर्श नहीं कर सकते। यह सत्यकाम, सत्यसंकल्प है। सारी प्रजा अपनी कामनाओंकी पूर्तिके लिए इसी हृदयकमलमें प्रवेश करती है।

कामनाओंकी पूर्ति कर्मके अनुसार ही होती हैं, वे चाहे इस जन्मके हों या पूर्व जन्मके। अतः कामपूर्ति पराधीन है। जैसे इस लोकसे कर्म-संचित सुख क्षीण हो जाता है वैसे ही परलोकमें भी पुण्यसंचित लोक क्षीण हो

---

३६. यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितम्। (छां० ८.१.३)।

जाते हैं।[३७] अज्ञानके कारण जो कामनाओंकी पूर्तिके लिए इसमें प्रवेश करते हैं वे उन्हींमें आबद्ध हो जाते हैं, उनकी स्वतन्त्रता नष्ट हो जाती है। परन्तु जो आत्माके स्वरूपको शास्त्राचार्यके उपदेशके अनुसार स्वसंवेद्य बनाकर इसमें प्रवेश करते हैं वे स्वतन्त्र रूपसे उनमें विचरण कर सकते हैं। वे सत्यसंकल्प हो जाते हैं। वे जो चाहें सो उन्हें मिल सकता है। वे पिता, माता, भाई, बहिन, मित्र आदिके लोकमें जाना चाहें जा सकते हैं, उनसे मिलना चाहें मिल सकते हैं। सम्मान, भोग, सौख्य, स्त्री जो कुछ भी चाहें अपने संकल्पसे प्राप्त कर सकते हैं।

ये जो काम्यमान वस्तुएँ सत्य मालूम पड़ती हैं, वे असत्यके ढक्कनसे ढकी हुई हैं। वस्तुतः सत्य पदार्थ तो ब्रह्म ही है, परन्तु उन्हें पहचान नहीं है। वे सुवर्णकी खानपर ऊपर-ऊपर घूमते ही रह जाते हैं उन्हें सुवर्णकी प्राप्ति नहीं होती। हाय, हाय, यह प्रजा दिन-प्रतिदिन ब्रह्मलोकमें जाती है परन्तु पहचान नहीं पाती कि यह ब्रह्मलोक है, क्योंकि अनृतने उनका अपहरण कर लिया है।[३८] निश्चय ही यह आत्मा हृदयमें ही निवास करता है। हृदय शब्दकी निरुक्ति ही यही है—'हृदि अयम्'। परमात्मा हृदयमें रहता है। यह ज्ञान ही परमसुखकी कुञ्जी है।

जो विवेकके द्वारा इस शरीरस्थ हृदय और हृदयावच्छिन्न अवकाशमें अपनेको अलग करके जान लेता है वह अपने स्वरूपमें स्थित हो जाता है। वह स्वरूप क्या है? अमृत है। अविनाशी भूमा ही अमृत है, अभय है क्योंकि दूसरा कोई है ही नहीं। इसी ब्रह्मका नाम सत्य है।

यह आत्मा सेतु एवं विधृति है। यदि यह विश्वको धारण न करता तो सम्पूर्ण विश्व नष्ट ही हो जाता। सब वस्तुओं, कारकों और क्रिया-कलापोंकी यही सीमा है। इसको काल, जरा, मृत्यु, शोक, सुकृत-दुष्कृत अपना विषय नहीं बना सकते। कोई भी कार्य अपने कारणका अतिक्रमण

---

३७. तद्यथेह कर्मजितो लोकः क्षीयत एवमेवामुत्र पुण्यजितो लोकः क्षीयते। (छां० ८.१.६)

३८. तद्यथापि हिरण्यनिधिं निहितमक्षेत्रज्ञा उपर्युपरि संचरन्तो न विन्देयुरेवमेवेमाः सर्वाः प्रजा अहरहर्गच्छन्त्य एतं ब्रह्मलोकं न विन्दन्ति। अनृतेन हि प्रत्यूढाः। (छां० ८.३.२)

नहीं कर सकता। पूर्वोक्त सभी पदार्थ सत्‌के कार्य हैं। दूसरा दूसरेको प्राप्त करता है या अतिक्रमण करता है। घट मृत्तिकाको न तो प्राप्त करता है, न अतिक्रमण करता है। चाहे नाम लिया हो या न लिया हो वे सब पाप्मा हैं और सत्‌को प्राप्त किये बिना लौट आते हैं। यही आत्मा है। यही ब्रह्मरूप लोक है। इसके मिलनेपर देह-दृष्टिसे अन्धा भी अन्धा नहीं रहता, विद्ध अविद्ध हो जाता है, दुःखी सुखी हो जाता है। इसकी प्राप्तिसे रात भी दिन हो जाती है। यह आत्मा सदा प्रकाशमान है, ब्रह्म है।

इसकी प्राप्तिके लिए ब्रह्मचर्यकी साधना है। ब्रह्मचर्यका एक नाम 'यज्ञ' है। य + ज्ञ। इसका अर्थ है जो ज्ञाता है वही आत्मा है। इष्ट भी ब्रह्मचर्य ही है। इसीसे ईश्वरकी उपासना होती है। आत्मविषयक एषणा ही इष्ट है। सत्रायण (सत्संग) ब्रह्मचर्य है, मौन ब्रह्मचर्य है क्योंकि उसमें मनन होता है। अनाशकायण (तप) ब्रह्मचर्य है क्योंकि वह अविनाशी होता है। अरण्यायण भी ब्रह्मचर्य है। ये सब परमात्माकी प्राप्तिमें साधन होते हैं।

प्रश्न यह है कि ब्रह्मलोकके पदार्थ किस प्रकृतिके हैं—इसी लोकके समान मिट्टी, पानीसे बने होते हैं या मानस-प्रत्ययरूप होते हैं? वे जाग्रत्‌के समान सच्चे हैं या मनोमय? इसमें मानस आकारकी कल्पना ही युक्त है। मानस देहका सम्बन्ध ही वहाँ युक्तियुक्त हो सकता है। स्वप्नमें स्त्री-पुत्रादिके जितने आकार दिखायी देते हैं वे सब मानस प्रत्यय ही होते हैं। तब क्या ब्रह्मलोकके पदार्थ स्वप्नके समान मिथ्या हैं? श्रुतिका कथन है कि वहाँके कामोपभोग सत्य होते हैं। यह विरोध कैसे दूर हो? मानस प्रत्यय भी सत्त्वात्मक ही होते हैं। स्वप्नके सारे आकार जाग्रत्‌कालीन वासनाके अनुरूप होते हैं, यह कहना तो छोटी-सी बात है। जाग्रत्‌के विषय भी मानस-प्रत्ययोंसे ही बनते हैं। सद्वस्तुके ईक्षणसे तेज, जल और अन्न बनते हैं और सारे विषय इन्हींके विलास हैं। सब लोकोंका मूल संकल्प है। द्यावा-पृथिवीकी कल्पना होती है। प्रत्यगात्मासे ही उत्पत्ति, प्रलय और स्थिति होते हैं। वस्तुतः बाह्य और मानसमें कोई भेद नहीं है। लौकिक, पारलौकिक सत्त्व एक-सा ही होता है। सच पूछो तो अध्यस्तकी आत्मा अधिष्ठान ही है। अधिष्ठानके तादात्म्यसे ही अध्यस्तका स्फुरण होता है। अतः दृश्यमान वस्तुओंमें सत् तो है ही। वे आकाररूपसे मिथ्या

हैं, सन्मात्ररूपसे सत्य हैं। अतः ब्रह्मलोकका गमनागमन भी अधिष्ठानकी सत्तासे सत्य होनेके कारण श्रौत ही है। उस गमनागमनमें जो आत्मा है वह पाप-पुण्य, जरा-मृत्युसे मुक्त है। उसमें शोक, भूख, प्यास नहीं हैं। वह सत्यकाम है, सत्य-संकल्प है। जीवनमें वही अन्वेषणीय है और जिज्ञास्य है। जो उसको जान लेता है उसको कुछ भी अप्राप्त नहीं रहता।[३९]

यह है प्रजापतिका व्याख्यान। इस व्याख्यानको देवता और असुर दोनोंने सुना और समझा। उन्होंने कहा—अहो! हम इस आत्माको प्राप्त करेंगे क्योंकि इसके प्राप्त हो जानेपर सब लोक और सब कामनाएँ प्राप्त हो जाती हैं। देवताओंके राजा इन्द्र और असुरोंके राजा विरोचन दोनों प्रजापतिके पास उपस्थित हुए। उन दोनोंने आपसमें कोई सलाह नहीं की थी, किन्तु ब्रह्मविद्याका फल प्राप्त करनेमें दोनोंमें ईर्ष्या थी। राज्य छोड़कर दोनों ही समित्पाणि होकर गुरुके शरणागत हुए। इससे स्पष्ट है कि देवताओं और असुरोंके राज्यसे भी अधिक महत्त्वपूर्ण है यह ब्रह्मविद्या।

इन्द्र और विरोचन दोनों ही ३२ वर्षतक ब्रह्मचर्यका पालन करके प्रजापतिकी सेवामें संलग्न रहे। तब जाकर प्रजापतिने उनसे पूछा कि तुमलोग किस इच्छासे मेरे पास रह रहे हो? दोनोंने निवेदन किया कि हमने आपका वह व्याख्यान सुना था जिसके अनुसार आत्मानुसन्धान और आत्मजिज्ञासासे सब लोकों और कामनाओंकी प्राप्ति हो जाती है। हम उसी आत्मविज्ञानके लिए यहाँ उपस्थित हुए हैं।

प्रजापतिने दोनोंसे कहा—'यह जो नेत्रमें पुरुष दीखता है वह द्रष्टा आत्मा है।[४०] आँखके भीतरसे यही झाँक रहा है। यही अमृत है, अभय है। यही ब्रह्म है।

दोनोंने कहा—जो आँखोंमें दीखता है वही जलमें दीखता है, वही शीशेमें दीखता है। भगवन्, इनमें-से वह आत्मा कौन है? प्रजापतिने कहा— सभीमें, अन्तमें और मध्यमें वही प्रकट हो रहा है।

---

३९. य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसंकल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः। (छां ८.७.१)

४०. य एषोऽक्षिणि पुरुषो दृश्यत एष आत्मा..........एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म। (छां ८.७.४)

प्रजापतिने जान लिया कि मैंने तो चक्षुसे उपलक्षित द्रष्टाको ब्रह्म कहा था परन्तु इन्होंने अन्यथा ग्रहण किया है। जो नेत्रके पीछे रहकर नेत्रमें देखता है उसको इन्होंने नेत्रके सामने छायारूपमें ग्रहण कर लिया है। फिर भी उन्होंने उनके भ्रमको तुरन्त दूर नहीं किया क्योंकि वे दोनों जिज्ञासु अपनेमें पाण्डित्य, महत्त्व और बोद्धापनका अध्यारोप किये हुए थे और यदि वे इन्हें मूर्ख या विपरीतग्राही कहते तो इनको मनमें दुःख होता और जिज्ञासामें ही बाधा पड़ सकती थी। अतः उन्होंने सोचा कि इनके भ्रमको प्रयोगात्मक शैलीसे दूर करूँ।

प्रजापतिने आज्ञा की— तुम लोग जलभरे पात्रमें अपनेको देखो। यदि वहाँ अपनेको न पहचान सको तो फिर मुझसे कहो। उन्होंने ऐसा ही किया और प्रजापतिके पूछनेपर कह दिया—भगवन्! हम पूर्णरूपसे अपने आपको देख रहे हैं। यह हमारा ही प्रतिरूप है। प्रजापतिके कहनेपर उन्होंने वस्त्राभूषण धारण करके देखा और प्रजापतिके पूछनेपर उन्होंने कहा कि हम लोगोंने अपनेको वस्त्रालङ्कारधारीके रूपमें ठीक-ठीक देख लिया। प्रजापतिने कहा—ठीक है, जिस प्रतिबिम्बको तुम देख रहे हो, उसका बिम्ब अमृत है, अभय है, ब्रह्म है।

दोनोंको ऐसा लगा कि हमने आत्माको जान लिया। वे सन्तुष्ट-हृदय कृतार्थ होकर वहाँसे लौट पड़े। प्रजापतिने विचार किया कि इन्होंने आत्माका ज्ञान प्राप्त किये बिना ही अपनेको कृतार्थ मान लिया तो देवता, असुर इनको पराजित कर देंगे।

विरोचन सन्तुष्ट हृदयसे असुरोंके पास गया और कहने लगा— प्रजापतिकी सेवा करके मैंने यह आत्मज्ञान प्राप्त किया है कि यह शरीर ही आत्मा है, इसीको महान् बनाना चाहिए और इसकी सेवासे ही लोक-परलोककी प्राप्ति होती है। आज भी यह विरोचन-सम्प्रदाय जीवित है। यह आसुरी सम्प्रदाय है जिसमें दान, श्रद्धा, यज्ञ नहीं है। इसमें मुर्देके शरीरको वस्त्रालङ्कारसे सजाते हैं और ऐसा मानते हैं कि इसीसे परलोकपर विजय प्राप्त होगी।

इन्द्र देवलोकमें नहीं गये। मार्गमें उन्हें विचारका उदय हुआ। यह तो शरीरकी छाया है। जैसा वस्त्रालंकार हो वैसा ही दिखता है। शरीर अन्धा हो, काना हो, कटा-पीटा हो तो छाया भी वैसी ही होती है।

शरीरके मर जानेपर यह भी मर जायेगी। घरसे चले थे राज्यसुख, भोग छोड़कर सर्वलोक और सर्वकामकी प्राप्तिके लिए परन्तु यहाँ तो कुछ हाथ नहीं लगा! आत्मज्ञानका फल तो दृष्ट है, इसी जीवनमें है, छायाको आत्मा मान लेनेपर क्या फल मिला? वे फिर श्रद्धाके साथ समित्पाणि होकर प्रजापतिकी शरणमें आगया। प्रजापतिके पूछनेपर उसने कहा कि मुझे तो इस ज्ञानसे कुछ नहीं मिला। प्रजापतिने कहा—तुम ठीक कह रहे हो। इन्द्र! तुम ३२ वर्ष और ब्रह्मचर्यका पालन करो। इन्द्रने वही किया।

प्रजापतिने समझाया, जाग्रत शरीर आत्मा नहीं हो सकता। इसीकी छाया दीखती है। यह पैदा हुआ है, मरेगा। तुम इससे अलग हो। देखो! जो इस शरीरसे पृथक् होकर स्वप्नमें अपनी महिमा प्रकट करता है (वहाँ स्रक्-चन्दन-वनितादि भोग प्राप्त होते हैं), वह जाग्रत्स्थान स्थूल शरीरसे अलग स्वप्न-स्थान आत्मा है, वही अमृत, अभय ब्रह्म है।[४१]

इन्द्र वहाँसे सन्तुष्ट होकर चला तो सही, परन्तु मार्गमें उसे विवेकका उदय हुआ। उसे स्वप्न-द्रष्टाको आत्मा माननेमें कई दोष दिखाई पड़ने लगे। स्वप्न-स्थान पुरुषमें जाग्रत्-स्थान पुरुषके दोष तो नहीं जाते तथा जाग्रत देहके दोष भी उसको नहीं लगते, परन्तु फिर भी स्वप्न-पुरुषको स्वप्नमें मार देते हैं, ढक देते हैं, अप्रिय होता है, रोना भी पड़ता है, फिर स्वप्नात्मा होनेसे क्या लाभ हुआ? इसमें तो कुछ भी भोग्य सुख नहीं मिला। हमको परलोकका सुख नहीं चाहिए, हमें तो तत्काल आत्मसुख चाहिए। इन्द्रने पुनः लौटकर प्रजापतिसे निवेदन किया—महाराज! आपने तो अमृत, अभय ब्रह्मका उपदेश किया था परन्तु स्वप्नात्मामें तो कहीं भी अमृत-अभयका अनुभव नहीं होता। प्रजापतिने कहा—बत्तीस बरस और ब्रह्मचर्यका पालन करो। इन्द्रने वैसा ही किया।

अवधिके अन्तमें प्रजापतिने कहा—इन्द्र! वस्तुतः जो आँखोंमें द्रष्टा रहता है वह आँखोंसे निराला है। वाम और दक्षिण दो नेत्र-गोलक हैं। देखनेकी शक्ति एक ही नेत्रेन्द्रिय है। बाहरकी सृष्टि नेत्रेन्द्रियके द्वारा दीखती है। परन्तु स्वप्नमें बाहरी इन्द्रिय न रहनेपर भी मन अपनी माया

---

४१. य एष स्वप्ने महीयमानश्चरित एष आत्मा ...... तदमृतमभयमेतद् ब्रह्म।
(छां० ८.१०.१)

फैला देता है और यह अपने ही प्रपंचको देखता है। परन्तु जब यह पूरी तरह सो जाता है सम्प्रसन्न, तब वहाँ न तो कोई दृश्य है, न वासना, न विक्षेप है, न व्यक्तित्वका भान ! स्वप्नमें जाग्रत् भूल जाता है और सुषुप्तिमें जाग्रत् और स्वप्न दोनों भूल जाते हैं। जो सुषुप्तिकी भाँति कुछ नहीं जानता, माने किसीको भी मैं-मेरा नहीं कहता-करता, वह आत्मा है, वही अमृत, अभय ब्रह्म है।[४२]

इन्द्र यह सुनकर शान्तचित्त होकर चल पड़े; परन्तु मार्गमें फिर विवेक उदय हुआ। वे सोचने लगे, यह क्या आत्मा है ? यह अमृत अभय कैसे हो सकता है ? सुसुप्तिकालमें तो यह न अपनेको जानता है कि यह मैं हूँ और न जाग्रत-स्वप्नमें दीखनेवाले भूतोंको ही जानता है। यह तो उस समय मानों विनाशमें ही लीन हो जाता है। यदि ज्ञान होता तो ज्ञाताके सद्-भावका तो अधिगम होता ही ! ऐसा लगता है कि प्रजापतिके उपदेशका मुझे ठीक-ठीक ग्रहण अभी नहीं हुआ है। इन्द्र लौट पड़े और प्रजापतिसे निवेदन किया। इन्द्रके त्याग, वैराग्य, विवेक, श्रद्धा और तीव्र जिज्ञासाको देखकर प्रजापति बहुत प्रसन्न हुए।

प्रजापति बोले --इन्द्र, सच है ! सुषुप्ति दशामें कुछ भी अमृत अभय नहीं है। वहाँ न कोई सुख है न ज्ञान है। वह सच्चिदानन्द आत्मा कैसे हो सकती है ? पाँच बरस और ब्रह्मचर्यका पालन करो। इन्द्रने वैसा ही किया। तब उससे प्रजापतिने इस प्रकार कहा—

"इन्द्र ! यह शरीर मरणधर्मा है, जीर्ण-शीर्ण हो रहा है। यह क्षण-क्षण छीज रहा है और मृत्यु इसको ग्रस रही है। इसीमें इन्द्रिय और मन निवास करते हैं।[४३] तुमने तीन अवस्थाएँ देखी हैं—जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति। ये तीनों परस्पर विलक्षण हैं। एकसे दूसरी अवस्था अलग होती है जाग्रत् और स्वप्नके देश, काल और पदार्थ अलग-अलग होते हैं। स्वप्नमें मित्र मिले तो वह जाग्रत्में मिलनेकी हाँ नहीं कर सकता। धन, भवन, मरण, जीवन, अपना शरीर सब कुछ पृथक्-पृथक् ही होते हैं। जाग्रत्के

---

४२. तद्यत्रैतत् सुप्तः समस्तः सम्प्रसन्नः स्वप्नं न विजानाति एष आत्मा ·· एतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म। (छां० ८.११.१)

४३. मघवन् मर्त्यं वा इदं शरीरमात्तं मृत्युना तदस्यामृतस्याशरीरस्यात्मनोऽधिष्ठानम्। (छां० ८.१२.१)

पृथिवी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, द्युलोक, सूर्य, चन्द्रमा स्वप्नमें नहीं होते और स्वप्नके जाग्रत्में नहीं होते। इनसे बने विकार और कर्म और ज्ञानके करण भी सब विलक्षण ही होते हैं। सुषुप्तिमें यह सब नहीं होता। वहाँ माता-पिता, पति-पत्नी, देवता-देव, पाप-पुण्य, सुख-दुःख, राग-द्वेष, ममता-अहिंसा कुछ नहीं रहते। इसका अर्थ है कि ये सब अवस्थाओंके विकार हैं। यह प्रपंचकी योजनों लम्बाई-चौड़ाई, युग, मन्वन्तर, कल्प, काल और वस्तुओंका वैविध्य सचमुच मनोविलास ही है क्योंकि मनके न रहनेपर या सो जानेपर ये सब नहीं रहते, या सो जाते हैं। परन्तु एक वस्तु ऐसी है जो इन तीनों शरीरोंमें और तीनों अवस्थाओंमें एक-सी रहती है। अवस्थाओंके बदलनेसे वह नहीं बदलती, उनके अज्ञात होनेसे वह अज्ञात नहीं होती। वही है अपना शुद्ध आत्मा। यह अमृत है, अशरीर है। उसकी उपलब्धिका स्थान है यह शरीर। वही इसमें जीवरूपसे तादात्म्य करके अवस्थाओंको और उनके गुणधर्मोंको अपनेमें आरोपित कर लेता है। जब वह अपनेको शरीरधारी रूपमें मानने लगता है तो शरीरके प्रियको अपना प्रिय और शरीरके अप्रियको अपना अप्रिय मानने लगता है। जब आत्मा अनित्य, मृत्युग्रस्त, धर्माधर्म हेतुक, प्रियाप्रिययुक्त शरीरको अपना मान बैठता है, अविवेकसे अहं कर लेता है, तब वह शरीरधारी हो जाता है। मैं ही शरीर हूँ तब शरीरकी मृत्यु, मूर्खताएँ और दुःख अपने हो गये। ऐसी स्थितिमें प्रिय-अप्रियके संयोग-वियोगसे होनेवाले मैं-मेरा, सुख-दुःख, इनका विनाश नहीं हो पाता। जब वह अपनेको अशरीररूपसे जान लेता है तब अविवेककी निवृत्ति हो जानेसे अशरीर हो जाता है और फिर प्रिय-अप्रिय इसका स्पर्श नहीं करते।[४४]

प्रश्न यह है कि यदि प्रियता भी अशरीर आत्माका स्पर्श नहीं करती तब तो यह भी सुषुप्ति जैसी स्थिति हो गयी, विनाशकी प्राप्ति! परन्तु ऐसी बात नहीं है। प्रिय-अप्रिय धर्माधर्मसे उत्पन्न होते हैं और शरीरसे आकर जुड़ते हैं। अशरीर आत्मामें न धर्माधर्म है, न प्रिय-अप्रिय, न संयोग-वियोग। अतः उन्हींका यहाँ निषेध किया गया है। अपने स्वरूपभूत आनन्दका निषेध नहीं है। 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' अथवा 'आनन्दो ब्रह्म'

---

४४ आत्तो वै सशरीरः प्रियाप्रियाभ्यां। न ह वै सशरीरस्य सतः प्रियाप्रिययोरपहतिरस्ति। अशरीरं वाव सन्तं न प्रियाप्रिये स्पृशतः। (छां० ८.१२.१)

इसका निषेध नहीं है। यह तो अशरीर आत्मा ही है। सातवें अध्यायमें 'भूमा ही सुख है' कहा ही है।

एक विचारणीय प्रश्न यह भी है कि इन्द्र तो कोई निर्विशेष वस्तु चाहते नहीं थे। वे तो ऐसी वस्तु चाहते हैं जो अपनेको जानता है कि 'मैं यह हूँ' साथ ही दूसरेको जानता है कि यह भूत है। इन्द्र केवल विनाश-दशाको नहीं चाहते, वे कोई भोग्य दृष्ट सुख चाहते हैं जैसे उनके इस वाक्यसे पता चलता है : नाहमत्र भोग्यं पश्यामि। उन्होंने तो सुना है कि ज्ञान होनेपर अप्रियका स्पर्श नहीं होता और सर्वलोक-सर्वकामकी प्राप्ति हो जाती है। फिर प्रजापति निर्विशेष वस्तुका उपदेश क्यों करते हैं?

इसका उत्तर यह है कि प्रजापति सद्गुरु हैं, इन्द्रके परम हितैषी हैं। इन्द्र जो समझता है और चाहता है उसीमें उसका हित नहीं है। आत्मा आकाशके समान अशरीर है, वह सर्वभूत, सर्वलोक और सर्वकामकी आत्मा है। उसीकी प्राप्ति पूर्ण हितकी प्राप्ति है। इसी अभिप्रायसे वे इन्द्रको निर्विशेष आत्माका उपदेश करते हैं। जैसे एक राजाको राज्यकी प्राप्ति होती है वैसे आत्मज्ञानीको अन्यरूपसे लोक एवं भोगकी प्राप्ति नहीं होती। श्रुति स्पष्ट कहती है कि कौन किसके द्वारा जानेगा (केन कं पश्येत्), अर्थात् आत्मामें ज्ञाता, ज्ञान-करण और ज्ञेयकी त्रिपुटी नहीं है। फिर 'ये भूत और इनका ज्ञाता मैं', ऐसा उपदेश कैसे होगा?

प्रश्न : श्रुतिका तो कहना है कि ज्ञानी पुरुष खाता हुआ, खेलता हुआ स्त्रियोंके साथ रहता हुआ, वाहनोंपर चलता हुआ भी मुक्त ही रहता है, उसके संकल्प पूरे होते हैं, वह अनेक रूप हो सकता है[४५] इत्यादि। ऐश्वर्य-प्रतिपादक श्रुतियोंकी संगति कैसे बैठायी जाय?

उत्तर : सर्वात्माका सब फलोंके साथ सम्बन्धयुक्त हो है। जैसे सभी घड़े, करवे और कुण्डे मृत्तिकाको प्राप्त ही हैं वैसे हो सर्वात्माको सब कुछ प्राप्त ही है। फिर तो सब दुःख भी आत्माको प्राप्त ही हैं? होने दो! वे भी तो अपने आत्मा ही हैं, उनसे क्या विरोध? वस्तुतः दुःख आत्मामें अविद्यासे कल्पित हैं। जैसे कल्पना-निमित्तक सर्प रज्जुमें होता है, वैसे जब अविद्या ही नष्ट हो गयी तो दुःखका कारण ही निवृत्त हो गया, अब

---

४५. जक्षत् क्रीडन् रममाणः स्त्रीभिर्वा यानैर्वा ज्ञातिभिर्वा नोपजनं स्मरन्निदं शरीरम् (छा० ८.१२.३)।

दुःखका सम्बन्ध कहाँ है ? दुःख जीवकी सृष्टि है, यह ईश्वर-सृष्टि नहीं है। शुद्ध-सत्त्वकी उपाधिके द्वारा ईश्वर ही मानव-भोगोंकी सृष्टि और सबके शरीरोंमें रहकर उपभोग करता है। अविद्याकृत सारी कल्पना-जल्पनाका विषय भी आत्मा-परमात्मा ही है; दूसरा कोई नहीं, यह वेदान्तका सिद्धान्त है।

प्रजापतिको करना था ब्रह्मोपदेश, परन्तु उन्होंने छायात्मा, स्वप्नात्मा और सुषुप्तात्माका पहले उपदेश किया। क्यों ? यदि सीधे ही ब्रह्मोपदेश करते तो बाह्यविषयासक्त पुरुषके लिए व्यामोहकी सम्भावना थी। अतः क्रम-क्रमसे वस्तुका साक्षात्कार कराया। जैसे कोई द्वितीयाके चन्द्रमाको दिखाना चाहे और उँगली उठाकर दिखावे कि देखो ! यह है चन्द्रमा। पहले पर्वतका शिखर दिखावे, फिर वृक्षकी शाखा दिखावे फिर उससे 'दो हाथ' ऊपर चन्द्रमा दिखावे। इसी प्रकार प्रजापति आत्मदर्शन कराते हैं। वह चतुर्थ उपदेशमें इस परिच्छिन्न त्रिविध शरीरसे ऊपर उठकर अपनेको अशरीर ज्योतिस्वरूप जान लेता है। इसी उत्तम पुरुषमें भोजन, क्रीडा, रमण सब होता है। यह उत्तम पुरुष है। यह भी तो ध्यान कीजिये कि सभी अवस्थाओंका वर्णन करते समय प्रजापति आत्माको अमृत अभय कहते हैं। प्रजापतिका वेश धारण करके श्रुति ही बोल रही है, वह सर्वथा सत्य है, उसे कुतर्कके द्वारा मिथ्या नहीं किया जा सकता क्योंकि श्रुतिसे बढ़कर और कोई प्रमाण नहीं है। यदि कहो कि 'यह दुःख है, यह अप्रिय है' यह भी तो प्रत्यक्ष ज्ञात होता है, तो होने दो। जैसे व्यवहार-कालमें यह जानने पर भी कि मैं अब अजर, अमर हूँ, यह प्रत्यक्ष मालूम पड़ता है कि मैं बूढ़ा हूँ, मैं गोरा, काला इत्यादि हूँ, वैसे ही सुख-दुःखादि उपाधिके धर्म हैं और भासित होते हैं। आभास-धर्म यथार्थ धर्मके बाधक नहीं हैं।

श्रुतिने जो कुछ कहा है वह सर्वथा सत्य है, फिर भी अभी इसका अनुभव बहुत कठिन है। इन्द्र अपनेको न जानकर कहते हैं कि सुषुप्तिमें तो विनाश ही है। विरोचन देह-मात्रको ही आत्मा समझकर लौट गये। इन्द्रने जिसे विनाश और भयके सागरके रूपमें देखा था उसीमें बौद्ध डूबकर रह गये कि शून्य ही है। सांख्योंने देहादिसे विलक्षण द्रष्टाको जाना, फिर भी श्रुति-प्रामाण्यका परित्याग कर देनेके कारण द्वैत-दर्शनमें ही रह गये। जहाँ द्वैत है, वहाँ मृत्यु है। वैशेषिक, न्याय आदि दार्शनिकोंने ऐसा समझ लिया

कि आत्मद्रव्यमें नौ गुणोंका रंग लगा हुआ है, उसे धो-पोंछकर साफ करना चाहिए। कर्म-काण्डियोंका चित्त भी बाह्य विषयोंने हर लिया है; वे वेदको प्रमाण तो मानते हैं परन्तु परमार्थ सत्य ब्रह्मात्मैक्यको विनाशके समान मानते हैं और ऊपर-नीचेके गमनागमनके चक्करमें भटकते रहते हैं। ऐसी स्थितिमें यदि दूसरे क्षुद्र प्राणी इस ब्रह्मात्मैक्यको अनुभव नहीं कर पाते तो कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।

संसारमें कितनी ही ऐसी वस्तुएँ हैं, वायु, मेघ, विद्युत्-गर्जना आदि जो पहले अशरीर होते हैं, बीचमें शरीरधारी होकर चमकते हैं, परन्तु पुनः अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाते हैं। इसी प्रकार यह आत्मदेव जब देहाभिमानसे मुक्त हो जाते हैं तब परमात्मासे एक होकर अपने स्वरूपमें स्थित हो जाते हैं। यही यह पुरुष उत्तम पुरुषकी संज्ञा प्राप्त करता है। अब उसका शरीर क्या कर रहा है, कहाँ है, खाना-खेलना, स्त्रियोंमें, वाहनोंमें, लोगोंमें रहना, इन सब बातोंपर उसका ध्यान नहीं जाता। मन कहीं जाये, तन कहीं जाये, वह ब्रह्म है। उसको शरीर और मनको कहीं रखनेके कर्त्तव्यसे कोई प्रयोजन नहीं है। जैसे घोड़े या बैलको गाड़ीमें जोड़ देते हैं उसी प्रकार इस पंचवृत्ति प्राणको इस शरीररूपी गाड़ीमें जोड़ दिया गया है। इस शरीरमें मन, बुद्धि, इन्द्रियाँ रहती हैं। वह विज्ञानशक्ति और क्रियाशक्तिसे एक हो गया है। जबतक उनके पूर्वकर्मोंका फल है तबतक उसको प्राप्त करता रहता है। उसी प्रमाताका एक देश है नेत्रेन्द्रिय, जिससे रूपकी उपलब्धि होती है। इसमें जो काली पुतली है—तारा है, उसका आकाश आत्मासे अभिन्न है। वही देखता है, सूँघता है, बोलता है, सुनता है, मनन करता है।[४६] मन ही दिव्य दृष्टि है। इसीके द्वारा वह सारे लोक और भोगोंको भोग लेता है।[४७] इन्हीं उपाधियोंमें जो ज्ञाता है वह इनसे विलक्षण, साक्षात् अद्वितीय ब्रह्म है। उसमें द्वैतात्मक प्रपंच बिना हुए ही आभासमात्र प्रतीत हो रहा है। प्रजापतिने इन्द्रको इसी द्रष्टाको पुनः पुनः अमृत, अभय ब्रह्म बताकर अपने उपदेशका उपसंहार किया।

---

४६. अथ यत्रैतदाकाशमनुविषण्णं चक्षुः स चाक्षुषः पुरुषो दर्शनाय चक्षुः। अथ यो वेदेदं जिघ्राणीति स आत्मा....। (छां० ८.१२.४)

४७. अथ यो वेदेदं मन्वानीति स आत्मा। मनोऽस्य दैवं चक्षुः। स वा एष एतेन दैवेन चक्षुषा मनसैतान् कामान् पश्यन् रमते। (छां० ८.१२.५)

सद्-विद्या मनुष्य-लोकका संवाद है, तो भूमविद्या ऋषिलोकका और दक्षिणाक्षिविद्या ब्रह्मलोकका। सद्विद्याका अधिकारी अभिमान-दोषसे ग्रस्त है। भूमविद्याका शोक-दोषसे और चिद्विद्याका भोग और कामकी वासनासे। तीनोंको ब्रह्मविद्याका उपदेश है। सद्विद्यामें सूक्ष्म (कारण)से स्थूल (कार्य)की ओर बुद्धिको लगाया है। भूमविद्यामें स्थूल (नाम)से सूक्ष्म (भूमा)की ओर बुद्धिका प्रवाह है। किन्तु चिद्विद्यामें स्थूल-सूक्ष्म जैसा कोई विचार नहीं है, वहाँ तो वर्तमानमें अनुभूयमान अवस्थाओं (जाग्रत्, स्वप्न, सुषुप्ति)के द्वारा ही तीनोंमें अनुगत एक अद्वितीय पुरुषकी पहचान है। जाग्रत्-सृष्टि समष्टि है, स्वप्न-सृष्टि समष्टि है; सुषुप्तिमें दोनोंका बीज है परन्तु दोनोंका भान नहीं है। पुरुष एक ही चेतन है, वही दक्षिणाक्षिके द्वारा उपलक्षित है।

विचार करके देखें तो ज्ञात होगा कि अत्यन्त अबाध्य होनेके कारण चिद्वस्तु ही सत्य है। सर्वरूपमें स्फुरणशील होनेके कारण सद्वस्तु ही चित् है और सर्वविध उपद्रवसे मुक्त होनेके कारण सत्-चित् ही आनन्द है। यदि यह सच्चिदानन्द आत्मासे अभिन्न नहीं होंगे तो इनका अपरोक्ष साक्षात्कार कभी नहीं हो सकेगा, केवल परोक्ष, कल्पनामात्र ही होंगे। यदि सच्चिदानन्दसे आत्मा अभिन्न नहीं होगा तो वह असत्-जड़-दुःखरूप होगा। किन्तु आत्माका असत्-जड़ होना सर्वथा अनुभवके विरुद्ध है तथा इसकी परमप्रेमास्पदता भी अनुभवगोचर ही है। अतः आत्मा ही सच्चिदानन्द ब्रह्म है। देश-कालका आदि-अन्त ब्रह्मरूपमें सर्वदा अज्ञात ही रहेगा। उनकी गोदमें निरन्तर बनती-बिगड़ती वस्तुओंका भी, उनका आदि-अन्त-संख्या भी अज्ञात ही रहेगी। यह सृष्टि अपने स्वरूपके अज्ञानसे ही पृथक् सत्यके रूपमें प्रतीत हो रही है। आत्मा अद्वितीय है, ब्रह्म है। यही अमृत, मृत्यु और उसकी कल्पनासे मुक्त है क्योंकि इसका न कभी अभाव था, न होगा। इसके अभावकी कल्पना कोई भले ही करे, उस अभावका अनुभव नहीं कर सकता। यह अभय है। जब दूसरा कुछ है ही नहीं तो भय किससे? यह आत्मा ही ब्रह्म है। एतद् ब्रह्म।

प्रजापतिके उपदेशसे इन्द्रका अज्ञान दूर हो गया और वह एश्वर्य-अनैश्वर्य, कर्म-अकर्म, सृष्टि-प्रलय, जाग्रत्-सुषुप्ति सबमें एकरस हो गया। अब किसी भी अवस्था, स्थिति, वस्तुओंके गमनागमन, क्रिया-विक्रिया, फलाफलमें वह अपने स्वरूपसे प्रच्युत नहीं हो सकता था।

इन तीनों विद्याओंसे ब्रह्मविद्याका निरुत्तर एवं निरतिशय उत्कर्ष सिद्ध होता है।

३. बृहदारण्यकोपनिषद् (यजुर्वेद)

(क याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद (मैत्रेयी ब्राह्मण)

महर्षि याज्ञवल्क्य गृहस्थाश्रम छोड़कर संन्यासाश्रममें प्रवेश करना चाहते हैं। उनकी दो पत्नियाँ थीं—मैत्रेयी और कात्यायनी। महर्षिने मैत्रेयीसे कहा—आओ, तुम्हारी धनसम्पदाका विभाजन कर दें। मैत्रेयी धनार्थिनी नहीं थी।. वह अमृतत्वकी लालसासे पूर्ण थी। उसने प्रश्न किया—यदि सारी सम्पदा मुझे मिल जायेगी तो क्या मैं अमृत अर्थात् मुक्त हो जाऊँगी ? याज्ञवल्क्यने कहा—नहीं, जैसा धनसम्पन्न मनुष्योंका जीवन होता है वैसा ही तेरा जीवन हो जायेगा। धनसम्पदासे अमृतत्वकी प्राप्तिकी आशा नहीं है।[४८] अमृतत्व कर्मका फल नहीं है। अमृतत्व सिद्ध वस्तु है और वह केवल ज्ञानसे मिलता है। कर्ममें सामग्री, सहायक करण, अधिकार, कर्तृत्व आदिकी अपेक्षा होती है। ये सब ज्ञानके विरोधी हैं। कर्म और ज्ञान एकसाथ नहीं रह सकते। यह उत्तर सुनकर मैत्रेयी ने कहा—जिससे मैं अमृत नहीं हो सकती, उस धनसम्पदाको लेकर मैं क्या करूँगी ?[४९] मुझे तो आप वही बतलाइये जो आप जानते हैं और जिससे अमृतत्वकी प्राप्ति होती है। मैत्रेयीकी वह तीव्र मुमुक्षा और जिज्ञासा ही याज्ञवल्क्यके उपदेशकी प्रेरणा बनी।

महर्षिने कहा—पत्नी आदि सम्बन्धी अपने पति आदि सम्बन्धियोंसे प्रेम करते हैं, परन्तु किसलिए ? क्या प्रेमास्पदके प्रयोजनकी सिद्धिके लिए ! पत्नी, पुत्र, धन, लोक, परलोक, देवता—सब इन-इनके लिए प्रिय नहीं होते, अपने आत्माके लिए ही सब प्रिय होते हैं।[५०] अतः अनात्मासे विरक्त हो जाना चाहिए और जिस आत्माके लिए सारे अनात्मा प्रिय लगते हैं उस सर्वाधिक प्रिय आत्माका दर्शन-साक्षात्कार करना चाहिए। इसके लिए

---

४८. अमृतत्वस्य तु नाशास्ति वित्तेन। (बृहदा० २.४.२)

४९. येनाहं नामृता स्यां किमहं तेन कुर्याम्। (बृहदा० २.४.३)

५०. न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवति आत्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति। (बृहदा० २.४.५)

औपनिषद आत्मस्वरूपका श्रवण, युक्तियोंसे चिन्तन और निदिध्यासन करना चाहिए। आत्माके सिवा और कुछ भी द्रष्टव्य नहीं है।[51]

आत्माका ही दर्शन क्यों ? क्योंकि आत्माके दर्शन अर्थात् ज्ञानसे सबका ज्ञान हो जाता है।[52] जैसे आरोपित सर्पका तत्त्व रज्जु ही है वैसे ही नाम-रूपात्मक जगत्का पारमार्थिक तत्त्व आत्मा ही है। जैसे रज्जु-तत्त्वका ज्ञान होनेपर सर्पकी असलियतका पता चल जाता है कि वह कुछ नहीं है, इसी प्रकार आत्मतत्त्वका ज्ञान होनेपर सम्पूर्ण जगत्का तत्त्व ज्ञात हो जाता है। अतः केवल आत्मा ही द्रष्टव्य है उससे अतिरिक्त जगत् द्रष्टव्य नहीं है।

ऐसा क्यों ? इसलिए कि जो आत्मासे अतिरिक्त अपनेको ब्राह्मण, देवता आदिके रूपमें जानता है वह ब्रह्मात्मारूप अमृतसे च्युत हो जाता है।[53] सचमुच ब्राह्मण, क्षत्रिय, लोक, वेद, भू—ये सब आत्मा ही हैं।[54] इन सबका आत्माके साथ सामानाधिकरण्य होनेके कारण वस्तुतः आत्मा ही सत्य है, वही सबका तत्त्व है। जैसे कल्पित सर्प, माला, दण्ड, धारा, भूच्छिद्र आदिका तत्त्व रज्जु ही है वैसे ही कल्पित देश, काल आदि पदार्थोंका तत्त्व आत्मा ही है।

यह प्रपंच चिदात्मासे पृथक् नहीं है—इस बातको समझनेमें अनेक दृष्टान्त हैं। बात इसमें यह समझनी है कि जिसका ग्रहण किये बिना दूसरी वस्तुका जब ग्रहण नहीं होता तब दूसरी वस्तु पहली वस्तुसे भिन्न नहीं होती। उदाहरणार्थ, दुन्दुभि बज रही है। यदि शब्द-सामान्यका ग्रहण न हो तो ताल-स्वर आदिसे युक्त शब्द-विशेषका भी ग्रहण नहीं होगा। इसलिए शब्द-विशेष शब्द-सामान्यसे पृथक् नहीं है। इसी प्रकार यह नाम-रूपात्मक प्रपंच चिद्वस्तुके ग्रहणके बिना गृहीत नहीं होता अतएव जगत्-प्रपंच चिदात्मासे पृथक् नहीं है। जब हम कोई रूप देखते हैं तो पहले प्रकाश देखते हैं, बादमें रूप और आकृति। इसी प्रकार चिदात्माके पूर्वसिद्ध होनेपर ही नामरूपात्मक प्रपंचका दर्शन है। अतः चिदात्मासे अतिरिक्त जगत् कुछ नहीं है।

---

५१. आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यः। (वही)
५२. आत्मनो वा अरे दर्शनेन श्रवणेन मत्या विज्ञानेनेदं सर्वं विदितम्। (वही)
५३. ब्रह्म तं परादात् यो अन्यत्रात्मनो ब्रह्म वेद। (बृहदा० २.४.६)
५४. इदं सर्वं यदयमात्मा। (वही)

जैसे हम ईंधन इकट्ठा करते हैं, कुछ सूखा, कुछ गीला। अग्निके संयोगसे धुँआ उठता है, चिन्गारियाँ छिटकती हैं। इसी प्रकार परमार्थ आत्मासे श्वासोच्छ्‌वासके समान अनायास ऋग्वेदादि नाम[५५] और लोक-परलोक प्रभृति उत्पन्न होते हैं। छोटी-छोटी चिन्गारियोंका उपादान प्रथमतः अग्निमात्र ही ज्ञात होता है, बादमें चिन्गारियाँ। क्या वे अग्निरूप ही हैं या उससे पृथक्? उनका पृथक्-अपृथक् रूपमें निर्वचन नहीं किया जा सकता। वे अनिर्वचनीय हैं। उन्हींके समान परमार्थतत्त्वसे छिटकती एवं छलकती हुई चिन्गारियोंके समान यह कोटि-कोटि ब्रह्माण्ड तत्त्व या अतत्त्वके रूपमें निर्वचन करने योग्य नहीं है। प्रलयके समय भी नाम-रूपात्मक प्रपंचका उसी परमार्थमें लय दिखानेके लिए जल-समुद्रका दृष्टान्त है। जैसे बादलोंसे बरसा हुआ जल पहाड़ों-मैदानोंसे नदियों-नालोंके रूपमें बहता हुआ समुद्रमें जाकर समा जाता है, उसी प्रकार नाम-रूप धारण करके यह प्रपंच चाहे जितना छलके, अन्ततः आत्मतत्त्वमें ही समा जाता है।

नित्य, नैमित्तिक अथवा प्राकृत प्रलयकी बात छोड़ दें। जब ब्रह्मात्मैक्य विद्याके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति होकर जगत्‌का आत्यन्तिक प्रलय होता है, जिसको मोक्ष कहते हैं, तब अद्वितीय आत्माके अतिरिक्त और किसी भी पद-पदार्थका यथार्थ होना सम्भावित नहीं हो सकता। इसीसे उपनिषद्‌की गर्जना है 'आत्मा अनन्तर है, अबाह्य है'[५६] अर्थात् उसके बाहर-भीतर कुछ नहीं है। **कृत्स्नः प्रज्ञानघन:** (बृहदा० ४.५.१३) सम्पूर्ण प्रज्ञानघन ही है। ब्रह्मसूत्रने 'तन्मात्रम्' कहा है (३ २.१६)।

याज्ञवल्क्यने समझाया—समुद्रका जल, मिट्टी और उष्णताके सहयोगसे लवण बन जाता है, उसी लवणको जब पानीमें डाल दिया जाता है तो अपने कारणके सम्पर्कसे उसकी कठिनता मिट जाती है। लवण घुलकर विलीन हो जाता है; जलमात्र रह जाता है। जैसे जलराशिमें सूर्य, चन्द्रके प्रतिबिम्ब दीखने लगते हैं इसी प्रकार फेन, बुलबुले आदि कार्य-कारणके संघातसे चेतनमें खण्ड-भाव अर्थात् जीव-भाव दीखने लगता है। तब विशिष्ट-विशिष्ट रूपोंको लेकर विशेष-विशेष नाम भी पड़ जाते हैं। फिर ऐसा लगता है कि

---

५५. अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतद्यदृग्वेदः। (बृ० २.४.१०)

५६. तदेतद् ब्रह्म अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम् अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः इत्यनुशासनम्। (बृहदा० ४.५.१९)

मैं अमुक पिताका पुत्र हूँ—परिच्छिन्न हूँ। जब शास्त्र और गुरुके उपदेशसे ब्रह्मविद्याका उदय होता है तब निश्चय हो जाता है कि कार्य-कारण संघात अपने अत्यन्ताभावके अधिष्ठान ब्रह्ममें मिथ्या ही प्रतीत हो रहा है। अर्थात् भूत-भौतिक सृष्टि प्रतीतिमात्र है। जैसे जलका विलय होनेपर तन्निमित्तक सूर्य, चन्द्रादिका प्रतिबिम्ब भी लय हो जाता है वैसे ही चेतनका जीवभाव निवृत्त हो जाता है। प्रतिबिम्बकी निवृत्ति होनेपर जैसे परमार्थ चन्द्र-सूर्य रह जाते हैं वैसे ही जीवभावकी निवृत्ति होनेपर परमार्थ ब्रह्म ही रह जाता है। इसीको श्रुतिमें प्रज्ञानघन कहा है। यह सर्वथा स्वच्छ एवं अद्वितीय है।

याज्ञवल्क्यके प्रवचनका उपसंहार है अद्वितीय प्रज्ञानघन। इनके पश्चात् यह कहना कि मरनेके अनन्तर जीवकी संज्ञा नहीं है—यह संज्ञा-सामान्यका निषेध कुछ असंगत-सा लगता है। मैत्रेयीके शंका करनेपर याज्ञवल्क्यने कहा कि यह आत्मा तो अविनाशी है, इसका कभी उच्छेद नहीं होता।[५७] मैंने संज्ञा-सामान्यका निषेध नहीं किया, विशेष संज्ञाका ही निषेध किया है। बात यह है कि परिच्छिन्न भाव रहनेपर ही विशेष विज्ञान होता है। तब द्वैत-सा रहता है। कर्ता अन्य होता है, अन्यकरणके द्वारा अन्य कर्म, अन्य रूप आदि देखता है। जब ब्रह्मविद्यासे खण्ड भावकी निवृत्ति हो जाती है—परिच्छिन्नता मिट जाती है; तब जैसे रज्जुतत्त्वका परिज्ञान होनेपर आरोपित सर्प आदि मिट जाते हैं, ठीक वैसे ही अधिष्ठानमात्र शेष रह जाता है, वही आत्मा ब्रह्म है। ब्रह्मविद्यासे सभी द्वैत आत्ममात्र हो जाता है। द्वैत न होनेसे क्रिया, कारक आदि भेदकी सम्भावना नहीं रहती।

यत्र हि द्वैतमिव भवति तदितर इतरं पश्यति··· तदितरं इतरं विजानाति। यत्र तु अस्य सर्वमात्मैवाभूत् तत् केन कं पश्येत् तत्केन कं जिघ्रति··· तत्केन कं विजानीयाद्। (बृहदा० ४.५.१५)

यह कहना भी शक्य नहीं है कि द्वैतरूप विषयके अभाव हो जानेपर भी अपने आत्माको ही देखता है क्योंकि आत्मा स्वप्रकाश है, उसमें प्रकाश्य-प्रकाशकका भेद नहीं है। जिससे सबका विज्ञान होता है उसका विज्ञान किसके द्वारा होगा? **येनेदं सर्वं विजानाति तं केन विजानीयात्?** (वही) अतः परिच्छिन्न भावकी निवृत्ति होनेपर निर्मल प्रज्ञान भाव ही शेष है।

---

५७. अविनाशी वा अरे अयमात्मा अनुच्छित्तिधर्मा। (बृहदा० ४.५.१४)

बृहदारण्यक उपनिषद्में स्पष्ट रूपसे यह निर्णय किया गया है कि आत्मज्ञानकी प्रक्रिया है **नेति-नेति**[५८] अर्थात् निषेधकी प्रक्रिया। यह आत्मा अगृह्य, अशीर्य और असंग है। यह आसक्तिरहित है और व्यथा-व्ययसे मुक्त है। अरी मैत्रेयी, विज्ञाताको किसके द्वारा जानें ?

स एष नेति-नेति आत्मा अगृह्यो न हि गृह्यते; अशीर्यो न हि शीर्यते; असंगो न हि सज्जते; असितो न व्यथते न रिष्यति। विज्ञातारमरे केन विजानीयात् ? (बृहदा० ४.५.१५)।

याज्ञवल्क्यने मैत्रेयीसे यह कहकर कि अनुशासन पूर्ण हो गया स्वयं संन्यास आश्रम ग्रहण कर लिया।

(ख) मधु-विद्या (मधु ब्राह्मण)

बृहदारण्यकोपनिषद्के दूसरे अध्यायका पाँचवाँ ब्राह्मण मधु-ब्राह्मणके नामसे प्रसिद्ध है। इससे पूर्वके ब्राह्मणमें याज्ञवल्क्य-मैत्रेयी संवाद है। वहाँ यह बताया गया कि अमृतत्वका साधन आत्मज्ञान है क्योंकि आत्माका ज्ञान होनेपर सब कुछ ज्ञात हो जाता है। आत्मा ही सर्वाधिक प्रिय है। अतः आत्माका ही श्रवण, मनन, निदिध्यासन करना चाहिए। श्रवण आचार्य और शास्त्रसे, और मनन युक्तिसे करना चाहिए। निदिध्यासन तो श्रुत एवं मनन किए हुए अर्थमें बुद्धिका प्रवाह है। उदाहरणार्थ 'आत्मैवेदं सर्वम्' प्रतिज्ञा-वाक्य है, श्रवणाङ्ग है। इसमें हेतु यह दिया गया कि सबकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलय आत्मासे ही होते हैं। अब इसी अर्थका पुनः निगमन किया जाता है। मधु-ब्राह्मण आगम-प्रधान है।

मधु अनेक प्रकारके पुष्पोंका सार है। मधुको उप-कार्य, तथा पुष्पों और मधुकरोंको उपकारक कह सकते हैं। इस मधु-विद्यामें यही उपकार्य-उपकारक भाव मधुके नामसे कहा गया है।

उपनिषद्का कथन है कि यह पृथिवी समस्त भूतोंका मधु है, कार्य है क्योंकि यह समस्त भूत-प्राणियोंका कार्य है। इसी प्रकार सभी भूत-प्राणी

---

५८. बृहदारण्यकमें नेति-नेति वाक्य बहुत बार दोहराया गया है। तीसरे-चौथे अध्यायमें ही कोई चार बार दोहराया है। २.३.६ में तो यहाँ तक कह दिया है कि नेति-नेतिसे बढ़कर कोई उत्कृष्ट आदेश नहीं है : अर्थात् आदेश नेति-नेति न ह्येतस्मादिति नेत्यन्यत् परमस्ति। निषेधकी इतनी स्फुटता तत्त्वज्ञानके लिए औपनिषद अपूर्वता ही है।

इस पृथिवीके मधु अर्थात् कार्य हैं। इस प्रकार पृथिवी और भूतोंका परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव है। परन्तु ये दोनों जिस एक अधिष्ठानमें रहते हैं वही वह आत्मा है जो अमृत है, ब्रह्म है और सर्व है :

इयं पृथिवी सर्वेषां भूतानां मधु। अस्यै पृथिव्यै सर्वाणि भूतानि मधु। यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मं शारीरस्तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषोऽयमेव स योऽयमात्मेदममृतमिदं ब्रह्मेदं सर्वम्। (बृहदा० २.५.१)

एक शरीर है पृथिवी और दूसरा शरीर है उसका मधु—भूत-प्राणीका शरीर। इन दोनों शरीरोंके अभिमानी चेतन दो प्रतीत होते हैं—पृथिवी देवता और प्राणीका जीवात्मा। किन्तु यदि विचारपूर्वक देखा जाय तो इनमें भी उपकार्य-उपकारक भाव है। तथा चेतनके स्वरूपकी दृष्टिसे दोनों चिन्मात्र प्रकाशरूप हैं, अतः अमृत हैं। इस प्रकार पृथिवी, समस्त भूत, पार्थिव पुरुष और व्यष्टि जीव—ये चारों परस्पर मधु हैं और इन चारोंका एक 'कारण', उपकारक है शुद्ध चेतन। वही आत्मा है। दिक्-कालादिसे अपरिच्छिन्न होनेसे वही ब्रह्म है। उससे भिन्न ये चारों नहीं हैं अतः यही सर्व है। यही है वह आत्मा जिसकी प्रतिज्ञा '**इदं सर्वं यदयमात्मा**' (२.४.६)से की गयी थी। इसके ज्ञानसे इन सबका ज्ञान हो जाता है।

इसी प्रकार जल, अग्नि, वायु, आदित्य, दिशा, चन्द्रमा, विद्युत्, मेघ, आकाश, धर्म, सत्य, मनुष्य आदि जाति सब भूतोंके और समस्त भूतोंके ये स्वयं मधु हैं। तथा ये, समस्त भूत, इनके अधिदैव और अध्यात्म सब एक आत्माके मधु हैं। वही एक आत्मा ही ब्रह्म है।

निष्कर्ष यह है कि एक ओर व्यष्टि शरीर है तो दूसरी ओर पृथिव्यादि समष्टि शरीर हैं। ये व्यष्टि अधिभूत और समष्टि अधिभूत हैं। इनमें परस्पर उपकार्य-उपकारक भाव है। अतः ये एक दूसरेके मधु हैं। इन व्यष्टि और समष्टि शरीरोंके जो अधिदैव और अध्यात्म हैं वे भी परस्पर मधु हैं। किन्तु अधिभूत, अधिदैव और अध्यात्म इन तीनोंका जो एकमात्र कारण (उपकारक) है वही एक आत्मा ब्रह्म है। वही सत्य है, शेष सब नामधेय हैं।

व्यष्टि शरीरका अभिमानी जो जीव है वह आत्मा ब्रह्म कैसे है ? इसमें

श्रुतिका कहना है : **पुरः स पक्षी भूत्वा पुरः पुरुष आविशत् इति। स वा अयं पुरुषः सर्वासु पूर्षु पुरिशयो नैनेन किंचनानावृतम्** (२.५.१८)। अर्थात् पहिले वह ईश्वर पक्षी अर्थात् लिंग शरीर होकर पुर अर्थात् शरीरोंमें पुरुषरूपसे प्रविष्ट हो गया जिस प्रकार घट-जलमें सूर्यका प्रवेश प्रतिबिम्बके रूपमें हो जाता है। पुरमें शयन करनेके कारण उसीका नाम 'पुरुष' अथवा 'जीव' है। ऐसा कुछ भी नहीं है जहाँ पुरुष भीतर और बाहर रहकर स्वयं प्रविष्ट न हो। अतः सम्पूर्ण नाम-रूपात्मक प्रपंच ब्रह्मसे पृथक् नहीं है।

वही एक ब्रह्म ही बाहर देह और इन्द्रियरूपमें तथा भीतर आत्मा (जीव)के रूपमें स्थित है। **रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव** (२.५.१९) = प्रत्येक रूप उसीका प्रतिरूप है। परन्तु प्रत्येक रूप परस्पर भिन्न-भिन्न है, वह एकरूप अनेकरूप हुआ तो क्यों और कैसे ? हुआ तो इस वजहसे कि यदि कार्य-कारण रूपसे नाम-रूपकी अभिव्यक्ति न होती तो उस कार्यकारणातीत वस्तु-तत्त्वका निरुपाधिक स्वरूप भी प्रकट न होता। और हुआ यह सब 'माया'से : **इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते** (२.५.१९)। माया अर्थात् जादू, नजरबन्दी, जो है उसको न देखना और उसीमें जो नहीं है उसको देखना। उस ब्रह्मके अद्वितीय स्वरूपके अज्ञानसे ही उसीमें यह सारा विश्व-प्रपंच रज्जुसर्पवत् प्रतीत हो रहा है। असलमें तो यह सब जादू है, हुआ कुछ नहीं है, एक-का-एक ज्यों-का-त्यों विद्यमान है।

तदेतद् ब्रह्म अपूर्वम् अनपरम् अनन्तरम् अबाह्यम् अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः इत्यनुशासनम् (बृहदा० २.५.१९) 'वह यह ब्रह्म कारणरहित, कार्यरहित, अनन्त (विजातीय द्रव्यसे रहित) और अबाह्य है। यह आत्मा ही सबका अनुभव करनेवाला साक्षी ब्रह्म है। समस्त वेदान्तोंका यही उपदेश है।'

(ग) अन्तर्यामी ब्राह्मण

आरुणि उद्दालकने याज्ञवल्क्यसे पूछा—क्या तुम उस सूत्र और उस अन्तर्यामीको जानते हो जो इस लोक, परलोक और समस्त भूतोंको भीतरसे नियमित करता है ? याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—वायु (प्राण) ही वह सूत्र है। यह पृथिवी, जल, अग्नि सब भूतोंको आकाशके समान धारण करनेवाला है। प्राणियोंकी कर्मवासनासे बने सत्रह तत्त्वोंवाले सूक्ष्म शरीर इसीसे

उत्पन्न होते हैं। इसीके निकल जानेपर शरीरके अंग सब बिखर जाते हैं, जैसे सूत्रके टूट जानेपर मालाकी मणियाँ बिखर जाती हैं। अतः यही सूत्र है। अब अन्तर्यामीका वर्णन सुनो!

जो पृथिवीमें रहनेवाला है, जो पृथिवीके भीतर है, जिसको पृथिवी नहीं जानती, पृथिवी जिसका शरीर है, जो पृथिवीके भीतर रहकर पृथिवीका नियमन करता है वह तुम्हारा आत्मा अन्तर्यामी अमृत है।[५९] तात्पर्य यह कि अन्तर्यामीके अनुसन्धानके लिए पहले दृष्टि सब भूत-प्राणियोंके आधार पृथिवीपर जमाओ; तदनन्तर दृष्टिको पृथिवीके भीतर ले चलो। इस भीतरकी सीमा पृथिवीका अभिमानी देवता है। वह भी अन्तर्यामी नहीं है। वह देवता भी जिसका दृश्य है वह अन्तर्यामी है। उसके ही सान्निध्यमें पृथिवी देवताके देह और इन्द्रियोंकी प्रवृत्ति-निवृत्ति नियमानुसार हो रही है। अन्तर्यामीका पृथिवी देवतासे अलग अपना न कोई शरीर है और न इन्द्रियाँ। अतः पृथिवीकी देह और इन्द्रियाँ ही अन्तर्यामीकी देह-इन्द्रियाँ हैं। इस न्यायसे पृथिवीको अन्तर्यामीका शरीर कह सकते हैं; वास्तवमें वह अशरीरी है। जिसका अपना कोई विशिष्ट शरीर नहीं है उसके लिए सब शरीर उसीके हैं। तब अलग-अलग शरीरोंका अलग-अलग प्रकारसे नियमन कैसे? वह नियमके अनुसार होता है। जीवोंकी पूर्ववासनाओंके अनुसार पंचभूतोंमें उनकी देह, इन्द्रियाँ और अन्तःकरण बनते हैं। उसीसे उनकी प्रवृत्ति-निवृत्तिके व्यापार प्रेरित होते हैं। अन्तर्यामीकी अध्यक्षतामें यह सब कुछ होता है. अतः वही इनका नियामक है, ऐसा कहा जाता है। अब जैसी बात पृथिवीकी है वैसी ही उसके कार्य प्राणियोंके देहकी है। जो देहमें रहनेवाला है, देहके भीतर है, देहका अभिमानी जीव नहीं है, जिसे जीव नहीं जानता, देह जिसका शरीर है, देहके भीतर रहकर जो देहका नियमन करता है, वह शुद्ध साक्षी चेतन जो उस जीवका आत्मा है, वही अन्तर्यामी है। तो क्या पृथिवीका अन्तर्यामी और एक देहका अन्तर्यामी दो वस्तुएं हैं? नहीं। श्रुतिका कहना है कि दोनों एक ही हैं। पृथिवीका अन्र्यामी तत्-पदार्थ है और एक शरीरका अन्तर्यामी त्वं-पदार्थ है। जो तत्-पदार्थ है, वही त्वं-पदार्थ है। एष ते आत्मा अन्तर्यामि अमृतः—यह तत्त्वमसिका ही दूसरा रूप है।

---

५९. य पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो यं पृथिवी शरीरं यः पृथिवीमन्तरो यमयति एष त आत्मान्तर्याम्यमृतः। (बृहदा० ३.७.३)

याज्ञवल्क्यका कहना है कि साधकको इसी प्रकार इस अन्तर्यामीका अनुसन्धान एवं दर्शन न केवल पृथिवीमें बल्कि जलमें, अग्निमें, अन्तरिक्षमें, वायुमें, द्युलोकमें, आदित्यमें, दिशामें, चन्द्र-तारोंमें, आकाशमें, आवरणात्मक बाह्य तममें, तेजमें, (अर्थात् अधिदैवमात्रमें) करना चाहिए। जो एक चैतन्य इन-इनमें भीतर रहकर इनका नियमन करता है, जिससे इन-इनके अधिदैव अवर हैं, जिसको ये नहीं जानते, जो इन-इनका प्रकाशक है, ये जिसके शरीर हैं वही चैतन्य अन्तर्यामी है और वही साधकके अपने देहमें शुद्ध साक्षी (परमार्थतः स्वयं) है। इसी प्रकार अधिभूत एवं अध्यात्म पदार्थोंमें अनुसन्धान है। जो प्राणमें बैठा है, प्राणके भीतर है, जिसको प्राण नहीं जानते, जो प्राणके भीतर रहकर प्राणोंका नियमन करता है, वही अन्तर्यामी अमृत है और वही तेरा शुद्ध आत्मा है। वाक्, चक्षु, श्रोत्र, मन, त्वक्, विज्ञान, वीर्य, इत्यादिमें भी यही दृष्टि अभीष्ट है।

अब इस अन्तर्यामीको कैसे देखें ? अरे भाई द्रष्टाको दृश्य बनाने चले हो ? असम्भव। याज्ञवल्क्य कहते हैं—वह दिखायी देनेवाला नहीं देखनेवाला है, सुनाई देनेवाला नहीं सुननेवाला है, मनका विषय नहीं मन्ता है, ज्ञेय नहीं विज्ञाता है। इसका द्रष्टा इससे दूसरा कोई नहीं है, इसका श्रोता, मन्ता, विज्ञाता इससे दूसरा कोई नहीं है,[६०] वह तुम स्वयं ही हो।

४. एतरेय-उपनिषद् (ऋग्वेद)

आत्मा वा इदमेक एवाग्र आसीत् (एतरेय० १.१.१)

'इस सृष्टिकी उत्पत्तिसे पूर्व एक आत्मा ही था'। सद्विद्यामें जिसको सत् कहा गया वह जड़ है या चेतन ? 'स्व' है या 'अन्य' ? इस श्रुतिमें कहते हैं कि वह चेतन है जड़ नहीं, स्व है अन्य नहीं, क्योंकि आत्मा शब्दका व्यवहार 'स्व'के ही अर्थमें होता है तथा 'स्व'की चेतनता स्वयंसिद्ध है। इस प्रकार सृष्टिके मूलमें सच्चित् तत्त्व है, यह औपनिषद-सिद्धान्त प्रकट होता है।

जो सत् है सो आत्मा है और जो आत्मा है सो सत् है। सत् आत्मा है, आत्मा सत् है। आत्मासे जुदा होनेपर सत् ज़ड़ हो जायेगा और सत्से

६०. अदृष्टो द्रष्टा अश्रुतः श्रोता अमतो मन्ता अविज्ञातो विज्ञाता। नान्योऽतोऽस्ति द्रष्टा नान्योऽतोऽस्ति श्रोता नान्योऽतोऽस्ति मन्ता नान्योऽतोऽस्ति विज्ञाता एष त आत्मा अन्तर्यामी अमृतः। (बृहदा० ३.७.२३)

जुदा होनेपर आत्मा क्षणिक हो जायेगा। किन्तु "मैं नहीं हूँ, मैं जड़ हूँ, मैं अपना प्रिय नहीं हूँ"—ये तीन बातें कभी किसीके अनुभवमें नहीं आ सकतीं। असलमें ये तीन बातें सच्चिदानन्दका ही व्यतिरेक-मुखसे वर्णन है। यह सच्चिदानन्द अद्वितीय है। जो सत् है वही चित् है, जो सच्चित् है वही आनन्द है और देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे रहित है। भेद बौद्ध है, माने भेद-बुद्धिके रहनेपर भासता है और न रहनेपर नहीं भासता है किन्तु आत्मा अभेदस्वरूप है, वह तो भासता ही है, चाहे दृश्यगत-भेद भासे या न भासे।

सृष्टि जो भास रही है वह अपने नाम-रूप प्रकट होनेके पहले आत्मा ही थी। इसका अर्थ है कि आत्मामें सृष्टिका भेदात्मक भान ही सृष्टिकी उत्पत्ति है, इस भानके होते रहनेका नाम इसकी स्थिति हैऔर न होना प्रलय है। इन सब भानोंके मूलमें जो भानस्वरूप आत्मा है, जिसके भासित रहनेपर ही अन्य सब भासित होता है, वही परमार्थ है। भान ज्ञान ही है। अतः आत्मा ही है जो सर्व देश, सर्व काल और सर्व वस्तु-रूप सृष्टि है।

यहाँ 'अग्रे'में काल विवक्षित नहीं है। जिज्ञासुके मनमें जो काल-वासना बैठी हुई है उसका अनुवाद है 'अग्रे'। इसका अभिप्राय यह है कि सृष्टि आदि, अन्त और मध्यमें आत्मा ही है। आत्मा ही आत्मा है, सृष्टि नहीं है यह अभिप्राय हैं। श्रीमद्भागवतमें आया है—जो उत्पत्तिसे पहले नहीं था, प्रलयके पश्चात् नहीं रहेगा, वह बीचमें भी नहीं है, केवल कल्पनामात्र है। यह भी निश्चित सत्य है कि जो पदार्थ जिससे बनता है और जिससे प्रकाशित होता है वही उसका वास्तविक स्वरूप होता है।[६१] इस सिद्धान्तसे सृष्टि पूर्वमें नहीं थी सदात्मा था, प्रलयके पश्चात् सृष्टि नहीं रहेगी सदात्मा रहेगा, अतः इस समय भी सृष्टि नहीं है सदात्मा ही है। यही आत्माकी अद्वितीयताका अर्थ है।

बृहदारण्यकमें 'ब्रह्म वा इदमग्रे आसीत्' (१.४.१०) कहा है। इसका अर्थ है कि सदात्मा ब्रह्म है और सृष्टि प्रतीत होते हुए भी नहीं है। यही अद्वैत सिद्धान्त है।

---

६१. न यत्पुरस्तादुत यन्न पश्चात् मध्ये च तन्न व्यपदेशमात्रम्।
भूतं प्रसिद्धं च परेण यद् यत् तदेव तत्स्यादिति मे मनीषा॥

(भाग० ११.२८.२१)

एतरेय उपनिषद् 'आत्मा वा०'से प्रारम्भ होकर 'प्रज्ञानं ब्रह्म'पर समाप्त होता है। अतः इस उपनिषद्का तात्पर्य आत्माके शुद्ध ज्ञानस्वरूपको ब्रह्म बतानेमें हैं।

५. मुण्डकोपनिद् (अथर्ववेद)

ब्रह्मैवेदममृतं पुरस्तात् ब्रह्म पश्चाद् ब्रह्म दक्षितश्चोत्तरेण।
अधश्चोर्ध्वं च प्रसृतं ब्रह्मैवेदं विश्वमिदं वरिष्ठम्॥

(मुं० २. २.११)

यह अमृत ब्रह्म ही आगे है, ब्रह्म ही पीछे हैं, ब्रह्म दाँये है, ब्रह्म ही ऊपर-नीचे फैला हुआ है। यह सारा जगत् सर्वश्रेष्ठ ब्रह्म ही है।'

जैसे भ्रमसे सामने पड़ी हुई रस्सीको कोई सर्प समझ ले और उससे कोई जानकार इस प्रकार कहे—तेरे सामने यह जो सर्प दीख रहा है वह रस्सी ही है। ठीक इसी प्रकार श्रुतिका यह उपदेश है। अविद्यामयी दृष्टि-वालोंकी दृष्टिका आश्रय लेकर श्रुति आगे, पीछे, दाँये, ऊपर, नीचेकी दिशाओंमें प्रतीयमान जगत्को ब्रह्म बताती है। अन्यथा तो दिक्तत्त्वमें ही जब दिशाएँ कल्पित हैं तब प्रज्ञानघन ब्रह्ममें उनकी सत्ता और भेद कहाँ? श्रुतिका तात्पर्य यह है कि अविद्याके कारण जो कुछ भी तुम्हें अब्रह्मकी तरह प्रतीत हो रहा है वह सब वास्तवमें ब्रह्म ही है।

आश्चर्य है कि सारी दुनिया अमृतमें डूब-उतरा रही है परन्तु लोग अमृतको न पहचानते हैं, न उसका पान करते हैं! उल्टे मृगतृष्णाके समान-जो भवसागर है उसीमें वे डूब-उतरा रहे हैं!

अच्छा, तो आओ भावना करें कि सब ओर ब्रह्म-समुद्र लहरें मार रहा है। नहीं, श्रुति भावना करनेके लिए साधन नहीं बता रही है। सर्पमें रज्जुकी भावना करनेसे सर्प शिथिल भले ही हो जाय किन्तु रज्जुका साक्षात् नहीं हो सकता। रज्जु तो सिद्ध वस्तु है, सामने विद्यमान ही है, किन्तु उसमें जो सर्प-दृष्टि हो गयी है उसे निवृत्त करना है। यह सर्प-दृष्टि कैसे हुई? अविद्यासे। उसी अविद्याकी निवृत्ति अपेक्षित है। अविद्या-निवृत्तिके पश्चात् अथवा तत्सम-काल ही रज्जु रज्जु ही दीखेगी, सर्पादिके समस्त विकल्प ध्वंस हो जायेंगे। इसी प्रकार ब्रह्म सिद्ध वस्तु है। उसे जिस अविद्याके कारण अनेक-विध जान-मान रहे हैं, उस अविद्याको ही निवृत्त करना है। अविद्या निवृत्त होनेपर सब ओर अमृत ब्रह्म ही है।

अमृत माने जिसकी मृत्यु नहीं होती अर्थात् अबाधित तत्त्व; अथवा जिसमें मृत्युधर्मा जगत् नहीं है अर्थात् अधिष्ठान भावसे भी विनिर्मुक्त शुद्ध ज्ञान अथवा वह साधन जिससे मृत्यु नहीं होती। मृतकी मृत्यु न हो यह सम्भव नहीं है और जो अमृत है उसमें मृतपनेका भ्रम ही है। अतः प्रत्यक् चैतन्याभिन्न जो तत्त्व है उसमें मृत्यु, जड़ता और दुःखका भ्रम हो रहा है। इस भ्रम-निवृत्तिसे उपलक्षित जो आत्मतत्त्व है, वही ब्रह्म है।

उपनिषदोंमें इस भावको चार प्रकारसे दर्शाया है: **ब्रह्मैवेदम् अमृतं पुरस्तात्; आत्मैवेदम् अमृतं पुरस्तात्; स एवेदम् अमृतं पुरस्तात्। अहमेवेदम् अमृतं पुरस्तात्।**

इसका अर्थ है कि ब्रह्म, आत्मा, सः (ईश्वर) और अहम्— ये एक ही अमृत तत्त्वके चार नाम हैं, परमार्थ वस्तु एक ही है और वही यह प्रतीयमान जगत् भी है। इस अद्वितीय तत्त्वके बोधमें सारे भेद ध्वंस हो जाते हैं क्योंकि वे कभी थे ही नहीं!

छान्दोग्य उपनिषद् सामवेदका है। वृहदारण्यक यजुर्वेदका, एतरेय ऋग्वेदका और मुंडक अथर्ववेदका है। अंतः चारों वेदोंका अर्थ इसी ब्रह्मात्मैक्य-बोधमें समन्वित है, यह तात्पर्य है।

प्रत्येक उपनिषद्का तात्पर्य इसी अर्थमें है। उदाहरणार्थ—

१. एकत्वमनुपश्यतः (ईशा० ७)। एकत्वदर्शीको शोक, मोह कहाँ?
२. प्रतिबोधविदितं मतं अमृतत्वं हि विन्दते (केन० २.४) प्रत्येक बोधमें वही अमतत्त्वका दर्शन होता है।
३. पुरुषात् न परं किंचित् सा काष्ठा सा परा गतिः (कठ० १.३.११)। पुरुषसे परे कुछ नहीं है। वही सीमा है। वही परमगति।
४. मनसैवेदमाप्तव्यं नेह नानास्ति किंचन। मृत्योः स मृत्युं गच्छति य इह नानेव पश्यति। (कठ० २.१. ११)। यहाँ नानात्व तनिक भी नहीं है। जो यहाँ नानात्व देखता है, वह बार-बार जन्म-मृत्युको प्राप्त होता है।
५. एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा रूपं रूपं प्रतिरूपो बभूव (कठ० २.२. ९–१०) वही एक सब भूतोंकी अन्तरात्मा है। प्रत्येक रूपमें भी वही हुआ है।
६: सर्वं ह्येतद् ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म (माण्डूक्य० २) यह सब ब्रह्म है। यह आत्मा ब्रह्म है।

७. पुरुष एवेदं सर्वम् (श्वे० ३.१५) यह सब पुरुष ही है।

इसी प्रकारके वाक्य गीता आदि स्मृति-ग्रन्थोंमें तथा भागवतादि पुराणोंमें भरे पड़े हैं।

श्रीशंकराचार्य भगवान् कहते हैं कि जब हम पूर्वोक्त प्रकारसे श्रुत्यर्थका समन्वय ब्रह्मात्मैक्य-बोधमें कर लेते हैं तो अन्यार्थके लिए अवकाश ही कहाँ है? और यदि करते हैं तो वास्तविक अर्थकी हानि और अप्रतिपादित अर्थकी कल्पनाका प्रसंग उपस्थित होगा। आत्माके कर्तापनकी सिद्धिमें वेदका तात्पर्य नहीं है क्योंकि वह तो प्रत्यक्ष ही है। उल्टे उपनिषदोंमें आत्मामें, कारक और फलका निषेध है। जैसे 'तत्केन कं पश्येत्' इत्यादि। वृहदारण्यककी श्रुति कहती है कि यदि अपनेको ब्रह्म जान लिया तो फिर किसकी इच्छा करता हुआ किस कामनाकी पूर्तिके लिए इस शरीरको कर्ममें तपायें?[६२] आत्मा सहज रूपसे असाधनरूप एवं अफलरूप है। साधन और फल इसका स्वभाव नहीं है।

६. समन्वय सम्बन्धी कुछ शंका-समाधान

प्रश्न : उपनिषदोंमें ब्रह्मकी अनेक उपासनाओंका वर्णन है। उनको जानकर ऐसा मालूम पड़ता है जैसे ब्रह्मात्मैक्य-ज्ञान भी उपासना-विधिका ही अंग हो।

उत्तर : वैदिकी सब उपासनाओंका समन्वय तत्त्वज्ञानमें है परन्तु तत्त्वज्ञान किसी उपासना-विधिका अंग नहीं है। इस बातको समझना चाहिए। अपनी लौकिक-परलौकिक कामनाओंकी पूर्तिके लिए किसी परोक्ष सत्ता या पदार्थका आश्रय लेनेकी जो मूल मानव-प्रवृत्ति है उसका परिणाम है देवोपासना। देवोपासनाका अधिकारी दूसरा है और ब्रह्मज्ञानका दूसरा। ब्रह्म-जिज्ञासा उसके हृदयमें उदय होती है जो छोटी-छोटी चीजोंमें सुख नहीं देखता। जिसे अल्पसे ही वैराग्य है, जो बृहत्तम पदार्थसे ही सुख चाहता है, जो ब्रह्मको ही सुखमात्र देखता है। बृहत्तम पदार्थका नाम ब्रह्म है। वही भूमा है। 'बहूनां भावो भूमा'—जो बहुतमें एक है वह भूमा है। अल्पसे वैराग्य हुए बिना ब्रह्मजिज्ञासा नहीं होती; जबकि देवताकी उपासना अल्प-जिज्ञासाके अन्तर्गत ही है।

---

६२. आत्मानं चेद्विजानीयाद् अयमस्मीति पूरुषः। किमिच्छन् कस्य कामाय शरीर-मनुसंज्वरेत्। (बृ० ४.४.१२)

अल्पमें जो आनन्द प्रतीत होता है वह आपको पराधीन बनाता है, जड़ बनाता है क्योंकि बिना जड़के साथ तादात्म्य हुए आनन्दोपलब्धि नहीं होती ; वह आपको परिणाममें भी दुःखी बनाता है। आनन्दभावका विरोधी है—पराधीनता, वियोगिता; चिद्भावका विरोधी है जड़त्व, सच्चे अन्यके साथ तादात्म्य ; सत्-भावका विरोधी है विनाशिता। इसलिए यदि कोई भी मनुष्य अपने आत्माके अतिरिक्त सुख लेना चाहता है तो वह विनाशी सुख चाहता है, जड़ सुख चाहता है, पराधीन सुख चाहता है। असलमें वह दुःखमें ही सुखकी भ्रान्तिसे पीड़ित है। अतएव कर्म और उपासनाके सुखसे विरक्त होकर ब्रह्म-जिज्ञासुको ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए ही गुरु-शरणागत होना चाहिए।

गुरुमुखसे ब्रह्मकी जानकारी प्राप्त करनेमें जिज्ञासुके सामने तीन आश्रय होते हैं : आत्माश्रय, ईश्वराश्रय और साधनाश्रय।

सबको छोड़कर अपनेमें बैठ जायेंगे तो परमात्मा हमें अपने आप मिल जायेगा—यह आत्माश्रय है। ईश्वरकी खूब भेंट-पूजा, उपासना करो तो ईश्वर प्रसन्न होकर हमें अपना ज्ञान दे देंगे—यह ईश्वराश्रय है। कोई ऐसा साधन पकड़ें कि उसका स्वाभाविक फल आत्मज्ञान हो—यह साधनाश्रय है जैसे शास्त्रालम्बन, त्यागालम्बनरूप समाधि, इष्टालम्बनरूप उपासना इत्यादि। आत्माश्रय भी किंचित् साधनाश्रय ही है, बस इसमें साधन-क्रियाकी दिशा प्रतिलोम है और कर्तृत्व क्षीण है। किन्तु आत्माश्रय और साधनाश्रय दोनोंमें कर्तृत्व-भोक्तृत्वकी भ्रान्ति निवृत्त करनेका सामर्थ्य नहीं है। रही बात इष्टाश्रयसे कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदिकी भ्रान्ति मिटानेकी बात तो इसमें भी परोक्ष देवताके प्रति कर्तृत्वबुद्धि होती है, यह वस्तुके अपरोक्ष साक्षात्कारका मार्ग नहीं है। हाँ, यह मन्द अधिकारीका मार्ग है।

अल्पसे वैराग्यको प्राप्त हुआ मनुष्य ब्रह्मज्ञानका उत्तम अधिकारी है। अपनी बुद्धिका आश्रय लेनेवाला ब्रह्मज्ञानका मध्यम अधिकारी है और परोक्ष देवताकी बुद्धिका सहारा लेनेवाला ब्रह्मज्ञानका मन्द अधिकारी है।

प्रश्न : तत्त्वज्ञानके पूर्व उपासना है या तत्त्वज्ञानके अनन्तर ?

उत्तर : पूर्व ही क्योंकि तत्त्वज्ञानके अनन्तर तो सभी क्रिया, कारक और फलरूप द्वैत-प्रपंचका उपमर्दन हो जाता है। इसलिए बादमें तो किसी आरोप या उपासनाकी आवश्यकता ही नहीं है। वह सम्भव भी नहीं है

क्योंकि एकत्व-विज्ञानसे निवृत्त हुआ मिथ्या द्वैतज्ञान फिर सम्भव नहीं है। अतः ब्रह्म अथवा ब्रह्मज्ञान उपासना-विधिका अंग नहीं है। हाँ, उपनिषदोंमें जहाँ ब्रह्म अथवा आत्माका विधि-वाक्योंसे वर्णन है जैसे सर्वकर्मा, सर्वगन्ध, सर्वरस इत्यादि, वहाँ गुण-चिन्तनके द्वारा ब्रह्मोपदेश उपासना-विधिका अंग हो सकता है। परन्तु जहाँ निषेध-वाक्योंके द्वारा वर्णन है जैसे 'अशब्दम्, अस्पर्शम्, अरूपम्' या 'नान्तः प्रज्ञं०' इत्यादि अथवा जहाँ आत्मा और ब्रह्मकी एकताका बोधन है जैसे 'तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि' इत्यादिमें, वहाँ वह उपदेश उपासनाका अंग नहीं है बल्कि सत्यानुभवका कथन मात्र है।

वेदान्त-वाक्योंका प्रामाण्य केवल शास्त्र-वचन होनेसे नहीं है बल्कि अनुभवपर्यवसायी होनेसे है। आत्माको जैसा ब्रह्म बताया गया है वह वैसा ही अनुभवमें आता है, इसलिए वे प्रमाण हैं। अन्य विधि-निषेधमय वाक्य, जिनमें प्रत्यक्ष जगत्‌का विषय नहीं है, केवल शास्त्रवाक्य होनेसे प्रमाण है; और जो प्रत्यक्ष-सम्बन्धी वाक्य हैं वे सामान्य अन्वय-व्यतिरेकसे सिद्ध होनेवाले माने प्रमाणान्तरसे सिद्ध होनेवाले अनुभवके अनुवाद मात्र हैं, इसलिए ये वाक्य स्वतन्त्र प्रमाण नहीं हैं। आत्माकी ब्रह्मता प्रमाणान्तरसे असिद्ध एवं अबाधित है, वह केवल वेदान्तवाक्यैकगम्य है, अतः ब्रह्म केवल शास्त्र-प्रमाणक एवं अनुभवस्वरूप है। जबकि धर्म केवल शास्त्र-प्रमाणक है।

वेदान्त-वाक्योंका प्रामाण्य कैसा है? 'दशमस्त्वमसि' (वह दसवाँ तू है) की भाँति। दस मूर्खोंके बीच प्रत्येक व्यक्ति दसवाँ है, परन्तु मूर्खताके कारण नौ-को ही गिनते हैं, अपनेको नहीं गिनते। इसपर जब कोई बताता है कि 'दसवाँ तुममें ही है, खोया नहीं है' तो दसवेंका परोक्षज्ञान हो जाता है। और जब गिनकर यह बताता है कि 'वह दसवाँ तू ही है' तो अपरोक्ष ज्ञान हो जाता है। इसी प्रकार आत्मा ब्रह्म है ही, वह अपरोक्ष होनेपर भी अज्ञानके कारण परोक्ष हो रहा है। वेदान्त-वाक्य केवल उस परोक्षताका निवारणमात्र करते हैं अज्ञानको मिटाकर। ज्ञानका फल अज्ञानको मिटाना है, ब्रह्म तो नित्य अपरोक्ष है ही।

प्रश्न : वेदान्त-वाक्योंसे ब्रह्मका संस्कार बनता है और उसीके कारण 'आत्मा ब्रह्म है' यह ज्ञान होता अनुभव होता है। वास्तवमें आत्मा ब्रह्म नहीं है। यदि ऐसा मानें तो?

उत्तर : ऐसा नहीं है। आत्मविज्ञानकी यह खास बात है कि न तो वह संस्कार उत्पन्न करता है और न वह संस्कारसे उत्पन्न होता है।

संस्कारजनकत्व और संस्कारजन्यता दोनों आत्मविज्ञानमें नहीं है। हाँ, अन्य सभी विज्ञान कर्माङ्ग होनेके कारण संस्कारजन्य एवं संसारजनक होते हैं।[६३] यदि आप जान जाओगे कि आप ज्ञानघन हैं तो ज्ञानमें संस्कार नामकी कोई चीज होती है, तुम्हारी यह धारणा ही कट जायेगी।

चनामें पंचभूत हैं और बीजत्व भी है जो उसे गेहूँ, जौ आदिसे पृथक् करता है। इसी बीजत्वके कारण वह उगता है, फलता-फूलता है। परन्तु यदि चनेको जला दिया जाय तो चनेका बीजत्व नष्ट हो जाता है, पंचभूत फिर भी रहते हैं। इसका अर्थ है कि सत्तामें बीजत्व नहीं है। यह बीजत्व ही संस्कार है। बीज जल सकता है सत्ता नहीं जलती। इसी प्रकार साक्षी चेतन सत् है, वह निर्बीज है। इसमें न द्रव्यका संस्कार है, न कर्मका, न भावका और न विधिका। जबतक हम अन्तःकरणसे तादात्म्यापन्न रहते हैं तभी तक ये वस्तुएँ संस्कार डालती हैं। ज्ञान होनेपर संस्कारके आधार-भूत अन्तःकरणका ही बाध हो जाता है तब आत्मविज्ञान संस्कार उत्पन्न कैसे करे? और यदि आत्मा संस्कारजन्य होता तो संस्कारके लिए पहले कभी उसका अनुभव हुआ होता; उस दशामें तुम्हारा अन्तःकरण पहले ही बाधित हो चुका होगा, फिर मैं-मेराका संसर्ग न होता। किन्तु ऐसा है नहीं, अतः आत्मा संस्कारजन्य नहीं है।

'मैं हूँ' यह संस्कार नहीं, अनुभव है। मैं देह हूँ, यह नैसर्गिक ज्ञान है। 'मैं मनुष्य हूँ' यह सामाजिक ज्ञान है। 'मैं जीव हूँ' यह शास्त्रीय ज्ञान है। 'मैं ब्रह्म हूँ' यह मैं पर ब्रह्मत्वका अध्यारोप नहीं बल्कि प्राकृत, सामाजिक, शास्त्रीय सभी अध्यरोपोंका अपवाद है। अतः आत्माकी ब्रह्मताका अनुभव संस्कारजन्य नहीं अपितु संस्कार-समष्टिके अपवादसे उपलक्षित है।

श्रुतिने कहा—सब परमात्मा है। इस श्रुतिको सबने सुना किन्तु सबकी प्रतिक्रिया भिन्न-भिन्न हुई। कर्मीने कहा—जब सब परमात्मा है तो सबकी सेवा करनी चाहिए। उपासकने कहा—जब सब परमात्मा है तो राग-द्वेष किससे? सबमें परमात्माकी भावना करनी चाहिए। ध्यानीने कहा—जब सब एक परमात्मा है तो प्रातीतिक अनेकताकी अप्रतीतिका अभ्यास करो। वेदान्तीने कहा—बाबा! इसमें करने-धरनेका क्या है, श्रुति

६३. सर्वत्रैव हि विज्ञानं संस्कारत्वेन गम्यते।
पराङ्गश्चात्मविज्ञानादन्यत्रेत्यवधीयताम् ॥ (श्रीसुरेश्वराचार्य)

एक सत्यका उद्घाटन कर रही है। सब ब्रह्म है तो 'मैं ब्रह्म हूँ', 'मुझसे भिन्न कोई दूसरा है ही नहीं। वह ऐसा जानकर ही कृतकृत्य हो गया।

इस प्रकार वेदान्त-विद्या किसी कर्म या उपासनाका अंग नहीं है। वह न संस्कारजन्य है और न संस्कारजनक है। प्रमाण अपने प्रमेयका साक्षात्कार कराते हैं। वेदान्त-वाक्योंका प्रमेय आत्माकी ब्रह्मता है, उसका प्रमेय कोई विधि-निषेध नहीं है। यदि आपके मनमें प्रमाण (श्रुति-प्रामाण्य) और प्रमेय (ब्रह्मता)के विषयमें कोई संशय नहीं है और कोई विपर्यय (दुराग्रह) नहीं है तो आपको तत्त्वमस्यादि महावाक्य-श्रवणसे ही ब्रह्मज्ञान हो जायेगा, क्योंकि ब्रह्म शास्त्र-प्रमाणक है।

प्रश्न : अच्छा तो यही बात हुई न कि ब्रह्मज्ञानसे मोक्ष मिलता है!

उत्तर : नहीं, ब्रह्मज्ञान ही मोक्ष है। ब्रह्मज्ञानसे आत्माके ब्रह्मत्व-विषयक अज्ञानका नाश होता है और तत्समकाल ही आत्मा-ब्रह्मरूप मोक्षका प्रकाश होता है। ब्रह्मज्ञान और मोक्षके बीच कोई कार्यान्तर नहीं है। इसमें अनुभव तथा अनेक श्रुतियाँ प्रमाण हैं। उदाहरणार्थ :—

१. मुण्डक श्रुतिका कहना है कि ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म हो जाता है : **ब्रह्मवेद ब्रह्मैव भवति** (मुं० ३.२.९)। जहाँ द्रष्टा और दृश्य परिच्छिन्न हैं वहाँ घटका द्रष्टा दृश्य घटसे न्यारा होता है किन्तु जहाँ द्रष्टा अपरिच्छिन्न होता है किन्तु उसीमें अविद्यासे द्रष्टा-दृश्यका भेद प्रतीत होता है वहाँ परिच्छिन्नताके निषेधसे उपलक्षित अपरिच्छिन्न आत्मतत्त्वका बोध होते ही वही द्रष्टा-दृश्य हो जाता है। अविद्यासे हम अपनेको जीव मानते हैं और ब्रह्मको अपनेसे पृथक् अधिष्ठान-सत्ता मानते हैं। प्रमाता है त्वं-पदार्थ और प्रमेय है ब्रह्म, तत्पदार्थ किन्तु 'तत्त्वमसि' श्रुतिका कहना है कि 'तत्' 'त्वं' ही है। परिच्छिन्नता भ्रम है। यह बोध होते ही प्रमाता-प्रमेयका भेद समाप्त हो जाता है और तब परिच्छिन्नताका भ्रम निवृत्त होते ही ब्रह्मका ज्ञाता ब्रह्म ही है। आत्मा और ब्रह्मके बीच केवल अज्ञान है, न कोई कर्म, न वासना, न उपासना। अतः ज्ञानसमकाल ही 'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'।

अज्ञानकालमें अज्ञानका विषय था ब्रह्म और आश्रय था मैं-जीव। उसी ब्रह्मको जब ज्ञानका विषय बनाया कि वह ब्रह्म मैं हूँ तो देखा कि वही ब्रह्म हूँ मैं। ज्ञानसे अज्ञानके आश्रय-विषयकी एकता हो गयी और अज्ञान नष्ट हो गया; ज्ञानस्वरूप ब्रह्म तो है ही।

२. मुण्डकोपनिषद्‌की दूसरी श्रुति है : **भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टे परावरे ॥** (मुं० २.२.८) । 'उस परावर ब्रह्मका साक्षात्कार हो जानेपर हृदयकी ग्रन्थिका भेदन हो जाता है, सर्वसंशयोंका छेदन हो जाता है और समस्त कर्मोंका क्षय हो जाता है।'

'परावर'का अर्थ है 'अखिलात्मा ब्रह्म', सम्पूर्ण चराचर जगत्‌का अधिष्ठान। परावरको देखनेका अर्थ है—उस सर्वात्मा अधिष्ठानको माने ईश्वरको अपनी आत्माके रूपमें देखना। पर कारण है, ईश्वर है; और अवर कार्य है, जगत् है। जीव भी ईश्वरकी अपेक्षासे अवर है। अतः परावरको देखनेका मतलब है व्यष्टि-समष्टिको, जीव-ईश्वरको और जगत्-ईश्वरको, सबको एक अपने स्वप्रकाश आत्मामें ही अध्यस्त देखना। ऐसे देखनेसे क्या होगा ? कर्मोंका क्षय, संशयोंका छेदन और अविद्या-ग्रन्थिका भेदन।

अनन्त परिपूर्ण ब्रह्म होनेपर भी जो तुम एक अन्तःकरणमें मैं-मेरा करके बैठे हुए हो यही हृदय-ग्रन्थि है। भ्रान्ति, अध्यास, चिज्जड़ ग्रन्थि, हृदयग्रन्थिके ही नाम हैं। संशय क्या हैं ? यह भी अज्ञानमूलक होते हैं। तथा उभयकोट्यवगाही होते हैं : जैसे द्वैत है कि अद्वैत है ? आत्मा, अनात्मा दो हैं या एक ? मुक्ति कर्मसे या ज्ञानसे ? ज्ञानसे मुक्ति होती भी है या नहीं ? लोक-परलोक हैं या नहीं ? आत्मा ब्रह्म है या नहीं ? ये सब संशय हैं। कर्म क्या ? वासना और कर्मका जन्य-जनकभाव ही यहाँ कर्म शब्दका अर्थ है। वासनासे कर्म, कर्मसे फिर वासना, वासना-कर्मके संयोगसे पुनः-पुनः जन्म-मरणका चक्र ! यही 'कर्म' है। ज्ञानसे अविद्या-ग्रन्थिका भेदन हो जाता है, संशय सब निवृत्त हो जाते हैं और वासना-कर्मके संयोगका इतना क्षय हो जाता है कि पुनर्जन्मकी शृंखला ही टूट जाती है। यही मोक्ष है।

ज्ञानके ये फल ज्ञान होते ही होते हैं। बीचमें कोई कार्यान्तर नहीं है।

३. तैत्तिरीय उपनिषद्‌की श्रुति है : **आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान् न बिभेति कुतश्चन** (तैत्ति० २.९) अर्थात् ब्रह्मके आनन्दको जाननेवाला किसीसे भयभीत नहीं होता। याज्ञवल्क्य भी जनकसे तत्त्वज्ञानका यही फल अर्थात् अभयका वर्णन करते हैं : **अभयं वै जनक प्राप्तोऽसि** (बृहद्० ४.२.४) । 'हे जनक, तू निश्चय ही अभयको प्राप्त हो गया है।

यहाँ 'ब्रह्मणः आनन्दम्' कहा है अर्थात् 'ब्रह्मका आनन्द'। मालूम पड़ता है कि ब्रह्म और आनन्द अलग-अलग वस्तुएँ हैं और उसको जाननेवाला विद्वान् तीसरी वस्तु है। परन्तु तैत्तिरीय श्रुतिमें ही **'आनन्दो ब्रह्मेति व्यजनात्'** कहकर आनन्दको ही ब्रह्म कहा है। उसी आनन्द-ब्रह्मसे सृष्टि होती है, यह भी कहा है: **'आनन्दाद्ध्येव खल्विमानि भूतानि जायन्ते'**। अतः 'ब्रह्मणः आनन्दम्'में षष्ठी विभक्तिका प्रयोग विकल्पमात्र है, यह अभेदमें षष्ठी है जैसे 'राहोः शिरः' या 'पुरुषस्य चैतन्यम्'में। वल्ली २ अनुवाक ८ में आनन्दकी मीमांसा भी तैत्तिरीयमें प्रस्तुत की गयी है। वहाँ बताया है कि यदि आप अज्ञानी नहीं हैं और आपके हृदयमें कोई वासना नहीं है तो मनुष्यके अलभ्य आनन्दका अनन्तगुना आनन्द आपको अपने आत्माके रूपमें सहज ही प्राप्त अनुभव होगा। इसका अर्थ है कि आप स्वयं ही आनन्दस्वरूप हैं। इसी उपनिषद्में आत्माका स्वरूप लक्षण **'सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म'** किया गया है। इस सबको मिलाकर यह अर्थ निकलता है कि आप सच्चिदानन्दस्वरूप अद्वितीय ब्रह्म हैं।

जब यह ज्ञान उदय होगा कि 'मैं अद्वितीय ब्रह्म हूँ' तो अब भय किससे? भय तो दूसरेसे होता है, दुःखसे होता है। ब्रह्ममें न दूसरा है और न दुःखकी छाया! **अभयं वै ब्रह्म** (बृहदा० ४.४.२५)। **द्वितीयाद्वै भयं भवति** (बृहदा० १.४.२)।

मृत्युका भय मूल भय है। ब्रह्मज्ञानसे वही समाप्त हो जाता है, फिर अन्य भयकी तो बात ही क्या है? सत् सदा अविनाशी ही है। ज्ञानीको अज्ञानी होने या पागल होनेका भी भय नहीं रहता क्योंकि चित्स्वरूपमें इनकी कल्पना ही कहाँ है! बुद्धि समाधिमें रहे या विक्षेपमें, कोई भय नहीं। ज्ञानी किसीसे भी भय नहीं मानता—न विषयसे न विषयाभावसे, न भोगसे न भोगाभावसे, न कर्मसे न कर्माभावसे! छान्दोग्यमें आप यह प्रसंग पढ़ ही चुके हैं: जक्षन् क्रीडन् रममाणः (८.१२.३)।

४. बृहदारण्यक उपनिषद्की श्रुति है कि 'उस जीवने अपनेको ही जाना कि मैं ब्रह्म हूँ, इस ज्ञानसे ही वह यह सर्व हो गया': **तदात्मानमेवावेद् अहं ब्रह्मास्मि इति तस्मात् सर्वमभवत्** (बृ० १.४.१०)।

जैसे घटाकाश आकाश ही है, घटकी उपाधिसे आकाशका नाम ही घटाकाश है। वैसे ही जीव ब्रह्म ही है, देह-अन्तःकरणकी उपाधिसे ब्रह्मका नाम ही जीव हो जाता है। उस जीव नामधारी ब्रह्मने अपने आपको

जाना। क्या जाना ? अपने आपको तो सब जानते हैं। चार्वाक अपनेको देह या चारभूत जानते हैं। बौद्ध अपनेको क्षणिक विज्ञान जानते हैं। नैयायिक अपनेको कर्ता-भोक्ता जानते हैं। सांख्य और योगवादी अपनेको द्रष्टा जानते हैं। उपासक अणुपरिमाणक ईश्वरांश जानते हैं। सभी तो जाननेका दावा करते हैं। श्रुतिने कहा कि हम एक संविधान बनाते हैं। उसके अनुसार जो जानता है वह सच्चा जानता है। संविधान क्या है कि 'अहं ब्रह्मास्मि।' अपनेको ब्रह्मके रूपमें जानते हैं तो जानना ठीक है। देश-काल-वस्तुके परिच्छेदसे रहित, सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेदसे रहित अखण्ड सच्चिदानन्द तत्त्व ब्रह्म मैं हूँ और मुझमें ही यह सम्पूर्ण विश्व-प्रपंच चम-चम चमक भर रहा है। जब ऐसा जानोगे तो ठीक जानोगे। उसका फल ? कि मैं ही यह सब कुछ हो गया हूँ, यह ज्ञान।

मैं ब्रह्म हूँ, यह ज्ञान अपेक्षित है, किन्तु 'मैं ब्रह्म हूँ' यह अभिमान अपेक्षित नहीं है। मैं देह हूँ, मैं जीव हूँ, इत्यादि जो अभिमान हैं उनका निषेधमात्र ही 'मैं ब्रह्म हूँ' इस ज्ञानमें अपेक्षित है। जीवत्व भ्रम है, श्रौत भ्रम है। यह जीवत्वको देखकर नहीं माना गया। अपना जीवत्व यदि दिखायी देगा तो तुम देखनेवाले उससे न्यारे पहले ही हो गये। जीवत्व परिच्छिन्न दृश्यका अपनेमें आरोप है, वह अपना स्वरूप नहीं है।

मुझ ब्रह्ममें यह भानरूप सृष्टि बिना हुए ही अविद्यासे दीख रही है। ज्ञानदृष्टिसे भान भानात्मासे पृथक् नहीं होता है। अतः जगत् मुझ ब्रह्मसे अभिन्न ही है।

५. ईशावास्य उपनिषद्का मन्त्र है : **यस्मिन् सर्वाणि भूतानि आत्मैवाभूद् विजानतः। तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः॥ ७॥** जिस समय यह जानता है कि 'सब भूत आत्मा ही हैं' उस समय उस एकत्वदर्शीके लिए शोक कहाँ, मोह कहाँ ?

इस प्रकार ब्रह्मज्ञानसे मोक्षस्वरूप आत्माके प्रतिबन्धकी निवृत्तिमात्र होती है, वह कोई मोक्षके लिए किसी कर्त्तव्य या उपासनाका विधान नहीं करता। क्योंकि ब्रह्मज्ञान और मोक्षके मध्य श्रुतिको कोई कार्यान्तर स्वीकार्य नहीं है। कर्ममें कर्मानुष्ठानके ज्ञान और उसके फलके बीचमें कर्मानुष्ठानरूप कर्म रहता है, बिना उस अनुष्ठानके फलकी उत्पत्ति नहीं होती, किन्तु ब्रह्मज्ञान-समकाल ही मोक्ष हो जाता है, यही श्रुति-सिद्धान्त है।

वामदेव ऋषिको यह बोध हुआ कि 'मैं ब्रह्म हूँ'। इस ज्ञानका फल हुआ कि वे कहने लगे कि मैं ही मनु था, मैं ही सूर्य हूँ : **तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्च** (बृ० १.४.१०)। यह 'सर्वमभवत्' (सर्वात्मभाव)का उदाहरण है। त्वं-पदार्थके ज्ञानकी दृष्टिसे आत्मा ही मन और चक्षुका प्रकाशक-अधिष्ठान है। ब्रह्मज्ञान और सर्वात्मभावके मध्य कोई कार्यान्तिर नहीं है।

इसी प्रकार नारदने भगवान् सनत्कुमारसे शोकके समुद्रसे पार करनेकी प्रार्थना की और सनत्कुमारने केवल श्रवण कराकर ही अर्थात् ज्ञानसे ही पार कर दिया। (देखिये छान्दोग्य०)।

प्रश्न : 'ब्रह्मज्ञान' माने ब्रह्मको जानना। अर्थात् ब्रह्मज्ञानमें जानना रूप क्रियाका कर्म ब्रह्म है अथवा यों कहो कि ज्ञानका विषय ब्रह्म है।

उत्तर : ब्रह्मको ज्ञानका अविषय बताती है श्रुति। यथा - **अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितादधि** (केन० १.३)। 'वह ब्रह्म विदितसे भी अन्य है और अविदितसे भी। अन्य अर्थात् निराला। प्रत्यक्ष वस्तु विदित है और जो अप्रत्यक्ष है वह अविदित है। चाहे वह इस समय हमारा अप्रत्यक्ष हो (जैसे अन्य देश अमेरिका, रूस आदि) अथवा किसीको भी कभी कहीं प्रत्यक्ष न हो सकता हो किन्तु जिसके बारेमें सुना हो जैसे स्वर्ग आदि, वह सब अविदित है। ब्रह्म विदित, अविदित, दोनोंसे निराला है। तो फिर वह कोई परोक्ष देवता होगा क्योंकि वह भी विदिताविदतसे विलक्षण हो सकता है; देवता तो उपासककी अपेक्षासे नामरूपवाला होता है। नहीं, ब्रह्म परोक्ष नहीं है, 'मैं' रूपसे सबको ज्ञात है, अतः ब्रह्म नित्य अपरोक्ष है। **'यत्साक्षादपरोक्षाद् ब्रह्म'** यह बृहदारण्यककी प्रसिद्ध श्रुति है। किन्तु यहाँ भी मैं जिस रूपसे ज्ञात है और जिस रूपमें अज्ञात है, उन दोनोंसे विलक्षण है ब्रह्मवस्तु। जिससे यह सब जाना जाता है उसे किसके द्वारा जानोगे? यह भी बृहदारण्यक श्रुति है : **येनेदं सर्वं विजानाति त केन विजानीयात्?** (बृ० २.४.१४)।

कहो कि फिर तो ब्रह्म वृत्तिका विषय न होनेसे अज्ञेय ही रहेगा! तब ब्रह्मज्ञानकी चर्चा ही व्यर्थ है। और शास्त्रको जो ब्रह्मकी योनि बताया है उससे भी इसका विरोध होगा। तो ऐसा नहीं है। इसको समझना चाहिए।

बड़े-बड़े वेदान्तियोंके मनमें यह रहता है कि ज्ञानका प्रभाव हमारे शरीर या अन्तःकरणमें ही होना चाहिए। जैसे गड़े हुए धनके ज्ञानसे सुख होता है, कम-से-कम वैसा सुख तो हो ही। माने शरीरधारीके भोगका साधन है ब्रह्मज्ञान, यही न? यह तो देहमें ही अभिमानकी एक दशा है; ब्रह्मज्ञानकी दशा नहीं है। ब्रह्मज्ञानका फल तो केवल अविद्या-निवृत्ति है जिससे अपनेमें कल्पित जीव-भावकी निवृत्ति हो जाती है। जीव-भावका अर्थ है कि किसी भी परिच्छेदको, किसी भी टुकड़ेको मैं या मेरा मानना। साढ़े तीन हाथ लम्बा शरीर, सौ-पचास सालकी उम्रवाला शरीर, एक-दो मन वजनवाला शरीर, इसमें मैं-मेरा करता हुआ पापी-पुण्यात्मा, सुखी-दुःखी, आने-जानेवाला माना हुआ व्यक्तित्व, इसको मैं-मेरा मानना—यह सब जीवभावके अन्तर्गत हैं। यह भ्रान्ति है, और अपनी असलियतको न जाननेसे है। वेदान्त न चेहरेपर चमक लाता है, न पैसा लाता है, न रोग मिटाता है। वह सिर्फ, अविद्याको दूर करता है।

ब्रह्म ज्ञानका अविषय तभी नहीं हो सकता जब वह स्वयं आत्मा हो (माने ज्ञानका आश्रय हो)। जो विषयको प्रकाशता है, वही अविषय है। विषय, विषयकी जातियाँ तथा विषयका अभाव, इनको जो प्रकाशता है, विषयता और अविषयताको जो जानता है, वह आत्मा बिलकुल विषयसे निष्क्रान्त है। कौन जानता है? मैं जानता हूँ। अतः मैं आत्मा ही निर्विषय हूँ। जो विषयोंसे अलग रहकर विषयोंको प्रकाशित करे वही निर्विषय है; विषयोंके अभावका नाम निर्विषय नहीं है।

•

सप्तम खण्ड

ऐक्य-बोध

अध्याय १८

ऐक्य-बोध-महावाक्य-विवेक

उपनिषदोंका परम तात्पर्य ब्रह्मात्मैक्य-बोधमें ही है। इसीलिए **प्रज्ञानं ब्रह्म** (एतरेय० ५.१), **अहं ब्रह्मास्मि** (बृ० १.४.१०), **तत्त्वमसि** (छां० ६.८.७) और **अयमात्मा ब्रह्म** (मां० २, बृ० ३.५.१९)—इन उपनिषद्-वाक्योंको महावाक्य कहा जाता है। इनके अतिरिक्त जगत् और ब्रह्मकी एकता बतानेवाले वाक्य भी, जैसे **सर्वं खल्विदं ब्रह्म, ब्रह्मैवेदं सर्वम्, आत्मैवेदं सर्वम्,** महावाक्योंकी कोटिमें ही माने जाते हैं क्योंकि आत्मा और ब्रह्मके बीचमें कुछ भिन्न सत्य होते हुए आत्मा और ब्रह्मका एकत्व भी सम्भव नहीं है। प्रस्तुत अध्यायमें इन्हीं महावाक्योंके अर्थ-बोधका एक विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

१. पद-समन्वय (लक्षणा)

वेदान्त बताता है—'तत्त्वमसि', वह तू है। तो क्या तत्पदका वाच्य जो ईश्वर है वही त्वं-पद का वाच्य जीव है ? परन्तु जो सर्वका कारण है, सर्वज्ञ, सर्वशक्ति, सर्वव्यापी ईश्वर है वही एक देहमें परिच्छिन्न कर्ता-भोक्ता, सुखी-दुःखी, संसारी, अल्पशक्तिमान् जीव है—यह कथन सत्य नहीं हो सकता। या तो श्रुतिका यह कथन अप्रामाणिक है और या इस कथनका वह अर्थ ही नहीं है जो ऊपरसे मालूम पड़ता है। प्रथम पक्ष स्पष्टतः अस्वीकार्य है, अतः इसके अर्थका रहस्य जानना चाहिए।

जहाँ किसी वाक्यका अर्थ सीधा-सीधा नहीं बैठता (अर्थात् जहाँ अभिधार्थ स्वीकार्य नहीं होता) वहाँ लक्षणा करनी पड़ती है, अर्थात् वहाँ यह समझा जाता है कि वाक्यमें प्रयुक्त शब्द कोई 'संकेत' कर रहे हैं। लक्षणाका अर्थ है संकेत। लक्षणाके तीन प्रकार हैं : **जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा** और **जहदजहल्लक्षणा** अथवा भागत्याग-लक्षणा। ('जहत्'का अर्थ है त्यागना)।

'जहत्-लक्षणा' वहाँ होती है जहाँ शब्दके मुख्य अर्थका परित्याग करके उससे सम्बन्धित अन्य अर्थका ग्रहण किया जाता है। जैसे आपने किसी चश्माधारी पुरुषको पुकारा—'ओ चश्मा !' यहाँ आपके वाक्यका अर्थ चश्माको पुकारनेमें नहीं है, चश्मासे सम्बन्धित उस चश्माधारी मनुष्यको पुकारनेमें है।

'अजहत्-लक्षणा' वहाँ होती है जहाँ शब्दके मुख्य अर्थका परित्याग किये बिना अतिरिक्त अर्थका भी बोध हो जाय। जैसे आप किसीसे कहते हैं—'दो ग्रास खा लीजिये'। यहाँ आपका तात्पर्य मात्र दो ग्रासमें नहीं है, भर-पेट खिलानेमें है। इसमें कहे हुए दो ग्रास भी आगये और दूसरे अनेकों ग्रास भी अन्तर्हित हैं।

'जहत्-अजहत्-लक्षणा' वहाँ होती है जहाँ शब्दोंके अर्थमें कुछ अंश छोड़ा जाता है और कुछ अंश नहीं छोड़ा जाता है। जैसे आपने स्वर्णके कड़ेको तोड़कर हार बनवा लिया। अब आप अपने मित्रको हार दिखाकर कहते हैं—'यह वही कड़ा है'। इसमें भूतपूर्व कड़ेका नाम-रूप छोड़ दिया गया और वर्तमान हारका नाम-रूप भी छोड़ दिया गया किन्तु कड़ेमें जो स्वर्ण था वही इस हारका स्वर्ण है, यह अर्थ ग्रहण कर लिया गया। इसको **भाग-त्याग लक्षणा** भी कहते हैं।

अब 'तत्त्वमसि' महावाक्यमें भाग-त्याग लक्षणा स्वीकार की जाती है। जो 'तत्' (ईश्वर) है वह 'त्वं' (जीव) नहीं हो सकता और जो 'त्वं' है वह 'तत्' नहीं होता। किन्तु दोनोंके नाम, रूप, उपाधि, कार्यको यदि छोड़ दिया जाय तथा उनमें जो चिन्मात्र, सन्मात्र, आनन्दमात्र वस्तुतत्त्व है उसका ग्रहण किया जाय तो जो तत्-पदार्थ है वही त्वं-पदार्थ है और जो त्वं-पदार्थ है वही तत्-पदार्थ है। इस प्रकार 'तत्त्वमसि' वाक्यमें भागत्याग-लक्षणाके द्वारा जीव-ईश्वरमें जो एक चेतन तत्त्व है उस चित्-तत्त्वका ज्ञान अपेक्षित है।

'तत्त्वमसि' महावाक्य छान्दोग्य-उपनिषद्की सद्विद्याके अन्तर्गत है। अध्याय १७ में सद्विद्याके अन्तर्गत इसका प्रासंगिक अर्थ द्रष्टव्य है। उसका सार यही है कि जगत्के मूलमें जो सत्-तत्त्व है, जो चेतनस्वरूप है, जो अनन्त है, वह कोई परोक्ष वस्तु नहीं है, वह कोई दूसरा नहीं है। वह स्वयं तुम ही हो। अविचार कालमें स्वीकृत अन्य सत्-चित् वस्तु विचारकी दृष्टिसे तुम्हीं हो। तत्त्वमसि।

'तत्' अर्थात् ईश्वर। पंचभूतात्मक सृष्टिका ज्ञाता ईश्वर है। वह बिना इन्द्रियोंके ही सर्वका ज्ञाता है, अतः सर्वज्ञ है। किन्तु 'त्वं' अर्थात् जीव इन्द्रियोंके द्वारा ज्ञाता है, अतः अल्पज्ञ है। इसी प्रकार निरिन्द्रिय कर्ता होनेसे ईश्वर सर्वशक्ति है और सेन्द्रिय कर्ता होनेसे जीव अल्पशक्ति है। ईश्वर बिना बुद्धिके ही सुखी है अतः स्वतंत्र सुखस्वरूप है। जीव बुद्धि-सहित सुखी होता है अतः अपनेको परतंत्र सुखी अनुभव करता है। ईश्वर-की उपाधि सदसद्विलक्षण अनिवर्चनीय 'माया' है जो सर्वका उपादान कारण है, अतः ईश्वर सर्वव्यापक है। जीवकी उपाधि यह देह-इन्द्रिय-अन्तःकरण है जो मायाका कार्य है अतः वह परिच्छिन्न है। किन्तु न तो नामरूपके भेदसे उनके अधिष्ठान सत्में भेद होता है और न उनके प्रकाशक चित्में भेद होता है। अतः सत्की दृष्टिसे भी और चित्की दृष्टिसे भी जीव और ईश्वरमें कोई भेद नहीं है। अचित्-सत् कल्पनामात्र है और असत्-चित् वदतोव्याघात है। इसलिए जो सत् है वही चित् है, जो चित् है वही सत् है। जिसको छान्दोग्य-श्रुति समस्त नामरूपका अधिष्ठान बताती है उसका नाम सत् है और वही चित्स्वरूप आत्मा है। इस प्रकार सत् ही तत् है और वही चित्स्वरूप में 'मैं' है। यही तत्त्वमसि वाक्यका अर्थ है। ईश्वर और जीवके समस्त भेद उपाधिकृत हैं: कार्योपाधिक जीव एवं कारणोपाधिक ईश्वर; व्यष्टि चेतन जीव एवं समष्टि चेतन ईश्वर। उपाधिमें ही जीवकी अल्पज्ञता और ईश्वरकी सर्वज्ञता है अन्यथा दोनों एक ही चिद्वस्तु हैं।

२. वाद-प्रक्रियाएँ

तत्त्वमसि महावाक्यके अर्थ करनेकी अनेक प्रक्रिया[1] वेदान्त सम्प्रदायमें स्वीकार की गयी है। **अवच्छेदवाद** देशकी उपाधि मानकर पहले अन्तःकरणावच्छिन्न चेतन (जीव) और मायावच्छिन्न चेतन (ईश्वर)का विवेक करता है। तदनन्तर निरुपाधि (अनवच्छिन्न) चेतनमें दोनोंका

१. दृष्टि-सृष्टिवाद, बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद, अवच्छेदवाद, आभासवाद—ये चार प्रक्रियायें मुख्य हैं। इनके मुख्य अवयव इस प्रकार हैं: **१. दृष्टि-सृष्टिवाद:** इसको **एकजीववाद** भी कहते हैं। इस वादमें अज्ञात सत्ता होती **ही नहीं।** दृष्टिसमकाल ही सृष्टि है, आगे-पीछे नहीं। दृष्टि (ज्ञान) ही सृष्टिके रूपमें प्रतीत होती है। मैं देह हूँ, अज्ञानी हूँ, ज्ञानी हूँ, आत्मा हूँ, विराट् हूँ, ब्रह्म हूँ, यह सब ज्ञान ही है। जिस समय हमारा जैसा ज्ञान है हम वही हैं। यह

ऐक्य करता है। **आभासवाद** कार्योपाधिक चेतन और कारणोपाधिक चेतनका विवेचन करके एकत्वका प्रतिपादन करता है। **दृष्टि-सृष्टिवाद** अविचार कालिक और विचारकालिक स्थितिका निरूपण करता है। अविचार कालमें अज्ञानके कारण जिस चेतनको हम परोक्ष मानते हैं, वह अज्ञातताकी उपाधिसे तत्पदार्थ है और वही ज्ञातताकी उपाधिसे त्वं-पदार्थ है। इस प्रकारका भेद होनेपर भी ब्रह्म और आत्माका ऐक्य सभीको इष्ट है।

काल-प्रधान प्रक्रिया है। अविद्याकालमें जिसे हम अपनेसे पृथक् समझते थे, विद्याकालमें वह हमारा स्वरूप ही है। जैसे स्वप्नकालमें जो स्वप्न-द्रष्टा है वही एकमात्र जीव है, स्वप्नमें प्रतीत होनेवाले चराचर जीव, जीव नहीं जीवाभासमात्र हैं; उसी प्रकार एक आत्म-ब्रह्म ही वास्तविक जीव है, शेष सब जो अहंइदंरूप प्रतीतियाँ हैं सब जीवाभास ही हैं। किन्तु जैसे स्वप्नके जीव जीवाभास ही हैं, यह ज्ञान स्वप्नकालमें नहीं होता, जाग्रत् हो जानेपर होता है, वैसे ही जब बुद्धि तुरीयतत्त्वमें जाग्रत् होती है तभी द्वैत-प्रपंच आभासमात्र प्रतीत होता है, अज्ञानकालमें नहीं। जीव, जगत् और ईश्वर सब द्रष्टा (वास्तविक एकजीव)का ही विलास है। अज्ञानकालमें जो अहं (त्वं-पदार्थ) परिच्छिन्न जीवके रूपमें अनुभवमें आता है, ज्ञानकालमें वही ब्रह्म (तत्पदार्थ) अनुभव होता है। त्वं और तत्का जो भेदक जगत् है वह भी द्रष्टाकी दृष्टि ही है अतः द्रष्टासे अभिन्न है। ऐसी दशामें त्वं और तत्का भेद केवल अज्ञान सिद्ध है। तथा अभेद ज्ञानसिद्ध है। दृष्टिसृष्टिवादमें दो ही सत्ता मान्य हैं :—पारमार्थिक और **प्रातिभासिक**। द्रष्टाकी (आत्मा या ब्रह्मकी) पारमार्थिक सत्ता है जिसका मिथ्यात्व-निश्चय कभी नहीं हो सकता। दृश्यकी स्वप्नवत् **प्रातिभासिक** सत्ता है, चाहे वह दृश्य भौतिक, दैविक कुछ भी क्यों न हो। दृश्यरूप सारे पदार्थ अविद्याके कार्य हैं और सीधे साक्षीसे ही भास्य हैं; प्रमाता-प्रमाण-प्रमेयकी त्रिपुटी भी स्वप्नकी त्रिपुटीकी तरह प्रतीतिमात्र ही है अतः **प्रतिभासिक** है। जाग्रत् अवस्था भी स्वप्नावस्थाकी भाँति ही अतात्त्विक है। माण्डूक्य उपनिषद्में यही प्रक्रिया है। माण्डूक्य-कारिकामें इसीका आश्रय लेकर 'अजातवाद'की स्थापना की गयी है।

२ **बिम्ब-प्रतिबिम्बवाद** : विवरणकार और **रत्नप्रभाकारको** बिम्ब-प्रतिबिम्ब-वाद इष्ट है। इस प्रक्रियामें शुद्ध चेतन ब्रह्म बिम्ब है, अविद्यामें उसका प्रति-

३. ऐक्य-पद्धतियाँ

चार प्रकारसे ऐक्य प्रदर्शित करनेकी पद्धति शास्त्रमें है :—

१. अध्यास पद्धति : भ्रमकालमें दो पदार्थोंको अविद्याके कारण एक बोलते हैं जैसे 'इदं रजतम्'—यह चाँदी है। इसमें 'यह' शुक्तिकाके लिए है। वही शुक्तिका चांदीके रूपमें भ्रमसे दिख रही है। इस भ्रमकी निवृत्तिके लिए बाध-पद्धति है।

बिम्ब जीव है तथा मायामें प्रतिबिम्ब ईश्वर है। माया त्रिगुणात्मक है। मलिन सत्त्वात्मक अविद्या उपाधि है जीवकी, अतः जीव अल्पज्ञ है। शुद्ध सत्त्वात्मक माया उपाधि है ईश्वरकी, अतः ईश्वर सर्वज्ञ है। प्रतिबिम्ब होने पर भी ये प्रतिबिम्ब मिथ्या नहीं हैं सत्य हैं। अतः जीव और ईश्वरका व्यावहारिक भेद सत्य है। किन्तु निरुपाधि जो शुद्ध चेतन ब्रह्म है उस बिम्बमें जीव-ईश्वरके भेदका अवकाश नहीं है। तत्त्वमसि वाक्यमें जो एकत्व है वह बिम्बमूलक है, प्रतिबिम्बमूलक नहीं है। यदि अविद्या और मायाको एक माना जाय तो निरुपाधि ब्रह्मको ही ईश्वर कहेंगे। शमदमादि साधन सम्पन्न जिज्ञासु जब श्रवणमननादिके द्वारा मलिन सत्त्वकी उपाधिका बाध करके अपनेको बिम्बस्वरूप अनुभव करता है तो जीव-ईश्वरका भेद मिट जाता है यद्यपि व्यवहारतः भेद बना रहता है।

३. **आभासवाद :** इस प्रक्रियामें साधिष्ठान साभास अविद्या जीव है और साधिष्ठान साभास माया ईश्वर है। जीव अविद्या कार्योपाधिक एवं मलिन सत्त्वात्मक है और ईश्वर माया कारणोपाधिक तथा शुद्ध सत्त्वात्मक है। जीवका अधिष्ठान कूटस्थ है और मायाका ब्रह्म है। आभास चाहे अविद्यामें है या मायामें, मिथ्या है। इस प्रकार जीव पक्षमें तीन चीजें हैं कूटस्थ अधिष्ठान, अन्तःकरण-अविद्या और चिदाभास (उसमें शुद्ध ब्रह्मचेतनका आभास)। ईश्वर-पक्षमें भी तीन चीजें हैं—ब्रह्मअधिष्ठान, माया और मायामें चेतनका आभास ईश्वर। कूटस्थसहित चिदाभास त्वंपदवाच्य जीव है और ब्रह्मसहित ईश्वर तत्पदवाच्य ईश्वर है। तत्त्वमसिमें वाच्यार्थमें एकता विवक्षित नहीं है। जीवका शोधितरूप कूटस्थ साक्षी है और ईश्वरका शोधितरूप ब्रह्म है। कार्य और कारण (अविद्या और माया)का अपवाद करदेने पर कूटस्थ ब्रह्म ही है यही त्वं और तत्की एकता है। पंचदशी, विचार सागरमें यही प्रक्रिया है।

२. **बाध-पद्धति :** अध्यासके कारण जब एक ही वस्तु अन्य रूपमें प्रतीत होती है तब बाध-पद्धतिके द्वारा ऐक्य निरूपण करके भ्रम या अध्यास निवृत्त किया जाता है। जैसे 'यह चाँदी है' यह आध्यासिक ऐक्य है। किन्तु यदि यह कहा जाय कि 'यह चाँदी सीपी है' तो इसमें चाँदीको सीपी बताकर जो ऐक्य दिखाया उसमें चाँदी बाधित है और सीपी अबाधित है। जब वाक्यमें दो पदोंमें से एकका अर्थ बाधित हो और दूसरेका अबाधित तब वह बाध-पद्धतिका ऐक्य है। 'अयं सर्पः'—यह अध्यास है और 'अयं सर्पो रज्जुः' इसमें 'सर्पः' पदका अर्थ बाध करके 'रज्जुः' पदका अबाधित अर्थ ग्रहण किया जाता है। 'सर्पः' और 'रज्जु' दोनों पदोंका एक ही विभक्तिमें (अधिकरणमें) प्रसंग है। अतः इस ऐक्य शैलीको **बाध सामानाधिकरण्य** कहते हैं। शास्त्रमें जहाँ भी ब्रह्म और जगत्का अभेद प्रदर्शित किया गया है वहाँ यही बाध-समानाधिकरण्यकी ऐक्य शैलीसे अर्थ ग्रहण

आभासवादमें तीन सत्ता मानते हैं : पारमार्थिक सत्ता इसमें कूटस्थ और ब्रह्मकी एक सत्ता हैं; प्रतिभासिक सत्ता और व्यावहारिक सत्ता। जीव-ईश्वररूप प्रतिबिम्बोंकी व्यावहारिक सत्ता हैं जिनका ज्ञानसे मिथ्यात्व निश्चय हो जाता है। अज्ञानकी प्रातिभासिक सत्ता है जो ज्ञानसे नष्ट हो जाती है, यद्यपि अज्ञानके कार्य जो अन्तःकरण शरीर आदि हैं वे देहके प्रारब्ध पर्यन्त प्रतीत होते रहते हैं।

४. **अवच्छेदवाद**में आभास स्वीकार नहीं किया जाता। अन्तःकरण विशिष्ट चेतन जीव है। और अन्तःकरणोपहित चेतन साक्षी है। इसी प्रकार मायाविशिष्ट चेतन ईश्वर है और मायोपहित चैतन्य ब्रह्म है। अन्तःकरण कार्य है और माया उसका कारण। त्वं पदका वाच्य जीव है और लक्ष्य साक्षी। तत्पदका वाच्य ईश्वर है और लक्ष्य ब्रह्म। तत्त्वमसि वाक्य साक्षी और ब्रह्मकी एकता बताता है।

ये सभी प्रक्रियाएँ जिज्ञासुओंके बोधार्थ है तथा उनकी समझके अधिकारके अनुसार हैं। प्रक्रियांमें शास्त्रका आग्रह नहीं है, आत्मा और ब्रह्मकी एकता तथा जगत् और ब्रह्मकी एकतामें शास्त्रका तात्पर्य है। सबमें अज्ञान और मायाको वीचमें रखा गया है जो सबके मतमें अन्ततः मिथ्या विकल्प ही हैं। अन्य महावाक्योंसे भी इसी प्रकार संगति विठा लेनी चाहिए।

करना चाहिए। जैसे '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**'—यह सब ब्रह्म ही है, इसमें सबका जो अर्थ है नामरूपोंकी समष्टि वह बाधित है, मिथ्या है, और 'ब्रह्म' अबाधित है। ब्रह्ममें यह सर्वरूप जगत् उसी तरह दिख रहा है जैसे रज्जुमें सर्प अथवा सीपीमें चाँदी। **ब्रह्मै वेदं सर्वम्, आत्मैवेदं सर्वम्, सर्वं ह्येतद् ब्रह्म,** इदं **सर्वम् यदयमात्मा** इत्यादि श्रुतियोंमें सर्वत्र बाध-पद्धतिसे ऐक्य जानना चाहिए।

३. **विशेषण-विशेष्य पद्धति**—गुण-गुणीके अभेद सम्बन्धके द्वारा जो ऐक्य प्रदर्शित किया जाता है वहाँ विशेषण-विशेष्य पद्धति है। जैसे **नीलं उत्पलम्**—कमल नीला है। यहाँ कमल और उसकी नीलिमाका ऐक्य-प्रसंग है। 'नीलम्' विशेषण है, 'उत्पलम्' विशेष्य है; दोनों एक ही विभक्तिके पद हैं। अतः यहाँ विशेषण-विशेष्य-समानाधिकरण्य है।

४. **मुख्य समानाधिकरण्य पद्धति** : जब वाक्यमें दो पद एक ही विभक्तिमें प्रयुक्त हुए हों और दोनोंकी मुख्यार्थमें एकता विवक्षित हो तो वहाँ मुख्य समानाधिकरण्यकी पद्धति है। जैसे '**सोऽयं देवदत्तः**' :—यह वही देवदत्त है। यहाँ वर्तमानमें देखे जा रहे, किसी व्यक्तिकी भूतकालमें देखे गये, उसी व्यक्तिके साथ एकता बतायी जा रही है। यह न तो अध्यास-शैली है (क्योंकि व्यक्ति एक ही है), न बाध-शैली है (क्योंकि इसमें सः और अयं दोनोंका अर्थ ग्रहण किया जा रहा है) और न विशेषण-विशेष्य शैली है (एक आदमी दूसरे आदमीका विशेषण या विशेष्य नहीं है)। यहाँ 'सः देवदत्तः'—जो पहले देखा हुआ देवदत्त नामका व्यक्ति है वही 'अयं मनुष्यः' यह मनुष्य है—यह भाव है। दोनों मनुष्योंके देश, काल, परिधान, पर्यावरण आदिकी भिन्नताका त्याग करके व्यक्ति-अंशमें (मुख्यांशमें) जो एकता है वही यहाँ 'सोऽयं देवदत्तः' वाक्यसे ग्रहण है। अतः यह मुख्य समानाधिकरण्यका ही उदाहरण है।

तत्त्वमसि, अहं ब्रह्मास्मि, अयमात्मा ब्रह्म, प्रज्ञानं ब्रह्म—सभी महावाक्योंमें जीव और ईश्वरकी उपाधियोंके अन्तरका त्याग करके सच्चिदानन्द अंशमें जो उनकी एकता है, उस एकताका ही ग्रहण है। भाग-त्याग लक्षणा द्वारा यह मुख्य सामानाधिकरण्यकी शैलीसे ऐक्य प्रदर्शन है।

तत्त्वमसिमें तत् और त्वं पदोंका समन्वय; अहं ब्रह्मास्मिमें अहं और ब्रह्म पदोंका समन्वय; अयमात्मा ब्रह्ममें आत्मा और ब्रह्म पदोंका समन्वय;

प्रज्ञानं ब्रह्ममें प्रज्ञानं और ब्रह्म पदोंका समन्वय इसी मुख्य सामानाधिकरण्य शैलीसे निरूपित है।

४ तत्त्वमसि

'तत्' माने 'सत्'। श्रुति कहती है: **यत्तत् तत्सत् यत्सत् तत्तत्।** अर्थात् जो 'तत् है वही सत् है और जो सत् है वही तत् है। तनोति निखिलं जगत् इति तत्—जो सारी दुनियाका ताना-बाना है वह तत् है। सद्विद्यामें वही अद्वितीय चेतन सत्ता है। यह ईश्वरका परमार्थ रूप ब्रह्म है।

'त्वं' माने शुद्ध साक्षी। यह अहंका शोधित स्वरूप है।

'तत्त्वमसि'का अर्थ है कि प्रत्येक व्यक्तिका जो शोधित अहमर्थ है वही ब्रह्म है। परिच्छिन्न-सा प्रतीत होनेवाला तुम्हारा स्वस्वरूप साक्षी और परिच्छिन्नसे प्रतीत होनेवाले ये इदं-वाच्य जागतिक पदार्थ वास्तवमें एक ही अपरिच्छिन्न अखण्ड अद्वितीय वस्तु है। सृष्टिका जो अधिष्ठान ईश्वर रूपसे शास्त्रमें वर्णित है वह और कोई नहीं तुम ही हो, जिसको यह सृष्टि दीख रही है।

आपने रोशनीमें धूलिकण उडते देखे हैं? इसमें तीन चीज हैं: रोशनी, आकाश और धूलिकण। इनके देखनेवाले तुम चौथे हो। विचार करो, इसीप्रकार अनन्त आकाशमें ये घूमते हुए अनन्त ब्रह्माण्ड सूर्यके प्रकाशमें तुम देख रहे हो। तुम्हारी निर्विशेषतारूप सन्मात्रके अनन्त आकाशमें, तुम्हारी उपस्थितिरूप रोशनीमें, ये अनन्त परिच्छिन्न पदार्थ तुम ही देख रहे हो, जरा विचार करो।

जिसने माना कि कण हैं और दीखते हैं तथा कणोंसे ही रोशनी जाहिर हुई है, वे चार्वाकी हो गये। जिन्होंने यह माना कि सब कण एक रोशनीने ही बनाये हैं वे ईश्वरवादी हो गये। जिन्होंने कहा कि कण हैं ही नहीं, सिर्फ एक शून्य अधिष्ठान ही है वे बौद्ध हो गये। उनके मतमें कणोंसे बना आत्मा भी नहीं है। किन्तु जिन्होंने यह माना, और माना ही नहीं जाना भी, कि जिस निर्विशेष अनन्ताकाशको तुम कणोंके अधिष्ठानके रूपमें देख रहे हो, जिस रोशनीमें तुम कणोंको देख रहे हो, वह सर्वाधिष्ठान सर्वके प्रकाशक प्रकाश तुम स्वयं देखनेवाले आत्मा हो और ये कण तुम्हारी ही अन्यथा प्रतीति है, वे वेदान्ती हैं। तत्त्वमसि—वही तुम हो!

सद्विद्याका उपक्रम 'एकमेवाद्वितीयम् सत्'से हुआ और उपसंहार 'तत्त्वमसि'से। इसका मतलब है कि सत्से भिन्न आत्मा नामकी कोई चीज नहीं है। जो सृष्टिसे पहले था, बादमें रहेगा और जिसमें सृष्टि-प्रलय मध्यवर्ती है, वही आत्मा है।

जो अनादि-अनन्त होता है उसका मध्य नहीं होता, प्रत्येक वर्तमान बिन्दु मध्य-बिन्दु है तब उस अनादि-अनन्त सत्में आदि-मध्य-अन्तवाली सृष्टि अलगसे कहाँ होगी? **ऐतदात्म्यमिदं सर्वम्**—यह सब अपना आत्मा ही है।

पहले द्रष्टा-दृश्य विवेक, पंचकोष-साक्षी विवेक, शरीरत्रय-साक्षी विवेक, अवस्थात्रय-साक्षी विवेकसे अपने आपको शुद्ध साक्षी अनुभव करो। देह और देहके समस्त अभिमानोंसे अतीत उनका प्रकाशक कूटस्थ ज्ञान तुम हो। यह त्वं पदार्थ है। किन्तु अभी यह पूर्ण ज्ञान नहीं है, क्योंकि तुमको चारों ओर भेद-सृष्टि ही अनुभव होती है—द्रष्टाका दृश्यसे भेद, एक दृश्यका दूसरे दृश्यसे भेद। अदृश्यकी सत्ता मालूम पड़ती है, कोई इस सृष्टिका रचयिता अवश्य है, वह मुझसे अन्य है, मुझसे अज्ञात है—इसप्रकारका अनुभव अभी तुम्हारा बरकरार है। इसके लिए तत्-पदार्थ ईश्वरके स्वरूपका अनुसन्धान आवश्यक है। कार्य-कारणकी प्रक्रियासे, अधिष्ठान-अध्यस्तकी प्रक्रियासे तथा श्रुति-प्रतिपादित लय-चिन्तन आदि उपासनासे ईश्वरका जो परमार्थ स्वरूप है उसका अनुसन्धान पूर्ण होता है। तदन्तर तत्त्वमसि महावाक्यका विचार अपेक्षित है। इसमे जीव और ईश्वरके स्वरूपमें जो भेद है उसकी बाधक युक्तियोंका तथा उनकी अभेद साधक युक्तियोंका प्रयोग करके मनन करना चाहिए। अन्तमें यदि आवश्यक हो तो अभेद-अर्थमें वृत्तिका अखण्ड प्रवाह भी अपेक्षित है। वैराग्यवान् अधिकारीको इसके ब्रह्माकारवृत्तिका उदय होकर अपने अहंमें ही ब्रह्मत्वका बोध हो जाता है। वेदान्तका यह सिद्धान्त है कि जो कोई भी 'त्वं' और 'तत्'का लक्ष्यार्थ समझता है उनको 'तत्त्वमसि'के श्रवणसे ही बोध हो जाता है। मनन-निदिध्यासनकी प्रवृत्ति मात्र लक्ष्यार्थोंको स्पष्ट करनेमें होती है। यह वेदान्तका करिश्मा ही है कि एक बार 'तत्त्वमसि' सुनो और मुक्त!

[विशेष विवरण कृपया अध्याय १७में सद्विद्याके अन्तर्गत देखें]

५. अहं ब्रह्मास्मि

तत्त्वमसिमें जो त्वं-पद लक्ष्य है, शुद्ध साक्षी चेतन, वही 'अहं-ब्रह्मास्मि' में 'अहं'-पद लक्ष्य है। उसी शुद्ध साक्षीको यहाँ ब्रह्म बताया जा रहा है। ब्रह्म पदका यहाँ वही लक्ष्य है जो तत्पदका है। इस प्रकार 'तत्त्वमसि'-अर्थमें ही 'अहं ब्रह्मास्मि' है। गुरु शिष्यसे कहता है—'तत्त्वमसि', वह ब्रह्म तुम ही हो; और विद्वान् शिष्यकी अनुभूति हो जाती है कि 'अहं ब्रह्मास्मि'—मैं ब्रह्म हूँ।

इसमें अहंको ब्रह्ममें मिलाकर 'अहं ब्रह्मास्मि'की स्वीकृति नहीं है, और ब्रह्मको अहंमें मिलाकर भी नहीं है। दोनों भाव हैं। यदि अल्पज्ञ अहं ब्रह्ममें मिलकर तद्रूप हो गया तो 'अहं ब्रह्मास्मि' कहेगा कौन ? और यदि ब्रह्म अहंमें मिल गया तो वह अनमिला कब था ? यह उपासना, कर्म या योग-समाधिका अभ्यास नहीं है क्योंकि 'अस्मि' क्रिया-पद सत्ताका वाचक है, विधिका नहीं। हाँ यह ठीक है कि पद समन्वयके ज्ञानके बिना भी 'अहं ब्रह्मास्मि'का वृत्त्याभ्यासंकरनेसे अस्मितालम्बनरूप समप्रज्ञात समाधि प्राप्त हो जाती है। यह वाक्य देह-अन्तःकरणका संस्कार करनेवाला पवित्र मन्त्र भी नहीं है क्योंकि इन वाक्योंका किसी भी कर्ममें विनियोग नहीं होता। ऐसा भी नहीं है कि अहंकी ब्रह्मताका प्रतिपादन केवल स्वयं-परामर्श रूप ही हो, वस्तुतः अहं और ब्रह्म दोनों ही निस्सार निस्तत्त्व हों, शून्य हों। वेदान्तमें अहं ब्रह्मास्मि वाक्यका अर्थ इन सब पूर्वपक्षोंसे विलक्षण है।

अहमस्मि—मैं हूँ, यह नित्य अपरोक्ष ज्ञान है। किन्तु 'अहं ब्रह्म अस्मि'— मैं ब्रह्म हूँ यह आत्माकी अपरोक्षताके बावजूद अज्ञात है। उल्टे 'अहं ब्रह्म नास्मि' यह ज्ञान होता है। ब्रह्म अन्यके रूपमें, अज्ञात परोक्ष सत्ताके रूपमें शास्त्रके अवान्तर वाक्योंसे ज्ञात होता है। महावाक्य 'अहं ब्रह्मास्मि' उसी अज्ञात परोक्ष ब्रह्मको हमारी ज्ञात एवं अपरोक्ष आत्माके रूपमें जनाता है। 'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्यकी प्रमाण वृत्तिसे आत्मामें जो अज्ञान कल्पित परिच्छिन्नता प्रतीत होती है वह कट जाती है और ब्रह्मकी अज्ञातता, अन्यता, परोक्षता कट जाती है। इस अज्ञान-निवृत्तिके साथ ही स्वयंप्रकाश चेतन ब्रह्म स्वात्माके रूपमें ज्ञात एवं प्रतिष्ठित हो जाता है।

'अहं ब्रह्मास्मि' अपने आत्मापर अध्यारोपित सभी अध्यासोंका अपवाद-वाक्य है। मैं देह हूँ, यह नैसर्गिक अध्यास है। मैं अमुक नामवाला हूँ, अमुक गोत्र, अमुक वर्ण, अमुक आश्रमवाला हूँ, गोरा-काला मोटा-पतला हूँ, भूखा हूँ, प्यासा हूँ, विद्वान् हूँ, मूर्ख हूँ, कर्ता हूँ, भोक्ता हूँ, सुखी हूँ, दुःखी हूँ, जीव हूँ, संसारी हूँ, परिच्छिन्न हूँ—ये सब अध्यास समाज, धर्म, शास्त्रसे हमारी आत्मापर डाले हुए हैं। इनके रहते तत्तद् व्यवहारमें तो कोई बाधा नहीं है किन्तु आत्माका स्वरूप-साक्षात्कार सम्भव नहीं है, फिर अविद्याके रहते अनर्थका जो सम्पूर्ण संसार है उसकी निवृत्ति भी शक्य नहीं है। 'अहं ब्रह्मास्मि' बताता है कि हमारा जो अहं है वह अपने अर्थ और व्यवहारमें अध्यासरूप है। इस आध्यासिक अहमर्थका शोधन करके अपने अहंको शुद्ध साक्षी-चेतनके रूपमें अनुभव करना चाहिए। इसके लिए द्रष्टा-दृश्य, देहत्रय, अवस्थात्रय, पंचकोष और लयचिन्तन आदि प्रक्रियाओंसे अहंका स्वरूप शुद्ध करना चाहिए। तदनन्तर 'अहं ब्रह्मास्मि' वाक्य द्वारा उसीको सजातीय-विजातीय-स्वगत भेद शून्य अद्वितीय सच्चिदानन्दरूप, सर्वाधिष्ठानरूप अनुभव किया जाता है क्योंकि शोधित आत्माका स्वरूप ऐसा ब्रह्म ही है।

'अहं ब्रह्मास्मि'का यह अर्थ नहीं है कि 'अहं' अर्थात् मोहन या सोहन नामका आदमी ब्रह्म हूँ। यह वेदान्त-ज्ञान नहीं, विरोचनी (आसुरी) ज्ञान है।

बृहदारण्यकोपनिषद्‌में प्रसंग इस प्रकार है: इस सृष्टिके नामरूपके प्राकट्यके पहले ब्रह्म ही था। उसने अपनेको जाना कि 'मैं ब्रह्म हूँ' और जानते ही वह यह सब हो गया। ऋषि वामदेवने जाना कि 'मैं ही मनु था, मैं ही सूर्य हुआ हूँ'। आज भी जो जानता है कि 'मैं ब्रह्म हूँ' वह यह सब हो जाता है।[२] छान्दोग्यमें सृष्टिके नामरूपके पहले सत्‌को बताया, बृहदारण्यकमें ब्रह्मको बताया और एतरेय उपनिषद्‌में आत्माको बताया

---

२. ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्तदात्मानमेवावेत्। अहं ब्रह्मास्मीति। तस्मात्तत्सर्वमभवत्। तद्यो यो देवानां प्रत्यबुध्यत स एव तदभवत्। तथार्षीणां तथा मनुष्याणां तद्धैतत्पश्यन्नृषिर्वामदेवः प्रतिपेदेऽहं मनुरभवं सूर्यश्चेति। तदिदमप्येतर्हि य एवं वेदाहं ब्रह्मास्मीति स इदं सर्वं भवति तस्य ह न देवाश्च नाभूत्या ईशते (बृ० १.४.१०)।

है। इसका अर्थ है कि जो सत् है वही चित् आत्मा है और वही ब्रह्म है। इसीसे छान्दोग्यके 'तत्त्वमसि', वृहदारण्यकके 'अहं ब्रह्मास्मि' और एतरेयके प्रज्ञानं ब्रह्म' महावाक्योंके अर्थोंकी एकता सिद्ध होती है। 'अहं ब्रह्मास्मि' इस ज्ञानका फल बताया कि जाननेवाला सर्व हो जाता है। इसका अर्थ ही है कि 'अहं'की अब्रह्मता और असर्वरूपता अज्ञान-सिद्ध है और ज्ञान निवर्त्य है। आत्मा ही सर्वाधिष्ठान, सर्वोपादान, तत्त्वतः निर्विकार अद्वितीय किन्तु विवर्तरूपसे सर्व हो रहा है।

"जो मैं है सोई परमात्मा है, जो परमात्मा है सोई मैं है और जो दृश्य जगत् है वह भी मैं-से (आत्मतत्त्वसे) पृथक् नहीं है"—इस ज्ञानका उल्लेख और ज्ञापक प्रमाण ही 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य है। यह ज्ञान न स्वर्गमें मिलेगा, न समाधिमें और न भावमें। इसके लिए यहीं, अभी, जागते हुए ही महावाक्यजन्य वृत्तिकी अपेक्षा है।

६. प्रज्ञानं ब्रह्म

प्रज्ञायते अनेन सर्वमिति प्रज्ञानं : जिसके द्वारा सर्वको जानता है और सर्वके अभावको भी जानता है उसका नाम प्रज्ञान है। वह प्रज्ञान तुम्हारा आत्मा है, तुम हो, और वही ब्रह्म है। ज्ञाता, ज्ञानकरण और ज्ञेयकी त्रिपुटी जिस ज्ञानमें प्रतीतिमात्र है वह ज्ञाता-ज्ञान-ज्ञेयकी त्रिपुटीसे रहित ज्ञान ही प्रज्ञान है। प्रज्ञान अर्थात् प्रकृष्ट ज्ञान, श्रेष्ठज्ञान। ज्ञानमें भेद स्वीकार करना ज्ञानको परिच्छिन्न बनाना है परन्तु ज्ञान परिच्छिन्न नहीं होता, वह तो परिच्छिन्नताका प्रकाशक होता है।

जाग्रत् आदि अवस्थाओं, तद्गत वस्तुओं और उनके अभिमानियोंका जो एक प्रकाशक है वह साक्षी तुम ही तो हो। यह महावाक्य कहता है कि तुम अपरिच्छिन्न ब्रह्म हो।

जो अनन्त अपरिच्छिन्न वस्तु होगी वह बुद्धिकी विषय नहीं होती, नहीं हो सकती। होती या हो सकती होती तो तुम उसको अभीतक जान ही गये होते। अनन्त बुद्धिका अविषय है। क्या आप कालका आदि या अन्त देख सकते हैं? क्या आप देशगत पूर्व-पश्चिमका ओर-छोर बुद्धिमें देख सकते हैं? है हीं नहीं तो कोई देखेगा भी क्या? बुद्धि तो केवल परिच्छिन्नका ही ग्रहण कर सकती है। ऐसी स्थितिमें अनन्तत्वका ज्ञापक

कोई प्रमाण चाहिए। वही ज्ञापक प्रमाण हैं ये महावाक्य और उनमेंसे एक है 'प्रज्ञानं ब्रह्म।' अनन्त-सी दिखनेवाली सृष्टिके मूलमें एक परोक्षतया कल्पित अनन्त सच्चिदानन्द तत्त्वको स्वीकार करके तथा उसकी अपरोक्ष सच्चिदानन्दरूप आत्मतत्त्वके साथ एकताका निरूपण करके महावाक्य आत्मामें आरोपित सभी परिच्छिन्नताओंका निषेधमात्र करते हैं। परिच्छिन्नतामात्रके निषेधसे उपलक्षित जो ज्ञानमात्र आत्मा (प्रज्ञान) है वही ब्रह्म है, यह तात्पर्य है : अहं प्रज्ञानं ज्ञानमात्रम् ब्रह्म अद्वितीयम् परिपूर्णम् अस्मि इत्यर्थः।

'प्रज्ञानं' शोधित अहं (त्वं-पदार्थ) है और 'ब्रह्म' तत्पदार्थ। (विशेष विवरणके लिए देखिये अध्याय १४—३. स्वप्रकाश ब्रह्मसुख)।

७. अयमात्मा ब्रह्म

यह महावाक्य माण्डूक्योपनिषद् तथा बृहदारण्यकोपनिषद् दोनोंमें आया है। इसमें 'अयम्' पदका प्रयोग करके अंगुल्या-निर्देशसूचक अभिनयसे आत्माको ब्रह्म बताया गया है। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इसी देहमें जो अहं-रूपसे विख्यात अपरोक्ष आत्म तत्त्व है वही ब्रह्म है।

माण्डूक्यके पहले मन्त्रमें बताया है कि ओंकार ही सर्व है। फिर दूसरे मन्त्रमें हेतु देते हैं - क्योंकि यह सब ब्रह्म है : **सर्वं ह्येतद् ब्रह्म** (मां० २)। ब्रह्म वह वस्तु है जिसका नाम ओंकार है। अभिन्न निमित्तोपादन कारण होनेसे यह सब ब्रह्म है और ब्रह्मका वाचक 'प्रणव' (ओंकार) होनेसे ओंकार यह सब है, ऐसा कहा जाता है। वह ब्रह्म क्या है, कहाँ है? उसका मुझसे क्या सम्बन्ध है? इस प्रश्नके उत्तरमें श्रुति कहती है कि— **अयमात्मा ब्रह्म**। वह ब्रह्म तुमसे अन्य नहीं है, परोक्ष नहीं है, वही जो तुम इस शरीरमें हो, ज्ञानस्वरूप आत्मा, वही ब्रह्म हो। इसको कैसे जानें? तो कहा—**सोयमात्मा चतुष्पात्**; अर्थात् वह ब्रह्म जो यह सब जगत्के रूपमें प्रकट है और जो प्रत्येककी आत्मा है, चार पाद (चरण) वाला है— विश्व, तैजस, प्राज्ञ और तुरीय। इनमें जो तुरीय पाद है। वही आत्मा है और वही ब्रह्म है। इसप्रकार 'अयमात्मा ब्रह्म'में 'आत्मा' तुरीयतत्त्वका वाचक है और 'ब्रह्म' पद ओंकारवाच्य ब्रह्मतत्त्वका वाचक है। यह सब जगत्के रूपमें प्रकट है :

सर्वं ह्येतद् ब्रह्म। अयमात्मा ब्रह्म। सोऽयमात्मा चतुष्पात् (मां० २)

आत्माका प्रथम पाद विश्व है जिसकी अभिव्यक्ति जाग्रत् अवस्थामें देह-मन-इन्द्रियोंके द्वारा स्थूल पदार्थोंके ज्ञाता, भोक्ता-कर्ताके रूपमें होती है। इस पादमें आत्मा मानो अपनेसे बाहर देखनेवाला (बहिष्प्रज्ञ) है। आत्माका दूसरा पाद तैजस है, जिसकी अभिव्यक्ति स्वप्न-अवस्थामें सूक्ष्म भोगोंके ज्ञाता कर्ता-भोक्ताके रूपमें होती है। इस पादमें आत्मा मानों अपनेमें ही प्रज्ञावाला (अन्तःप्रज्ञ) है। आत्माका तीसरा पाद है प्राज्ञ जिसकी अभिव्यक्ति सुषुप्ति-अवस्थामें 'अन्यके अदर्शनरूप' दृश्यके द्रष्टाके रूपमें होती है। इस पादमें आत्मा मानों सर्वप्रज्ञानको अपनेमें घनीभूत करके आनन्दका भोग कर रहा हो। परन्तु इस अवस्थामें भी जाग्रत्-स्वप्नके दर्शन-ज्ञानका बीज नष्ट नहीं होता तभी तो सुषुप्ति टूटनेपर पुनः जाग्रत्-स्वप्नकी अवस्थाएँ ज्यों-की-त्यों प्रकट हो जाती हैं। अतः प्राज्ञ बीजावस्था है विश्व और तैजसकी। इनमें आत्मा कौन है? आत्मा इन तीनों अवस्थाओंके निषेधसे उपलक्षित चेतन-तत्त्व है। वही तुरीय है। वही साक्षी है। बहिष्प्रज्ञ विश्वमें-से 'बहिः' उपाधि छोड़ देनेपर और 'स्थूलभुक्'में-से 'स्थूल' उपाधि छोड़ देनेपर 'विश्व' साक्षी आत्मा ही है। इसी प्रकार अन्तःप्रज्ञ तैजसमें 'अन्तः' उपाधि और सूक्ष्मभुक्में-से 'सूक्ष्म' उपाधि छोड़ देनेपर तैजस' भी साक्षी आत्मा ही है। 'प्राज्ञ' भी साक्षी आत्मा ही है। बस, इसमें बीजत्व तथा अदर्शनरूप उपाधि छोड़ देनी है। तात्पर्य यह कि अवस्थात्रय साक्षी आत्मा ही तुरीय है और अवस्थाओंके भेदसे साक्षीमें भेद नहीं होता।

यह साक्षी देहमें है, यह तो समझमें आता है। क्या देहके बाहर भी है? असलियत यह है कि देह और उसका भीतर-बाहर समूचा देश साक्षीका ही भास्य है। ज्ञानस्वरूप होनेसे देश, काल, वस्तु और उनके भेदकी कल्पना ज्ञानमें ही हुई है। अतः सब-का-सब ज्ञानके पेटमें ही है। इनकी प्रतीति ही इनका अस्तित्व है और वह इनके चित्स्वरूप साक्षीसे पृथक् नहीं है। भान (प्रतीति) ज्ञान ही है। अतः यह साक्षी अद्वैत ब्रह्म है।

सोचो – जाग्रत्-अवस्थाकी उपाधिसे परिच्छिन्न चैतन्य 'विश्व' मैं नहीं हूँ। स्थूल समष्टिकी उपाधिसे परिच्छिन्न चैतन्य 'विराट्' मैं नहीं हूँ। स्वप्नावस्थाकी उपाधिसे परिच्छिन्न चैतन्य 'तैजस' मैं नहीं हूँ। सूक्ष्म

समष्टिकी उपाधिसे परिच्छिन्न चैतन्य हिरण्यगर्भ मैं नहीं हूँ। सुषुप्ति-अवस्थाकी उपाधिसे परिच्छिन्न चैतन्य मैं नहीं हूँ। बीज-समष्टिकी उपाधिसे परिच्छन्न 'ईश्वर' मैं नहीं हूँ। तब मैं क्या हूँ? मैं इन अवस्थाओं और व्यष्टि-समष्टि उपाधियोंका प्रकाशक हूँ और मेरे बिना इनका अस्तित्व भी नहीं रहता। अतः इनका अधिष्ठान भी मैं हूँ। इस प्रकार मैं साक्षी आत्मा ब्रह्म हूँ।

बृहदारण्यकमें आया है: **तदेतद् ब्रह्म अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम् अयमात्मा ब्रह्म सर्वानुभूः इत्यनुशासनम्** (बृ० २.५.१९)। वह यह ब्रह्म अपूर्व है (इसका कोई कारण नहीं है) अनपर है (इसका कोई कार्य नहीं है) अनन्तर है (विजातीय द्रव्यसे रहित है) अबाह्य है। यह आत्मा ही ब्रह्म है। यही सबका अनुभव करनेवाला है। समस्त वेदान्तोंका यही उपदेश है।

यहाँ 'सर्वानुभूः' कहकर आत्माको साक्षी लक्षित किया है। जो साक्षी है सो ब्रह्म है और जो ब्रह्म है सो साक्षी है।

यच्चाप्नोति यदादत्ते यच्चात्ति विषयानिह।
यच्चास्य संततो भावस्तस्माद् आत्मेति कथ्यते॥

'जो जाग्रत्-अवस्थामें विषयोंको ग्रहण करता है, जो स्वप्नावस्थामें विषयोंकी कल्पना कर लेता है, जो सुषुप्ति-अवस्थामें विषयोंको खा जाता है, जो तीनों अवस्थाओंमें एक-सा रहता है वही आत्मा कहलाता है।' यह जो आत्मा है, वही सर्वाधिष्ठान, सर्वावभासक, अभेदस्वरूप ब्रह्म है।

८. ऐक्यसाधक युक्तियाँ

• एक प्रश्न है—जीवको ईश्वर होनेमें कितनी देर लगती है? उत्तर है—जितनी एक हिन्दूको मनुष्य होनेमें। हिन्दू मनुष्य तो है ही। हिन्दुत्वका अभिमान हटा नहीं कि हिन्दू मनुष्य ही है। इसीप्रकार जीव ईश्वर ही है, जीवत्वका अभिमान हटा नहीं कि जीव ईश्वर ही है। देहाभिमान ही जीवत्व है। बस पंचकोष, पंचभूत, देहत्रय, अवस्थात्रय, आदिका विवेक करके चेतन जीवको देह-इन्द्रिय-मनकी उपाधिसे पृथक् शुद्ध साक्षी अनुभव करना है। उधर उपाधिके कारण मायासे ईश्वरको पृथक् अनुभव करना है। अनुभवमें शुद्ध साक्षी और ईश्वर दो नहीं आते। निरुपाधि वस्तु एक ही होती है। अनेकता सारी-की-सारी उपाधिमें है।

● बड़ी प्रसिद्ध बात है—दृश्यसे द्रष्टा पृथक् होता है; परन्तु क्या यह भेद वास्तविक है ? नहीं। द्रष्टा दृश्यको देखता है और दृश्याभावको भी देखता है। दृश्याभाव अपने अधिष्ठानसे पृथक् नहीं हो सकता। अतः द्रष्टा ही दृश्यका अधिष्ठान है। इसलिए द्रष्टा तो दृश्यसे पृथक् है परन्तु दृश्य द्रष्टासे पृथक् नहीं हो सकता। दृश्य उसीमें दिख रहा है जहाँ दृश्यका अभाव दिखता है। अतः अपने अभावके अधिकरणमें प्रतीत होनेके कारण दृश्य मिथ्या है।

द्रष्टा और दृश्यके बीच क्या कोई सन्धि है कि यहाँ तक द्रष्टा और यहाँ तक दृश्य ? द्रष्टा और दृश्यके मध्य क्या है ? न तो वह दृश्य होगा और न द्रष्टा क्योंकि यह तो प्रश्न ही है। शायद दृष्टि होगी ! मगर वह तो द्रष्टाका स्वरूप ही है। दर्शनका करण होगा; मगर वह भी तो दृश्य ही होगा। असलमें द्रष्टा और दृश्यके बीच द्रष्टाके अपरिच्छिन्नत्वका अज्ञान ही है। जहाँ द्रष्टा और दृश्यकी भेदक सन्धि ही अज्ञान है, वहाँ द्रष्टा और दृश्यका भेद भी अज्ञानमूलक ही है।

● द्रष्टा-द्रष्टामें भेद कहाँ ? जहाँ बुद्धिकी उपाधिसे युक्त द्रष्टाकी बात आती है वहाँ द्रष्टा परिच्छिन्न होता है। तब उसका नाम प्रमाता होता है। प्रमाता-प्रमातामें भेद है क्योंकि बुद्धि-उपाधिका भेद है। किन्तु जो बुद्धिकी उपाधिको छोड़कर शुद्ध द्रष्टा है उसमें भेद नहीं हो सकता। इसका अर्थ है कि भिन्न-भिन्न अन्तःकरणोंमें द्रष्टा भिन्न-भिन्न नहीं है।

यदि उपाधि-भेदसे द्रष्टाका भेद मानें तो पृथक्-पृथक् देशमें पृथक्-पृथक् उपाधि है। अतः प्रश्न होगा कि उपाधि दैशिक है या देश औपाधिक है ? अर्थात् देशमें भिन्न-भिन्न उपाधियाँ हैं या उपाधिमें भिन्न-भिन्न देशोंकी प्रतीति हो रही है ? प्रथम पक्षमें उपाधिकी निवृत्ति होनेपर भी देशकी निवृत्ति नहीं होगी; तब मोक्ष भी नहीं होगा। द्वितीय पक्ष ठीक नहीं है क्योंकि भिन्न-भिन्न देश उपाधिका आश्रय है यह कहना नहीं बन सकता। अतः सम्पूर्ण विश्वको प्रतीत करानेवाली उपाधि एक है—अविद्या, और इसलिए उसका द्रष्टा भी एक है। शेष सब जीवाभास हैं।

● जीव और ईश्वरके मध्य क्या है ? जीव और जीवके मध्य क्या है ? जीव और जगत्के मध्य क्या है ? जगत् और जगत्के मध्य क्या है ? जगत् और ईश्वरके मध्य क्या है ? सबका एक ही उत्तर है—अज्ञान,

अधिष्ठान और प्रकाशककी एकताका अज्ञान, अज्ञानके आश्रय और विषयकी एकताका अज्ञान। सारे भेद अज्ञान-जन्य हैं, अज्ञान ज्ञानसे निवर्त्य है, अभेद ज्ञानका फल है।

जो लोग जीव, जगत्, ईश्वरके भेदमें कर्म या वासनाको हेतु मानते हैं वे धर्म और उपासनासे मोक्ष मानते हैं किन्तु उनका मोक्ष नित्य नहीं हो सकता। वेदान्त भेदमें मात्र अज्ञानको हेतु मानते हैं अतः वे ज्ञानसे मोक्ष मानते हैं और इनका मोक्ष नित्य है।

● जीव और ईश्वर दो हैं तो कैसे? वस्तुतः दो हैं कि देशतः दो हैं कि कालतः दो हैं? यदि कालतः दो हैं, एक कालमें ईश्वर और एक कालमें जीव, तब दोनों ही विनाशी हुए और तत्त्व काल सिद्ध हुआ! यदि देशतः दो हैं, एक देशमें ईश्वर और एक देशमें जीव, तो दोनों ही परिच्छिन्न हुए; फिर दो देशोंका भेदक कौन होगा? वस्तुतः दो हैं नहीं क्योंकि दोनों ही सच्चित् हैं। यदि कहें कि ईश्वर आनन्दस्वरूप है और जीव उस आनन्दका भोक्ता है तो ईश्वर जीवके लिए हुआ, जीव ईश्वरकी अपेक्षा महान् हुआ! यदि दोनोंके कार्योंमें अन्तर है तो वह उपाधिकृत है वास्तविक नहीं। ईश्वरकी उपाधि कारणरूपा माया है और जीवकी कार्यरूप अन्तःकरण। इससे सिद्ध होता है कि जीव-ईश्वरके सारे भेद जीवकी उपाधिमें अभिमानके कारण हैं। असलमें एक ही चेतन देहाभिमानके कारण जीव और निरभिमानके कारण ईश्वर कहलाता है।

● शास्त्रमें जीव और ईश्वरका भेद और अभेद दोनों वर्णित हैं; और दोनों सप्रयोजन हैं। भेदमें उपासनाका विधान है। जिससे वासनाका क्षय और अन्तःकरणमें ज्ञानप्रवणताका उदय होता है। अभेद सत्यका उल्लेखमात्र है, वह तत्त्वज्ञानकी पूर्णता है।

●

अष्टम खण्ड

वेदान्तका साधन और फल

अध्याय १९

वेदान्तका साधन और फल

१. साधन और फल

वेदान्तका साधन और फल अत्यन्त विलक्षण है। धर्म आदेशमूलक है, उपासना श्रद्धामूलक है और वेदान्त प्रमाणमूलक है। धर्ममें विधिकी प्रधानता है। उपासनामें प्रेम और आवृत्तिकी प्रधानता है। वेदान्तमें श्रुति-के अविरुद्ध नवनवोन्मेषशालिनी बुद्धि (विचार) की प्रधानता है, और यही वेदान्तका साधन है। दूसरे शब्दोंमें गुरुमुखसे औपनिषद-सिद्धान्तका निश्चय–यह श्रवण है। श्रुत अर्थमें युक्ति, तर्क तथा अन्यप्रमाणसे शास्त्रकी एक-वाक्यार्थता निश्चय करना मनन है। महावाक्योंके श्रुत–मत अर्थमें बुद्धिको प्रवाहित करना निदिध्यासन है। उत्तम जिज्ञासुको श्रवणके द्वारा ही महावाक्यजन्य ब्रह्माकार वृत्तिका उदय हो जाता है। किन्तु मध्यम और कनिष्ठ जिज्ञासुको मनन–निदिध्यासन भी करना पड़ता है। यही ब्रह्माकार-वृत्ति अज्ञानका नाश करती है, अतः वेदान्तमें साधन-पक्षमें यही साधनकी सीमा है।

धर्मका फल सुख है; वह स्वर्गसुख भी है और अगली योनियोंमें शुभ भोग-सुख भी है। उपासनाका फल है उपास्यकी तदाकारवृत्ति तथा इष्टका दर्शन। सगुण-साकारकी उपासनाका फल है साकार इष्ट-दर्शन, और सगुण-निराकारकी उपासनाका फल है अन्तर्यामीका मानस-प्रत्यक्ष जिससे बुद्धि उसीके प्रति समर्पित हो जायेगी। वेदान्तमें ब्रह्मका मानस-प्रत्यक्ष भी नहीं हो सकेगा क्योंकि ब्रह्म निर्गुण-निराकार है। अतः वेदान्तमें ब्रह्मात्मैक्य-विषयक जो अविद्या है उसकी निवृत्ति मात्र ही अपेक्षित है। ब्रह्माकारवृत्ति केवल अविद्या-निवर्तक है। ब्रह्म तो मुमुक्षुकी आत्मा है ही। अविद्या-निवृत्ति ही वेदान्तका फल है।

सम्पूर्ण भावना और संस्कारोंका निषेध करके—वृत्तिमात्रका निषेध करके अर्थात् फल-व्याप्तिका भी निषेध करके अपने स्वरूप परमात्माका

जैसा वह है वैसा ही साक्षात्कार करना अर्थात् तद्विषयक अविद्याको निवृत्तिके लिए ब्रह्माकारवृत्तिका उदय करना—यही वेदान्तका साक्षात् साधन है।

वृत्तिज्ञान (ब्रह्माकारवृत्ति) वेदान्तका फल नहीं है, क्योंकि वृत्तिज्ञान अविद्याको निवृत्त करके स्वयं भी निवृत्त हो जाता है। अविद्याकी निवृत्ति होनेसे सम्पूर्ण अनर्थकी निवृत्ति होकर स्वतःसिद्ध परमानन्दस्वरूप नित्य-प्राप्त अपने आत्मस्वरूपमें स्वतःसिद्ध स्वाभाविक अवस्थिति—यही वेदान्तका फल है। यही मोक्षका स्वरूप है।

प्रश्न : वृत्ति स्वयं अज्ञानका कार्य है। तब वृत्तिज्ञानसे अविद्याकी निवृत्ति कैसे हो सकती है ?

उत्तर : जहाँ निवर्त्य-निवर्तक भाव सच्चा होता है वहाँ तो कार्य-भूत वृत्तिज्ञानके द्वारा कारणभूत अज्ञानकी निवृत्ति नहीं होती लेकिन अविद्याके साथ जिसका भी कार्य-कारणभाव है, वह सब झूठा है। अविद्यासे जो वस्तु उत्पन्न होती है वह वास्तवमें उत्पन्न नहीं होती। वहाँ कार्य-कारण-भाव केवल भ्रम है। अतः वृत्तिज्ञान अविद्याके निवारणमें समर्थ है। अविद्याके साथ प्रपंचका कार्यकारणभाव कल्पित है। जहाँ कल्पित कार्य-कारण भाव होता है वहाँ कार्यकी निवृत्तिसे कारणरूप अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है।

वास्तवमें अपने स्वरूपमें साधन और फलभाव दोनों ही नहीं हैं! तत्त्वतः वृत्ति आवरण-भंग नहीं करती, उसपर आरूढ़ चेतन ही करता है। महावाक्यजन्य ब्रह्माकारवृत्तिपर आरूढ़ चेतन अविद्याको निवृत्त करता है। तदनन्तर वृत्ति स्वयं भी बाधित हो जाती है। चेतन ही शेष रहता है।

एक बार पुनः हम मुमुक्षुको उसकी आदि प्रेरणाकी याद दिलाते हैं जिसके अधीन उसकी वेदान्त-ज्ञानमें प्रवृत्ति हुई थी अर्थात् दुःखकी आत्यन्तिक निवृत्ति एवं परमानन्दकी प्राप्ति अथवा मोक्ष। दुःख आविद्यक है, सुख आत्मनिष्ठ है। महावाक्यजन्य अखण्डार्थधी (ब्रह्माकारवृत्ति)के द्वारा अविद्याकी निवृत्ति हो गयी तो समस्त दुःखोंका बीज ही नष्ट हो गया। तदनन्तर अवशेष क्या रहा ? स्वप्रकाश ब्रह्मसुख। यही मोक्ष है। अविद्या-निवृत्तिसे उपलक्षित आत्माका नाम ही मोक्ष है। वेदान्त-विद्याका यही फल है।

मोक्ष कोई अवस्था नहीं है, शरीरकी, मनकी या साधनाकी कोई स्थिति नहीं है। वह स्व-स्वरूप आत्माका ही एक नाम है। मोक्ष अभेद-दृष्टि है, निरतिशय तृप्ति है, निरंकुश स्वातन्त्र्य है। मोक्षमें विदेह-मोक्ष और जीवन्मुक्तिका भेद आविद्यक ही है। तत्त्वज्ञ तो ज्ञानसमकाल ही मुक्त है। शास्त्रमें विदेह-मोक्ष मन्द मुमुक्षुके लिए आश्वासन है और जीवन्मुक्ति आत्म-बोधकी प्रशंसा है, अतः दोनों ही अर्थवादके अन्तर्गत हैं। **'न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति इहैव प्रविलीयन्ते'**—इस श्रुतिमें मुक्तपुरुषोंके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता—ऐसा कहकर स्पष्टतः विदेह-मुक्ति (मरनेके बाद मोक्ष)का खण्डन किया गया है। **'स स्वराड् भवति' 'न कर्मणा वर्धते नो कनीयान्'** इत्यादि श्रुतियोंमें जीवन्मुक्तके निरंकुश स्वातन्त्र्यका वर्णन है : 'वह शहंशाह हो जाता है। कर्म करनेसे वह गौरवको प्राप्त नहीं होता और न करनेसे वह हीन अनुभव नहीं करता।'

प्रश्न : मुक्त कौन है ?

उत्तर : असलमें मुक्त कोई होता नहीं। जिसको बन्धनका भ्रम था, अभिमान था, उसका वह भ्रम और अभिमान ज्ञानसे निवृत्त हो जाता है। आत्मा नित्यमुक्त है—न कभी बद्ध था न मुक्त हुआ। देह सदैव प्रकृतिके नियमोंसे बद्ध था, है और रहेगा। चिदाभास जीवमें बन्धनका भ्रम था क्योंकि उसे ब्रह्मसे पृथक् स्वसत्ताका भ्रम था। वह भ्रम निवृत्त हो गया ज्ञानसे और उसने जाना—मैं तो नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्त-ब्रह्म ही हूँ। विमुक्तश्च विमुच्यते—मुक्त ही मुक्त होता है, यह वार्तिकारका उद्घोष है।

मुक्तिमें भूमिकाओंका भेद भी पारमार्थिक नहीं है। प्रत्येक देहधारी अपने स्वभावमें ही वर्तता है चाहे वह ज्ञानी हो या अज्ञानी।

प्रश्न : क्या ज्ञानीका प्रारब्ध शेष रहता है ?

उत्तर : प्रारब्ध किसका ? ज्ञानीके लिए शरीर असत् है! असत्का क्या प्रारब्ध ! आत्माका प्रारब्ध हो नहीं सकता। व्यवहारमें भी प्रारब्ध शरीरका होता है आत्माका नहीं। देहसे तादात्म्यके कारण उसे अज्ञानी जीव अपना प्रारब्ध मानता है। ज्ञान होनेसे यह तादात्म्य मिट जाता है। अतः बोधवान् अपना कोई प्रारब्ध नहीं मानता। तथापि अज्ञानियोंका बोधवान्के शरीरकी चेष्टाओंकी संगति लगानेके लिए शास्त्र 'ज्ञानीके

प्रारब्धकी' भी चर्चा करता है। बोधवान्‌की दृष्टिमें सृष्टि नित्य-नूतन है, ब्रह्माभिन्न है, फिर अपने-परायेके प्रारब्धके लिए अवकाश कहाँ है ?

२. निर्विवाद सत्य

आत्मा किसी इन्द्रियका विषय नहीं है। संवेदनके साथ उसका कोई सम्पर्क नहीं है। स्वयं साक्षी भी उसको दृश्य नहीं बना सकता। ऐसी स्थितिमें उस अमत वस्तुके सम्बन्धमें मतभेद होना सर्वथा असंगत है। जितने भी मतभेद हो सकते हैं वे दृश्य, संवेद्य अथवा इन्द्रियगोचरके सम्बन्धमें ही हो सकते हैं। जो सब मतोंके उदय-विलयका प्रकाशक, प्रमाणनिरपेक्ष, स्वतःसिद्ध, स्वयं प्रकाश है उसको मतवादियोंका कोलाहल कभी स्पर्श नहीं कर सकता। दिग्भेद भी मति है, काल-भेद भी मति है, वस्तुभेद भी मति है, सजातीय-विजातीय-स्वगतभेद भी मति है। मति अर्थात् नाम, रूप क्रियाकी अभिव्यक्ति। उसके अनादि या सादि होनेका आस्तिक-नास्तिक विभाग हो सकता है, परन्तु स्वयंके अभावका अनुभव तो कभी हो ही नहीं सकता। अतः स्पष्ट है कि सम्पूर्ण विवादों एवं विरोधोंके स्पर्श-विमर्शसे विनिर्मुक्त आत्मा एक-अनेक, सगुण-निर्गुण, सत्-असत्, चित्-अचित्, सुख-दुःख, परिच्छेद-अपरिच्छेद—इन विभागोंकी विषय-कक्षामें निक्षिप्त नहीं है। यही कारण है कि मतवादियोंके वाद-विवाद अपने आत्माका स्पर्श नहीं करते। उनके कुछ भी कहने, मानने या सोचनेसे आत्मामें कोई विशेषता दूषण-भूषणकी उपस्थिति नहीं होती। लौकिक व्यवहारको देखकर आत्माके सम्बन्धमें जितने ऊहापोह किये जाते हैं—शून्य-सत्, चेतन-जड़, कर्ता-अकर्ता, भोक्ता-अभोक्ता, लोक-परलोकगामी, विनाशी-अमृत, सुखी-दुःखी, पापी-पुण्यात्मा, वह सब केवल लोकदृष्टिमूलक निराधार अनुमानमात्र अर्थात् कल्पनामात्र होते हैं।

अनुमानके लिए आधार चाहिए। वह प्रत्यक्षपूर्वक होता है, उसके लिए व्याप्तिग्रह अथवा परामर्श चाहिए। यह सब लोकव्यवहारमूलक ही होता है। श्रौत, अमत, अप्रमेय, अविज्ञात वस्तुके सम्बन्धमें इस प्रकारका कोई भी हेतु उपलब्ध नहीं होता। अतः वेदान्तैकवेद्य वस्तुके सम्बन्धमें तदितर प्रमाणोंकी कोई गति नहीं है, उनका कोई मूल्य नहीं है।

बात यह है कि प्रत्येक इन्द्रिय अपने-अपने विषय, उनकी जाति और अभावको ग्रहण करती है, परन्तु कोई भी इन्द्रिय अपनी शक्ति-गतिसे

परेकी वस्तुको ग्रहण नहीं कर सकती। सम्पूर्ण शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध ग्रहण भी नहीं किये जा सकते तथा सब इन्द्रियाँ समान शक्तिशाली भी नहीं होतीं। अपनी-अपनी शक्तिकी अपेक्षासे अपने-अपने मण्डलके अन्तर्गत प्रत्यासन्न विषयको ही जान सकती हैं। इनकी गति-मति-रति, शक्ति-विभक्ति-अभिव्यक्ति सब-की-सब मर्यादित हैं। यही कारण है कि जब हम अपने आत्मासे अन्यका अनुसन्धान करनेके लिए अग्रसर होते हैं, तब अन्ततोगत्वा अज्ञानान्धकारमें ही परिसमाप्ति हो जाती है और उसीमें हम कुछ-न-कुछ कल्पना-जल्पना कर बैठते हैं तथा अपनी मान्यताके दुराग्रहमें आबद्ध हो जाते हैं। उदाहरणार्थ यदि कोई पूर्व-पश्चिम, उत्तर-दक्षिण या अधः-ऊर्ध्व सीमाका अन्वेषण करने चले तो उसकी शक्ति ही क्षीण होगी, सीमा नहीं मिलेगी। क्योंकि उसके भी परे और उसके भी परे वही-वही कल्पित हो जायेगा। देश, कालका आदि-अन्त किसी देश, कालमें नहीं मिलेगा, वह अन्तर्देशके उस सूक्ष्मतम प्रदेशमें मिलेगा जहाँ उसका भान होता है। देशका आदि-अन्त किसी अन्य अनन्तमें नहीं है, भानस्वरूप अनन्त आत्मामें ही है। यही स्थिति कालकी भी है। आप भूतकी आदि और भविष्यका अन्त ढूंढने जाइये, कभी मिलेगा तो नहीं, आपकी गवेषणा-शक्ति क्षीण होकर मूर्च्छित हो जायेगी। जब भूत-भविष्यका आदि-अन्त नहीं मिलेगा तब वर्तमानकी इयत्ता निश्चय करनेका कोई गणित ही नहीं रहेगा। वर्तमानको ढूंढते-ढूंढते भी वही दशा हो जायेगी जो भूत-भविष्यकी सीमा निर्धारित करनेमें होगी। ये सभी मर्यादाएँ केवल कल्पित होंगी और यह कल्पना भी केवल अज्ञान-प्रसूत भ्रम ही होगी। इसी प्रकार पिता-पितामहका अनुसन्धान करें, बीज-वृक्षका अनुसन्धान करें तो अनादि कहकर भले ही संतोष कर लें। अनादित्वकी मान्यता भी अज्ञानका ही एक परिणाम है। बाह्य वस्तुओंकी नित्यताका भी यही स्वरूप है।

वस्तुतः सत्यका साक्षात्कार करनेके लिए देशान्तर, कालान्तर या वस्त्वन्तरकी ओर दौड़ना और उनके ओर-छोरको प्राप्त कर लेनेका प्रयास करना निरर्थक है। उनके स्वरूपको जाननेके लिए दृश्यकी ओर अनु-सन्धानका मुख मोड़ना पड़ेगा। द्रष्टा ही ज्ञान है, भान अनुभव है। अतः दृश्यसे विमुख होकर अपने आन्तर आत्माकी ओर उन्मुख होना ही एकमात्र मार्ग है। इसीको जिज्ञासा अर्थात् ज्ञानके स्वरूप जाननेकी इच्छा कहते हैं। आप स्वयं देख सकते हैं कि आप सत्यको ज्ञानका विषय—ज्ञेय

बनाना चाहते हैं अथवा स्वयं ज्ञानस्वरूप आत्मासे जो विमुखता है, अपना ही बनाया हुआ आवरण है, उसको भंग करना चाहते हैं ?

आप मानिये या मत मानिये, आप अपने विचारकी तलवारसे आवरण-भंग करनेके लिए चाहे जितनी तलवारका वार कीजिये किन्तु यदि दृश्यमें महत्त्वबुद्धि है, चाहे वह कहीं भी क्यों न हो अन्तर्दृश्यमें, बहिर्दृश्यमें, शरीरीमें, अशरीरीमें, अहंमें, इदंमें, त्वंमें, तत्में तो आप अपनी उस मानी हुई महान् वस्तुको काट नहीं सकेंगे। अतएव कालान्तरकी समाधिकी कल्पना छोड़िये, देशान्तरके ब्रह्मलोकका लोभ छोड़िये, वस्त्वन्तरकी उपलब्धिका मोह छोड़िये; आप दृढ़तासे अपने उस भानस्वरूप आत्माका अनुसन्धान कीजिये जिससे सब प्रकाशित होता है और जिसको अपनेको या किसी दूसरेको प्रकाशित करनेके लिए प्रकाशान्तरकी आवश्यकता नहीं।

इसमें सन्देह नहीं कि जबतक दृश्यकी किसी भी आन्तर-बाह्य, सन्निकृष्ट-विप्रकृष्ट रूपरेखामें महत्त्वबुद्धि, हेयबुद्धि, सुखबुद्धि, उपादेयबुद्धि दुःखबुद्धि, बनी रहेगी, तबतक आपकी बुद्धि अपनेको प्रकाश देनेवाले सत्य आत्माका आवरण-भंग करनेमें समर्थ नहीं होगी। बुद्धि अपने द्वारा प्रकाशितको भी देखना चाहेगी और रागकी रक्तिमा तथा द्वेषकी कालिमासे दृश्यको सटाने-हटानेमें संलग्न रहेगी और विमल-धवल होकर अपने स्वप्रकाश अधिष्ठानसे अभिन्नताको नहीं जान पायेगी जो कि स्वतःसिद्ध है। इसी प्रक्रियाको श्रुति-शास्त्रने निवृत्ति, वैराग्य अथवा अन्तःशुद्धिके नामसे कहा है।

हमारे दुराग्रहके दो रूप हैं : एक तो अपने व्यक्तित्वमें, चाहे वह सूक्ष्म हो या स्थूल हो या कारण ही क्यों न हो; यह नैसर्गिक है। दूसरा शास्त्रके द्वारा आरोपित लोक-परलोकगामी संसारित्वमें। शास्त्रके द्वारा आरोपित पदार्थमें दुराग्रह शास्त्रके ही विचारसे बाधित हो जाता है, परन्तु अपने व्यक्तित्वमें जो नैसर्गिक आग्रह है उसकी निवृत्ति तीव्र अभीप्सा एवं आत्माके निरीक्षण-परीक्षण-समीक्षणकी अपेक्षा रखती है। यह इतनी दृढ़ मूल है कि हम ईश्वर, समाधि अथवा मोक्षकी प्राप्तिके द्वारा भी अपने व्यक्तित्वको ही आभूषित करना चाहते हैं। परन्तु सत्यका साक्षात्कार व्यक्तित्वका भूषण नहीं है; वह व्यक्त और अव्यक्तके भेदको सर्वथा निरस्त कर देता है। व्यक्तित्व हो या भेद, यह सर्वदा विरोधयुक्त ही रहेगा और विवादास्पद

ही रहेगा, क्योंकि भिन्न-भिन्न दृष्टियोंसे देखा जाता है और दृश्यमें अवान्तर स्तर बराबर बने रहेंगे। व्यक्तित्व कभी विवाद और विरोधसे परे नहीं हो सकता, चाहे वह ईश्वरका हो, जीवका हो या जड़का। अतः श्रुति, शास्त्र, सत्सम्प्रदाय एवं सद्‌गुरुओंका यह कहना है कि अपनेको दृश्यकी किसी कक्षाकी कुक्षिमें निक्षिप्त मत करो। जो अदृश्यम्, अग्राह्यम् है, अमतम् है, अविज्ञातम् है, अदृष्टम्-द्रष्टृ है, उस निर्विवाद सत्यकी उपलब्धि ही निर्विरोध है अर्थात् राग-द्वेषकी आत्यन्तिक निवर्तक है।

यह निश्चय होता है कि जितने भी विशेष अथवा भेद हैं, वे दृश्य ही हैं, अतएव वादके विषय हो सकते हैं। यदि सत्यमें कोई विशेषण लगायेंगे तो विशेषणांशमें विरोधी पक्ष उपस्थित हो जायेंगे। यदि कोई विशेष नहीं है तो द्वैतका कोई कारण ही नहीं है। निर्विशेष अर्थात् अद्वितीयता। यह अद्वितीयता अन्यनिष्ठ नहीं हो सकती क्योंकि 'वह' या 'यह' को अद्वितीय माननेपर आत्मा उनसे पृथक् उनका प्रकाशक रह जायेगा। ज्ञान आत्माका ही स्वरूप है, आत्मा भानमात्र है। जो भी ज्ञात-अज्ञात अन्य होगा वह ज्ञात-अज्ञात रूपसे कल्पनाका विषय होगा, प्रकाश्य होगा। आत्मामें अद्वितीयता या पूर्णता विशेषण नहीं है, स्वरूप ही है; अथवा यों कहें कि अपूर्णता और सद्वितीयताके भ्रमको निवृत्त करनेके लिए शास्त्रों द्वारा अध्यारोपित है। यह स्पष्ट है कि आत्मा एवं अनात्माका भेद अर्थात् अपनी सत्तासे पृथक् किसी भी सत्ताकी कल्पना व्यक्तित्वमूलक ही है। व्यक्तित्वका अभिमान ही अपनेको दूसरोंसे अलग कर लेता है और दूसरोंको अपनेसे अलग कर देता है। निश्चय ही यह अभिमान परमार्थ सत्यके अज्ञानसे ही है। इस अज्ञानकी निवृत्तिके लिए ही शास्त्रोंका अश्रान्त परिश्रम रहा है।

जब हम श्रवण करते हैं कि आत्मा **'अपूर्वम्'** है अर्थात् आत्मासे पहले पूर्वकालमें, पूर्वदेशमें, पूर्ववस्तुके रूपमें कुछ भी नहीं है; जब हम श्रवण करते हैं कि आत्मा **'अनपरम्'** है अर्थात् आत्माके पश्चात् कोई देश, काल नहीं है; जब हम श्रवण करते हैं कि आत्माके बाहर या भीतर कुछ नहीं है; जब हम श्रवण करते हैं कि वही आत्मा अपना आपा सबका अनुभव-स्वरूप है; जब हम श्रवण करते हैं कि साक्षात् अपरोक्ष आत्मा ही सर्ववित्, परिच्छेद-भेदसे रहित है, तब इसकी ब्रह्मरूपतामें कोई संशय-विपर्यय होनेकी

सम्भावना नहीं रहती। यही कारण है कि विवरणकारने केवल श्रवणको ही अविद्या-निवर्तक माना है। श्रवणका अर्थ है आत्माकी अद्वितीय ब्रह्म-रूपताका निश्चय। फिर भी यदि प्रमाण-प्रमेयमें संशय है तो श्रुतिके अनुकूल युक्तियोंके द्वारा मनन और विपर्यय हो तो श्रुतमत अर्थमें चित्त-वृत्तियोंको स्थिर करना अर्थात् निदिध्यासनकी आवश्यकता होती। शुद्ध बुद्धि और तीव्र जिज्ञासुको पुनः श्रवणकी भी आवश्यकता नहीं रहती, फिर मनन, निदिध्यासनकी आवश्यकता ही क्यों होगी? वृत्ति-आवृत्ति व्यक्तित्वमें ही प्रतिष्ठित है। जबतक व्यक्तित्वमें, देहमें अथवा किसी भी प्रकारकी परिच्छिन्नतामें सत्यत्व-बुद्धि है और तादात्म्य है तभीतक ब्रह्माकार वृत्तिकी आवृत्ति अपेक्षित है। कहीं यह आवृत्ति आत्माको ही वृत्तिमान् न बना दे, इसके लिए सावधान रहना चाहिए। जब संशय-विपर्ययके सहित अज्ञानकी निवृत्ति हो जाती है, तब निरतिशय निर्द्वन्द्वता और निरुत्तर निर्भयको प्रतिष्ठा हो जाती है। **निर्भयता, निरतिशय वैदुष्य** (अर्थात् एक विज्ञानमें सर्वविज्ञान) **और सर्वाधिपतित्व** (अर्थात् सर्वके त्यागका सामर्थ्य)—**यह तत्त्वज्ञानका आनुषंगिक फल है।** आनुषंगिकका अर्थ है कि इनके लिए कोई प्रयास या अभ्यास नहीं करना पड़ता, स्वाभाविक रूपसे ही जीवनमें प्रकट हो जाते हैं। सभी बुद्धियाँ और शक्तियाँ तत्त्वज्ञकी सेवामें संलग्न रहती हैं क्योंकि वह ब्रह्मरूपसे बुद्धिमान् एवं शक्तिमानका भी स्वप्रकाश अधिष्ठान ही है। सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् परमेश्वर प्रपंचकी ओर देखनेसे अद्वितीय आत्मामें भासता है, स्वरूप-दृष्टिसे नहीं।

अविद्याकी निवृत्तिसे उपलक्षित नित्य शुद्ध-बुद्ध-मुक्त आत्माके साथ किसी प्रकारके कर्त्तव्य, भावना, अभ्यास अथवा वृत्तिकी आवृत्तिका सम्बन्ध नहीं जुड़ता है। यदि बोध भी स्वातन्त्र्यहीन ही रहा तो पशुत्वकी निवृत्ति कहाँ हुई? स्वातन्त्र्यहीन बोध मल है; बोधहीन स्वातन्त्र्य पामरता है, उच्छृङ्खलता है, पशुत्व है। सम्पूर्ण कर्त्तव्यों, भावनाओं, अभ्यासों एवं आवृत्तियोंके भारसे सर्वथा मुक्त अपना स्वरूप है। दृश्यके रूपमें चाहे कुछ भी क्यों न हो, शक्ति-शक्तिमान्, वृत्ति-वृत्तिमान्, समाधि-समाधिमान्, उपासक-उपास्य, सब अपने यावत् स्वभावके अधिकरणमें ही भास रहा है, अतः नितान्त मिथ्या है। बोध हो जानेपर अविद्याकी निवृत्तिके पश्चात् पूर्वोक्त कार्य-कारण एवं साध्य-साधनोंका कोई तत्त्व-महत्त्व नहीं रहता।

आभास हो या प्रतिबिम्ब, सृष्टि-दृष्टि हो या दृष्टि-सृष्टि, सब ऋजुमति जिज्ञासुओंको यथार्थका हृदयङ्गम करानेकी एक शैलीमात्र है। इनमें दुराग्रह करना किसी प्रकार उचित नहीं है। वाद-विवादमें प्रतिवादियोंको पराजित करनेके लिए अथवा अपनी निष्ठा परिपक्व करनेके लिए इनकी आवश्यकता होती है, वह भी प्राथमिक अवस्थामें ही। जहाँ क्रिया-विक्रिया नहीं है, वहाँ प्रक्रिया एवं संस्क्रिया भी निष्प्रयोजन है। उपाधि-उपहित, अवच्छेदक-अवच्छिन्न, बिम्ब-प्रतिबिम्ब, आदिकी कल्पनाएँ केवल अपने स्वरूपकी ब्रह्मताका बोध करनेके लिए उपलक्षणमात्र हैं। अतएव ये सभी कल्पनाएँ अन्ततोगत्वा निरर्थक हो जाती हैं, और ये सब-के-सब 'नेति-नेति' के इति पदार्थ हैं। 'नेति-नेति' अर्थात् 'यह नहीं, यह नहीं'। प्रश्न है—क्या नहीं? उत्तर है—इति; यह नहीं। 'यह' शब्दका अर्थ है निषेधके योग्य। अत: 'इति'का अर्थ है अनिरिक्त कल्पित-अकल्पित परोक्ष-अपरोक्ष दृश्यमात्र। इसका निषेध ही 'नेति' शब्दका अर्थ है।

परन्तु इस निषेधका प्रकाशक कौन है? अधिष्ठान कौन है? जो सबका निषेध करनेपर शेष रह गया, वह शेष कौन है? अपना आत्मा। देश, काल, वस्तु, सजातीय, विजातीय, स्वगत-भेद निषेध कोटिमें है; जगत्, जीव, ईश्वरका भेद भी निषेध-कक्षामें ही है। ऐसी अवस्थामें अशेष, विशेष, निषेधावशेष अपना आत्मा ही है और उसमें भेदकी गंध भी नहीं है। दृश्यमें भेदोंके लिए लड़ना ठीक वैसा ही है जैसा मरुमरीचिकाके जलको दस हाथ गहरा या पचास हाथ गहरा—इस विवादमें डालना है। आकाशको नीलिमा कहाँ कितनी गहरी है, इसके लिए वादी-प्रतिवादीके पक्ष-विपक्ष बुद्धिका कौशल दिखानेके लिए ही हैं। अभित्ति चित्रके रंगका झगड़ा अथवा ख-पुष्पके परिमाणका निरूपण जैसे असंगत है, उसी प्रकार दृश्यकी उत्तमता एवं निकृष्टताके सम्बन्धमें वाग्जाल अकिंचित्कर है।

श्रवण, केवल श्रवण! अच्छा तो यह श्रवण ही क्यों? इसलिए कि दो स्थान ऐसे हैं जो श्रवणके अतिरिक्त दूसरे किसी प्रमाण, युक्ति या उपायसे ज्ञात नहीं हो सकते। **पहला:** नित्य-परोक्ष स्वर्ग, ब्रह्मलोक, जगत्कारण आदि तथा इनकी उपलब्धिके साधन भी। क्योंकि प्रत्यक्षादि प्रमाणोंके द्वारा ज्ञात साधन अलौकिक नित्य-परोक्ष पदार्थोंके साथ किस प्रकार सम्बद्ध होते हैं, यह जाननेका श्रवणके अतिरिक्त और कोई साधन

नहीं है। अभिप्राय यह कि नित्य-परोक्ष वस्तुका अस्तित्व और उसकी उपलब्धिका उपाय दोनों ही श्रवणसे ज्ञात होते हैं। **दूसरी** वस्तु है नित्य साक्षात्-अपरोक्ष होनेपर भी अज्ञात पदार्थका ज्ञान; जैसे आत्माका ब्रह्मत्व। यह केवल श्रवणसे ही ज्ञात हो सकता है। आत्मा स्वयं अपरोक्ष है, बिना प्रमाणके, बिना वृत्तिके। सुषुप्तिमें भी। आत्मा कभी परोक्ष होता नहीं, नित्य-प्राप्त है। केवल अज्ञान ही इसका आवरण-सा बना हुआ है। यह न तो घट-पटादिके समान इन्द्रिय-वृत्तिगोचर है और न तो स्वर्गादिके समान परोक्ष। मैं-मैं-मैं--ऐसी वृत्तियोंके सारके रूपमें एकमात्र आत्मा ही है। भेद दृश्य-कोटिमें है। सम्पूर्ण भेदोंसे विलक्षण यह आत्मतत्त्व केवल अज्ञानसे ही अप्राप्त-सा हो रहा है। अज्ञानसे जो वस्तु अप्राप्त होती है वह प्राप्त ही रहती है और ज्ञानसे जो मिलती है वह पहलेसे ही मिली रहती है। अतएव अज्ञानकी निवृत्तिके लिए ज्ञानके सिवाय और कोई उपाय नहीं है। ज्ञान केवल अज्ञानका निवर्तक होता है, वस्तुका प्रापक या निवर्तक नहीं होता। अतः ज्ञान अज्ञानको निवृत्ति करके स्वयं भी निष्प्रयोजन हो जाता है अर्थात् ज्ञानको पुनः-पुनः दोहरानेकी आवश्यकता नहीं रहती। यह ज्ञान अज्ञानको निवृत्त कर देता है परन्तु 'मैं ज्ञानवान् हूँ'--यह अभिमान उपलब्ध नहीं करता। जब कि आत्माके अतिरिक्त और सभी विषयोंके ज्ञानमें ज्ञानी होनेका अभिमान होता है और दोहरानेको भी आवश्यकता होती है। आत्मा स्वयं ज्ञानस्वरूप ही है।

इस आश्चर्यपर ध्यान दीजिये कि जब आत्मासे अतिरिक्त किसी अन्य विषयका ज्ञान होता है तो उस अन्यके ज्ञानका एक संस्कार होता है, समय-समय पर स्मृतिका उदय होता है और उस वस्तुको हेय-उपादेय मानकर छोड़ना या पाना पड़ता है। अभिप्राय यह कि उसके लिए अभ्यासकी, कर्मकी आवश्यकता होती है। परन्तु आत्माके ज्ञानमें कोई संस्कार नहीं होता। ज्ञान होनेके बाद यदि वस्तु परोक्ष हो जाय तो संस्कार और उस संस्कार-स्थित वस्तुकी स्मृति होती है। परन्तु आत्मा अविद्या-निवृत्तिके अनन्तर स्वयंप्रकाश अनुभव-स्वरूप ही रहता है। अतः संस्कार एवं स्मृति नहीं होती। दूसरी बात यह भी ध्यानमें रखनेकी है कि दृश्य वस्तुओंमें अंगांगी-भाव होता है। इसलिए किसी भी दृश्य वस्तुका ज्ञान, कर्म, उपासना या योगका अंग होगा और वह ज्ञान होनेपर भी कर्त्तव्य

शेष रह जायेगा। आत्मामें अंगांगी-भाव नहीं है, अतएव इसका ज्ञान होने पर कुछ भी कर्त्तव्य, उपासितव्य अथवा भोक्तव्य शेष नहीं रहता। अतः आत्मज्ञानमें ही पूर्णता है। इस ज्ञानका परिच्छेदक अथवा भेदक कुछ भी नहीं है। यह स्वयं ज्ञाता-ज्ञेयके विभागसे रहित अद्वितीय ब्रह्म ही है।

यह बात प्रारम्भमें कही जा चुकी है कि सारे विवाद और विरोध दृश्यमें ही होते हैं। अदृश्य, अग्राह्य, अद्वितीय ब्रह्मस्वरूपमें पक्ष-विपक्षकी कोई उपस्थिति नहीं है। अतः जितनी भी प्रतिपत्ति या विप्रतिपत्ति है, वह सब बहिर्मुखताके कारण ही है। बहिर्मुखता अज्ञानका ही कार्य है। अज्ञानी परस्पर लड़ें—कोई आश्चर्य नहीं। तत्त्वज्ञ वाद-विवादके प्रत्येक पक्ष-विपक्षको अपने स्वप्रकाश अधिष्ठान आत्माके स्वरूपमें अज्ञ-परिकल्पित, मिथ्या ही अनुभव करता है। यही कारण है कि **केवल इसी कैवल्य-स्वरूप ब्रह्मात्मैक्य ज्ञानमें समूल राग-द्वेषकी आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है। सदा आनन्द है, सर्वत्र आनन्द है, सर्व आनन्द है; क्योंकि सर्वदा, सर्वत्र और सर्व शब्द अधिष्ठानके अतिरिक्त और किसी दूसरी वस्तुके वाचक नहीं और निर्द्वय, निर्भय, संग्रह-परिग्रह-शून्य केवल आत्मा ही आत्मा एकमात्र सत्य है।**

३. जीवन्मुक्त

'मैं'का वास्तविक अर्थ है आत्मा। आत्मा अर्थात् वास्तविक 'मैं' अनन्त सच्चिदानन्दस्वरूप है। उसमें बद्ध और मुक्तके विशेषण नहीं लगाये जा सकते। बन्धका अर्थ है अपनेको भूल जाना; मुक्तिका अर्थ है ज्ञान अर्थात् उस भूलका मिट जाना। तात्पर्य यह है कि आत्मदृष्टिसे बद्ध और मुक्तकी सत्ता नहीं होती, वह तो व्यावहारिक दृष्टिसे ही बनती है। यदि व्यवहारका परमार्थ-दृष्टिसे और परमार्थका व्यावहारिक दृष्टिसे विचार करने लगें तो दोनोंका ही शुद्ध स्वरूप छिप जायेगा। इसलिए बद्ध, मुक्त आदिपर विचार करते समय व्यावहारिक दृष्टि ही काममें लानी चाहिए।

अनन्त चिदानन्द सत्तामें किसी भी द्वन्द्वकी कल्पना नहीं की जा सकती और व्यवहार द्वन्द्वमें ही है। व्यवहारमें अच्छे-बुरे, पापी-पुण्यात्मा और महात्मा-दुरात्माका भेद अनादिकालसे चला आया है और इसके बिना व्यवहार चल नहीं सकता। ऐसी स्थितिमें हमें महात्मा और दुरात्माकी एक परिभाषा बनानी ही पड़ेगी। समाजकी सुव्यवस्था और मुमुक्षुओंके

कल्याणके लिए ऐसा करना अनिवार्य है। परन्तु ये लक्षण जीवन्मुक्त महापुरुषोंके लिए नहीं बनाये जाते; क्योंकि वे तो जैसे हैं, हैं ही। उन्हें अपने लक्षणके ज्ञानकी आवश्यकता नहीं। वे इन लक्षणोंके अन्दर बँधे नहीं हैं, इनसे परे, बहुत परे अनन्तस्वरूपसे विराजमान हैं। उन्हें महात्मा या दुरात्मा होनेका कोई प्रमाण-पत्र नहीं चाहिए। उनकी दृष्टिमें तो सब अपना स्वरूप ही है। इसलिए लक्षण बनाये जाते हैं साधारण जीवोंके लिए, जो संसारके पाप-तापसे सन्तप्त होकर एक शीतल, सुखद और घनी छायाके नीचे विश्राम करना चाहते हैं और अपनी श्रान्ति, क्लान्ति और भ्रान्ति मिटाकर सर्वदाके लिए अनन्त शान्तिके अङ्कमें सो जानेके लिए किसीके कोमल करोंकी थपथपी चाहते हैं। अतः हमें अपनी दृष्टिसे ही उनके लक्षणोंका निर्णय करना होगा। हम अपने आदर्श, रुचि और प्रवृत्तिके अनुसार ही महात्माओंका चुनाव करते आये हैं और करेंगे।

परन्तु; अपनी मनमानी करनेसे ही तो हम इस मायाके भयंकर चक्करसे छूट नहीं सकते। जन्म-जन्मसे वासनाओंकी दासता करते रहनेके कारण हम वैसी ही परिस्थितिमें घुल-मिल गये हैं और उसीके आदी हो गये हैं। इसीलिए जहाँ कहीं हमारी धारणाके विपरीत कोई बात मिलती है, वहीं हम उससे घृणा या परहेज करने लगते हैं। हमारी नपी-तुली बुद्धिका सत्य ही हमें सत्य प्रतीत होने लगता है और हम वास्तविक सत्यसे वंचित रह जाते हैं। तब हमें क्या करना चाहिए? किसकी शरण ग्रहण करनी चाहिए? इसलिए शास्त्रने सन्त और जीवन्मुक्त के लक्षण बताये हैं।

श्रुतियोंमें श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ, ब्राह्मण, ब्रह्मविद्, आदि शब्दोंसे; गीतामें स्थितप्रज्ञ, भक्त तथा गुणातीतके रूपमें; योगवासिष्ठमें जीवन्मुक्त, विदेहमुक्त आदिके रूपमें; पुराणोंमें अतिवर्णाश्रमी आदिके रूपमें जिस अवस्था-स्थितिका संकेत किया है वह विभिन्न प्रकारकी नहीं है। प्रत्युत विभिन्न साधनाओंसे निष्पन्न एक ही फलभूत स्थितिका विभिन्न नामोंसे निर्देश किया गया है। उदाहरणार्थ—गीतामें कर्मको मुख्य और भक्ति-ज्ञानको गौण मानकर परमार्थ स्थितिको प्राप्त करनेवालेको 'स्थितप्रज्ञ' कहा गया है। इसी प्रकार भक्तिको मुख्य और कर्म-ज्ञानको गौण माननेवालेको 'भक्त' तथा ज्ञानको मुख्य और कर्म-भक्तिको गौण माननेवालेको 'गुणातीत' कहा गया है। सभीको एक ही स्थिति प्राप्त है, सभी परमार्थमें परिनिष्ठित हैं और सभी

कर्म, भक्ति और ज्ञानसे परिपूर्ण हैं, तथापि साधनभेदके कारण उनके नामोंमें भेद कर दिया गया है।

योगवासिष्ठमें श्रीवसिष्ठजीने जीवन्मुक्तके कई लक्षण बताये हैं। क्रमशः उन्हींपर विचार करते हैं।

१. यथास्थितमिदं यस्य व्यवहारवतोऽपि च।
अस्तंगतं स्थितं व्योम स जीवन्मुक्त उच्यते॥

इस समय हमारी वृत्तियोंके सामने जिस पर्वत, नदी और वनादि-विशिष्ट जगत्‌की प्रतीति हो रही है, जब यह हमारे सामनेसे देह-इन्द्रिय आदिके साथ समेट लिया जाता है अर्थात् जब इसका प्रलय हो जाता है तब इन विभिन्नताओंके न रहनेसे यह अस्तङ्गत हो जाता है! परन्तु जीवन्मुक्तिमें वैसा नहीं होता। यह सम्पूर्ण प्रपंच जैसे-का-तैसा बना रहता है और व्यवहार भी होता रहता है। प्रलय न होनेके कारण दूसरे लोग पूर्ववत् स्पष्ट इसका अनुभव करते हैं। किन्तु जीवन्मुक्तमें इसे प्रतीत करानेवाली वृत्तिके न होनेके कारण सुषुप्तिवत् इसको कुछ भी प्रतीत नहीं होता, अस्त हो जाता है। हाँ; सुषुप्तिकी अपेक्षा विलक्षणता यह है कि उसमें भावी-वृत्तिका बीज संस्काररूपसे रहता है और पुनः संसारका उदय होता है। परन्तु जीवन्मुक्तमें बीज भी नहीं रहता। इसलिए पुनः कदापि संसारकी प्रतीति नहीं होती।

२. नोदेति नास्तमायाति सुखे दुःखे मुखप्रभा।
यथाप्राप्ते स्थितिर्यस्य स जीवन्मुक्त उच्यते॥

प्रारब्धके अनुसार चन्दन-पुष्पादिके सत्कार प्राप्त होनेपर अथवा धन-जन हानि, धिक्कारादि दुःखके निमित्त उपस्थित होनेपर संसारी पुरुषोंकी भाँति हर्ष या विषादसे जिसका मुख प्रसन्न या विषण्ण नहीं होता; बिना विशेष चेष्टाके जो कुछ स्वयं प्राप्त हो गया उसीमें शान्तिसे जो स्थित रहता है, वह जीवन्मुक्त कहा जाता है। पहले तो स्वरूपमें ही स्थिति होनेके कारण जीवन्मुक्तको इन विषयोंकी प्रतीति ही नहीं होती और यदि यथाकथञ्चित् थोड़ी देरके लिए प्रतीत हो भी जाय तो भी ज्ञानकी दृढ़तासे हेयोपादेय बुद्धिका अभाव होनेके कारण हर्ष और विषादके लिए अवसर मिलता ही नहीं। यहाँ यह ध्यानमें रखने योग्य बात है कि प्रारब्धसे केवल सुख-दुःखके निमित्त ही आते हैं, न कि उन-उन निमित्तोंके पश्चात् आनेवाले सुख-दुःख

भी। कर्मचक्रके अनुसार घटनाएँ तो घटती ही रहती हैं परन्तु आसक्तिके कारण हम सुखी-दुःखी होते हैं। जैसे प्रारब्धके कारण हमें किसी दिन भोजन नहीं मिल पाता, इतना तो प्रारब्धका काम है; परन्तु उससे हम दुःखी हों, यह आसक्तिका फल है और आसक्ति अज्ञानसे होती है संसार-चक्रकी गति और स्वरूपसे अनभिज्ञ होनेसे ही हम किसी देश, काल या वस्तुसे आसक्ति करते हैं और सुखी-दुःखी होते हैं। जीवन्मुक्त भला इनसे प्रसन्न या विषण्ण क्यों होने लगा ? यही तो इसकी विशेषता है।

३. यो जागर्ति सुषुप्तिस्थो यस्य जाग्रन्न विद्यते।
यस्य निर्वासनो बोधः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥

उसकी बाह्य इन्द्रियाँ अपने-अपने गोलकोंमें स्थित रहती हैं, उपरत नहीं रहतीं, इसलिए तो वह जाग्रत् रहता है। परन्तु वृत्तियोंकी अन्तर्मुखता अथवा अभावके कारण वह एक प्रकारकी सुषुप्ति ही है। इसलिए इन्द्रियोंसे विषयोंकी उपलब्धि नहीं होती और जाग्रत्के लक्षण पूर्णतः नहीं घटते। इसीसे इस अवस्थाको जाग्रत् और सुषुप्ति, इन दोनोंमें-से एक भी नहीं कहा जा सकता। यह तो बोध है, परन्तु वासनानुगामी बोध नहीं है जैसा कि हमें स्वप्न और जाग्रत्में होता है। कभी-कभी 'मैं ब्रह्मवित् हूँ'—इस प्रकारकी वृत्तिका उठना ही यहाँ वासना शब्दसे सूचित होता है। यह वासना जीवन्मुक्तमें नहीं होती। जहाँ यह बुद्धि है कि मैंने अनन्त चित्स्वरूप ब्रह्मको जान लिया, वहाँ अपनेमें ज्ञानका कर्तृत्व आरोपित होता है और वह विशुद्ध ज्ञान नहीं कहलाता। जब कर्तृत्व, ज्ञातृत्वका अपवाद हो जाता है, त्रिपुटीरहित केवल बोध-ही-बोध रहता है तब उसे निर्वासनिक बोध कहते हैं। यह बोधस्वरूपता ही जीवन्मुक्तका स्वरूप है।

४. रागद्वेषभयादीनामनुरूपं चरन्नपि।
योऽन्तर्व्योमवदत्यच्छः स जीवन्मुक्त उच्यते ॥

लोगोंकी दृष्टिमें वह राग, द्वेष; भय आदिसे युक्त पुरुषकी भाँति व्यवहार करता हुआ जान पड़ता है। स्थान, शौच, भोजन आदिमें उसकी रुचि-प्रवृत्ति रागके अनुरूप ही जान पड़ती है; वह सात्त्विक भोजन ही करता है, तामसिकता, ग्राम्य-चेष्टा और दुःसङ्गका त्याग करता है। वह सर्प आदि हिंस्र जन्तुओंसे भयप्रेरित क्रिया भी करता हुआ देखा जाता है। बाधितानुवृत्ति अथवा पूर्वाभ्यासके कारण व्युत्थान दशामें ऐसी बातें

हो जातीं हैं अवश्य; परन्तु उसके अन्तःकरणके निर्मल होनेके कारण उसमें तनिक भी कलुष नहीं आता। क्या आकाशमें धूलि, बादल आदिसे आकाश कलुषित हो जाता है? नहीं। इसीप्रकार जीवन्मुक्तका हृदय भी सर्वथा, सर्वदा और सर्वत्र निर्मल ही रहता है।

प्रसङ्गवश एक बात और कहनी है। जीवन्मुक्त सभी वर्ण और सभी आश्रमोंमें होते हैं; वहाँ वह अपने वर्ण और आश्रमके धर्मका उल्लङ्घन नहीं करता। परम्परासे प्राप्त मर्यादाका उल्लङ्घन क्यों करे जब कि उसके लिए सभी कर्म समान हैं? हाँ; उच्चतर कर्मके लिए निम्न कर्मका त्याग किया जा सकता है। परन्तु मर्यादाके पालनमें न तो प्रमाद होना चाहिए और न जीवन्मुक्त होनेकी आड़ लेनी चाहिए। साथ ही यह भी सही है कि जिन जीवन्मुक्त महापुरुषोंने वर्ण और आश्रमका सच्चा संन्यास कर रखा है उनके लिए किसीको कुछ कहनेका अधिकार नहीं है।

५ यस्य नाहंकृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
कुर्वतोऽकुर्वतो वापि स जीवन्मुक्त उच्यते॥

पुरुष जब कोई कर्म करता है तो 'मैं इस कर्मका कर्ता हूँ' ऐसा अहंकार कर लेता है; और इस कर्मका इहलौकिक या पारलौकिक अमुक फल प्राप्त होगा, ऐसा सोचकर बुद्धि उसी भावसे लिप्त हो जाती है। और जब मैं कर्म नहीं करता, हाथ, पैर आदि इन्द्रियों और अन्तःकरणको रोककर कर्मका त्याग किये बैठा हूँ—ऐसा अहंकार होता है, तब मुझे मुक्ति प्राप्त होगी, इस आशासे बुद्धि लिप्त हो जाती है। परन्तु जीवन्मुक्त चाहे कर्म करता हुआ-सा प्रतीत हो या कर्मत्यागी-सा, दोनों ही स्थितियोंमें उसे अहङ्कार और बुद्धिकी सलेपता नहीं प्राप्त होती। मैं कर्ता हूँ या त्यागी हूँ, यह भाव कभी नहीं उठता। उसके सामने वे दोनों स्थितियाँ रहती ही नहीं।

यह स्थिति स्वसंवेद्य है। जो महापुरुष कर्तृत्वसे ऊपर उठे हुए हैं, उनमें अहङ्कार, आसक्ति और बुद्धिका लेप न होनेके कारण उनसे कभी सहज कर्मोंके अतिरिक्त दूसरे हो ही नहीं सकते। और सहज कर्मका वर्णन गीतामें किया ही है। अथवा 'सहज'का अर्थ समझना चाहिए—ज्ञान होनेसे पूर्वक्षणका सजातीय कर्म। उनके प्रवाहपतित होनेके कारण और उनका निषेध करके अन्य कर्ममें लगानेवाली वासनाओंके न होनेके कारण वे ही अभ्यस्त कर्म-समूह चला करते हैं। हाँ, इतना निश्चित है कि उस

क्षणमें पापकर्म न रहे होंगे अन्यथा तो ज्ञान ही न होता। हमारी दृष्टिमें जीवन्मुक्तके जीवनमें प्रारब्धके अनुसार घटनाएँ तो सब प्रकारकी घट सकती हैं, परन्तु उनके पूर्व संकल्प, उनसे आसक्ति और उनका कर्तृत्व न रहनेसे तथा आत्मदृष्टिसे आत्मरूप ही दीखनेके कारण वे फलोत्पादनमें समर्थ नहीं होतीं।

६. यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयान्मुक्तः स जीवन्मुक्त उच्यते॥

संसारी लोग जिनसे अपनी किसी प्रकारकी हानि होनेकी सम्भावना देखते हैं या अपने आचार-विचारसे प्रतिकूल अनुभव करते हैं, उससे उद्विग्न हो जाते हैं। मुमुक्षु लोग भी लोगोंको ईर्ष्या, द्वेष आदिसे दवे तथा संसारमें आसक्त देखकर उनसे उद्विग्न हो जाते हैं। परन्तु जीवन्मुक्त किसीका पराया नहीं, सबका अपना होता है। उससे किसीके अनिष्ट और प्रतिकूलताकी आशङ्का ही नहीं रहती। फिर उससे कोई क्यों घबड़ाने लगा? दूसरे लोगोंकी संसारासक्ति आदि देखनेसे उसकी साधनामें बाधा तो पड़ती ही नहीं, क्योंकि उसकी साधना सहज है, कृत्रिम नहीं है कि दूसरोंके संसर्गसे या विघ्न डालनेसे वह रुक जायेगी। इससे वह किसीसे घबड़ाता नहीं है। उसे सब कुछ प्राप्त ही है, इसलिए किसी वस्तुकी प्राप्तिसे वह हर्षित नहीं होता। उसका कोई प्रतिद्वन्द्वी नहीं, इसलिए वह किसीसे अमर्ष नहीं करता। द्वैतमें ही भय है। दूसरोंसे ही भयभीत होना पड़ता है। जीवन्मुक्त पुरुषके लिए कोई दूसरा है ही नहीं, फिर वह भयभीत किससे हो? वह सर्वदा आत्मरत, आत्मतृप्त और आत्मतुष्ट ही रहता है।

७. शान्तसंसारकलनः कलावानपि निष्कलः।
यः सचित्तोऽपि निश्चित्तः स जीवन्मुक्त उच्यते॥

संसारी लोग 'यह शत्रु है, यह मित्र है, यह उदासीन है, यह सम्मान है, यह अपमान है'—इत्यादि नानाविध विकल्पोंके कारण जला करते हैं। परन्तु जीवन्मुक्त पुरुषमें यह सब विकल्प होते ही नहीं, स्वभावतः शान्त रहते हैं। वह चौंसठ कलाओंसे युक्त होनेपर भी उनके अभिमान और व्यवहारके अभावके कारण कलाहीन ही रहता है। अथवा इन शरीर, प्राण आदि अभिव्यक्तियोंसे—खण्डोंसे युक्त दीखनेपर भी वह इनसे रहित अर्थात् अव्यक्त ही है। हम लोगोंकी दृष्टिमें वह चित्तवाला प्रतीत होता

है, परन्तु वास्तवमें वृत्तियोंका उदय न होनेसे वह निश्चित्त अर्थात् चित्तरहित ही है। तब निश्चिन्त तो वह होगा ही।

८. यः समस्तार्थजातेषु व्यवहार्य्यपि शीतलः।
परार्थेष्विव पूर्णात्मा स जीवन्मुक्त उच्यते॥

जैसे संसारी लोग उत्सव आदिके अवसर पर दूसरोंके घर स्वयं जाकर उनकी प्रसन्नताके लिए अनेकों प्रकारके काम करनेपर भी लाभ, हानि, हर्ष, विषादादिरूप विकारोंसे अभिभूत नहीं होते, उसी प्रकार यद्यपि इसकी दृष्टिमें कोई पराया नहीं है, तो भी समस्त व्यवहारोंको करता हुआ भी उन विकारोंसे मुक्त रहता है, इसका हृदय सर्वथा शीतल रहता है! यह बात नहीं कि वह केवल विघ्न-बाधाओंके सन्तापसे मुक्त रहनेके कारण ही शीतल रहता हो, बल्कि निरन्तर अपने एकरस परिपूर्ण आत्मतत्त्वमें परिनिष्ठित रहनेके कारण ही ऐसा होता है।

ऐसे आत्मनिष्ठ महापुरुषको, जबतक उसका शरीर दीखता है, हम लोग जीवन्मुक्त कहते हैं और उसकी शरण ग्रहण करके अपना परम कल्याण प्राप्त करते हैं। जब उसका शरीरपात हो जाता है तब वह विदेह-मुक्त हो गया, ऐसा कहा जाता है। उसके सम्बन्धमें कुछ कहा नहीं जा सकता।

हाँ, यह जीवन्मुक्तपद वासनाक्षय-मनोनाशपूर्वक तत्त्वज्ञानसे ही प्राप्त होता है, इनमें-से किसी एकके द्वारा नहीं। सच्ची बात तो यह है कि ये अन्योन्याश्रित हैं—बिना एकके दूसरेकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिए बड़ी तत्परताके साथ तीनोंका एक साथ अभ्यास करना चाहिए।

४. विदेह-मुक्ति

(ज्ञानकी सात भूमिकाएँ)

एक बार श्रीउड़ियाबाबाजी महाराजसे पूछा—'जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्तिमें क्या अन्तर है?' उन्होंने तुरन्त जवाब दिया—'अरे, अपने स्वरूपमें दोनोंके भेदकी चर्चा ही अमंगल है।'

वास्तविकता यही है कि आत्मा अभेद स्वरूप है और अविद्या-निवृत्तिसे उपलक्षित आत्माका नाम ही मोक्ष है। अतः मुक्तिमें जीवन्मुक्ति और विदेह-मुक्तिका भेद अकिंचित्कर है। इसपर भी तत्त्वज्ञानका प्रकाश जिस

अन्तःकरणमें हुआ है उसमें श्रद्धा, भक्ति और ध्यानके तारतम्यसे ज्ञानकी भूमिकाओंका वर्णन वेदान्त-शास्त्रमें किया जाता है। देह और देह-भानके रहते हुए ही मुक्तपुरुषकी संज्ञा **'जीवन्मुक्त'** होती है। देहके रहते हुए किन्तु देहके भान न रहते हुए मुक्त पुरुषकी संज्ञा **'विदेहमुक्त'** होती है। देहके न रहनेपर मुक्त पुरुषका कोई व्यक्तित्व शेष नहीं रहता अतः उसके जन्मान्तरका कोई प्रसंग ही नहीं है। **न च पुनरावर्तते, न च पुनरावर्तते** (छां० ८.१५.१) उसका फिर पुनरावर्तन नहीं होता **न तस्य प्राणाः उत्क्रामन्ति** (बृ० ४.४.६)—उसके प्राणोंका उत्क्रमण नहीं होता।[1]

श्रुतिका सिद्धान्त यही है कि ब्रह्मवेत्ता ब्रह्म ही है : **ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति** (मुं० ३.२.९)। **'ब्रह्मैव सन् ब्रह्माप्येति'** (बृ० ४.४.६) अर्थात् ब्रह्म होकर ही ब्रह्मको प्राप्त होता है। अतः ब्रह्मवेत्ता ज्ञान-समकाल ही मुक्त है। मुण्डकोपनिषद्‌में कहा गया है कि—

आत्मक्रीडः आत्मरतिः क्रियावान् एष ब्रह्मविदां वरिष्ठः

(मु० ३.१.४.)

जो आत्ममें रतिवाला है, जो आत्मामें रमण करनेवाला है और आत्मामें ही व्यवहार करनेवाला है वह ब्रह्मविदोंमें वरिष्ठ है। इसी

---

१. जो लोग 'अहं ब्रह्मास्मि' इस महावाक्यके अर्थमें श्रद्धा करके ब्रह्मकी **अहंग्रह-उपासना** करते हैं उनकी वह उपासना यदि जीवन रहते हुए ही ब्रह्मात्मैक्य-बोधमें परिणत नहीं होती तो देहपातके अनन्तर उनके प्राणोंका उत्क्रमण होता है और वह जीव उत्तरायण (ज्योति अथवा अर्चि) मार्गसे ब्रह्मलोकको प्राप्त होता है। जहाँ वे ब्रह्माजीके द्वारा पुनः उपदिष्ट होकर उन्हींके साथ मुक्त होते हैं। इसको शास्त्रमें '**क्रम-मुक्ति**' कहा गया है।

इसी प्रकार जो लोग सकाम-कर्मके मार्गमें हैं अथवा निष्काम-कर्म और देवोपासनाके मार्गमें हैं वे देहपातके अनन्तर क्रमशः दक्षिणायन तथा उत्तरायण मार्गोंसे उत्क्रमण करते हैं—दोनों मार्गोंसे वे अपने-अपने वाञ्छित लोकोंको प्राप्त करके वहाँ अपने मनोवाञ्छित कर्मफलका भोग करके पुनः इस मृत्युलोकको प्राप्त होते हैं। गीता अध्याय ८, छान्दोग्य अध्याय ५ तथा बृहदारण्यक अध्याय ४ में इनका विवरण है। इनका विवरण वहीं देखना चाहिए।

श्रुतिका आधार लेकर योगवासिष्ठमें ज्ञानकी सप्त भूमिकाओंका वर्णन है। पाठकोंके लाभार्थ वही यहाँ उद्धृत कर रहे हैं।

सात भूमिकाएँ हैं—शुभेच्छा, विचारणा, तनुमानसा, सत्त्वापत्ति, असंसक्ति, पदार्थभावनी और तुर्यगा।[2] शुभेच्छा श्रद्धा-प्रधान है। विचारणा श्रद्धा-भक्ति प्रधान है। तनुमानसा ध्यान-प्रधान है। सत्त्वापत्ति भक्ति-ध्यान प्रधान है। असंसक्तिमें असंगताकी प्रधानता है। पदार्थभावनीमें ध्यानसे प्रगाढ़ हुई वृत्तिमें देहका भान क्षीण हो जाता है और तुर्यगा में वह भान अभान हो जाता है।

भूमिकाओंके लक्षण

१. **शुभेच्छा :** जब मनुष्यके अन्तःकरणमें वैराग्यपूर्वक मुमुक्षा होती है तब उस अवस्थाको 'शुभेच्छा' नामकी प्रथम भूमिका जाननी चाहिए।[3] विवेक, वैराग्य, षट्सम्पत्ति और मुमुक्षा इसके लक्षण हैं।

२. **विचारणा :**—वैराग्य और अभ्यासपूर्वक वेदान्त-शास्त्र और वेदान्तनिष्ठ सत्पुरुषोंका संग तथा श्रवण, मनन, निदिध्यासनरूप सदाचारमें प्रवृत्ति ये 'विचारणा' नामकी द्वितीय भूमिका जाननी चाहिए।[4] इसमें गुरूपसदन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन आजाते हैं।

३. **तनुमानसा :** शुभेच्छा और विचारणाके परिपाकसे इन्द्रियोंके विषयोंमें अनासक्ति हो जाना तथा मनके 'तनु' अर्थात् सूक्ष्म हो जानेसे वृत्तियोंकी अपने आश्रयकी ओर प्रवृत्ति हो जाना अर्थात् मनकी आत्मामें शान्ति होने लगना यह तनुमानसा नामक तृतीय भूमिका है।[5] यह ध्यान अथवा निदिध्यासनका परिपाक है। केवल त्वं-पदार्थके विवेक अथवा केवल तत्पदार्थके विवेकसे भी, यदि वह वैराग्यपूर्वक है, तनुमानसाकी स्थिति प्राप्त हो सकती है।

ये तीनों भूमिकाएँ ज्ञानके साधनकी भूमिका हैं।

४. **सत्त्वापत्ति :**—यह ज्ञान प्राप्तिकी भूमिका है। पहली तीन भूमि-काओंके अभ्याससे तथा वैराग्यकी स्थितिसे ब्रह्माकारवृत्तिके उदय

२. योगवासिष्ठ—उत्पत्ति-प्रकरण, ११८.५–६।

३. वही (उत्पत्ति० ११८.८)।

४. वही (उत्पत्ति० ११८.९)।

५. वही (उत्पत्ति० ११८.१०)।

होनेपर त्वं-पदार्थ आत्माका तत्पदार्थ ईश्वरके साथ ऐक्य अनुभव होकर स्वरूपमें स्थिति—यही 'सत्त्वापत्ति' नामक ज्ञानकी चतुर्थ भूमिका है।[६] यह अविद्या-निवृत्तिकी स्थिति है। इस अवस्थाको प्राप्त पुरुषकी संज्ञा **ब्रह्मवित्** होती है।

५. असंसक्ति : पहली चार भूमिकाओंके परिपाकसे जब चित्त सभी विषयोंसे अत्यन्त असंग हो जाता है तब ब्रह्मात्मैक्य-बोध जीवनमें छा जाता है। इस भूमिकाको 'असंसक्ति' नामकी पाँचवीं भूमिका कहते हैं।[७] यह जीवन्मुक्तिकी अवस्था है। इस अवस्थामें पुरुषकी संज्ञा **ब्रह्मविद्वर** होती है। जीवन्मुक्त ब्रह्मवेत्ताके लिए इस अवस्थामें सम्पूर्ण सृष्टि स्वप्नवत् प्रतीत होती है। और अहंमें कर्तृत्व-भोक्तृत्व-परिच्छिन्न-संसारित्वकी स्वीकृति नहीं होती। वह अपने पूर्व स्वभाववश किसी भी प्रकारके प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप व्यवहारमें क्रियावान् रह सकता है। पहली चार पुरुषार्थसाध्य भूमिकाएँ हैं और पाँचवीं बोधकी फलरूपा है। अधिकांश महापुरुष इसी भूमिकामें स्थित रहते हैं।

६. पदार्थाभावनी : इस भूमिकामें अन्तःकरणमें पदार्थका भान प्रायः स्फुरित नहीं होता क्योंकि पहली पाँच भूमिकाओंके परिपाकसे उसकी वृत्तिमें पदार्थके नाम-रूपका मिथ्यात्व तथा अपने स्वस्वरूपका सत्यत्व दृढ़से दृढ़तर होता जाता है। अतः कभी तो उसकी पदार्थ-बुद्धि जाग्रत् होती है और कभी सुप्त। अतएव इस भूमिकामें स्थित ज्ञानी पुरुषका व्यवहार दूसरोंके द्वारा परिचालित होता है।[८] यह विदेह-मुक्तिकी प्रथम भूमिका है। इस भूमिकावाले पुरुषको **ब्रह्मविद्वरीयान्** कहते हैं। यह स्थिति पुरुषार्थ-साध्य नहीं है। जीवन्मुक्त महापुरुषके देहका प्रारब्ध जब चुकने लगता है तब अथवा किसी पूर्व-वासनाके सिद्ध होनेपर यह अवस्था उदय होती है।

(७) **तुर्यगा :** यह भूमिका पदार्थाभावनी भूमिकाका परिपाक है। इस अवस्थामें उसकी पदार्थ-बुद्धि ~~और देह~~-बुद्धि बिलकुल नष्ट हो जाती है। उसका मन स्वयं अथवा दूसरोंके द्वारा इस देह-पदार्थभानकी स्थितिमें

६. वही (उत्पत्ति० ११८.११)

७. वही (उत्पत्ति० ११८.१२)

८. वही (उत्पत्ति० ११८.१३.१४)

नहीं उतरता।[९] अतः इस अवस्थासे व्युत्थान नहीं होता। ऐसा वर्णन भी है कि इक्कीस दिनसे अधिक इस अवस्थामें शरीर जीवित नहीं रहता। स्पष्ट है कि प्रारब्ध नष्ट होते समय ही यह भूमिका उदय होता है। यह भी विदेह-मुक्तिकी अन्तिम भूमिका है। इस भूमिकामें स्थित महापुरुषकी संज्ञा **ब्रह्मविद्वरिष्ठ** है।

उपर्युक्त भूमिकाएँ चित्तकी हैं अथवा चित्तोपाधिक चैतन्य चिदाभासकी हैं, आत्माकी नहीं है। आत्मा तो एकरस निर्विकार कूटवत् स्थित है। जिज्ञासुकी दृष्टिसे शुभेच्छा, विचारणा और तनुमानसा जाग्रत्-अवस्थाके तुल्य हैं। सत्त्वापत्ति और असंसक्ति स्वप्नावस्थाके तुल्य हैं तथा पदार्थाभावनी और तुर्यगा सुषुप्तिवत् हैं। किन्तु तत्त्वज्ञकी दृष्टिसे इनका विलोम-क्रम है—तुर्यगा और पदार्थाभावनी जाग्रत्वत् हैं, असंसक्ति और सत्त्वापत्ति स्वप्नवत् हैं और तनुमानसा, विचारणा और शुभेच्छा सुषुप्तिवत् है। आत्मदृष्टिसे, ब्रह्मदृष्टिसे, तत्त्वदृष्टिसे सब आत्मा ही है।

●

९. वही (उत्पत्ति० ११८.१५)

१०. विदेहमुक्तिपर महाराजश्रीका कोई लेख या प्रवचन उपलब्ध न होनेसे यह संक्षिप्त लेख संपादक द्वारा लिखा गया है। ग्रन्थकी पूर्णताके लिए यह आवश्यक समझा गया है।

संदर्भ ग्रन्थोंके संकेतोंकी सूची

१. ऋग्वेद (ऋक्)
२. यजुर्वेद (यजु०)
३. सामवेद (साम०)
४. अथर्ववेद (अथ०)
५. आरण्यक (आ०)
६. ब्राह्मण (ब्रा०)
७. संहिता (सं०)
८. ईशावास्योपनिषद् (ईशा०)
९. केनोपनिषद् (केन०)
१०. कठोपनिषद् (कठ०)
११. प्रश्नोपनिषद् (प्रश्न०)
१२. मुण्डकोपनिषद् (मुं०)
१३. माण्डूक्योपनिषद् (मा०)
१४. एतरेयोपनिषद् (एत०)
१५ तैत्तिरीयोपनिषद् (तैत्ति०)
१६. श्वेताश्वतरोपनिषद् (श्वेता०)
१७. छान्दोग्योपनिषद् (छां०)
१८. बृहदारण्यकोपनिषद् (बृ०)
१९. शांकर भाष्य (शां० भा०)
२०. ब्रह्मसूत्र (ब्र० सू०)
२१. माण्डूक्यकारिका (मा० का०)
२२. श्रीमद्भगवद्गीता (गीता)
२३. विवेक चूड़ामणि (वि० चू०)
२४. विवरण (विवरण)
२५. भामती (भामती)
२६. श्रीमद्भागवत (भा०)
२७. अवधूत गीता (अव० गीता)
२८. अष्टावक्र गीता (अष्टा० गीता)
२९. सांख्य दर्शन (सां०)
३०. सांख्य कारिका (सां० का०)
३१. तत्त्वसमास (तत्त्व०)
३२. योग दर्शन (यो०)

नोट :—इनके अतिरिक्त अन्य उद्धरणोंमें पूरे नाम संदर्भ-ग्रंन्थोंके दिये गये हैं।

अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा विरचित एवं सम्प्रति उपलब्ध साहित्य

वेदान्त

मुण्डक सुधा	110.00
माण्डूक्य प्रवचन (आगम प्रकरण) भाग-1	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (वैतथ्य प्रकरण) भाग-2	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (अद्वैत प्रकरण) भाग-3	150.00
माण्डूक्य प्रवचन (अलात शान्ति) भाग-4	100.00
ईशावास्य प्रवचन	20.00
ईशानुभूति (ईशावास्योपनिषद् के आधार पर)	40.00
केनोपनिषद्	70.00
कठोपनिषद् (दो भागोंमें)	250.00
बृहदारण्यकोपनिषद्	60.00
श्वेताश्वतरोपनिषद्	150.00
छान्दोग्य-बृहदारण्यक एक दृष्टिमें	10.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 1	60.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 2	75.00
ब्रह्मसूत्र प्रवचन-भाग 3	60.00
दृग दृश्य विवेक	100.00
विवेक कीजिये (विवेक चूड़ामणि प्रवचन)	100.00
अपरोक्षानुभूति प्रवचन	80.00
वेदान्त बोध	
साधना और ब्रह्मानुभूति	70.00
महाराजश्रीकी डायरीसे	6.00
आनन्द सूत्र	15.00
आनन्दानुभव	20.00
जीवन्मुक्ति विवेक	75.00
अष्टावक्रगीता	25.00
अष्टावक्रगीता प्रवचन	80.00
मिथ्यात्व ज्ञान	20.00
ध्यान और ज्ञान	90.00

श्रीमद्भगवद्गीता

गीता-रस-रत्नाकर (सम्पूर्ण गीता)	200.00
सांख्ययोग (गीता अध्याय-2)	200.00
कर्मयोग (गीता अध्याय-3)	60.00
ध्यानयोग (गीता अध्याय-6)	150.00
ज्ञान-विज्ञान-योग (गीता अ.-7)	130.00
अक्षर ब्रह्मयोग (गीता अ.-8)	50.00
राजविद्या राजगुह्ययोग (गीता अध्याय-9)	90.00
विभूतियोग (गीता अ.-10)	175.00
भक्ति योग (गीता अ.-12)	90.00
ब्रह्मज्ञान और उसकी साधना (गीता अ.-13)	120.00
पुरुषोत्तमयोग (गीता अ.-15)	120.00
दैवी-सम्पदयोग (गीता अ.-16)	50.00
दैनिक जीवनमें गीता	60.00
योग: कर्मसु कौशलम्	20.00
मामेकं शरणं ब्रज	20.00
गीतामें भक्तिज्ञान समन्वय	30.00
गीतामें मानवधर्म	25.00
वासुदेव: सर्वम्	10.00
मया ततमिदं सर्वं (मेरा सब ताना-बाना)	25.00
गीता दर्शन (तीन भागोंमें)	600.00

श्रीमद्भागवत

भागवत दर्शन (दो भागोंमें)	600.00
ईशानुकथा (नवम स्कन्ध)	30.00
भागवत - दशम स्कन्ध	150.00
मुक्ति स्कन्ध	
(एकादश स्कन्ध) (दो भागोंमें)	270.00
रास पंचाध्यायी	150.00
श्रीकृष्णलीला रहस्य	45.00
भागवतामृत	70.00
भागवत व्यंजन	50.00
भागवत सर्वस्व	25.00
गोपीगीत	
वेणुगीत	40.00
युगलगीत	50.00
प्रणयगीत	60.00
गोपियोंके पाँच प्रेमगीत	20.00
उद्धवगीत	25.00
कपिलोपदेश	60.00
ब्रह्म-स्तुति	85.00
हंसगीता (हंसोपाख्यान)	15.00
सद्गुरुसे क्या सीखें?	15.00
उनकी कृपा	20.00
ऊखल बन्धन लीला	50.00
सत्संग महिमा	20.00
प्रह्लाद चरित	60.00
उद्धव व्रजगमन	180.00
भागवत विमर्श (दो भागोंमें)	45.00
मानव जीवन और भागवत धर्म	100.00
गर्भ स्तुति	60.00
वसुदेव देवकी स्तुति	20.00
भागवत विचार दोहन	30.00
भिक्षुगीत	35.00
मैं ही मैं (चतु:श्लोकी भागवत)	30.00
सुदामा चरित	10.00

रामायण

श्रीरामचरितमानस	
(तीन भागोंमें)	1000.00
अध्यात्म रामायण	250.00
श्रीमद्वाल्मीकि रामायणामृत	100.00
मानस दर्शन	40.00
सुन्दरकाण्ड	
(वाल्मीकि रामायणान्तर्गत)	30.00
श्रीमद्वाल्मीकि रामायण	300.00

भक्ति एवं साधना

विष्णु पुराण	.00
भक्ति एवं लीला	10.00
नाम महिमा	25.00
भगवन्नाम	10.00
शरण	10.00
प्रार्थना	10.00
नारद भक्ति दर्शन	100.00
भक्ति सर्वस्व	75.00
भक्तिदर्शनामृत	50.00
भक्तिका चमत्कार	

सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट

विपुल 28/16 बी. जी. खेरमार्ग, मालाबार हिल, मुम्बई-400006

फोन : (022) 23682055, मो. : 09619858361

● शाखा कार्यालय ●

श्रीअखण्डानन्द पुस्तकालय, आनन्द कुटीर, मोतीझील, वृन्दावन-281121

फोन : (0565) 2913043, 2540487, मो. : 09837219460

वेदान्तबोध

प्रात:स्मरणीय गुरुदेव अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराजको आध्यात्मिक जगत्‌में आज कौन नहीं जानता। उनके त्याग, तपस्या, भक्तिभाव, वैदुष्य, ब्रह्मनिष्ठा एवं सरल-सुबोध-सरस प्रवचन शैलीकी ख्याति सर्वत्र व्याप्त है। लेखकके रूपमें भी आप लब्ध-प्रतिष्ठ हैं। अनुवादों, प्रवचनों, संवादों एवं स्वतन्त्र लेखोंके रूपमें आपका विपुल साहित्य 'सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट, बम्बई' द्वारा सबको उपलब्ध है। उपनिषद्, गीता, ब्रह्मसूत्र, श्रीमद्भागवत एवं श्रीशंकराचार्य भगवान्‌की कृतियोंपर आपके आधिकारिक विचार इस साहित्यमें विस्तारसे संग्रहीत हैं।

प्रस्तुत ग्रन्थ महाराजश्रीके यत्र-तत्रसे एकत्रित वेदान्त पुष्पोंका एक गुलदस्ता है।

वेदान्त नाम उपनिषदोंका है। अत: उपनिषदोंको आधार मानकर ही वेदान्त-बोधका प्रणयन किया गया है। यद्यपि उपनिषदोंमें द्वैतवाद, विशिष्टाद्वैतवाद, अद्वैतवाद आदि सभी सिद्धान्तोंका वर्णन मिलता है तथापि तात्पर्यसे वेदान्तोंका सिद्धान्त अद्वैतमें ही परिनिष्ठित है और यही महापुरुषोंके अनुभवमें भी प्रतिष्ठित है। इसी सिद्धान्तका बोध 'वेदान्त-बोध'में विवक्षित है।

पाठकोंसे नम्र निवेदन है कि यदि वे वेदान्त हृदय समझना चाहते हैं, यदि वे वेदान्त-बोध तत्त्वका अधिगम करना चाहते हैं और यदि वे अपनी मुमुक्षाकी वास्तविक पूर्ति चाहते हैं तो वे इस वेदान्त-बोधको अवश्य पढ़ें।

आनन्दकानन प्रेस